

Edward States States Harris Duty of marchan them to pro-Kally Brand to FEB- 212

# शौनकीया-अथववेदसंहिता

मूल-मन्त्र-सायण-भाष्य

तथा-सार्यगार-भाष्य के अनुकूल भाषानुवाद-सहित तृतीय-चतुर्थ-काएड

जिसको-

ऋ०कु०प० रामस्वरूपशर्मात्मज-मुरादाबादनिवासी-सनातनधर्मपताका-सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र शर्माने अनुवादित कर

स्तात्वधम यन्त्रात्वयः

मुरादाबाद में छाप कर

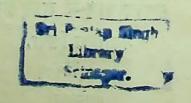
पकाशित किया.

सम्बत् १९८६

प्रथमवार

8000

19119
1873-2-0
By 73-2-0
For 20 K Randus in eight Wels "



· Aggora

## समाज्य अथर्ववेदकी विषयसूची \*\*

विषय

पृष्ठ

## **%** तृतीयकागड **%**

मथम अनुवाक-

मथम स्क । इसका सांग्रामिक अग्निमें भ्रस वा किएका सिहत ओदनिएडको उल्खलसे होमनेमें विनियोग होता है। इस कर्ममें इसी स्किसे इकीस रेतेके कए। छाजमें भर शत्रुसेनाकी ओर उड़ाये जाते हैं।

द्वितीय स्क । इससे पहिले स्कमें कहेहुए कर्म करे । १० तृतीय अचिक्रदत् स्क । इससे शत्रुसे निकाले हुए राजा को फिर उसके राज्यमें प्रवेश करानेके लिये शत्रुसेनाकी समान आकार वाले पुरोडाशको कुशों पर फैला कर जल में लेजाय और उसको डुवानेके लिये पुरोडाश पर मृटीके ढले रक्खे ॥ तथा राजाको अपने राज्यमें प्रवेश करानेके लिये इन स्कसे चीरौदनका सम्पातन अभिमन्त्रण करके राजाको चटावे ॥ तथा इसका साकमेधपर्वमें पहिले दिन की जानेवाली आग्नेयी इष्टिके प्रधानयागानुमन्त्रणमें विनियोग है १६

चतुर्थ स्नक्त । इससे स्वराष्ट्रप्रवेशकर्ममें पहिले स्कमें कहे हुए कर्मोंको करे ।। इसकी सातवीं ऋचाका प्रायणेष्टिके पथ्यास्वस्तियागानुमन्त्रणमें विनियोग होता है।

पश्चम स्क । इस स्कंसे तेज बल आयु और धन आदि की पुष्टिके लिये पलाश दृक्तकी मिणको वासित और संपा-

gg

तित करके बाँधे ।। तथा आंगिरसीमहाशान्तिके पलाशमणि वन्धनमें भी यह सुक्त पढ़ा जाता है ।

३४

द्वितीय अनुवाक-

पथम स्का। अभिचारकर्म में इससे खैरमें उगे पीपलकी मिणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे ॥ तथा इङ्गिडालंकृत पाशोंको इससे संपातित और अभिमन्त्रित कर शत्रुके मर्म में वीधें ॥ तथा इसी स्कासे पूर्ववत् पाशोंको अभिमन्त्रित कर 'तेऽधराश्चः' इस सातवीं ऋचासे नदीके प्रवाहमें फेंक देवे ॥ इसी प्रकार पहिलेकी समान अभिमन्त्रित पाशोंसे आठवीं ऋचासे पेरित करे ॥ तथा अभिमन्त्रित और अभिचर्यमाणके लिये विहित महाशान्तिके मिणिबन्धनमें भी यह स्क पढ़ा जाता है। खदिर और अश्वत्थका निर्वचन ।

४२

द्वितीय सक्त । इससे क्षेत्रियव्याधिकी चिकित्साके लिये हिरनके सींगकी मणिको बाँधे, श्रीर सींगसहित जलको पिलावे, हिरनके चर्मके शंकु छिद्रभागको पञ्चलित करके जलमें डाले श्रीर उस जलसे रोगी पर श्रभिषेक करे, यव-होम, श्रीर श्रभिमन्त्रित भातका भन्नण करे। तथा कौमारी-शान्तिके हरिणविषाणाग्रके मणिबन्धनमें यह सक्त पढ़ा जाता है। जलके भीतर संपूर्ण श्रीषधि होनेका प्रमाण।

48

तृतीयस्क । इसका उपनयनकर्ममें बालकके नाभिदेश को छूकर श्रमुमन्त्रण किया जाता है । मेधाजनन और श्रायुर्वर्धनके कामोंमें इससे होम किया जाता है । विवाहमें इसकी चौथी ऋचासे शुल्कद्रव्यको श्रलग कर यह द्रव्य तेरा है और यह मेरा कह कर विभाग करे। सांमनस्यकर्म

पृष्ठ

में पाँचवीं और छठी ऋचासे सम्पातित घट आदिको ग्राम-

44

चतुर्थ स्रक्त । इससे विघ्रशमनकर्म में स्पर्धात्मक विघ्नका नाश करनेके लिये सोनापाढ़ाकी मिण बाँधे, सर्प, सींग वाले और डाढ़ वाले पाणियोंके विघ्नको शान्त करनेके लिये इससे सम्पातित बाँसके दण्डेको धारण करे । संग्राम में शत्रुरचित माया आदि विघ्नोंको दूर करनेके लिये संपा-तित आयुधको धारण करे । सब कामोंके आरंभमें विघ्नों को शान्त करनेके लिये इस स्क्तको पढ़ अससे धूपन करे । खूगल शब्दका अर्थ ।

33

पश्चम सक्त । इससे पृष्टिके लिये किये जाने वाले श्रष्टका कर्म में श्राहुति दी जाती है । श्रष्टकाशब्दकी व्याख्या ।
सोमयागके सोमक्रयणीयपदहोमानुमन्त्रणमें इसकी छठी
श्रह्माका विनियोग होता है । चातुर्मास्यके साकमेधमें पूर्णदिवहोममें इसकी सातवीं श्रह्मा पढ़ी जाती है । रात्रिमें राजा
की श्रारतीके समय रात्रिदेवताका श्रावाहन करनेमें इसकी
दूसरी श्रह्माका विनियोग होता है । श्रीर इसकी तीसरी
श्रह्माका रात्रिकी पिटीकी प्रतिकृतिको बैठानेमें विनियोग
किया जाता है । तहाँ ही रात्रिके उपस्थानमें इसकी सातवीं
श्रह्माका विनियोग होता है । दिनके पाँच भाग ।

08

वृतीय अनुवाक-

प्रथम सक्त । इसका वालग्रहरोग पर और निरन्तर स्त्रीसंग करनेसे उत्पन्न हुए यद्मारोग पर तथा सर्वव्याधि की निष्टत्ति पर प्रयोग किया जाता है । यहमें रुग्ण हुए यजमानकी चिकित्सामें भी इसका विनियोग होता है ।

K3

पृष्ठ

दितीय सक्त । वास्तोष्पत्यगणकी सूची । इससे नव-शालावास्तुसंस्कारके लिये शालाभूमिको इलसे जोते । चतुर्गणी महाशान्तिके शान्त्युदक आदिमें इस सक्तका सर्वत्र विनियोग होता है । नवशालाके गर्तों में खड़े हुए स्थूणों को इस सक्तसे अभिमन्त्रित करे । इसकी पहिली दूसरी ऋचाओं से शालभूमिको दृढ़ करे । अठी ऋचासे घृताक्त वाँसको स्थूणाओं पर स्थापित करे । आठवीं ऋचासे जल पूर्ण कुम्भ वाली पत्नीको घरमें पहिले प्रवेश करावे ।

१०६

तृतीय स्क । अपने देशमें नदीका प्रवाह करनेके लिये नवीन जलप्रवाहसे ग्राम नगर आदिको भयका अवसर आने पर तथा द्र गई हुई नदीको फिर अपने स्थान पर पर बुलानेके लिये इसका प्रयोग किया जाता है । वर्षा करानेके लिये भी इसका प्रयोग होता है । धनके उठानेके समय होने वाले विघ्नोंको शान्त करनेके कर्म में इससे घृत का होम होता है, तथा सम्पातित अभिमन्त्रित घटजलसे आसावन और अभिषेक भी किया जाता है। जलके नदी, अप, वार, उदक् नामका निर्वचन । अग्निमें आहुति देने से वर्षाका होना ।

११६

चतुर्थ सक्त । इससे गौत्रोंकी पृष्टि चाहने वाला पहि-लौन गौके रलेष्ममिश्रित नवीनदुग्धको संपांतित स्त्रोर स्रिभ-मन्त्रित करके प्राश्चन करे । त्रौर गौत्रोंकी पृष्टि चाहनेवाला इससे गौको स्रिभमन्त्रित करके देवे, तथा इससे जलपूर्ण पात्रको स्रिभमन्त्रित कर गोवाटमें लेजावे । तथा इसीसे वायें हाथसे स्नन्ने उपलेको उठा दाये हाथसे उसके स्राधे भागको गोवाटमें फेंके। तथा इसी सक्तसे सारूपवत्स श्रोदन

पृष्ठ

में गोवरके पिएड, गूगल और लवएको मिला कर अग्नि में तीन रात्रि तक दवा रक्खे फिर चौथे दिन प्रातःकाल सम्पातित और अभिमन्त्रित करके भन्नए करे, यदि भात बिगड़ गया हो तो न स्नावे।

१२७

पश्चम स्रुक्त । इसका वाणिज्यलाभके लिये विनियोग होता है । वज, वस्त्र, पूर्गीफूल, घोड़ा हाथी वा रत्न आदि को इससे सम्पातित और आभमन्त्रित करके उठावे । व्य-वहार करना चाहने वाला इससे इन्द्रकी पूजा वा उपस्थान करे । क्रव्याच्छमनकर्ममें आठवीं ऋचासे पूर्णीहृति देय । १३४

चतुर्थ अनुवाक-

प्रथम स्रुक्त । बुद्धिको चाहने वाला सोकर उठने पर इसको पढ़ हाथसे मुखधोवे । इससे दही और मधुका संपा-तन और अभिमन्त्रण करके ब्राह्मणको प्राशन करावे । चित्रयको दही और मधुसे मिश्रित अन्नप्राशन करावे, वैश्य आदिको केवल भात खिलावे । तथा वर्चस्यकर्ममें स्नातक सिंह व्याघ आदि सातमेंसे एकके नाभिके रोमोंकी मणि को सुवर्ण और लाखमें मढ़ इस सुक्तसे संपातन और अभि-मन्त्रण करके बाँधे तथा वर्चस्काम चित्रयादिको स्नातक— आदिके ममोंदो स्थालीपाकमें डाल इससे सम्पातित और अभिमन्त्रित कर पाशन करावे तथा वर्चस्काम पुरुषका इस सुक्तसे अभिमन्त्रित और सम्पातित जलसे स्नान और अभिषेक करे ।

888

दितीय स्वत । इसका कृषिनिष्पत्तिकम में वृषलाभकम में अद्भुत शांतिमें, यज्ञ वास्तुसंस्कारकम में और अग्निचयन कम में विनियोग होता है । शुनासीरशब्दका अर्थ ।

१५३

पृ

तृतीय सुक्त । इसका सौतको जीतनेके कर्म में प्रयोग होता है । विवादजयकर्म में इसका जप किया जाता है । १६६ चतुर्थ सुक्त । दूसरेकी सेनाको घवड़ानेके कर्म में इससे घृतकी ब्राहुति दे कर श्वेत पैर वाली वकरी या भेड़को संपातित ब्रौर ब्रिमिन्त्रित करके शत्रुसेनाकी ब्रोर बोड़ देय । तथा संग्राममें विजय पानेके लिये इससे घृतहोम सक्तु-

होम, धनुषरूपी ईंधनका रखना और वाणरूपी समिधाओं को रखना और राजाको अभिमन्त्रित धनुषका देना आदि करे। अग्निचयनमें इससे ब्रह्मा उन्नीयमान उख्यका अनु-

मन्त्रण करे । इसकी आठवीं ऋचासे महात्रत आजिधावन

में अवसृष्ट वाणका अनुमन्त्रण करे।

338

पञ्चम सूकत । इससे निऋ तिकर्म में घृलिकणमिश्रित धानोंकी आहुति देय तथा अर्थोच्थापनविष्नशमनकर्म में इस सूक्तसे घृत आदि तेरह द्रव्योंकी आहुति देय वाइसी कर्म में इस सूक्तका जप करे । इसकी पहिली ऋचासे अर-णियोंमें वा आत्मामें अग्निका समारोप किया जाता है । सवयक्तमें चौथी ऋचासे अर्थववेदको जाननेवाले चार ऋषि शिष्योंको बुलाया जाता है । और इसी ऋचासे अग्नि-चयनमें रखी जाती हुई गाईपत्येष्टिका अनुमन्त्रण होता है । अग्निचयनमें गूलड़की समिधा रखनेके अनन्तर 'अग्ने अच्छ' आदि तीन ऋचाओंका और 'अर्थमणं बृहस्पतिम्' इन दो ऋचाओंका जप करे । आठवीं ऋचासे वाजमस-वीयहोमका अनुमन्त्रण कियाजाता है। छः ऊर्वियोंका वर्णन१७६

पश्चम अनुवाक-

मथम सूक्त । इसकी पहिली सात ऋचाओं से मांसभन्ती राज्ञस आदिसे उपहत घर गोठ और खेत आदिकी शांति

के लिये मणिधारण होम त्रादि करे जाते हैं । तथा इस स्क्तसे क्रव्याच्छमनके समय सत्तुत्रोंके जलको कबीलेकी दो समिधात्रोंसे यथ कर उस मन्थका पलाशकी द्वींसे पत्येक मन्त्रसे होम किया जाता है। वशाशमन कर्म में इस से वशाका अभिमन्त्रण करके वशाका बाह्मणको दान दिया जाता है। यदि वपा वा हिवको कौत्रा उल्लू कुत्ता मनुष्य आदि लेकर भाग जावें तो पायश्चित्तके लिये इस दश ऋचा वाले सुक्तसे घृतकी आहुति दी जाती है। बृहद्रणका जहाँ विनियोग होता है तहाँ सर्वत्र इसकी सात ऋचात्रोंका विनि-योग किया जाता है तथा सोमस्कन्दनमें ब्रह्मा 'ये अन्नयः' आदि सात ऋचात्रोंसे आहुति देय । आवसध्याधानमें क्रव्याच्छमनके अनन्तर घरमें आकर 'ये अग्नयः' आदि सात ऋ वात्रोंसे घृतकी त्राहुति दी जाती है। तहाँ ही क्रव्यादाग्निके शमनमें हिरएयपाणिम् आदि अन्तकी तीन ऋचाओंसे क्रव्यादग्निमें सक्तुमन्थका होम किया जाता है। चातुर्मास्यके साकमेधपर्वमें त्र्यातिथ्येष्टिके त्र्यनन्तर सातवीं ऋचासे अग्निका उपस्थान किया जाता है। अग्निकी विभूतियें। इन्द्रदेव ऋौर ऋग्निदेवका एक रथमें वैठना । लौंदके महीनेका प्रमाण ।

\$38

200

द्वितीय सक्त । तेज चाहने वाला इससे हाथीदाँतको छूकर उपस्थान करे । इससे हस्तिदन्त मिणका संपातन श्रीर श्रिमन्त्रण करके वाँधे । तथा पुरोहित प्रतिदिन प्रातःकाल में इस सक्तसे हाथीको श्रिभमन्त्रित कर राजाको दिया करे। ब्रह्मवर्चसकामके लिये, श्रीर वस्त्र शयनके श्रिष्टसे जलने पर की जाने वाली ब्राह्मी महाशान्तिके हाथीदाँतकी मिण के बाँधनेमें भी यह सक्त पढ़ा जाता है ।

पृष्ठ

तृतीय स्क । इससे पुंसवन कर्म में वाणका अभिमन्त्रण करके स्त्रिक शिर पर रक्षे । तथा इससे घृतकी आहुति दे शरणमणिको संपातित और अभिमन्त्रित करके वाँघे । तथा इससे फालचमसमें सरूपवत्सा गौके दृधको डाल उसमें धान और जौंको डाल घुमा कर अण्डकोषों पर वाँघा जाता है। तथा पलाश और विदारीकन्दको एक स्थानमें पीस कर स्त्रीके दाहिने नथनेमें हुलास दिया जाता है। २१३

चतुर्थ सुक्त । इसका धान्यसमृद्धिकर्म में विनियोग होता है । तथा इसकी पहिली ऋचासे पितृमेधकर्म में शवदाहके अनन्तर स्नान करा जाता है । पाँच वर्णके मनुष्य । २१६

पञ्चम सूक्त । इसका स्त्रीवशीकरणमें प्रयोग किया जाता है । स्त्रीवशीकरण विधि । २२५

छठा अनुवाक-

प्रथम और दितीय सुकत । इन दोनोंसे अपनी सेनाको उत्साहित करनेके लिये पत्येक दिशामें प्रत्येक ऋचासे उपस्थान किया जाता है । स्वस्त्यनकम में इन दोनोंसे तेरह द्रव्योंकी आहुति दीजाती है । तथा इसी कम में इन दोनों से हुतशेषसे पत्येक दिशामें विलहरण और उपस्थान किया जाता है । तथा साँप वीछू आदिके भयको हटाना चाहने वाला घर खेत आदिमें अभिमन्त्रित धृलिकणोंको वखेरे । तथा इन दोनोंसे तृणमालाको सम्पातित करके गृह वा नगर आदिके द्वार पर वाँधा जाता है । तथा इन दोनोंसे गोबरको अभिमन्त्रित करके उसको घरमें डाले, द्वार पर गाढ़ देवे और अग्निमें होमे । तथा इन दोनों सुक्तोंसे चिनचिटेकी मञ्जनी वा गिलोयको अभिमन्त्रित करके पूर्व-

पृष्ठ

२५३

२७१

बद्ध घर आदिमें बिसर्जन करे। तथा तीस महाशान्तियों की तंत्रभूत शान्तिमें 'येस्पाम्' इस ऋचासे मत्येक दिशामें होम करे और 'प्राची दिक्' इस ऋचासे मत्येक दिशामें उपस्थान करे।

वृतीयस्क । गीं, गधैया, घोड़ी श्रीर मानुषीके जुड़वाँ सन्तान होनारूप श्रद्धत होने पर उसकी शान्तिमें इसका श्रयोग किया जाता है।

चतुर्थ स्का । इससे ख्रोदनसवर्षे पशुके ख्रवयवों में पाँच गुलगुले रक्खे जाते हैं ख्रीर न हो मी हुई हिवका स्पर्श किया जाता है । दुष्ट वा खदुष्ट मितग्रहके दोषकी शांतिके लिये इसकी सातवीं खाठवीं ऋचाओं से मितग्रहके पदार्थको ख्रीभ-षिन्त्रत करके ग्रहण करे । इसकी ख्राठवीं ऋचासे भूमि-दान लिया जाता है । ग्रहयक्तमें इस स्वतसे बुधकी हिव ख्रीर घृतका होम, उपस्थान ख्रीर सिमदाधान होता है । स्वर्शसुखका द्र्यं ।

पंचय स्रुक्त । इससे साम्पनस्य कर्म होते हैं तथा उपा-कर्म के घृतहोयमें भी इसका विनियोग होता है।

छटा सूक्त । श्राचार्यसे उपनयनके अनन्तर आयुरिमलाषी बालकके शरीरका इससे अभिमन्त्रण कराया जाता
है । । पेत्मेध्यें शबदहनके अनन्तर इस सक्तका ब्रह्मा जप
करे । श्राग्रहायणीकर्ममें इसकी दशवीं ग्यारहवीं दो ऋचाओं
को पढ़ कर ब्रह्मा उठता है । तथा सोमक्रयणके अनन्तर
दशवीं ऋचाको पढ़ कर ब्रह्मा उठे ।

**%** चतुर्थ कागड **%** 

प्रथम अनुवाक— प्रथम सूक्त । इसका वेद करूप आदिके अध्ययनके समय विषय • पृष्ठ

विन्नशमनके लिये तथा शास्त्रवाद आदिमें प्रतिवादियोंका विजय करनेके लिये जप किया जाता है। गोषुष्टि कमें और गौओंके रोगकी शान्ति करनेमें भी इससे लवणका अभिमन्त्रण करके गौओंको पिलाया जाता है। तथा पौ तालाव आदिमें स्थित जलको अभिमन्त्रित कर गौओंको पिलाया जाता है। बृहद्वणका जहाँ २ पाठ होता है तहाँ २ सर्वत्र इसकी प्रथम ऋचाका विनियोग होता है उपाकम में उपाध्याय और चतुर्धिकाक भमें वर इस ऋचाको जपे। प्रवर्णक भमें निधीयमान महावीरका ब्रह्मज्ञानम् आदि दो ऋचाओंसे अनुमन्त्रण होता है। अग्निचयनके हिरएयमय रुक्मका इस प्रथम ऋचासे अनुमंत्रण होता है। ब्राह्मी महाशान्तिमें भी इस स्रक्तका विनियोग होता है। तुलापुरुषविधिमें इस स्रक्तसे आहुति देय

दितीय सुक्त । इसका वशाशमन कर्ममें और अप्ति वयन में अनुयोजन और अनुमन्त्रण होता है । हिरण्यमयपुरुषोप-धानमें इसकी सातवीं ऋचाका पाठ होता है ।

तृतीयस्क । गौ आदिके व्याघ्र चोर आदिके भयको द्र करनेके लिये खैरके खूँ टेका इससे सम्पातन और अभि-मन्त्रण करके उससे गोसंचारभूमिको कुरेदता हुआ पीछे २ जावे । तथा इससे जलपूर्ण घटका अभिमन्त्रण करके गो-मचारदेशमें ले जावे फिर तहाँ धूलका कूट बना कर उसके अर्थभागको दाहिने हाथसे फैंक देय । तथा इससे सारूप-वत्स ओदनका इन्द्रदेवके लिये तीन दार होम करे ।

चतुर्थस्क । वीर्यकाम पुरुष इससे वीर्यकर एक पेमें कपित्थ की मूलको श्रोषधिकी समान खोद दूधमें श्रोंटा श्रभि-मन्त्रए करके पत्यश्चा चढ़े हुए धनुषको गोदीमें रखकर पिये। ३१३

पृष्ठ

पश्चमसूक्त । इसका स्वयिभगमनमें प्रयोग किया जाता है। ३२० छठा सातवाँ सूक्त । इससे तथा श्रगले स्क्तसे कन्द-विपकी चिकित्साके लिये जलको श्रिभमन्त्रित कर विपाविष्ट पुरुषको पिलावे श्रीर मोचल करे। तथा सुपारीके ट्वके ट्वकड़ेको जल सिहत श्रिभमन्त्रण करके जल पिलावे श्रीर छिड़के। जीर्ण हरिणचर्मसे गरम किये हुए वा गिरे हुए चुहारीके टुकड़ोंसे गरम किये हुए जलको इन दोनोंसे श्रिभ-मन्त्रित करके पिलावे श्रीर मोचला करे। जलपूर्ण पात्रका संपातन श्रीर श्रिभमन्त्रण करके उससे स्नान करावे। विपलिप्त उर्ध्वकलोंसे सक्तुमन्थको श्रीभमन्त्रल करके पिलावे। धत्रेके फलोंका मत्येक श्रव्यासे श्रीभमन्त्रण करके के होनेके लिये भन्नण करे। तथा विपाकांत पुरुषको घी श्रीर हल्दी इससे श्रीभमन्त्रत करके पिलावे।

तृतीय स्क । इससे राज्याभिनेकमें जलपूर्ण कलशसे पुरोहितके द्वारा अभिनेक और जप किया जाता है। तथा इससे सम्पातित स्थालीपाकका प्राशन तथा अभिमन्त्रित घोड़े पर चढ़ा कर अपराजितदिशाकी ओर भेजे। राजसूय में आसन पर बैठते समय वा राजाभिषेकके समय भी यह स्क पढ़ा जाता है।

चतुर्थ स्रुक्त । इससे उपनयनके अनन्तर आञ्चनपणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके आयुष्काम बालकके बाँधे तथा गजन्नय होने पर की जाने वाला ऐरावती महाशांति के आञ्चनमणि बन्धनमें यह स्रुक्त आता है ।

पश्चममुक्त । इससे उपनयनके अनन्तर आयुष्काम बालक के शङ्कमिण बाँधे और जलभयमें विहित बारुणी महा-शान्तिके शङ्कमिणबन्धनमें भी यह पढ़ा जाता है।

(0-

हुषु

इद्र

800

तृतीय अनुवाक-

प्रथम सक्त । इसका अनुडुत्सवमें प्रयोग होता है । ३६२ दितीय सक्त । इसका शस्त्र आदिके मारनेसे निकलतें हुए रुधिरके प्रवाहको रोकनेके लिये टूटी हुई हड्डीको ठीक उठि

तिय सक्त । इससे उपनयनके अनन्तर आयुष्काम बालकका स्पर्श करके अनुमन्त्रण किया जाता है । जहाँ लघुगण और अंहोर्लिंगगणका पाठ होता है । तहाँ सर्वत्र इसका प्रयोग होता है । यहाँ रुग्णहुए यजमानकी चिकित्सा में भी यह सक्त पढ़ा जाता है ।

चतुर्थ सूक्त । इसका अजोदनसवर्षे काम पड़ता है । इस की काँचवीं ऋचासे सकल सवयज्ञोंमें घृतकी आहुति दी जाती है । इसकी तीसरी ऋचाका वाजपेयमें यूप पर चढ़ कर यजमान जप करता है। वरुणप्रधासपर्षमें अधिपणयन के समय ब्रह्मा इसका जप करता हुआ चले । तथा सोम-यागके उत्तरवेद्यग्रिमणयनमें भी इसका जप किया जाता है । ३६४

पश्चम सूक्त । दृष्टि चाहने वाला इससे मन्त्रोक्त देव-तात्र्योंके लिये घृतका होम करे । तथा श्वभिवर्षण कर्म इस से कियेजाते हैं । उपतारकाद्भुतशांतिमें इससे घृतकी श्राहुति देय । चातुर्मास्यकी श्रन्वारम्भणीयेष्टिमें इसकी छठी ऋचा से पर्जन्यचरुयागका श्रमुमन्त्रण किया जाता है । धृतकेतु-रूप उत्पातदर्शनमें श्रीरमाजापत्या शान्तिमें इसकी ग्यारहवीं ऋचासे घृतहोम होता है ।

चतुर्थ श्रनुवाक-

प्रथम सुक्त । इससे अभिचारकर्पमें गाली देते हुए शत्रु

पृष्ठ

४६१

से भाषण करे धूमकेतृत्पातशान्तिके वारुणपशुप्रयोगमें इस की तीसरी ऋचाका पाठ होता है। ४२३

द्वितीय तृतीय श्रीर चतुर्थ स्न । स्त्री, श्रुद्र, कापालिक श्रादिके किये हुए श्रभिचारदोषको हटानेके लिये चिर-चिटा सहदेई श्रादि मन्त्रोक्त श्रीषियोंको शान्त्युदककलश में डाल कर उसके श्रनुमन्त्रणमें विनियुक्त इन तीन स्कों को बहुना चाहिये।

पश्चम स्क । ब्रह्मग्रह आदिसे उत्पन्न हुए भयको हटाने के लिये इससे त्रिसंध्यायणिका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे। ४५३

पश्चम श्रनुवाक-

मथमस्क । दश स्कांका मृगार नाम है। इनका सर्वमैषज्यकर्षके होमसंपात अवसेक आदिमें विनियोग है। इस
प्रथम स्कर्स गौओंके रोगोंकी शांति पृष्टि प्रजनन कर्ममें
सलवण वा केवल जलको अभिमन्त्रित कर गौओंको
पिलावे । तथा गोपुष्टिकर्म में गोठमें आती हुई गौओंको
पिलावे । तथा गोपुष्टिकर्म में गोठमें आती हुई गौओंको
सामने इस स्कर्स उठे। इसकी सातशीं ऋचासे वनकी
ओर जाती हुई गौओंका अनुमन्त्रण करे। तथा इसीकर्म में
इसकी सातशीं आठशीं ऋचाओंसे बछड़ेकी लारसे मिला
हुआ नवीन दुग्ध संपातन और अभिमन्त्रण करके मचण
करे। तथा इन्हीं दो ऋचाओंसे अभिमन्त्रण करके गौओं
को देय। जलपूर्ण पात्रको अभिमन्त्रित कर गोठमें लेजावे
और सारूपवत्सीदनमें गूगल लत्रण और गोवरके पिएडों
को डाल अग्निमें तीन रात्रि तक दबा रक्खे और चौथे दिन
निकाल इन दो ऋचाओंसे संपातित और अभिमन्त्रित

gg

Yoy

द्वितीय सूक्त । इससे संग्रामनयके लिये घृतहोम सक्तु-होम धनुरिध्माधान इपुसिमदाधान और राजाको अभिमं-त्रित धनुषका प्रदान किया जाता है । तथा इससे अभि-षिक्त राजाका प्रत्येक दिन प्रातःकालमें अभिमन्त्रण करे तथा जलपूर्णपात्रसे मोत्तण करे तथा क्रव्याच्छमनकर्ममें इस से दृषभका अभिमन्त्रण किया जाता है । ४७१

तृतीय स्वत । इससे छठे अनुवाकके चतुर्थस्वत तकका वृहद्गणमें पाठ होनेसे शान्त्युदक छादिमें इनका विनियोग होता है । इनका छंहोलिंगगणमें भी पाठ है । अमेर्पन्वे स्वतसे सामिथेनीका अनुमन्त्रण किया जाता है । ४७

चतुर्थ सूक्त । यह दश हिवष्का मृगारेष्टिमें इन्द्रकी स्तुति करने वाला सूक्त है । ४८६

पश्चम स्वत । मृगारेष्टिमें इससे वायु और सविता देवता की स्तुति की जाती है, तथा आँधीके भयसे की जाने वाली वायव्या पहाशान्तिमें इसका प्रयोग होता है। ४६७

छठा श्रमुवाक--

मथम स्वत । सोमयागमें इससे औदुम्वयिके घृतहोमका अनुमन्त्रण करे। तथा मृगारेष्टिमें द्यावापृथिवीकी इस स्वतसे स्तुति की जाती है।

द्वितीय सूक्त । मृगारेष्टिमें इससे मरुतोंकी स्तुति की जाती है। वलकी कामना वालेके लिये की जाने वाली मारुद्वणी शान्तिमें भी इसका पाठ होता है। इसकी सातवीं ऋचासे साकमेधपर्वमें गृहयागका अनुमन्त्रण करे।

हतीय सूकत । मृगारेष्टिमें भव और शर्यदेवताकी इससे स्तुति की जाती है । तथा सर्वभैषज्य कर्ममें कबीलेके सात

पृष्ठ

जलपूर्ण दोनोंको सम्पातित और श्रिभमिन्त्रित करके रोगी पर छिड़के भव श्रीर शर्व शब्दकी ब्याख्या। ५१६ चतुर्थसूक्त। इससे मृगारेष्टिमें मित्रावरुणकी स्तुति कीजाती हैं५२६

पश्चमस्रकत । जातक में इससे कोडियाला बूँटी श्रीर के बड़ेको पीस कर श्रीमिन्त्रित करके सुवर्णके टुकड़ेसे माशन करावे । तथा मेधाजननके लिये, बच्चेके पहिले बोलने पर माताकी गोदीमें बैठे हुए बालक के तालुमें इस स्र्वतसे किये हुए होम (की राख) को लगावे। तथा दही श्रीर मधुको संपातित श्रीर श्रीमिन्त्रित करके बोलक को चटावे। तथा उपनयनमें दण्ड देनेके श्रीनन्तर इस स्रक्तको बालक से बचवावे। तथा श्रीयुष्काम पुरुष शांखपुष्पप्राशन श्रीदि पाँच कम कर उपनयनमें इससे घृतहोम करे। श्रीथ्यायोत्सर्जनमें इससे घृतकी श्रीहित देरसों में संपातला वे ४३४

#### सप्तम अनुवाक-

मथम तथा दितीय सूनत । इनका अपनी और दूसरेकी
सेनाओं में खड़ा होकर जप करे । इनसे भंगके पाश मूँ ज
के पाश वा कच्चे पात्रों को अभिमन्त्रित कर शत्रुसेनाके
धूमनेके स्थानमें फेंक देय । तथा जय और पराजयको जानने
के लिये दोनों सेनाओं में सेंटेके तिनकों को रख कर इन
दोनों से अभिमन्त्रित कर उनको आंगिरस अग्निसे भस्म
करे । उस समय जिस सेनाकी और धूम जावे उसको
हारने वाली समभे । तथा इनसे अङ्गारककी हिव और घृत
का होम सिमदाधान और उपस्थान करे ।

तृतीय सुक्त । इसका शान्त्युदक आदिमें, स्त्रियोंकी पुरुष विषयक रतिको दूर करनेमें पुरुषोंकी स्त्रीविषयक रतिकी

वृष्ठ विषय श्रभिलाषाको दूर करनेमें, दुःशकुनदर्शन, काकमैथुन श्रादि विरुद्धदर्शनमें जप वा विनियोग होता है। चतुर्धमुक्त । इसका ब्रह्मास्योदनसवमें विनियोग होता है। तथा इससे हद अादि वना उनको रसोंसे पूर्ण किया जाता है। प्रदृह पश्चम स्कत । इसका अतिमृत्युसवमें विनियोग होता है तथा गौत्रोंके जुड़वाँ सन्तान होनारूप अद्भुतकी शान्तिमें इससे होम और गौश्रोंका श्रभ्युत्तरण होता है। 304 **आठवाँ अनुवाक**---प्रथम द्वितीय सुकत । इनका चातनगणमें पाठ होनेसे भूतग्रह आदिके उच्चाटनकर्ममें विनियोग होता है। द्वितीय स्कतसे। शमीके पत्तोंके चूर्णको शमीफलमें रख अभिमन्त्रित कर प्रहाविष्ट पुरुषको भन्नाण कराया जाता है। अलङ्कार के साथ धारण कराया जाता है। श्रीर रोगीके घरमें शमी-पर्णचूर्ण फेंका जाता है। श्रीर श्रश्वत्वयमें की जाने वाली गांधर्वी शान्तिमें इस द्वितीय सुनतसे गूगल आदिका होम होता है। गंधर्व और अप्सराओं के घर। भू दह तृतीयस्वत । इससे चूतजय कर्ममें पाशोंका अथिमन्त्रण करके द्यतक्रीड़ा आदि कर्म होते हैं। ६०६ चतुर्थ सूक्त । इससे सर्वसम्पत्काम पृथिवी त्रादि देव-ताओंका पूजन और उपस्थान करे। तथा इससे सन्नति-होम त्रौर पुरस्ताद्धोम होते हैं। ६१५ पश्चम सुकत । इसका कृत्यानिईरणकर्मके शान्त्युदकर्मे विनियोग होता है।

६२५

ॐ श्रीहरिः ॐ



# ग्रथवंवेदसंहिता 🎇



### तृतीय−काग्ड •>>\*€€

## सायण-भाष्यं और अनुकाद-सहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत्। निर्भमे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ वेद जिनके श्वासरूप हैं श्रौर जिन्होंने वेदों के द्वारा सम्पूर्ण जगत्की रचना की है, उन विद्यातीर्थ महे-श्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

तृतीयकाएडे पडनुवाकाः । तत्र पथमेनुवाके पश्च स्कानि । तत्र ''अप्तिर्णः शत्रून्'' इति पथमं स्कम् । तस्य परसेनामोहनकर्पणि फलीकरणमिश्रितस्य वा कणिकिकामिश्रितस्य वा ब्रोदनिएडस्य सांग्राभिकामौ उल्लोन होमे विनियोगः ॥

तथा अस्मिन्नेव कर्मणि एकविंशतिं शर्कराः शूर्पे कृत्वा पर-सेनां पति निष्पुनीयात् ॥

तथैव अप्वाख्यायै देवतायै अनेन सक्तेन चहं जुहुयात ।।
तद्ध उक्तं कौशिकेन । "अमिर्नः शत्रून [३.१] अमिर्ना
द्तः [३.२] इति मोहनान्योदनेनोपयम्ये फलीकरणान उल्
खलेन जुहोत्येवमण्न एकविंशत्या शर्कराभिः मतिनिष्णुनात्यप्वां
यजते" इति [की०२.५]।।

तीसरे काएडमें छः अनुवाक हैं। इनमें पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें "अग्निर्णः शत्रून्" यह प्रथम सूक्त है। इसका अस वा किएका मिले हुए ओदनिएएडको सांग्रामिक अग्निमें उलुखलसे होम करनेमें विनियोग होता है।।

तथा इसी कर्ममें इकीस शर्कराओंको (रेतेके कर्णोंको ) छाजमें

रख कर शत्रुसेनाकी ओर उड़ावे।।

तथा अप्वाख्याये देवताये इस सुक्तले चहका होम करे।
इसी वातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"अभिनः शत्रून
[३।१] अभिने दृतः [३।२] इति मोहनान्यपनोदनेनोपयम्य फलीकरणान् उल्लालेन जुहोत्येवमधून् एकविशत्या शर्कराभिः प्रतिनिष्युनात्यप्यां यजते" (कौशिकसूत्र २।५)

तत्र प्थमा ॥

अभिर्नः शत्रून् प्रत्येत विद्यान् प्रतिदहन्नभिशस्ति-मरातिम् ।

स सेनां मोहयतु पेरेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः

श्राग्निः । नः । शत्रून् । प्रति । प्रतु । विद्वान् । प्रतिऽदहन् । श्राभिऽशस्तिम् । श्रापतिम् ।

सः । सेनाम् । मोहयतु । परेषाम् । निःऽहस्तान् । च । कृणवत्। जातः वेदाः ॥ १ ॥

अङ्गित गच्छित सर्वे व्यामोतीति अग्निः। ॐ अगिर्गत्यर्थः। अस्माद् अङ्गेर्नलोपश्च [ उ० ४. ५० ] इति निमत्ययः । "नेड्-विश कृति" इति इट् मित्रषेधः। नैरुक्तास्तु अग्निशब्दम् अन्तर-साम्येन बहुधा व्युत्पादयन्ति। तथा हि । अग्निरप्रणीः सर्वदेव- तानां प्रधानभूतः "अन्निस्ये प्रथमो देवतानाम्" [तै॰ बा॰ २, ४. ३. ३ ] इति श्रुतेः । देवासुरसंग्रामे देवसेनाया अग्रे नयनाद् वा अप्रणीरिगनः। सेनानीरित्यर्थः। "अग्निर्देवानां सेनानीः" इति हि ब्राह्मसम् । यद्दा अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्तव्येषु ताद्ध्येन मणीयत इत्यग्निः । सर्वत्र अग्रशब्दोपपदान्नयतेः "सत्सृद्धिष०" इत्यादिना कर्तरि कर्पणि वाक्विप् । पृपोदरादित्वाद्व रूपसिद्धिः। यद्वा छाङ्गं शत्रसेनारूपं नयति दाहेन छात्मसात् करोति [ इति ] षा अग्निः। अङ्गराब्दोपपदान्नयतेर्नमतेर्वा रूपसिद्धिः। अथ वा न क्नोपयति स्वसंयद्धपदार्थजातम् अनाई करोतीति वा अग्निः। क्नूपीशब्दे उन्दे च । अस्यान्तब्पूर्वीद् रूपम् ॥ अपि वा अय-नेत ब्राहवनीयादिस्थानगमनेन ब्रभिन्यक्तः प्रज्वलितः नयति हवींपि देवान् प्रापयतीति । अयनेन हविपः स्वात्मपाप्तिमात्रेण तद्धविर्दग्धं कुर्वन् देवान् नयतीति वा अग्निः । अस्मिन् पक्षे एतेः अञ्जेर्दहतेवी नयतेश्र यथाक्रमम् अकारादींस्त्रीन् वर्णान् उद्धृत्य अभिशब्दो व्युत्पाद्यः । एतत् सर्वे यास्केनोक्तम् कस्मात् । अप्रणीभिवति । अप्रं यज्ञेषु पणीयते । अज्ञं नयति संन-मपानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्टीविः । न क्नोपयति न स्रोहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः । इतात् अकाइ दग्धाहा नीतात्। स खल्वेतेः अकारम् आदत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः इति [ नि. ७. १४ ] 🕸 । स च "इन्द्रो मन्थतु" [कौ॰ २. ७ ] इत्यादिख्नशक्तिप्रकारेण मन्थ-नादिसंस्कारसंस्कृतः सेनाधिनरत्र विवित्ततः । सोयम् अग्निः विद्वान् जयोपायं जानन् नः अस्माकं शत्रून् शातियत्न द्वेष्यान् मत्येतु मतिमुखं गच्छतु । मतिमुखो भवतु इत्यर्थः । किं कुर्वन् । अभिशस्तिम् आभिमुख्येन अभितो वाहिंसकम् । अशामु हिंसा-याम् । अस्मात् कर्तरि क्तिच् । बान्दसं पूर्वपद् मकृतिस्वरत्वम् ।

क्तिन्नन्तेन वा बहुत्रीहिः 🕸 । अरातिम् रातिर्दानम् तेन च श्रेयो-मात्रम् उपलच्यते । अस्मच्छ्रेयोविघातिनं शत्रुं पतिदहन् पातिक्-ल्येन पत्यक्नं मतिपुरुषं वा भस्मसात् कुर्वन् । यद्वा । अप्रतिदहन् इति "लत्तणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृपत्ययः 🕸 । प्रतिदह-नाद्धेतोः शत्रून् पत्येतु इति संबन्धः ॥ अपि च सः अग्निः परे-षाम् शत्रूणां सेनाम् इनेन अधिपतिना सह वर्तमानां शत्रुहननाय संभूय गमनयुक्तां वा। यथाहुः । सेना सेरवरा समानगतिर्वा [नि॰ २. ११ ] इति । तां चतुरङ्गवलरूपिणीं मोहयतु व्याक्कल-चित्तां करोतु । युद्धविषयकार्याकार्यविभागज्ञानशून्यां इत्यर्थः । 🕸 ग्रुह वैचित्त्ये 🅸 ।। किं च जातवेदाः जातानां प्रााणिनां वेदिता सर्वज्ञोयम् अग्निः शत्रुन् निर्हस्तान् हस्तव्यापारशून्यान् त्रायुधग्रहणासमर्थान् कृणवत् कुर्यात् । 🕸 कृवि हिंसाकरण-योश्र । अस्मात् लिङ्थें लेटि अडागमः । "धिन्विकृष्ट्योर च" इति उपत्ययः । तत्संनियोगेन श्रकारोन्तादेशः । तस्य स्थानिवद्भावात् लघूपघगुणाभावः । जातवेदा इति । गतिकारक-योरिप पूर्वपदमकृतिस्वरत्वं च इति [ उ० ४.२२६ ] अग्रुन् पूर्व-पदमकृतिस्वरत्वं च 🕸 ॥

देवासुरसंग्राममें देवसेनाको आगे लेजानेसे अग्रणी कहलाने वाले मन्थन आदि संस्कारसे संस्कृत संग्रामाप्ति हमारी जयके उपायको जानने वाले हैं अतः यह हमारे श्रेयका नाश करनेवाले हमारे हिंसक द्वेषियोंके अंगोंको और पत्येक प्रक्षोंको भस्म करते हुए शत्रुओंकी ओर वह ं । और वह अग्निदेव सेनापतिके साथ मिल कर शत्रुहननके लिये जानेको उद्यत शत्रुओंकी चतुरंगिनी सेनाके चित्तको व्याकुल करदें और यह उत्पन्न हुए प्रत्येक प्राणीको जाननेवाले अग्निदेव शत्रुओंके हाथोंको आयुध उठानेमें असमर्थ कर दें ।। १।।

#### द्वितीया ॥

यूयमुत्रा मंरुत ईहरों स्थाभि प्रेतं मृणत् सहंध्वम् । अमीमणुन् वसंवो नाथिता इमे अग्निनहीं पिं दूतः प्रत्येतुं विद्वान् ॥ २ ॥

युयम् । उग्राः । मुरुतः । ईदृशे । स्थ । श्रुभि । प्र । इत् । मृणते । सहध्वम् ।

अमीमृणन् । वस्तेवः । नाथिताः । हुमे । अग्निः । हि । एपाम् । द्तः । प्रतिऽएतुं । विद्वान् ॥ २ ॥

हे उग्राः उद्गग्र्णवलाः हे पहतः एतन्नामानो गणदेवाः युयम् ईदृशे अप्रधृष्ये संग्रामलल्लाणे कर्मणि स्थमत्सहायाः सन्तः संनिहिता भवथ । ॐ ईदृशे इति । इदम्शब्दोपपदात् "त्यदादिषु दृशोना-लोचने कञ् च" इति कञ् पत्ययः । "इदंकिमोरीश् की" इति इद्म ईश् आदेशः ॐ ॥ ततः अभि पेत आभिमुख्येन शत्रन् पहरणाय गच्छत ॥ अनन्तरं मृणतः हिंसतः युध्यमानान् शत्रून् सहध्वम् अभिभवत । ॐ मृण हिंसायाम् । तुदादित्वात् शः ॐ ॥ तथा इमे वसतः वस्वाख्या गणदेवा नाथिताः जयार्थं पार्थिताः सन्तः अमीमृणन् शत्रून् अस्माकम् अभिघातयन्तु । ॐ मृणतेण्ये-न्ताच्छान्दसे लुङि चङि "उत्तर्र त्" "नित्यं छन्दिस" इति ऋदा-देशः ॐ ॥ हिशब्दः चार्थे। एषाम् वसूनां दृतः दृतवद्ग अग्रेसरः । पधानभूतः "अग्नः पथमो वस्नुभिनों अव्यात्" [तै० सं० २.१.११ २ ] इति हि मन्त्रवर्णः । तथाविधः विद्वान् जानन्नग्निश्च पत्येतु शत्रुन् पतिगच्छत् । यद्वा हि यस्माइ एषां वसूनां दृतः अनुचरः । "अग्नि दूर्त वृश्णीमहे" [ ऋ० १. १२. १ ] इत्यादिश्रुतेः । ख्रतः सोपि तत्प्रेरितः प्रत्येतु इति ॥

हे भयद्भर बली महहण नाम वाले देवताओं! तुम इस अप-धृष्य संग्राममें मेरी सहायता करते हुए मेरे पास स्थित रहो। फिर शत्रुओं के सामने होकर महार करने के लिये जाओ, तद-नन्तर युद्ध करते हुए शत्रुओं का तिरस्कार करो। और वस्र नामक गणदेवता भी विजयके लिये हमारे पार्थना करने पर हमारे शत्रुओं को नष्ट करें। और इन वस्रुओं में प्रधान और इन वस्रुओं के द्त विद्वान अभिदेव भी शत्रुओं की और वहें ‡ ॥ २॥ नतीया॥

अमित्रसेनां मघवन्नस्मान् छत्र्यतीम्। । युवं तानिनद्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥ अभित्र ऽसेनाम् । मघऽवन् । अस्मान् । शतु ऽयतीम् । अभि ।

युत्रम् । तान् । इन्द्र । वृत्रऽहन् । ऋग्निः । च । दहतम् । प्रति।।३॥

हे मध्यन् धनवन्तिन्द्र अस्मान् त्वत्परिचरणकर्तृन् निर्परा-धानिष शत्रूयतीम् शत्रूनिव आचरन्तीम् अमित्रसेनाम् शत्रुसेनाम् अभि । गच्छेति योग्यिक्रयाध्याहारः । अश्र शत्रूयतीम् इति । शत्रु-शब्दात् "उपमानाद् आचारे" इति क्यच्। "अकृत्सार्यधातुकयोः ०" इति दीर्घः । तदन्तात् शतिर "उगितश्र" इति ङीप् । "अनित्यम् आगमणासनम्" इति नुमभावः । "शतुरनुमः ०" इति ङीप् उदा-

‡ तैत्तिरीयसंहिता २।१।११।२ में कहा है, कि—"अग्निः प्रथमो वस्तिमें अव्यात् – वसुओं में पहिले अग्नि हमारी रक्ता करें" और ऋग्वेदसंहिता १।१२।१ में कहा है, कि—"अग्निं द्तं कृषीमहे—हम अग्निको द्तरूपमें वरण करते हैं"।।

त्तत्वम् । ननु शत्रूयतीम् इति शत्रुलत्तरणस्य कर्मणः व्यजन्तधा-त्वर्थेन्तर्भावात् जीवित रोदिति इत्यादिवद् अकर्मकेण भवितव्यम्। सत्यम् । उपमानकर्मणोन्तर्भावेषि उपमेयकर्मणः अनिधानात् तदपेत्तया सकर्मकत्वाद्ध अस्मान् इति कर्मणि द्वितीया । तद्ध उक्तं भगवता पतञ्जलिना "सुप श्रात्मनः क्यच्" इत्यत्र । "पुत्रीयति माणवकम्" इति प्रस्तुत्य "हे हात्र कर्मणी उपमानकर्म च उपमेय-कर्म च । उपमानकर्म अन्तर्भू तम् । उपमेयकर्मणा सकर्मको भवति" इति 🕸 । हे त्रत्रहन् त्रत्रस्यासुरस्य घातक इन्द्र त्वम् अग्निश्व युवम् युवां ताम् उक्तां शत्रुसेनां प्रति दहतम् प्रातिक्र्ल्येन भस्मी-कुरुतम्।।

हे धनवान् इन्द्र ! आपकी सेवा करने वाले हम निरपराधियों से भी शत्रुकी समान आचरण करती हुई शत्रुसेनाके सामने आप जाइये । हे वृत्रासुरका संहार करनेवाले इन्द्र ! आप और अग्नि देव दोनों ही प्रतिकूल होकर शत्रुसेनाको भस्म करिये॥ ३॥ चतुर्थी ॥

प्रसूत इन्द्र प्रवता हिरिभ्यां प्र ते वर्ज्ञः प्रमृणन्नेतु

शत्रून् ।

जहि प्रतीचो अनूचः पराची विष्वक सत्यं कृणिह

चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥

मर्डसूतः। इन्द्र । मञ्चता । हरिङभ्याम् । म । ते । वजः ।

मृऽमृणन् । एतु । शत्रून् ।

जहि । मतीचः । अनुचः । पराचः । विष्वक् । सत्यम् । कुणुहि । चित्तम् । एषाम् ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ते तब रथः प्रवता प्रवणवता मार्गेण । इन्द्रस्थाना-पेत्तया शत्रुसेनामदेशः मवणः । अनेन अध्वनि रथस्य गतिप्रति-बन्धाभाव उक्तः । 🛞 "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिः । अत्र अर्थग्रहणसामर्थ्यात् वत्यन्तस्यापि अनव्ययत्वम् 🕸 । हरि-भ्याम् एतन्नामकाभ्याम् अश्वाभ्यां युक्तः सन् सु सुष्ठु प एतु शत्रुसेनां प्रामोत् ॥ ततस्ते त्वदीयो वज्रः प्रमृणन् पकर्षेण हिंसन् शत्रून् अस्मदरातीन् मैतु मगच्छतु ॥ त्वं च मतीचः मतिमुखस् ञ्चागच्छतः त्रनुचः त्रनु पश्चाद् त्रागच्छतः पराचः पराङ्गुखं गच्छतश्र शत्रून् जिह विनाशय । 🕸 "हन्तेर्जा" इति हो जादेशः । "असिद्धवद्धः अत्राभात्" इति तस्यासिद्धत्वात् "अतो हैः" इति हेर्लु गभावः । प्रतीच इत्यादिषु प्रत्याद्युपसर्ग उपपदे "ऋत्विग्०" इत्यादिना अश्वतेः विवन् । "श्रनिदिताम् ०" इति नलोपः । शसि ''अचः" इत्यकारलोपे ''चौ" इति दीर्घत्वम् । प्रतीचः अनुचः इत्यत्र उदात्तनिष्टत्तिस्वरेण शस उदात्तत्वम् । "चौ" इति पूर्व-पदान्तोदात्तस्य तदपवादत्वेपि व्यत्ययेनात्र न पृष्टतिः। पराच इत्यत्र उदात्तनिवृत्तिस्वरापवादत्वेन च चुस्वरे पाप्ते परत्वाइ "ग्रानिगन्तोश्चतावप्रत्यये" इति गतेः प्रकृतिस्वर्त्वम् 🕸 । किं च एपाम् शत्रूणां सत्यम् व्यवस्थितं शत्रुहननलत्तरणैककार्योद्यतं चित्तम् अन्तः करणं विष्वक् सर्वतः अञ्चनशीलम् अव्यवस्थितं कार्याकार्यविभागज्ञानशून्यं कुणुहि कुरु । 🕸 "उतश्च प्रत्ययाच्छ-न्दिस वा वचनम्" इति हेर्जुगभावः 🛞 ॥

हे इन्द्र! आपका रथ क्रमशः नीचेको ढलकाव वाले मार्गसे हरिनामक घोड़ोंके साथ शत्रुसेनामें आजावे, तदनन्तर आपका वज्र घोररूपसे संहार करता हुआ शत्रुओंकी ओर बढ़े और आप भी सामनेको मुख करके आतेहुए, पीछेसे आतेहुए और पराङ्-मुख होकर जाते हुए शत्रुओंका संहार करिये। और इन शत्रुओंके शत्रुवधरूप एक ही कार्यमें संलग्न-व्यवस्थित-चित्तको कार्य और अकार्यके समभतनेसे शन्य अव्यवस्थित करिये ॥ ४ ॥ पश्चमी ॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।

अग्नेर्वातस्य भ्राज्या तान् विष्चो विनाशय॥५॥

इन्द्रं । सेनाम् । मोहय । अमित्राणाम् ।

अग्नेः। वातस्य । भ्राज्या । तान् । विषुचः । वि । नाशय । ॥।

हे इन्द्र अभित्राणाम् शत्रूणां सेनाम् स्वकीयया मायया मोहय मृढां विचित्तां [विगत]कर्तव्यता[चेतसं] कुरु । इन्द्रस्य मायासंबन्धः श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धः । "मायाभिरिन्द्र मायिनम्" [ऋ०१.११.७] इति ॥ ततः अग्नेः वातस्य वायोश्र मिलि-तयोस्तयोः [धाज्या ]धाजिः दहनविषये या वेगिता गतिस्तथा-विधया वेगगत्या तयोरेव वा गत्या तान् सेनागतान् शत्रून् विष्ट्यः सर्वतः पलायमानान् कृत्वा वि नाशय । ॐ धाज्येति । धज गतौ इत्यस्मात् वसिविपयिजराजित्रजित्रजित्रतीत्यादिना [उ० ४.१२४] श्रौणादिक इत्र् प्रत्ययः ॐ ॥

हे इन्द्र! आप शतुओंकी सेनाको अपनी मायासे मूढ़ वना दीजिये ‡ तदनन्तर अप्नि और वायुके मिलने पर जो वेगवती दहनगति होती है उनकी समान वेगवाली गति करके आपसेना में उपस्थित शतुओंको चारों ओरसे भगाकर नष्ट करिये।। ४।।

‡ इन्द्रका मायासंबंध अन्य श्रुतिमें मिसद्ध है। यथा-"माया-भिरिन्द्र मायिनम्" ( ऋग्वेदसंहिता १।११।७)॥ षष्टी ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मुरुतां घन्त्वोजसा । चर्चूष्यिसा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

इन्द्रः । से नास् । मोहयतु । मुरुतः । घननतु । त्रोजसा ।

चत्तं िषः । अग्निः । आ । दत्ताम् । पुनः । पृतु । पराऽजिता ६ इन्द्रः देवानाम् अधिपतिः सेनाम् शत्रुसंबिन्धिनीं मोहयतु ॥ तथा तत्सिखभूता मरुतश्च तां सेनाम् ओजसा वलेन घनन्तु । अ इन्तेलोंटि "गमहन०" इत्युपधालोपे "हो इन्तेः०" इति घत्वम् अ ॥ अग्निर्देवः चत्तं िष शत्रूणाम् अत्तीणि आ धत्ताम् स्वयं स्वीकरोतु । अपहरतु इत्यर्थः ॥ एवं मोहनादिना पराजिता पराभूता पुनरेतु प्रतिनिवर्तताम् ॥

[इति ] तृतीयकाएडे प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥
देवतात्र्योंके अधिपति देवराज इन्द्र शत्रुकी सेनाको मोहमें डाल
दें इन्द्रदेवके मित्ररूप मरुद्रण भी उस सेनाका बलपूर्वक संहार
करें, अग्निदेव शत्रुओंके नेत्रोंको स्वीकार करलें अर्थात् हर लेवें
इस प्रकार मोहन आदिसे पराजित हुई शत्रुसेना लोट जावे ६

तृतीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम स्क समाप्त (७२)
"अग्निणों द्तः" इति द्वितीयस्क्तेन परसेनामोहनकर्मणि पूर्वस्कोक्तानि कर्माणि कुर्यात्। सूत्रं तु तत्रैवोदाहृतम्।

"अग्निणों दूतः" इस दूसरे सक्तसे शत्रुसेनाको मोहमें डालना आदि पूर्वसक्तमें कहेहुए कर्म करे। सूत्रका उदाहरण देचुके हैं। तत्र प्रथमा।।

अग्निनी दूतः प्रत्येतं विद्यान् प्रतिदहन्नभिशास्ति-

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जात-वेदाः ॥ १ ॥

अग्निः । नः । द्तः । मतिऽएतः । विद्वान् । मतिऽदहन् । अभिऽशंस्तिम् । अरातिम् ।

सः । चित्तानि । मोहयतु । परेषाम् । निःऽहस्तान्।च । कृणवत्। जातऽवेदाः ॥ १ ॥

अप्तिः अङ्गनादिगुणयुक्तो दृतः देवानां दृतवद्ग अग्रेसरःविद्वान नः अस्माकम् । शत्रून् इति शोपः । अन्यत् पूर्वस्कते व्याख्यातम् । सेनापदस्थाने चित्तानीति विशेषः ॥

श्रंगनादि गुणयुक्त, देवतात्रोंमें दूतकी समान अग्रणी हमारे शत्रुओंको जानने वाले अग्निदेव हिंसक शत्रुओंको भस्म करते हुए उनकी ओर वहें, शत्रुओंके चित्तोंको मोहमें डालें और प्रत्येक जत्पनन हुए पाणीमें विद्यमान अप्रि शत्रुओं के हाथों को आयुध उठानेमें असमर्थ करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अयमग्निरम् मुहद् यानि चित्तानि वो हृदि । वि वो धमत्वोकंसः प्र वे धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

श्रयम् । श्रयिः । श्रमुग्रहत् । यानि । चित्तानि । वः । हृदि ।

वि । वः । धमतु । त्र्योकसः । प्र । वः । धमतु । सर्वतः ॥ २ ॥

हे शत्रवः वः युष्माकं हृदि हृद्ये यानि चित्तानि अस्मदा-कमण्विषयज्ञानानि सन्ति तानि सर्वाणि अयं हुयमानीग्निः अंग नादिगुणयुक्तः श्रम्भुहत् मोहयत् । अ मुहेएर्यन्ताद्व लुङ चिङ् रूपम् अ।। ततो वः युष्मान् श्रोकसः स्वस्वनिवासस्थानाद् वि धमतु विशेषेण निःसारयत् । स्थानभ्रष्टान् करोतु इत्यर्थः॥ श्रिप च भर्वतः सर्वस्मादिष स्थानाद् वः युष्मान् प्रधमतु प्रकर्षेणगम-यत् । स्थानशून्यान् करोतु इत्यर्थः। अध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः। श्रस्मात् लोटि शिष "पाघाध्मा०" इत्यदिना धमादेशः अ॥

हे शत्रुत्रों ! तुम्हारे हृदयमें हमको दवानेके जो विचार है उन सबको यह अग्निदेव मोहग्रस्त करदेवें फिर तुमको तुम्हारे निवास-स्थानसे निकाल देवें ॥ २॥

तृतीया ॥

इन्द्रं चित्तानि मोहयन्नवीङाक्त्या चर ।

अग्नेर्वातस्य भ्राज्या तान् विष्युचो वि नाराय॥३॥

इन्द्रं। चित्तानि । मोहयन् । अर्वोङ् । आऽक्रत्या । चर् ।

श्रमे: । वातस्य । भ्राज्या । तान् । विष्ट्चः । वि । नाश्य ॥३॥

हे इन्द्र चित्तानि शत्रूणां मनांसि मोहयन् आकृत्या अस्मच्छतु-संहरणबुद्धचा सहितः सन् अर्वाङ् शत्रुसेनाभिम्रुखश्चर गच्छ ॥ अन्यद् व्याख्यातम् ॥

हे इन्द्र ! आप शत्रुओं के चिचों को मोहमें डालते हुए हमारे शत्रुओं के संहार करने के भावको मनमें रख शत्रुसेना के सामने घूमिये तथा अगिन और वायुके मिलने पर जो उनकी दहनरूपा प्रचएड गति होती है, तैसी वेगवती गतिसे शत्रुओं को भगाते हुए नष्ट करिये ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

व्याकृतय एषामिताथा चित्तानि मुह्यत ।

अथो यदचैषां हिंद तदेषां परि निर्जिहि ॥ ४ ॥ वि । अ। ऽक्तयः । एपाम् । इत । अथो इति चित्तानि । मुह्यत । अथो इति । यत् । अद्य । एपाम् । हदि । तत् । एपाम् । परि । निः। जहि ॥ ४ ॥

हे व्याक्तयः । विरुद्धाः संकल्पाः यूयम् । एपाम् शत्रूणां मनांसि इत पाप्तुत ॥ अथो अपि च हे चित्तानि शत्रुसंबन्धीनि मनांसि यूयमपि मुहात मौढचं भाष्तुत । यद्दा हे देवाः यूयम् एपाम् शत्रूणां व्याकृतयः विविधाकृत्युत्पादकाः सन्तः इत तान् गच्छत ॥ अथो अपि च तदीयानि चित्तानि मुह्यत मोहयत । 🕸 मुह्यतिरत्र अन्तर्णीत्रात्यर्थः 🕸 ।। अथो अपि च हे इन्द्र एषाम् संग्रामार्थ भरतानां शत्रूणां हदि हदये अद्य इदानीं यत् चिकीर्षितं कार्यजा-तम् अस्ति एषां संबंधि तत् सर्वे परि निर्जिहि परितः सर्वतो नाशय।।

विरुद्ध सङ्कल्पों ! तुम इन शत्रुत्र्यों के मनमें जात्र्यो, श्रीर हे शातुत्र्योंके मनों ! तुम मोहमें पड़ जात्र्यो, हे देवतात्र्यों ! तुम इन शत्रुत्रोंके मनमें अनेक प्रकारके विरुद्ध सङ्कल्पोंको उपजानेके लिये यहाँसे उनके पास जात्रो और उनके चित्तोंको मोहमें डालो श्रोर हे इन्द्र ! संग्रामके लिये उद्यत शत्रुश्रोंके चित्तमें जो विचार भर रहे हैं उन सबको आप नष्ट कर दीजिये॥ ४॥

पश्चमी ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यवे परेहि। अभि प्रेहि निर्देह हत्सु शाकैश्रीह्यामित्रांस्तमंसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥

## (१४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अभीपाम् । चित्तानि । प्रतिऽमोहयन्ती । यहाण । अङ्गानि । अप्वे । परा । इहि ।

श्रमि । प्र । इहि । निः । दह् । हुत्ऽस्र । शोकैः । प्राह्मा । श्रमित्रान् । तमसा । विध्य । शत्रून् ॥ ५ ॥

हे अप्वे अपवाययित अपगमयित सुखं प्राणांश्वेति अप्वा पापदेवता । अ अपपूर्वाद्व वेतेवीयतेर्वा "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति
डप्रत्यये उपसर्गस्यान्त्यलोपश्वान्दसः । यास्कस्त्वाह । अप्वा यद्व
एनया विद्धोऽपवीयते व्याधिर्वा भयं वा [ नि० ६.१२ ]
इति अ । हे तथाविधे पापदेवते अमीषाम् अस्मच्छत्रणां चित्तानि
मनांसि प्रतिमोहयन्ती प्रत्येकं मौद्ध्यं गमयन्ती । अ हेतौ शतपत्ययः अ । प्रतिमोहनाद्धे तोः [ अङ्गानि गृहाण ] । अ गृहाणेति । पाप्तकाले लोट् अ । हे अप्वे त्वत्कर्तृकस्य शत्रुग्रहणस्यायं
प्राप्तः कालः तद्धे परेहि अस्मत्तः पराङ्मुखी सती शत्रुन् गच्छ ।।
गत्वा च अभि महि अभितः सर्वतः शत्रुग्रहारं प्रसर्प । प्रविशेत्यर्थः ।। प्रविश्य च हत्सु हृद्येषु स्थिता सती शोकः रोगभयादिजन्यैर्निर्दह ।। ततः तमसा तमोरूपया ग्राह्या पिशाच्या शत्रुन्
शातियतृन् अभित्रान्द्रेष्यान् विध्यताद्य । मारयेत्यर्थः । अ व्यथ
ताडने । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् अ ।।

हे सुख और पाणोंको हरने वाली अप्या नामक पापदेवते! हमारे शत्रुओंके मनोंको मोहमें डालती हुई तूं उनके अंगोंमें व्याप्त हो। हे अप्वे! तेरा शत्रुओंको ग्रहण करनेका समय आगया है अतः तू हमसे पराङ्मुख होकर शत्रुओंकी ओर जा और जा कर शत्रुओंके शरीरमें घुसजा और शत्रुओंके हृदयमें स्थित हो कर रोग और भय आदिके शोकोंसे उनको भस्म कर फिर तमो-रूप पिशाचीके द्वारा शत्रुओंको ताडित कर, मार डाल ॥ ५॥

#### पष्टीं ॥

श्रुसौ या सेनां मरुतः पेरंषायस्मानित्युभ्योजसा स्पर्ध-माना ।

तां विध्यत तमसापंत्रतेन येथेपामन्यो अन्यं न जानात्

असौ । या । सेना । मुरुतः । परेपाम् । अस्मान् । आऽएति

अभि । श्रोजसा । स्पर्धमाना ।

ताम् । विध्यत् । तमसा । अपेऽत्रतेन । यथा । एषाम् । अन्यः । अन्यम् । न । जानात् ॥ ६ ॥

हे मरुतः असौ परिदृश्यमाना परेपाम् शत्रूणां या सेना ओजसा स्वकीयेन वलातिशयेन स्पर्धमाना अस्माभिः सह संघर्ष युद्धोद्यमं कुर्वाणा सती अस्मान् अभि ऐति अस्मद्भिमुखम् आगच्छति । अ स्पर्ध संघर्षे । लटः शानच् । "तास्यजुदात्तेत्" इति लसार्व-धातुकानुदात्तत्वे शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरः अ ॥ ताम् तथाविधां शत्रुसेनाम् अपत्रतेन । त्रतम् इति कर्मनाम । अपगत-कर्मणा सर्वव्यापारविधातकेन तमसा भवद्भिः मेरितेन मायामयेन अन्धकारेण विध्यत ताङ्यत् ॥ तत्मकारं दर्शयति । एषाम् शत्रूणां मध्ये अन्यः कश्चित् पुरुषः अन्यम् स्वव्यतिरिक्तं पुरुषं यथा येन् मकारेण न जानात् न जानीयात् । तथा विध्यतेति संबन्धः । परस्परवार्तानिभिज्ञान् कृत्वा विनाशयतेत्यर्थः । अ जानात् इति । ज्ञा अववोधने । लेटि "इतश्च लोपः" इति इकारलोपः। "ज्ञाज-नोर्जा" इति जादेशः अ ॥

.[ इति ] तृतीये काण्डे पथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् 🕪 🦠

हे मरुद्रणों ! जो यह शत्रुश्रोंकी सेना अपने बलके कारण हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमारी श्रोर श्रारही है इसको आप अपने मेरित सब कामोंके विघातक मायामय अंधकारसे वींध डालिये। (उसकी रीति यह है, कि—) इन शत्रुश्रोंमें कोई भी पुरुष अपनेसे श्रतिरिक्त दूसरेको न जानसके अर्थात् इनको पर-स्परकी बातोंसे श्रनभिज्ञ रख कर मार डालिये॥ ६॥

तृतीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय स्क समान ( ७३ )

"अचिक्रदत्" इति सक्तेन शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्र-प्रवेशार्थं शत्रुसेनाकारं पुरोडाशम् उदकेषु दर्भान् संस्तीर्य तत्र निनयेत्। ततो निमञ्जनार्थं तं पुरोडाशं लोष्टेन पूरयेत्।।

तथा अनेन सक्तेन स्वराष्ट्रमवेशार्थं चीरौदनं संपात्य अभि-मन्त्र्य राजानम् आशयेत् ॥

श्रत्र सूत्रम् । "श्रचिक्रदत् [ ३. ३ ] श्रा त्वा गन् [ ३. ४ ] इति यस्माद् राष्ट्राद्व श्रवरुद्धस्तस्याशायां सेनावियं पुरोडाशं दर्भे-षूदके निनयति" इत्यादि [ कौ॰ २. ७ ] ॥

श्रित्र "श्रचिकदत्" इत्यस्य साकमेधारूयपर्वणि पूर्वेद्युः क्रिय-माणायाम् श्राग्नेय्याम् इष्ट्यां प्रधानयागानुमन्त्रणे विनियोगः । उक्तं वैताने । "कार्तिक्यां साकमेधाः । पूर्वेद्युरिष्ट्याम् श्रग्नेरनी-कवतोचिक्रदत्" इति [ वै० २. ४ ] ।।

"अचिकदत्" सक्तसे शत्रुसे निकाले हुए राजाको फिर अपने राज्यमें मवेश करानेके लिये शत्रुकी सेनाके आकार वाले पुरी-डाशको जलमें कुशा फैलाकर उन पर रक्खे, तदनन्तर उसको डबानेके लिये उस पुरोडाश पर मट्टीके ढले रक्खे ॥

तथा इस सक्तसे अपने राष्ट्रमें प्रवेशकरानेके लिये चीरौदनका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके राजाको प्राशन करावे ॥ इस विषयमें सूत्रका प्रमाणभी है, कि—"अचिकदत् (३।३) आत्वा गन् (३१४) इति यस्माद् राष्ट्रान् अवरुद्धस्तस्याशायां सेनाविधं पुरोडाशं दर्भेषूदके निनयति०"(कौशिकसूत्र २।७)

"श्रचिकदत्" का साकमेध नाम वाले कर्ममें पहिले दिन की जाने वाली आग्नेयी इष्टिके मधानयागानुमन्त्रणमें विनियोग है। इस विषयमें वैतानसूत्रका ममाण है, कि—"कार्तिक्यां साकमेधाः। पूर्वेद्युरिष्ट्यां अग्नेरनीकवतोचिकदत्" (वैतानसूत्र २।५)॥

तत्र प्रथमा ॥

अचिकदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्य चिस्व रोदंसी उरूची।
युअन्तं त्वा मुरुते विश्ववेदस आमं नंय नमसा
रातहंव्यम् ॥ १ ॥

श्रविकदत् । स्वऽपाः । इह । भुवत् । अमे । वि । असस्य । रोदसी इति । उरूची इति ।

युझन्तु । त्वा । मुरुतः । विश्वऽवेदसः । आ । अग्रुम् । नय ।

नमसा । रातऽइंब्यम् । १।।

हे अग्ने असौ स्वराष्ट्रात् प्रच्युतो राजा अचिकदत् पुनः स्व-राष्ट्रप्रवेशाय त्वाम् आहयति । पार्थयत इत्यर्थः । अ कदि कदि क्लिद आहाने रोदने च । अस्माद् एयन्ताद् लुङ चिङ रूपम् । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः अ ॥स त्वदनुग्रहात् इह स्वराष्ट्रे स्वपाः स्वकीयानां प्रजानां पालकः स्रुकमी वा अवत् भवतु । अ भवतेर्लेटि अडागमः । ब्रान्दसः शपो लुक् । "भूसु-वोस्तिङ" इति गुणप्रतिषेधे उवङ् अ ॥ तद्रच्नणार्थं त्वं च उरूची उरूच्यौ उर्वश्चने । व्यापनशीले इत्यर्थः । अ उरुपूर्वाद् [ अश्चतेः ] "श्रश्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । उदात्त[निष्टित्ति]स्वरेण ङीप उदात्तत्वम् अ । ईद्दशौ रोदसी रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ व्य-चस्व व्याप्नुहि । अ व्यचितव्यीप्तिकर्मा अ ।। अपि च विश्व-वेदसः सर्वविषयज्ञानयुक्ता मरुतः एतन्नामान एकोनपश्चाशत्सं-ख्याका देवाः हे अप्रे त्वा त्वां युञ्जन्तु प्राप्नुवन्तु । त्वत्सहाया भवन्तु इत्यर्थः । अ विश्ववेदस इति । विद ज्ञाने इत्यस्माद् भावे असुन् । "बहुत्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्ता-त्वम् अ । [ नमसा ] नमस्कारेण युक्तं रातहव्यम् दत्तहविष्कम् अप्रुम् उक्तलन्तणं राजानम् आ नय पुनः स्वराष्ट्रं प्रापय ।।

हे अग्ने! यह अपने राज्यसे च्युत हुआ राजा फिर अपने राज्यमें प्रवेश करने के लिये आपका आहान करता है, आपकी प्रार्थना करता है, यह आपके अनुग्रहसे अपनी प्रजाओं का पालन करने वाला हो, इसकी रचा करने के लिये आप व्यापनशील द्यावापृथिवीमें व्याप्त होजाइये और हे अग्ने सब विषयों का ज्ञान रखने वाले मरुत्नामक उड़आस देवता आपकी सहायता करें। नमस्कार करने वाले और हिव अपीण कर चुकने वाले इस राजाको आप फिर राज्य पर प्रतिष्ठित करिये।। १।।

द्वितीया ॥

दूरे चित् सन्तमरुपास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय

यद् गांयत्रीं बृह्तीमुर्कमंस्मै सौत्राम्एया दर्घवन्त देवाः

दूरे । चित् । सन्तम् । अरुपासः । इन्द्रम् । आ । च्यावयन्तु ।

सख्यायं । विषम् ।

यत्। गायत्रीम्। बृहतीम्। अर्कम्। अस्मै। सौत्राम्एया । दधपन्त । देवाः ॥ २ ॥

अरुपासः आरोचमानाः दीप्यमानाः । 🗞 अरुप आरोचनाद् इति यास्कः [ नि० १२. ७ ] 🛞 । ऋत्विजः दूरे चित् सन्तम् । चित् शब्दः अप्यर्थे । स्वर्गे वसन्तं विद्यमानमपि वित्रम् । मेधा-विनामैतत् । मेधाविनम् इन्द्रं सख्याय अस्य राज्ञः सखिकर्मणे साहाय्याचरणाय । क्क "सख्युर्यः" इति यः क्क । आ च्याव-यन्तु आगमयन्तु ॥ स्रानेतव्यस्येन्द्रस्य स्राधित्रयं दर्शयति । यत यस्मात् कारणाद् देवाः मसिद्धाः अस्मा इन्द्राय गायत्रीम् सोमा-हरणादिना मरूयातवीर्यं गायत्र्याख्यं छन्दः बृहतीम् अस्मान्न्यू-नाधिकात्तराणाम् अन्येषां बन्दसां प्रधानभूताम् । बृहत्याः प्राधा-न्यं च अन्यत्र श्रुयते । "यानि च छन्दांस्यत्यरिच्यन्त यानि च नोदभवन् तानि निर्वीयोणि हीनान्यमन्यन्त । सात्रवीद् बृहती । मामेव भूत्वा माम् उपसंश्रयतेति" [तै० ब्रा० १. ५. १२. ३] ''बृहती छन्दसां स्वाराज्यं परीयाय" इति । अर्कम् अर्चनसाध-नभूतं मन्त्रात्मकं बृहदुक्थात्मकं शस्त्रम् सौत्रामएया। सुष्ठु त्रायत इति सुत्रामा इन्द्रः । तद्दे वत्यया क्रियया दृष्ट्रपन्त अधारयन् । गायत्र्यादिभिरिन्द्रम् अतिशयितवीर्यम् अकुर्विन्तत्यर्थः । यद्वा गायच्यादिकम् अस्मा इन्द्राय । प्रायच्छन् इति शेषः ॥ तथा सौत्रामएया एतन्नामकेन हविर्यज्ञेन देवा दध्यन्त । पूर्व विस्नस्ता-वयवम् इन्द्रं पुनः सर्वावयवोपेतम् अकुर्विनत्यर्थः । श्रूयते हि । "इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्य परापतत् । तद् देवाः सौत्रामएया समभरन्" [तै॰ सं॰ ५, ६, ३, ४ ] इति । तस्माद् अतिशयितवीर्ययोगात् तमेव आ च्यावयन्तु इति संबन्धः ॥

हे प्रदीप्त ऋत्विजों ! आप दूर अर्थात् स्वर्गमें भी विद्यमान

## (२०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

बुद्धिमान् इन्द्रको इस राजासे मित्रता करनेके लिये अर्थात् इसकी सहायता करनेके लिये लाइये, क्योंकि—देवताओंने इस इन्द्रमें सोम लाना आदिसे प्रसिद्ध वीर्य वाले गायत्रीच्छन्दको और इससे न्यून अत्तरवालोंमें प्रधान बृहती † छन्दको और पूजनके साधन बृहदुक्थ मन्त्ररूप शस्त्रको सौत्रामणिके द्वारा स्थापित किया है अर्थात् गायत्री आदिसे इन्द्रको परमवीर्यवान् कर दिया है। वा गायत्री आदि इसको दी हैं और सौत्रामणि नाम वाले इिवर्यक्रसे पहिले टूटे फूटे अंग वाले इन्द्रको देवताओंने सब अयववोंसे संयुक्त कर दिया है ‡ इस कारण परमवीर्यवान् इन्द्रको ही लाइये॥ २॥

वृतीया ॥

अद्भवस्त्वा राजा वरुंणो ह्रयतु सोमंस्त्वा ह्रयतु पर्वतभ्यः।

† बृहतीछन्दका प्राधान्यत्व अन्यत्र भी प्रसिद्ध है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १। ५। १२। ३ में कहा है, कि—''यानि च छन्दांस्य-त्यिरच्यन्त यानि च नोदभवन तानि निर्वीर्याण हीनान्यमन्यन्त। सात्रवीद्ध बृहती। मामेव भूत्वा मां उपसंश्रयतेति। —जो छन्द बढ़े हुए थे और जो उठ नहीं सके थे उन्होंने अपनेको हीन और निर्वीर्य माना। उस समय बृहतीने कहा, कि—मेरा आश्रय लो"। "बृहती छन्दसां स्वाराज्यं परियाय।—वृहतीको छन्दोंका स्वाराज्य प्राप्त हुआ"।।

‡ तैत्तिरीयसंहिता ५ । ६ । ३ । ४ में कहा है, कि-"इंद्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्य परापतत् । तद् देवाः सौत्रामएया समभरन्" ॥

इन्द्रंस्त्वा ह्रयतु विद्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश् आ पतिमाः ॥ ३ ॥

अत्रक्षः । त्वा । राजा । वर्षणः । ह्रयतु । सोमः ।त्वा । ह्रयतु । प्रीमः ।त्वा । ह्रयतु । प्रीमः ।त्वा । ह्रयतु ।

इन्द्रः । त्वा । ह्वयतु । विट्ऽभ्यः । श्राभ्यः । श्येनः । भूत्वा । विशः । श्रा । पत् । इमाः ॥ ३ ॥

हे परेरवरुद्धराष्ट्र राजन त्वा त्वां वरुणो राजा अद्भवः स्वसंबन्धिनीभ्यः सकाशाद हयतु आकारयतु । अ अद्भव इति ।
"अपो भि" इति तकारः अ ॥ तथा सोमः लतारूपेणावस्थितः
पर्वतेभ्यः स्वनिवासस्थानेभ्यः त्वां हयतु ॥ इन्द्रश्च विट्पतिः ।
"स्वस्तिदा विशां पतिर्वत्रहा विमुधो वशी । दृषेन्द्रः" [ऋ०१०.१५२.२] इति श्रूयते । आभ्यः यासु प्रजासु त्वम् इदानीं निवससि आभ्यो विद्भ्यः प्रजाभ्यः सकाशात् त्वा त्वां हयतु ।
राज्यअष्ठस्य राज्ञः त्रीणि निवासस्थानानि संभावितानि । समुद्रमध्यम् पर्वताः देशान्तरं वा । तेभ्यः सर्वभ्यः स्वकीयभ्यो वरुणादयस्त्वाम् आह्यन्तु । पुनः स्वराज्यप्रवेशायेत्यर्थः ॥ एवं तैर्देवैराहृतस्त्वम् इमाः स्वकीयाः पूर्व पालिता विशः प्रजाः श्येनो
भूत्वा । श्येनः पत्तिविशेषः । स इव शीघ्रगतिः परेरनाधितश्च
भूत्वा आ पत आगच्छ । अ पत्लृ गतौ । लोटि "अतो हेः"
इति हेर्जु क् अ ॥

दूसरोंने जिसका राज्य दवा लिया है, हे ऐसे राजन ! बरुण तुमको जलसे बुलावें, तथा लतारूपसे स्थित सोम अपने निवास-स्थान पर्वतोंसे तेरा आहान करें और प्रजाओंके स्वामी इन्द्रदेव तुभको जिन प्रजाओं में तू आज कल निवास † कर रहा है, जन प्रजाओं से तुभको बुलावे तात्पर्य यह है, कि—राज्यसे श्रष्ट हुएके समुद्र पर्वत और देशान्तर ये तीन निवासस्थान होते हैं, जन सब अपने स्थानों से वरुण आदि अपने राज्यमें प्रवेश कराने के लिये बुलावें। इस प्रकार उन देवताओं के बुलाने पर तू अपनी पूर्वपालित प्रजाओं में शत्रुओं से अप्रधृष्य होकर रयेनकी समान शीघ गतिसे आ।। ३।।

## चतुर्थी ॥

श्येनो हुव्यं नयत्वा परस्मादन्यचेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्। अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं तं इमं संजाता अभि-संविशध्वम् ॥ ४ ॥

रयेनः । हुव्यम् । नयतु । त्रा । परस्मात् । अन्यऽक्षेत्रे । अपऽरु-द्रम् । चरन्तम् ।

अश्विना । पन्थाम् । कुणुताम् । सुऽगम् । ते। इमम् । सुऽजाताः। श्रभिऽसंविश्वध्वम् ॥ ४ ॥

श्येनः शंसनीयगितः द्युस्थानो देवः अन्यक्षेत्रे परराष्ट्रे अवस्-द्धम् शत्रुभिर्निरुद्धं चरन्तम् वर्तमानम् अत एव हव्यम् हातव्यम्। अ "वहुतां अन्दिस" इति हः संप्रसारणम् अ। ईदृशं तं राजानं परस्मात् परराष्ट्राद् आ नयतु स्वदेशं प्रति प्रापयतु॥

† ऋग्वेदसंहिता १० । १५२ । २ में कहा है, कि-"स्वस्तिदा विशां पतिर्देत्रहा विमुधो वशी । रूपेन्द्रः ।—इन्द्र स्वस्ति देने वाले, प्रजात्रों के पति, रूत्रासुरके संहारक और युद्ध (करने वालों) को वशमें करने वाले तथा वर्षा करने वाले हैं"।। तथा हे राजन तेतव अश्विना अश्वनो देवो । अ"सुपां सुलुक्०" इत्याकारः अ । पन्थाम् पन्थानम् । अ छान्दसम् आत्वं नलोपो वा अ । आगमनमार्ग सुगम् सुखेन गन्तुं योग्यं निरोधकशत्रु-शून्यं कृत्युताम् कुरुताम् । अ सुगम् इति । "सुदुरोरधिकरणे" इति डः अ । हे सजाताः समानजन्मानो वन्धवः यूयम् इमम् पुनः स्वराष्ट्रं प्रविष्टं राजानम् अभिसंविशध्वम् अभितः सर्वतः प्रविश्य संविशध्वम् उपविश्य सेवध्वम्। अविश्येव्यत्ययेन आत्मनेपदम् अ॥

प्रशंसनीय गति वाले स्वर्गनिवासी देव दूसरेके राज्यमें शत्रुत्रों के रोकनेके कारण पड़े हुए अत पव आह्वान करने योग्य तुभ राजाको दूसरेके राष्ट्रसे अपने देशमें पहुँचावें तथा हे राजन! अश्विनीकुमार देवता आगमनके मार्गको शत्रुको निरोधसे श्रून्य अत एव सुखसे गमन करने योग्य करें। हे बांधवों! तुम अपने फिर आये हुए इस राजासे मिल कर इसका सेवन करो।।।।।।

ह्वयन्तु त्वा प्रतिज्नाः प्रति मित्रा अवृषत । इन्द्रामी विश्वे देवास्ते विशि चेममदीधरन् ॥ ५ ॥

ह्यन्तु । त्वा । प्रतिऽजनाः । प्रति । मित्राः । अवृषत ।

इन्द्रामी इति । विश्वे । देवाः । ते । विशि । क्षेमम् । अदीधरन् ॥४॥ पतिजनाः हे राजन् त्वा त्वां वयन्तु सांतत्येन सेवन्ताम् ।

भारजनाः ह राजप् स्वार्था प्रवाह तास्तार स्वाह्म अविकास स्वाह्म स्वाह्

( 48

नम् । विद्धु प्रजासु ते तव क्षेप्रम् रत्तराम् अदीधरन् धारयन्तु कुर्वन्तु । क्ष धारयतेरार्यन्तात् लुङि चङि रूपम् क्ष ॥

हे राजन ! जो तुम्हारे मनुष्य तुमसे प्रतिकृत रहते थे वे सदा तुम्हारी सेवा करें और तुम्हारे मित्र तुमसे प्रतिकृत रहते थे, वे विरोधको त्याग कर तुमसे प्रेम करें। इन्द्र अग्नि और विश्वेदेवता प्रजाओं के रचणकी शक्तिको तुम्ममें स्थापित करें प्र

षष्ठी ॥

अस्ते हवं विवदंत् सजातो यश्च निष्ट्यः । अपात्रमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहावं गमय ॥ ६ ॥

यः । ते । हवम् । विऽवदत् । सऽजातः । यः । च । निष्टचः ।

अपाञ्चम्।इन्द्र।तम्।कृत्वा। अर्थ। इमम्। इह। अव। गुमुय्।।६॥

हे राजन ते तव हवम् स्वराष्ट्रप्रवेशविषयं पुनराह्वानं यः सजातः समानजन्मा । समवल इत्यर्थः । यश्च निष्ट्यः नीचः । निकृष्टवल इत्यर्थः । अ "श्रव्ययात् त्यप्" इत्यत्र "निसो गते" इति वचनात् त्यप् । हस्वात् तादौ तिद्धते" इति सकारस्य मूर्थन्यः अ । श्रन्योरन्यतरः कश्चिद् त्रिवदत् विवदेत् नानुमन्येत । अ विपूर्वाद् वदेर्लेटि श्रद्धागमः अ । हे इन्द्र तम् उभयविधं शत्रुम् श्रपाश्चम् श्रपगतं वहिष्कृतं कृत्वा श्रथं श्रनन्तरम् इमम् पकृतं राजानम् इह श्रिस्मन् राष्ट्रे श्रव गगय वोधय राष्ट्रस्य श्रयमेव राजेति प्रख्यापयेत्यर्थः ॥

इति प्रथमेनुवाके तृतीयं सुक्तम् ॥

हे राजन ! तेरे राज्य फिर प्रवेश-विषयक आह्वानका जो सम बल वाला वा न्यून बल वाला वा इन दोनोंसे आति-रिक्त और कोई अनुमोदन न करे हे इन्द्र ! इन सब प्रकारके शत्रुत्रोंको बहिष्कृत करके तुम इस वास्तविक राजाको इस राष्ट्रमें (यही राजा है इस प्रकार ) प्रसिद्ध करो ॥ ६ ॥

मधम अनुवाकमं तीसरा स्क समात ( ७४ )॥

"श्रा त्वा गन्" इति स्कोन स्वराष्ट्रप्रवेशकर्मण्येव पूर्वस्को-क्तानि कर्माणि कुर्यात् । सूत्रं तु तत्रैवोदाहृतस् ।।

अत्र "पथ्या रेवतीः" [ ७ ] इत्येषा प्रायणीयेष्ट्यां पथ्या-स्वस्तियागानुमन्त्रणे विनियुक्ता । "दीक्तान्ते प्रायणीयायाम्" इति प्रक्रम्य "पथ्या रेवतीः [७] वेदः स्वस्तिः" [७. २६. १] इति हि वैतानं सूत्रम् [ ३. ३ ]॥

'आ त्वा गन्' इस सक्तसे स्वराष्ट्रप्रवेशकर्ममें ही पूर्वसक्तमें कहे हुए कर्म करे। सूत्रको पहिले ही लिख चुके हैं।

इस स्करि 'पथ्या रेवती' नामवाली सातवीं ऋचाका प्रायणेष्टि के पथ्यास्वस्तियागानुमन्त्रणमें विनियोग है। वैतानस्त्र ३।३ का इस विषयमें प्रमाण है, कि—''दीन्नान्ते प्रायणीयायाम्" इति प्रक्रम्य ''पथ्या रेवतीः (७) वेद स्वस्तिः'' (७।२६।१)॥

तत्र प्रथमा ॥

आ त्वां गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ्विशांपति-रेकराद् त्वं वि राज ।

सर्वास्तवा राजन् प्रदिशो ह्रयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह आ त्वा । गुन् । राष्ट्रम् । सह । वर्चसा । उत् । इहि । पाङ्।

विशाम् । पतिः । एकऽराट् । त्वम् । वि । राजु ।

सर्वाः । त्वा । राज्न । प्रदेदिशः। ह्वयन्तु। जप्रसद्यः। नुमस्यः।

. भवा इहा। १॥..

हे राजन त्वा त्वां राष्ट्रम् शत्रुभिराक्रान्तं स्वकीयं राज्यम् त्रा गन् पुनरागमत् । अगमेर्लुङ "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । ''मो नो धातोः'' इति नत्वम् अः ।। ततस्त्वं वर्चसा वलेन सह **उदिहि उदितः प्रख्यातो भव । ॐ इणो लोट् ॐ ।।** अन-न्तरं प्राक् पूर्व विशाम् प्रजानां सर्वासां पतिः पालकः सन् एक-राट् निःसपत्नो ग्रुख्यो राजा भूत्वा त्वं वि राज विशेषेण दीप्य-स्व । 🛞 एकराडिति । एकशब्दोपपदाद्व राजतेः ''सत्सूद्विष०'' इति क्विप्। "ब्रश्च०" इत्यादिना पत्वम्। जश्त्वचर्त्वे 🛞 ॥ हे राजन् त्वा त्वां सर्वाः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः पाच्याद्याः तद्भि-मानिन्यो देवताः तत्रस्था जना वा इ्वयन्तु स्वामित्वेन श्रमुजा-नन्तु ॥ इह श्रस्मिन् स्वकीये राष्ट्रे उपसद्यः सर्वेरुपसदनीयः सेव्यः । 🛞 व्यत्ययेन यत् 🛞 । नमस्यः नमस्कार्यश्च भव । % "नमोवरिवश्चित्रङ: क्यच्" इति क्यच् । तदन्ताइ "अचो यत्" इति कर्मणि यत् । अतोलोपयलोपौ । "तित् स्वरितः" अ। यद्दा नमस्यः नमस्काराईः । 🕸 "छन्दसि च" इति यः । छान्द-सम् श्रन्तस्वरितत्वम् %॥

हे राजन्! शत्रुओं पर दवा हुआ तुम्हारा अपना राज्य तुम्हें फिर प्राप्त होगथा है, अतः बलके साथ उदय हो-प्रसिद्ध हो। फिर पहिले तुम प्रजाओंके पालक बनते हुए शत्रुरहित मुख्य राजा बनकर विशेषरूपसे दीप्त हो, हे राजन्! पूर्व आदि सब श्रेष्ठ दिशाओंके अभिमानी देवता और पूर्व आदि दिशाओंमें रहने वाले मनुष्य तुमको स्वामीरूपमें जानें और अपने राज्यमें तुम सबसे सेवनीय और सबके नमस्कारके पात्र बनो।। १।।

द्वितीया ॥

त्वां विशो वृणतां राज्यायि त्वामिमाः प्रदिशः पत्रं देवीः

# वर्ष्मन् राष्ट्रस्यं ककुदिं श्रयस्व ततो न उग्रो वि भंजा वसूनि॥ २॥

त्वाम् । विशः । वृष्णताम् । राज्या य । त्वाम् । इमाः । प्रऽदिशः । पश्च । देवीः ।

वर्ष्मन् । राष्ट्रस्यं । ककुदि । श्रयस्व । ततः । नः । उग्रः । वि ।

भज । वस्त्रीन ॥ २ ॥

हे राजन त्वां विशः प्रजा राज्याय । अ राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् । "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" इत्यत्र पुरोहितादिषु "राजाऽसे" इति पाठाद्व यक् 🛞 । राजभावाय राजकर्मणे वा वृक्तताम् संभजताम् ॥ तथा इमाः परिदृश्यमानाः मदिशः माच्याद्याः पश्च मध्यदिशा सह पश्चसंख्याका देवीः देव्यो घोतमानाः। दृण-ताम् इति संवन्धः ॥ ततः राष्ट्रस्य वर्ष्मन् वर्ष्मणि शरीरे । 🛞 सप्तम्या लुक् । "न ङिसंवुद्धचोः" इति नलोपपतिषेधः 🕸 । स्वपालनीयभूशरीर इत्यर्थः । तत्रापि ककुदि ककुदीवोन्नते स्थाने पशस्ते वा सिंहासने अयस्व आरस्व ॥ ततः उपवेशानन्तरम् उग्रः उद्गूर्णवलः श्त्रुभिरनभिभाव्यः सन् वसुनि धनानि नः अस्माकं सेवकानां वि भज यथायोग्यं प्रयच्छ । 🕸 "द्यचोऽतस्तिङः" इति सांहितिको दीर्घः 🕸 ॥

हे राजन् ! प्रजाएँ आपको राजकर्म करनेके लिये वरण करें ये जो मध्यदिशासहित पूर्व आदि दमकती हुई पाँच श्रेष्ठ दिशायें हैं, ये आपकी सेवा करें, तदनन्तर आप राष्ट्रकेशरीर (भूशरीर) के ककुद्दकी समान उन्नत प्रशस्त सिंहासन पर बैंडिये। श्रीर सिंहासन पर बैठनेके श्रनन्तर प्रचएड बलवाले होकर इम सेवकों को यथायोग्य धन दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अच्छ त्वा यन्तु ह्विनं सजाता अग्निर्ते अजिरः सं चराते ।

जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बर्लि प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥

अच्छ । त्वा । यन्तु । हविनः । सऽजाताः । अप्तिः । द्तः । अजिरः । सम् । चराते ।

जायाः । युत्राः । सुऽमनसः । भवन्तु । बहुम् । बिलम् । प्रति । परयासै । उग्रः ॥ ३ ॥

हे राजन त्वा त्वां सजाताः समानजन्मानः अन्ये राजानो हिवनः। हवम् आह्वानम् आज्ञारूपम एषाम् अस्तीति हिवनः तादृशाः सन्तः। अच्छ इत्याभिमुख्ये। [यन्तु]अभिगच्छन्तु। सर्वे राजानस्त्वदाज्ञावशवितंनो भवन्तु इत्यर्थः॥[तथा] अजिरः त्वया मेरितः गमनशीलो वा दृतस्त्वदीयो भटः अग्निः। लुप्तोपम् एतत्। अग्निरिव अपधृष्यः सं चराते संचरतु। असंपूर्वाचरतेलेटि आडागमः। "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः। अजिर इति। अज गतिक्षेपणयोः इत्यस्मात् अजिरशिशिरशिथिल० [ उ १. ५३ ] इत्यादिना किरजन्तो निपातितः अ॥ अपि च जायाः भार्याः पुत्राश्च तदुपलित्तताः सर्वे वान्धवाः सुमनसः पुनःस्व-राष्ट्रप्राप्त्या सौमनस्ययुक्ता भवन्तु। अभिनेनसी अलोमोषसी" इत्युक्तरपदाद्युदाक्तत्वम् अ॥ उग्रः उद्ग्यूर्णवलस्त्वं बहुम् अधिकं बहुविधं वा विलम् उपायनं करं वा प्रति पश्यासे प्रतिमुखम् आगतं पश्य। अपतिपूर्वाद् दशेलेंटि व्यत्ययेन आत्मनेपदम्। अडैत्वे पूर्वतत् अ॥।

हे राजन ! आपके सजातीय अन्य राजे आपकी आहान रूप आज्ञाको मानते हुए आपके सामने आवें अर्थात् सब राजे आपकी आज्ञामें रहें और आपका मेरित दृत अग्निकी समान अप्रधृष्य रूपसे विचरण करें और आपकी स्त्री पुत्र बांधव आदि फिर राज्य मिलनेसे प्रसन्न मन वाले हों और प्रचण्ड बल वाले आप सामने आई हुई भेटोंको देखें।। ३।।

चतुर्थी ॥

अश्वना त्वांभे मित्रावरुणोभा विश्वं देवा मरु

तस्ता ह्यन्तु।

अधा मने। वसुदेयांय कृणुष्व तते। न उग्रो वि

भंजा वसृनि ॥ ४ ॥

अश्यना । त्वा । अग्रे । मित्रावरुणा । उभा । विश्वे । देवाः।

मरुतः । त्वा । ह्वयन्तु ।

अध । मनः विसु ऽदेयाय । कृशुष्व । ततः । नः । उग्नः । वि ।

भज। बसुनि ॥ ४॥

हे राजन् त्वा त्वाम् अग्रे प्रथमम् अश्वना अश्वनो देवो उभा उभो मित्रावरुणा मित्रावरुणो च । ह्वयन्तु इति संबन्धः ॥ तथा त्वा त्वा विश्वे देवाः मरुतश्च ह्वयन्तु राज्यप्रवेशं कारयन्तु ॥ अध अध राज्यप्रवेशानन्तरम् । अध "निपातस्य च" इति साहि-तिको दीर्घः अध । हे राजन् मनः त्वदीयं वसुदेयाय अधिभ्यो धनप्रदानाय कृणुष्व कुरु । अध कृविहिंसाकरणयोश्च । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । वसुदेयायेति । "अचो यत्" इति भावे यत् ।

"ईद्यति" इति ईकारान्तादेशः। "यतोऽनावः" इत्याद्युदात्तत्वस्। समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् अ।। ततो न इत्यादि व्याख्यातस्

हे राजन ! अश्वनीकुमार और मित्रावरुण नामक दोनों देवता आपका राज्यमदेश करावें और मरुद्भदेवता भी आपको राज्यमवेश करावें, फिर राज्यमवेशके अनन्तर आप अपने मनको याचकोंको घन देनेमें लगाइये और मचएडबलसम्पन्त होकर हमको यथायोग्य धन दीजिये ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

आ प्रदंव पर्मस्याः परावतः शिवे ते द्यावाष्ट्रिश्वी उभे स्ताम् ।

तद्यं राजा वरुण्स्तथाहु स त्वायम्बत् स उपेदमेहि ५

आ। म। द्वा परमस्याः । पराऽवतः । शिवे इति । ते ।

यावाष्ट्रियी इति । जुभे इति । स्ताम् ।

तत्। अयम्। राजा। वरुणः। तथा। आह्। सः। त्वा।

अयम् । अहत् । सः । उप । इदम् । आह । इहि ॥ ५ ॥

हे द्रदेशस्थित राजन परावतः । द्रनामैतत् । परमस्याः परा-वतः अत्यन्तद्रदेशात् आ म द्रव स्वराष्ट्राभिग्रुखं शीद्रम् आगच्छ । अप्यमस्या इति । व्यत्ययेन स्याडागमः । [परावत इति । ] "उप-सर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति वतिः । अत्र अर्थप्रहणसामर्थ्यात् लिङ्गसंख्यायोगः समर्थितः अ ॥ स्वराष्ट्रं मित्रशतः ते तव उभे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यो शिवे मङ्गलकारिएयो स्ताम् भव-ताम् । अ अस्तेर्लोटि तसस्ताम् । "असोर्ह्लोपः" इति अकार- लोपः अ। तत् तस्मिन् त्वदागमनिवषये अयं वरुणो राजा तथा यथा प्राग्तकं तथा तेनैव पकारेण आह ब्रूते। सोयम् उक्तो वरु-एम्त्वा त्वाम् आहत् आहयति। अह्यतेरुकान्दसे लुङि "लिपि-सिचिह्य" इति अङ्। "आतो लोप इटि च" इति आकार-लोपः अ।। स वरुणेनाहृतस्त्वम् इदम् स्वराष्ट्रम् उपेहि उपागच्छ।।

हे दूरदेशमें स्थित राजन ! अत्यन्त दूर देशसे अपने राष्ट्रकी ओर शीधतासे आइये अपने राष्ट्रमें प्रवेश करते समय धी और पृथिवी आपका मंगल करनेवाले होवें, यह राजा वरुण भी आपके आगमनके विषयमें जैसे पहिले कहा था, तैसे कहते हैं, यह वरुण देव आपका आहान करते हैं, इस प्रकार वरुणदेवके बुलाने पर आप अपने राज्यमें आइये ॥ ४ ॥

पष्ठी ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्या हैः पेरिह सं हाज्ञास्था वरुणैः संविदानः। स त्वायमहत् स्वे सुधस्थे स देवान् यंज्ञत स उ कल्पयाद् विशाः ॥ ६ ॥

इन्द्रेऽइन्द्र । मनुष्याः । परा । इहि । सम् । हि । अज्ञास्थाः

वरुणैः सम्ऽविदानः।

सः। त्वा । श्रयम् । श्रहत् । स्वे । सधुऽस्थे । स । देवान् ।

युत्तत् । सः ऊं इति । कुल्पयात् । विशः ॥ ६ ॥ इन्द्रेन्द्र । आदरार्थे पुनर्वचनम् । हे इन्द्र परमेशवर्ययुक्त मनुष्याः मनुष्यान् अस्मान् । अशासो नत्वाभावश्वान्दसः अशास्याः मनोरपत्यभूताः प्रजाः प्रति परेहि आगच्छ । हि यस्मात् कार- णात् हे इन्द्र त्वं वहणैः वहणेन संविदानः ऐकमत्यं प्राप्तः।
पूजायां बहुवचनम्। सम् अज्ञास्थाः एतदाहवानविषये समानज्ञानवान् असि तस्माइ आगच्छेति संबन्धः। ॐ ज्ञा अववोधने।
अस्मात् लुङि "संप्रतिभ्याम् अनाध्याने" इत्यात्मने पदम् ॐ ॥
सोयं वहणेन ऐकमत्यं प्राप्त इन्द्रः हे राजन् त्वा त्वाम् अह्वत्
आह्वयति। ततः स्वराष्ट्रं प्रविशेति शेषः॥ प्रविश्य च स्वे स्वकीये सधस्थे सहस्थाने स्वराष्ट्रं। ॐ सहशब्दोपपदात् तिष्ठतेरिधकरणे कः। "सधमादस्थयोश्चन्दिस्" इति सहस्य सधादेशः ॐ।
तत्र वर्तमानः स राजा देवान् इन्द्रादीन् यत्तत् यजतु। ॐ यजेलेटि अडागमः। "सिव्बहुलम्०" इति सिज् ॐ॥ स च स प्व
राजा विशः मजाः कल्पयात् स्वस्वव्यापारेषु कल्पयत् नियुद्धाम्।
ॐ कल्पयतेर्लेटि आडागमः ॐ॥

हे परमैश्वर्ययुक्त इन्द्रदेव ! मनुकी सन्तानभृत मजाओं के पास आप आइये । क्योंकि—आपने वरुणदेवके साथ सम्मित करके इस राजाके आह्वानके विषयकी आज्ञा दी है इस कारण आप आइये । हे राजन ! वरुणके साथ एकमत हुए ये इन्द्र आपका आह्वान करते हैं अतः अपने राज्यमें मवेश करिये ॥ अपने राज्य में मवेश करके यह राजा इन्द्र आदि देवताओं का यजन करे और यही राजा मजाओं को अपने २ व्यापारमें नियुक्त करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अकन् ।

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्रयन्तु दशमीमुग्रः सुमनां वशेह ॥ ७॥

पथ्याः। रेवतीः। बहुऽधा। विऽरूपाः। सर्वाः। सम्डगत्य। वरीयः। ते। अकन्।

ताः। त्वा । सर्वाः । सम्ऽविदानाः । ह्वयन्तु । दशमीम् । उग्रः ।

सुऽमनाः । वश । इह ॥ ७ ॥

रेवतीः रैमत्यः धनवत्यः। 🛞 ''छन्दसीरः'' इति मतुपो वत्वम्। "रयेर्पतौ बहुलम्" इति संपसारणम् । पररूपत्वम् । गुणः । "रेशब्दान्मतुप उदात्तत्वं वक्तव्यम्" इति मतुप उदात्तत्वम् । "वा छन्दिस" इति पूर्वसवर्णदीर्घः 🕸 । पथ्याः पथोऽनपेताः मार्गहितकारिएयः एतत्संज्ञा देवताः। क्ष्र "धर्मपथ्यर्थन्यायाद् अनपेते" इति यत् 🛞 । यद्वा पथ्याः पथि साधवः । 🕸 छान्दसो यत् 🛞 । रेवतीः आपः । तद्भिमानिन्यो देवताः । "आपो वै रेवतीः" [ तै० ब्रा० ३. २. ⊏. २ ] इति श्रुतेः । ता विशेष्यन्ते । बहुधा बहुपकारं वर्तमाना विरूपाः विविधाकाराः एवंविधा याः सन्ति ताः सर्वाः संगत्य संभूय हे राजन् ते तव वरीयः उरुतरं श्रेयः श्रक्रन् कुर्वन्तु । 🕸 वरीय इति । उरुशब्दाद् ईयस्रनि "भियस्थिर०" इत्यादिना वरादेशः। अक्रन्निति । करोतेर्लु ङि "मन्त्रे घस॰" इति च्लेर्जु क् 🕸 । हे राजन् ताः सर्वा देवताः संविदानाः ऐकमत्यं प्राप्ताः सत्यः [ त्वा ] ह्रयन्तु त्वां राष्ट्रपवे-शार्थम् आह्वयन्तु । ताभिराहृतः इह अस्मिन् राष्ट्रे उप्रः उद्गूर्ण-बलस्त्वं सुमनाः संतुष्टमनाः सन् दशमीम् नवतिसंवत्सरोध्वभा-विनीं वर्षदशकात्मिकां चरमावस्थाम् । 🕸 अप्रत्यन्तसंयोगे द्वितीया 🕸 । तावत्पर्यन्तं वस निवस। जरापर्यन्तं स्वकीयं राज्यं निष्कृएटकं अङ्च्वेत्यर्थः ॥

इति तृतीयकाएडे प्रथमेनुवाके चतुर्थे सक्तम्।।

हे राजन् ! धनवान् मार्गमें हित करनेवाले रेवती नामक अनेक प्रकारके जो जलदेवता ‡ हैं वे सब एकत्रित होकर आपका परम कल्याण करें हे राजन् ! ये सब देवता एकमत होकर आपको राष्ट्रप्रवेशके लिये आह्वान करें, उनके आह्वान करने पर आप पचंड बल वाले और मनमें संतुष्ट होकर नब्भे वर्षसे आगे आने वाली सौ वर्षकी अवस्था तक राज्यमें रहिये अर्थात् बुढ़ापे तक निष्कएटक रीतिसे राज्यको भोगिये ॥ ७ ॥

तृतीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमै चतुर्थ स्क समात (७५)॥

"श्रायमगन् पर्णमिणः" इत्यनेन सुक्तेन तेजोबलायुर्धनादिपु-ष्ट्रये पलाशरू चारितं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। तथा च सूत्रम् । "त्र्रायमगन् [ ३. ४ ] अयं प्रतिसरः [ ८. ४ ] श्चर्यं में वरणः [ १०. ३. ] श्चरातीयोः [ १०. ६ ] इति मन्त्रो-क्तान् वासितान् बध्नाति" इति [कौ० ३.२] ॥ उक्तो वासित-शब्दार्थः ॥

तथा ''त्राङ्किरसीं संपत्कामस्य'' इति [ न० क०१७ ] विहि-तायां महाशान्तौ पलाशमिखवन्धनेषि एतत् सुक्तम् । उक्तं नद्मत्र-कल्पे। "आयमगन्निति मन्त्रोक्तम् आङ्गिरस्याम्" इति [ न०

कि० १६ ]॥

"आयमगन् पर्णमाणिः" इस सक्तसे तेन वल आयु और धन आदिकी पुष्टिके लिये पलाशरुचकी मिणको वासित सम्पातित त्रीर अभिमन्त्रित करके बाँधे। इसी बातको सूत्रमें भी कहा है, कि-"श्रायगमन् ( इस मथमकांडके पश्चमस्क ) श्रयं पतिसरः (इस अष्टमकाण्डके पश्चमसूक्त ) अयं मे वरुणः (इस दशम-कांडके तृतीयस्क ) और अरातीयोः ( इस दशमकाएडके छठे

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।२।८।२ में कहा है, कि-"ब्रापो वै रेवतीः।-जल रेवती हैं"।।

सक्त ) में कथित वासितोंको वाँधे" (कौशिक सूत्र ३।२)॥ वासित शब्दका अर्थ पहिले कहा जा चुका है।।

तथा "आंगिरसीं सम्पत्कामस्य सम्पत्ति चाहने वालेके लिये आंगिरसी महाशान्तिको करावे" इस नत्तत्रकल्प १७ से विहित आंगिरसी महाशान्तिके पलाशमिणिवन्धनमें भी यह सूक्त है। इसी बातको नत्तत्रकल्पमें कहा है, कि-"श्रायमगन्नित मंत्रोक्त द्यांगिरस्याम्<sup>''</sup> ( नत्तत्रकल्प १६ ) ॥

तत्र मथमा ॥

आयमंगन् पर्णमणिर्वली बलेन प्रमुणन्तसपत्नांन्। ञ्रोजे। देवानां पय श्रोषंधीनां वर्चसा मा जिन्वत्व-प्रयावन् ॥ १ ॥

आ । अयम् । अगन् । पर्णाऽमणिः । बली । बलेन । प्राप्तिन् । सऽपत्नान् ।

त्रोजः । देवानाम् । पयः । श्रोषधीनाम् । वर्चसा । मा । जिन्वतु । श्रप्रपावन् ॥ १ ॥

अयम् अस्मदादिभिः संपदर्थे श्रियमाणः पर्णमणिः। पर्णः पलाशृहत्तः सोमपर्णोद्गभूतत्वात् "सोयं पर्णः सोमपर्णाद्ध जातः" [तै० ब्रा० १.२.१.६ ]इति श्रुतेः । स्रागन् स्रागच्छतु । किंविधः । बली श्रतिशयितबलवान् । श्रभिमतफलं दातुं समर्थे इत्यर्थः । अत एव बलेन स्वकीयेन सामथ्यातिशयेन सपत्नान् शत्रुन् प्रमृणन् पकर्षेण हिंसन् । आगच्छतु इति संबन्धः। पुनस्तमेव विशिनष्टि । देवानाम् इन्द्रादीनाम् अोजः वलरूपः तथा श्रोषधीनाम् सर्वासां

पयः सारभूतः । श्रोषिधसारसोमजन्यत्वात् । एवंलत्तणः पर्णमिणः श्रमयावन् श्रमयावा मां विहाय श्रनपगन्ता सन् [मा] मां वर्चसा तेजसा जिन्वतु प्रीणयतु । तेजस्विनं करोतु इत्यर्थः । अ हिवि दिवि धिवि [ जिवि ] प्रीणनार्थाः । इदिन्वाद् नुम् । श्रमयाव- न्निति । यातेर्वनिप् । "सुपां सुलुक्०" इति सोर्जु क् । नलोपा- भावश्वान्दसः अ । यद्वा हेश्रमयावन् श्रमयातः सर्वदा धार्यमाणः। अ "न ङिसंबुद्धाः" इति नलोपाभावः अ ॥ हे मणे मा मां तेजसा जिन्वतु । अ पुरुषव्यत्ययः अ । जिन्वत्यर्थः ॥

अभिमत फल देनेमें समर्थ अत एव अपने बलसे शत्रुओं को मारती हुई यह पलाश†ष्ट्रज्ञकी मिए आवे, इन्द्र आदिकी बलरूप और सब औपिधयों की सारभूत यह पर्णमिए मुक्ते न छोड़ कर मुक्ते तेजसे तेजस्वी करे।। १।।

द्वितीया ॥

मियं चुत्रं पंर्णमणे मियं धारयताद् रियम् । अहं राष्ट्रस्योभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥ मियं । चुत्रम् । पुर्णुऽमणे । मियं । धारयतात् । रियम् ।

अहम् । राष्ट्रस्य । अभिऽवर्गे । निऽजः । भूयासम् । उत्ऽतमः ॥२॥ हे पर्णमणे पलाशनिर्मितमणे चत्रम् । बलनामैतत् । बलं चत्रिय-

जातिवा मिय मिणधारके धारयतात् धारय स्थापय ॥ तथा रियम् धनं च [ मिय ] धारयतात् । अधारयते हेंस्तातङ् आदेशः अ॥ अहं च त्वद्धारणाद्ध राष्ट्रस्य राज्यस्य अभीवर्गे आवर्जने स्वा-धीनीकरणै निजः अनन्यसहायः उत्तमः उत्कृष्टतमो भूयासम् ॥

† तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२।१।६ में कहा है, कि-''सोऽयं पर्णः सोमपर्णाद्धि जातः ।-यह पलाश सोमपर्णसे उत्पन्न हुआ। स्ववाहुवलेनेव सर्व राष्ट्रं वशीकृत्य सर्वश्रेष्ठो भवानीत्यर्थः। श्र श्रभीवर्गे इति । श्रभिपूर्वाद् रुजेर्भावे घञ्। "उपसर्गस्य घञ्य-मनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः। उत्तम इति । "उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र" इति उञ्ज्ञादिषु पाटाद् श्रन्तोदात्तः श्र ॥

हे पलाशनिर्मितमणे ! वलको और धनको मुभमें स्थापित कर और में भी राज्यको स्वाधीन करनेमें दूसरेकी अपेता न करने वाला होऊँ अर्थात् अपने भुजवलसे ही सम्पूर्ण राष्ट्रको वशमें करके सर्वश्रेष्ठ होजाऊँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यं निद्धिवनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिस्। तमस्यभ्यं सहायुंषा देवा दंदतु भतिवे ॥ ३ ॥

यम् । निऽद्धः । वनस्पतौ । गुह्यम् । देवाः । शियम् । मणिम् । तम् । अस्पभ्यम् । सह । आयुपा । देवाः । दृद्तु । भर्तवे ॥ ३ ॥

देवाः इन्द्राद्या यम् अभीष्टफलदत्वेन प्रसिद्धम् अत एव पियम् प्रियंकरं गुद्धम् गोपनीयं पणि वनस्पतौ पलाशरुक्षे निद्धुः निहि-तवन्तः । अ वनानां पतिर्वनस्पतिः । पारस्करादित्वात् सुट् । "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इत्युभयपदमकृतिस्वरत्वम् । गुद्धम् इति । गुहू संवरणे इत्यस्मात् "शंसिग्रहिदुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्" इति क्यप् अ । तम् तथाविधं मणिम् अस्मभ्यं भर्तवे भरणाय । अ तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः अ । आयुषा सह देवाः ददतु प्रयच्छन्तु । अडुदान्यदाने इत्यस्मात् "अदभ्यस्तात्" इति भस्य अदादेशः ॥।

इन्द्र आदि देवताओंने अभीष्ट फलदाता होनेसे मसिद्ध अत एव प्रिय गोपनीय मिलको पलाशहत्तमें रक्खा है देवता उस मिल को हमारा भरण करनेके लिये दें और आयुको भी दें ॥ ३ ॥ चतुर्थी ॥

सोमस्य पूर्णः सहं उत्रमागिनन्द्रेण दृत्तो वरुणेन शिष्टः तं प्रियासं बहु रोचंमानो दीर्घायुत्वायं शृतशांखाय थ सोमस्य । पूर्णः । सहंः । जुरुष् । ज्ञा । ज्ञान । इन्द्रेण । दृत्तः ।

वरुणेन । शिष्टः ।

तम्। वियासम्। बहु। रोचमानः। दीर्वायुऽत्वायं। शतऽशारदाय ४

सोमस्य द्युलोकस्थायाः सोमलतायाः पर्णः श्राहरणसमये भूमों पिततपर्णाद् उद्भूतः । श्रूयते हि "तृतीयस्याम् इतो दिवि सोम श्रासीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णम् श्राच्छ्यत । तत् पर्णोभवत् । तत् पर्णस्य पर्णत्वम्" [तै॰ सं॰ ३, ५, ७, १] इति । उग्रम् उद्गृर्णं प्रभूतं सहः पराभिभवनत्तमं वलम् उक्तलत्तणवलरूपः एवंलत्तणो मिणः श्रागन् माम् श्रागच्छत् । कथंभूतः । इन्द्रेण देवेन दत्तः वरुणेन शिष्टः श्रनुशिष्टः श्रनुज्ञातः । तम् उक्तलत्तणं पर्णमिणम् बहु बहुविधं रोचमानः रोचमानम् । श्रिव्यासं धारयेयम् । किमर्थम् । शतशारदाय शतसंवत्सरपरिमिताय दीर्घायुत्वाय चिरकालजीवनाय । श्रि दीर्घायुत्वायेति पदम् "दीर्घायुत्वाय बहुते रणाय" [२, ४, १] इत्यत्र व्याख्यातम् । शरदेव शारदम् । भज्ञादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकः श्रण् । यद्वा शरदः श्रतोः संवन्धी शारदः संवत्सरः । "तस्येदम्" इति श्रण् । उभयत्र बहुत्रीहौ पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् श्रि ॥

दूसरेका तिरस्कार करनेमें समर्थ सोमके पर्णकी मिए मुक्ते प्राप्त हो। इन्द्रदेवकी दी हुई श्रीर वरुणदेवकी श्रनुशिष्ट दमकती हुई पर्णमिणिको मैं सौ वर्ष तककी दीर्घायु पानेके लिये धारण करता हूँ ॥ ४ ॥

#### पश्चमी ॥

आ मारुचत् पर्णमाणिर्मृद्या अरिष्टतातये । यथाहमुचरोसान्यर्यमण उत संविदंः ॥ ५ ॥

आ । मा । अरुतत् । पूर्ण्डमणिः । मुसै । अरिष्टऽतातये ।

यथा । श्रहम् । उत्तरः । श्रसानि । श्रर्यम्णः । उत्त । सम् अविदः ध

त्रयं पर्णमिणः महै महत्ये अरिष्ठतातये । रिष्टं हिंसनम् तदभावः अरिष्टम् । तिक्रयाये । अ "शिवशमरिष्टस्य करे" इति
अरिष्टशब्दात् करोत्यर्थे तातिल् मत्ययः । "लिति" इति मत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् अ । मा माम् आरुत्तत् आरोहतु मिय
चिरं वर्ततास् । अ रुहेश्छान्दसे लुङि "शल इग्रपधाद् अनिटः
क्सः" इति क्समत्ययः अ । अर्यमणः । अरीन् यमयतीति अर्यमा
अधिकवलः पुरुपदाता च । अर्यमा अधिकधनः । "यः खलु वै
ददाति सोर्यमा" [ते० सं० २. ३. ४. १] इति श्रुतेः । तस्माद्
अधिकात् उत अपि च संविदः समानज्ञानात् । समवलाद् इत्यर्थः।
तस्माद् यथा येन मकारेण अहम् मिणधारकः उत्तरः उत्कृष्टतरः
असानि भवानि । तथा आरुत्तत् इति संबन्धः । अ अस्तेलीटि
"आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । अर्यम्ण इति । "अल्लोपोऽनः" इत्यकारलोपे उदात्तनिष्टित्तस्वरेण विभक्तरुदात्तत्वम् अ।।

यह पर्णमिण मेरा बड़ा भारी कल्याण करनेके लिये सुक्रमें चिरकाल तक रहे मैं शत्रुद्धोंका दमन करने वाले परम बली वड़े भारी दाता ऋर्यमा ‡ से और समान बल वालेसे भी जिस पकार श्रेष्ठ होऊँ तिस पकार यह मिण मेरे (हाथ पर) चढ़ी है ॥५॥ पष्ठी ॥

ये धीवांनो स्थकाराः कर्मारा ये मंनीिषणः । उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वीन् क्रग्विभतो जनान् ६ ये। धीवानः। स्थङकाराः। कर्माराः। ये। मनीिषणः।

उपडस्तीन्।पर्ण। महाम्।त्वम्। सर्वीन्। कृणु । अभितः। जनान् ६

ये धीवानः धीवराः मात्स्यिकाः । क्ष द्धातेः क्वनिषि "घुमा-स्था॰" इत्यादिना ईत्वम् क्ष । ये च रथकाराः रथनिर्मातारो जातिविशेषाः । उक्तं हि ।

रथकारस्तु महिष्यात् करएयां यस्य संभवः

इति [ अमरः ] । वैश्यायां चित्रयादः उत्पन्नो महिष्यः । श्रद्भायां वेश्यादः उत्पन्ना करणी । ये कर्माराः अयस्कारअभृतयः ये च मनीषिणः मनस ईशितारो बुद्धिविशेषोपजीविनः । हे पर्ण तिद्धिकार मणे त्वम् । अ विकारे प्रकृतिशब्दः अ । सर्वान् उक्तो-पलितान् जनान् मह्यम् । अ पष्टचर्थे चतुर्थी अ । मम अभितः सर्वतः उपस्तीन् सेवार्थं समीपे विद्यमानान् उपासीनान् वा कृणु कुरु । अ उपपूर्वाद् अस्तेः कर्तरि किन् । "छन्दस्युभयथा" इति सार्वधातुकत्वाद् भूभावाभावः । अल्लोपश्च । अग्रसेर्वा । अग्रदिलोपश्चान्दसः अ ॥

जो मच्छीसे आजीविका चलानेवाले धीवर हैं और जो रथको

<sup>‡ &</sup>quot;यः खलु वै ददाति सोऽर्यमा ॥—जो देता है वह अर्यमा है" (तैत्तिरीयसंहिता २ । ३ । ४ । १ )॥

बनाने वाले रथकार हैं ‡ श्रोर जो लुहार श्रादि कर्मकार हैं श्रोर बुद्धिसे श्राजीविका चलानेवाले मनीपी हैं हे पर्ण (पलाश) से बनी हुई पणे ! इन सब मनुष्योंको तू मेरे चारों श्रोर सेवाके लिये समीपमें विद्यमान कर ।। ६ ।।

सप्तमी ॥

ये राजानी राजकतः सुता श्रामण्यश्च ये।

उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कुर्विभितो जनान् ७

ये। राजानः। राज्ङकतः। सुताः। ग्राम्एयः। च । ये।

खपऽस्तीन्।पर्ण्। महाम्। त्वभ्। सर्वान्।कृणु। श्रमितः। जनान् ७

ये राजानः अन्यदेशाधिपा राजकृतः राजानं कुर्वन्ति राज्ये अभिषिश्चन्तीति राजकृतः सचिवाः सृताः । ब्राह्मएयां चित्रयाद् उत्पन्नः सृतः । तज्जातीयाः सारथ्योपजीविनो वा । ये [च] ग्रामएयः ग्रामस्य नेतारः । अ "सत्सूद्विष्" इति विवप् । "एरनेकाचः" इति यण् अ।। उपस्तीन् इत्यादि पूर्ववद्व योज्यम्।

जो दूसरे देशके राजे हैं और जो राज्यमें राजाका अभिषेक करनेवाले राजकृत मंत्री हैं और जो ब्राह्मणसे चित्रयामें उत्पन्न हुए सारध्यकर्मसे आजीविका चलानेवाले सूत हैं और जो ग्राम के नेता हैं, हे पर्णमणे ! उन सबको तू मेरी सेवा करनेके लिये मेरे चारों और विद्यमान कर ॥ ७॥

‡ रथकार रथ बनाने बालोंकी एक जाति है। जो वैश्य जाति की स्त्रीमें चित्रयसे उत्पन्न होता है वह माहिष्य कहलाता है और श्रद्भमें वैश्यसे उत्पन्न हुई कन्या करणी कहलाती है, अमरकोशमें कहा है, कि-माहिष्यसे करणीमें जो उत्पन्न होता है वह रथकार होता है। यथा-"रथकारस्तु माहिष्यात करण्यां यस्य संभवः"॥ अष्रमी ॥

पणीं सि तन्यानः सयोनिवीरो वीरेण मया । संवत्सरस्य तेजंसा तेनं बध्नामि त्वा मणे ॥ = ॥ पर्ण । असि । तन्ऽपानः । सऽयोनिः । बीरः । बीरेण । मया । सम् ऽवत्सरस्य । तेजसा । तेन । बध्नामि । त्वा । मणे ॥ 🖂 ॥

हे मणे त्वं पर्णोसि अमृतमयस्य सोमस्य पर्णविकारोसि ॥ अत एव तन्पानः तन्वाः शरीरस्य पाता रित्ततासि ॥ वीरः वीरस्त्वं वीरेण वीर्यवता मया सयोनिः वीर्यवस्वकारणेन समान-जन्मासि ॥ तेन उक्तेन कारणेन संवत्सरस्य एतदुपलित्तकाल-भेदनिर्वाहकस्य ब्रादित्यस्य तेजसा युक्तं त्वा त्वां वध्नामि धार-यामि त्वदीयतेजोवाप्तये धारयामि ।।

> इति तृतीयकाएडे पथमोनुवाके पश्चमं सुक्तम् ॥ [ इति ] मथमोनुवाकः ॥

हे मणे ! तू अमृतमय सोमका पर्णविकार है, अत एव शरीरकी रत्तक है, तू वीर है वीर्यवान होनेसे मेरी समानजन्मा है, इस कारण सूर्यके तेजसे भरी हुई तुभको मैं तेरा तेज माप्त करनेके लिये धार**ण करता हूँ ।।** ८ ।।

त्रवीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सुक्त समाप्त ( ७६ )॥ प्रथम अनुवाक समाप्त

द्वितीयेनुवाके पश्च सूक्तानि । "तत्र पुमान पुंसः" इति पथमं सक्तम् । तेन अभिचारकर्मणि खदिरोत्त्थारवत्त्थमणि संपात्य अभिमन्त्रय बध्नीयात् ॥

तथा अनेन स्केन पाशान इङ्गिडालंकुतात् संपात्य अभि-मन्त्र्य शत्रुमर्मणि निखनेत् ॥

तथैव अनेन सूक्तेन पूर्ववत् पाशान् अभिमन्त्र्य ''तेथराञ्चः [७]" इत्यूचा नदीप्रवाहे प्रक्षिपेत् ॥

एवमेव पूर्ववद्ध अभिमन्त्रितान् पाशान् "प्रैणान्तुदे" [=] इति ऋचा अश्वत्थशाखया मणुदेत् ॥

[ सूत्रितं हि । "पुमान पुंस इति मन्त्रोक्तम् श्रभिहुतालंकृतं वध्नाति यावन्तः सपत्रास्तावन्तः पाशान् इङ्गिडालंकृतान् संपा-तवतोन् कान् ससूत्रांश्रम्या मर्माण निखनति नावि 'मैणान्' द्र 'जुदस्व काम' ६. २, ४ इति मन्त्रोक्तं शाख्या प्रणुद्ति 'तेध-राश्रः' ७ इति प्रसावयति" इति । कौ० ६. २ ]

तथा "अभिचरतः अभिचर्यमाणस्य च" इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तौ मणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । तद्भ उक्तं नचत्रकल्पे। "आङ्गरस्यां पुमान् पुंस इति मन्त्रोक्तम् अभिचरतो-भिचर्यमाणस्य च" इति [न० क० १६]॥

दितीय अनुवाकमें पाँच सक्त हैं। इनमें 'पुमान पुंसः' यह पहिला सक्त है। इससे अभिचारकर्ममें खदिरमें उगे हुए अश्वत्थ की मिणका संपातन और अभिमंत्रण करके बाँधे।

तथा इस स्कासे इंगिडालंकत पाशोंको अभिमंत्रित अौर सम्पातित कर शत्रुमर्ममें निखनन करे।

तथा इसी स्क्रिसे पहिलेकी समान पाशोंको अभिमन्त्रित करके 'तेधराश्चः' इस सातवीं ऋचासे नदीमें प्रवाहित कर देय।

इसी प्रकार पहिलोकी समान अभिमन्त्रित पाशोंको ''प्रैणान्तुदे" इस आठवीं ऋचासे अश्वन्थशाखासे परित करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि-"पुमान पुंस इति मन्त्रोक्तं त्राभिहुता-लंकतं बध्नाति यावन्तः सपत्रास्तावन्तः पाशान् इंगिडालंकतान् सम्पातवतोऽन्कान् सस्त्रांश्यम्या मर्मिणि निखनति नावि "मैणान्" द्र 'तुदस्य कामः' १।२।४ इति मन्त्रोक्तं शाख्या प्रणुद्दित तिथराश्चः' ७ इति प्रसावयति ॥—श्चर्थात् पुमान् पुंसः इस मंत्रमें कहे हुए श्रभिहुत श्रलंकृत मिणको वाँधे, जितने शत्रु हों उतने इङ्गिडालंकृत सम्पात् वाले श्रन्तूक्त ससूत्र पाशोंको सेनाके द्वारा शत्रुके मर्भमें वींधे । श्रौर 'नुद्स्य कामः' इस नवमकाएडके द्वितीय श्रनुवाकके चतुर्थस्वतके मन्त्रमें कही हुई शाखाके द्वारा नावमें (वैठ) 'प्रैणान्' इस श्राठवीं ऋचासे पाशोंको पेरित करे श्रौर 'तेथराश्चः' इस सातवें मन्त्रसे वहावे (कौशिकसूत्र ६।२)॥ तथा 'श्रभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य—जिसके ऊपर श्रभिचार हुश्रा हो उसके लिये श्रौर श्रभिचार करने वालेके लिये" इस नचत्रकल्प १७ में विद्यत महाशान्तिके मिणवन्धनमें भी यह सक्त है। इसी वातको नचत्रकल्प १६ में कहा है, कि—'श्रागिरस्यां पुमान् पुंसः इति मन्त्रोक्तं श्रभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य च॥—श्रभिचार करने वाले श्रौर जिस पर श्रभिचार किया जाता है उसके लिये भी की जाने वाली श्रागिरसी महाशांतिमें पुमान् पुंसः मन्त्रमें कही हुई मिणको वाँधे"॥

तत्र प्रथमा ॥

पुमान् पुंसः परिजातोश्वत्थः खंदिरादिधं ।

स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं देिष्म ये च माम् १

पुमान् । पुंसः । परिऽजातः । श्रश्वत्थः । खदिराद् । श्रिधं ।

सः। हन्तु । शत्रून् । मामकान् । यान् । श्रहम् । देष्मि । ये। च । माम् १

पुमान् पुंस्त्वोपेतो वीर्यातिशययुक्तो दृत्तः पुंसः तादृशाद् दृत्तात् परिजातः पादुर्भूतः । एतदेव विशिनष्टि । श्रश्वन्थः अश्वरूपः सन् अग्निस्तिष्ठत्यत्रेति अश्वन्थः । श्रूयते हि । "अग्निर्देवेभ्यो निरायत । अश्वो रूपं कृत्वा सोश्वन्थे संवत्सरम् अतिष्ठत् । तद् अश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्" [तै० ब्रा० १. १. ३.६ ] इति । अस्मादेव अग्निसंवन्धाइ अश्वत्थस्य शत्रुहननसमर्थत्वेन पुंस्त्वच्यपदेशः । खदिराइ अघि । अधिः पश्चम्यर्थानुवादी । खदिरहत्ताद्द उद्धूतः । इतरहक्षेण्यः खदिरस्य अतिशयितसारवत्त्वेन पुंस्त्व-निर्देशः । तथात्वं चगायत्रीसारजत्वात् । श्रूयते हि । "वपट्कारो वै गायत्र्ये शिरोच्छिनत् । तस्य रसः परापतत् । सप्थिवीं गाविशत् । स खदिरोभवत्" [तै० सं० ३. ५.७. १] इति । स खदिरोत्पन्नो-श्वत्यो मिणक्षेण धार्यमाणः मामकान् मदीयान् शत्रून् शातिय-तृत् हन्तु हिनस्तु । तानेव शत्रून् विश्वतिष्टि । अहं यान् शत्रून् देषिम अपकारकारिणो देषिम येच शत्रवो माम् । दिपन्तीति विप-रिणायेन संबन्धः । तान् उभयविधान् हन्तु इति संबन्धः ॥

परमनीर्यमय अत एव पुरुपदृत्त कहलाने वाले अश्वन्थ ‡ और गायत्रीके सारसे उत्पन्न अतः परमवली पुरुष कहलाने वाले खदिर दृत्त † से उत्पन्न अर्थात् खदिरदृत्त ( खैर ) में उत्पन्न अश्वन्थ ( पीपल ) मिण्किपसे धारण करने पर—मैं जिनसे द्वेष करता हूँ और जो मुक्तसे द्वेष करते हैं उन शत्रुओंको नष्ट कर डाले ॥१॥

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।६ में कहा है, कि—"अप्नि-देवेश्यो निरायत। अरवो रूपं कृत्वा सोऽरवन्थे संवत्सरम् अति-ष्ठत्। तत् अरवन्थस्यारवन्थत्वम्।।—अप्नि देवताओं से छुप गए और अरवका रूप बना कर वर्ष भर तक अरवन्थमें रहे थे, यही अरवन्थका अरवन्थत्व है"।।

† तैत्तिरीयसंहिता ३ । ४ । ७ । १ में कहा है, कि—"वषट्कारो वै गायच्ये शिरोऽच्छिनत् । तस्ये रसः परापतत् । स पृथिबीं पाविशत् । स खिदरोऽभवत् ॥—वषट्कारने गायत्रीके शिरको काटा उसका रस गिरा और पृथिवीमें प्रविष्ट होभया, वही खिदर होगया" ॥ द्वितीया ॥

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैवाधदोधतः । इन्द्रेण वृत्रदना मेदी मित्रेण वर्रणेन च ॥ २ ॥

तान् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । शत्रून् । वैवाधऽदोधतः । इन्द्रेण । दृत्रऽध्ना । मेदी । मित्रेण । वरुणेन । च ॥ २ ॥

हे वैवाध । विविधं वाधते कर्ण्टकैरिति विवाधः खिद्रः । तत्रोत्पन्नों वैवाधः । अ "तत्र जातः" इत्यण् अ । तादृश अश्वन्थ
तिद्विकारमणे । अ विकारे प्रकृतिशब्दः अ । दोधतः भृशं कम्पयित्न । अ धूत्रो यङ्जुगन्तात् शतिर अन्त्यलोपश्छान्दसः ।
"अभ्यस्तानाम् अप्रदिः" इत्याधुदात्तत्वम् अ। ईदृशान् तान् उक्तान्
विविधान् शत्रून् निः शृणीिह निःशेषं घातय । अ शृ हिसायाम् ।
क्रचादिः । प्वादित्वात् हस्वत्वम् अ ॥ मणेः शत्रुहननसामध्यं
दर्शयति इन्द्रेणेत्यादिना । दृत्रघना दृत्राख्यम् असुरं हतवता । अ
हन्तेः "ब्रह्मभूणदृत्रेषु विवप्" इति भूते काले विवप् । कृदुचरपदकृतिस्वरत्वे अल्लोपे "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति
विभक्तेरुदात्तत्वम् अ । तादृशेन इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी
स्त्रेही । इन्द्रादिभिः शत्रुहननसामध्यं सारम् आपादितोयम् आश्वतथो मिणिरित्यर्थः । अ विमिद्ता स्त्रेहे । ग्रहादित्वाद् णिनिः ।
घत्रनताद्व वो मत्वर्थीय इनिः अ ॥

कएटकोंके द्वारा अनेक प्रकारसे वाधा देने वाले वैवाधोपनामक खदिरमें उत्पन्न अश्वन्थसे बनी हुई मणे ! पूर्वोक्त शत्रुओंका तू पूर्णरूपसे संहार कर । ( मिणकी शत्रुहननकी शक्ति दिखाते हैं, कि—) द्वत्रका संहार करनेवाले इंद्रके और वरुणके साथ हे मणे ! तेरा स्तेह है । तात्पर्य यह है, कि—इन्द्र आदिने शत्रुसंहारकी सार यह आश्वन्थ मिण धारण की थी ।। २ ।। तृतीया ॥

यथाश्वस्थ निरभंनोन्तमंहृत्य र्ण्वे ।

एवा तान्त्सर्वानिभं क्षिय यान् हं देष्मि ये च माम् ३

यथा । अश्वस्थ । निःऽअभनः । अन्तः । महति । अर्ण्वे ।

एव । तान् । सर्वीन् । निः । भक्षि । यान् । अहम् । देष्मि ।

ये । च । माम् ॥ ३ ॥

हे अश्वत्थ मएयुपादानभूत दृत्त महित विंस्तीर्णे अर्णवे अन्त-रिक्षे। "अस्मिन् महत्यर्णवेन्तरिक्षे" [ तै० सं० ४. ४. ११. १ ] इति लिङ्गाद्ध महार्णवः अन्तरित्तम्। तत्र अन्तः मध्ये अन्तःखदि-रकोटरे यथा येन प्रकारेण निरिभनः निर्भिद्य उत्पन्नोसि। अभिदिर् विदारणे। अस्मात् लिङ हल्ङ्यादिना सिपो लोपे "द्श्र" इति रुत्वम् अ। एव एवं तान् वच्यमाणान् उभयविधान् सर्वान् शत्रून् निर्भिन्द्ध निःशेषेण विदार्य। अभिदेलोंदि "हुभालभ्यः०" इति हिधरादेशः। "श्रसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः। "भरो भिर सवर्णे" इति दकारलोपः अ॥ यान् अहम् इत्यादि गतम्॥

हे मिणिके उपादान अरवन्थ ! तू अर्णव उपनामवाले † अंत-रिक्तमें खिद्रिकी खालोड़लको भेद कर जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है इसी प्रकार तू जिनसे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करते हैं उन सब शत्रुओंको पूर्णरूपसे नष्ट कर ।। ३ ॥

<sup>†</sup> तैत्तिरीयसंहिता ४ । ४ । ११ । १ में कहा है, कि-"श्रस्मिन महत्यर्णवे अन्तरिक्षे ॥ इस महान् श्रणव अन्तरिक्तमें" ॥

### चतुर्थी ॥

यः सहमान्श्वरंसि सासहान इव ऋष्भः। तेनाश्वत्थ त्वयां व्यं सुपत्नान्त्सहिषीमहि ॥४॥

यः । सहमानः । चरसि । ससहानः ऽइव । ऋष्भः ।

तेन । अश्वस्थ । त्वया । वयम् । सुङ्गत्नान् । सहिषीमहि ॥॥॥

यः श्रश्वत्थः सहमानः परान् श्रभिभवन् चरित वर्तते। किमित्र।
सासहानः स्वकीयेन दर्पेण सजातीयान् श्रन्यान् श्रत्यर्थम् श्रभिभवन् ऋषभ इव । अ सहर्यङ्खुगन्तात् लटः शानच् अ । हे
श्रश्वत्थ तेन उक्तलचणेन त्वया वयम् त्विद्वकारभूतमणिधारकाः
सपत्नान् शत्रून् सहिषीमिह सहामहै। नाशयाम इत्यर्थः । अ सहेराशीर्लिङ रूपम् अ ।।

अपने द्र्पसे अन्य सजातीय द्वतोंको द्वाता हुआ अश्वस्थ जैसे द्वपभकी समान बढ़ता है हे अश्वत्थ ! तेरी विकार मिएको धारण करनेवाले हम ऐसे तुभको शत्रुओंका संहार करें।। ४।। पश्चमी ॥

सिनात्वेनान् निर्ऋतिर्भृत्योः पाशैरमोनयैः।

अश्वत्थ शत्रून् मामुकान् यानुहं देष्मि ये च माम् प

सिनातु । एनान् । निःऽऋतिः । मृत्योः । पाशैः । अमोक्यैः ।

अरवस्थ । शत्रून । मामकान । यान । अहम् । द्वेष्म । ये । च । माम ॥ ५ ॥

ि निऋ तिः पापदेवता अमोन्यैः सर्वथा मोक्तुम् अशन्यैः। अक्ष ''कृत्याश्र'' ''शिकि लिङ् च'' इति शक्यार्थे मुचेर्ण्यत् मत्ययः। ''चजोः कुघिएएयतोः" इति कुत्वम् ॐ। तथाविधैमृत्योः पारौः प्राणापहर्तभिद्यामभिः [ एनान् उक्तान् शत्रून् ] सिनातु वध्नातु । ॐपिञ् वन्धने।क्रचादिः ॐ॥ अश्वन्थ शत्रून् इत्यादि व्याख्यातम्॥

हे अश्वत्थ ! मैं जिनसे द्वेष करता हूँ और जो मुभसे द्वेष करते हैं उन मेरे शत्रुओं को पापदेवता निऋित किसी प्रकार भी न छुड़ाये जा सकने वाले मृत्युके पाशोंसे वाँघ लेवें ॥ ५॥

षष्टी ॥

यथाश्वत्य वानस्पत्यानारोहंन् कृणुपेधरान् ।

एवा मे शत्रोर्मुर्धानं विष्वग् भिनिद्धं सहस्व च ॥६॥

यथा । अश्वत्य । वानस्पत्यान् । आऽरोहन् । कुणुषे । अधरान् ।

एव । में। शत्रोः। मूर्धानम् । विष्वक् । भिनिद्ध । सहस्व । च ॥६॥

हे अर्वस्थ [यथा] त्वं वानस्पत्यान् । अत्र वनस्पतिप्ररोहाहों देशो वनस्पतिशब्देनोच्यते । तत्र भवा वानस्पत्याः । अ "दित्य-दित्यादित्य॰" इति भवार्थे एयः । यद्वा समूहार्थे एयः अ । तान् वृत्तान् आरोहन् अधरान् नीचान् कृणुषे करोषि । एव एवं मे मदीयस्य शत्रोर्पूर्धानं शिरो विष्वक् सर्वतो भिनिद्ध विदारय । तथा सहस्व च अभिभव । विनाशयेत्यर्थः ॥

हे अश्वस्थ ! तुम वनस्पति उत्पन्न होने योग्य देशमें उत्पन्न हुए वनस्पति हत्तों पर चढ़ते हुए जैसे उन्हें नीचा करते चले जाते हो इसी प्रकार मेरे शत्रुओं के शिरोंको पूर्ण रीतिसे विदीर्ण करो और उनका तिरस्कार करो उनको नष्ट कर डालो ॥ ६ ॥ सप्तमी ॥

ते धराञ्चः प्र स्वन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।

न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

ते । अधराश्चः । प्र । सवन्ताम् । छिन्ना । नौःऽइंव । वन्धनात् ।

न । वैवाधऽप्रतुत्तानाम्। पुनः। ऋस्ति । निऽवर्तनम् ॥ ७ ॥

ेते पूर्वोक्ता द्विविधाः शत्रवः अधराश्चः अधोम्रुखम् अश्चन्तो गच्छ-न्तः प्र स्नवन्ताम् नदीप्रवाहस्य उपर्येव गच्छन्तु। न कदाचित् पारं पाप्नुवन्तु इत्यर्थः । 🕸 अधरशब्दोपपदाद् अश्वतेः क्विन् । सवन्ताम् इति । च्युङ् सुङ् गतौ । भ्वादिः 🕸 । तत्र दृष्टान्तः ।वन्धनात् । वध्यतेस्मिन्निति बन्धनं तीरष्टचादिकम् बध्नात्यनेन नावम् इति [ वा ] बन्धनं रज्जुः । ततश्चिन्ना वियुक्ता नौरिव । सा यथा तीरम् अप्राप्ता नदीप्रवाहेण अधो नीयते तद्वत् ॥ अश्वन्थस्य महिमप्रख्यापनार्थे पारपाप्तिशङ्कां वारयति नेति । वैवाधप्रशुत्ता-नाम् वैवाधः खदिरोत्पन्नोश्वत्त्थः तेन प्रणुत्तानां प्रणुन्ना-नाम् अवाङ्मुखं पेरितानां शत्रूणां पुनर्निवर्तनम् पुनरागमनं नास्ति । 🛞 "नुद्विदोन्दत्राघाहीभ्योन्यतरस्याम्" इति विकल्प-नाद्गु निष्ठानत्वाभावः 🛞 ॥

जिसमें नावें वाँधी जाती हैं उननदीके तटके वृत्तोंसे वा रिस्सियों से छिन्न हुई नौका जैसे नदीके प्रवाहसे नीचेकी त्रोर ही घसीटी जाती हैं, इसी पकार दोनों पकारके मेरे शत्रु नदीके पवाहके ऊपर ही रहें, पार कभी न पहुँच सकें, (क्योंकि-) खदिरमें उत्पन्न हुए अश्वत्थासे मेरित शत्रुत्रोंका पुनः आगमन नहीं होसकता ॥ ७ ॥

ऋष्टमी ॥

प्रैणांन् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मंणा। प्रैणांन् वृत्तस्य शाल्याश्वत्थस्यं नुदामहे ॥ = ॥ म । एनान् । नुदे । मनसा । म । चित्तेन । उत । ब्रह्मणा ।

म । एनान् । द्वत्तस्य । शाख्या । अश्वत्थस्य । तुदाम्हे ॥ ८ ॥

एनान् प्रागुक्तान् शत्रून् मनसा शत्रुनिरसनिवषयज्ञानवता अन्तःकरणेन प्र णुदे स्थानाद् उच्चाटयामि ॥ चित्तेन मन्त्रा-र्थचिन्तनपरेण मनोष्टित्तिविशेषेण प्र णुदे ॥ उत अपि च ब्रह्मणा मन्त्रेण अभिमन्त्रितया अश्वत्थस्य ष्टन्तस्य शत्रुवश्चनसाधनस्य शाख्या एनान् शत्र्न् प्र णुदामहे । अ नुद् प्रेरणे । तुदादिः । स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम् अ ॥

इति तृतीयकाएडे द्वितीयेनुवाके प्रथमं सुक्तम् ॥

में इन पहिले कहे हुए शत्रुत्रोंको शत्रुका तिरस्कार करनेके भावसे सम्पन्न चित्तके द्वारा स्थानसे उच्चाटन करता हूँ, मन्त्रार्थ-चिन्तनपर मनाष्टित्तिविशेषसे शत्रुका स्थानसे उच्चाटन करता हूँ और मन्त्रसे अभिमन्त्रित शत्रुको काटनेकी साधन अश्वत्थवृत्त की शाखासे इन शत्रुत्रोंको हम नष्ट करते हैं।। ८।।

तृतीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समात (७७)॥

"हरिणस्य" इति सक्तेन क्षेत्रियव्याधिभैपच्ये हरिणशृक्षमणेर्बन्ध-नम् तच्छक्षसिहतोदकपायनम् हरिणचर्मणः शङ्कुच्छिद्रभागं प्रज्वा-ल्य उदके प्रक्षिप्य तेनोदकेन उपःकाले व्याधितस्यावसेचनम् यव-होमम् अभिमन्त्रितभक्तभक्तणं च कुर्यात्। तद् उक्तं संहिताविधौ। "हरिणस्येति वन्धनपायनाचमनानि शङ्कुधानज्वालेनापनक्तत्रेव-सिश्चति" इत्यादि [कौ० ४. ३]। अपनक्तत्रे उपःकाले इत्यर्थः।।

"कौमारीं व्याधितस्य बालस्य" इति [न० क० १७] विहि-तायां कौमार्याख्यायां महाशान्तौ हरिणविषाणाग्रे मिणवन्धनेपि एतत् सूक्तम् । [तद्भ उक्तं ] नक्तत्रकल्पे । "हरिणस्येति विषा-णाग्रं कौमार्याम्" इति [न० क० १६] ॥ 'हरिएस्य' सूक्तसे क्षेत्रियव्याधिकी शान्तिके लिये हिरएके सींगकी मिएको बाँधे उसके सींग मिले हुए जलको पिलावे। हिरनके चर्मके शंकुछिद्रभागको प्रज्वलित करके जलमें डाले, उस जलसे पातःकालमें रोगी पर अभिषेक करे, जोका होम करे और अभिमन्त्रित भातको खावे। इसी वातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"हरिएस्येति वंधनपायनाचमनानि शंकुधानज्वाले-नापनक्तत्रेऽवसिश्चति" इत्यादि (कोशिकसूत्र ४। ३)॥

"कौमारीं त्याधितस्य वालस्य।।—रोगी वालकके लिये कौमारी महाशांतिको करे" इस नचत्रकल्प १७ से विहित कौमारी महाशान्तिके हिरनके सींगके अग्रभागकी मिणिके बंधनमें भी यह सक्त पढ़ा जाता है। इसी वातको नचत्रकल्प १६ में कहा है, कि—"हरिणस्येति विषाणाग्रं कौमार्याम्"।।

तत्र प्रथमा ॥

हरिणस्यं रघुष्यदोधिं शीर्षणिं भेषुजम् ।

स चेत्रियं विषाण्या विषुचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

हरिणस्य । रघुऽस्यदः । अधि । शुीर्षणि । भेषुजम् ।

सः । क्षेत्रियम् । विऽसानया । विषूचीनम् । अनीनशृत् ॥ १ ॥

रघुष्यदः रघु लघु शीघं स्यन्दते गच्छतीति रघुष्यत् । श्री स्यन्देः विवप् । "अनिदिताम् " इति नलोपः । "वालम् ल " इत्यादिना रघोर्लत्विकल्पः श्री । तथाविधस्य हिरणस्य कृष्ण-मृगस्य अधिशीर्षणि शिरसि । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी । श्रीर्ष-श्चन्दिसः इति सप्तम्यां शीर्षन्नादेशः श्री । भेषजम् रोगनिवर्तकं शृङ्गरूपम् औषधम् अस्ति । सः हरिणः विषाणया स्वशृङ्गेण क्षेत्रि-यम् परक्षेत्रे चिकित्स्यं मातापितृशरीराद् आगतं चयकुष्टापस्मारा-

दिकं विष्चीनम् विष्वक् सर्वतः अनीनशत् नाशयत् । अविषुपूर्वाद् अश्चतेः विवन् । "अनिदिताम् ०" इति नलोपः । "विभाषाश्चे-रिदक् स्त्रियाम्" इति स्वार्थिकः खः । "अवः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घः अ ॥

शीधतासे चलनेवाले कृष्णमृगके शिरमें रोगको दूर करनेवाली सींगरूप ख्रोपध है वह हरिए अपने सींगसे दूसरेके शरीरमें चिकित्सा करने योग्य माता पिताके शरीरसे आई हुई त्तय कुष्ठ ख्रपस्मार आदि व्याधिको सब ख्रोरसे नष्ट करे ॥ १॥

द्वितीया ॥

अनु त्वा हिरिणो वृषां प्रिश्चतुर्भिरक्रमीत् । विषाणे वि द्यं गुष्पितं यदंस्य चित्रियं हृदि ॥ २ ॥ अनु । त्वा । हृरिणः । वृषां । प्रदेशः । चतुर्रभः । अक्रमीत् । विश्साने। वि । स्य । गुष्पितम् । यत्। अस्य । क्षेत्रियम् । हृदि ॥ २॥

हे विषाणे क्षेत्रियरोगिवनाशनाय मिण्रूपेण धृतां त्वा त्वाम् श्रमु दृषा सेचनसमर्थो युवा हरिणः मृगः चतुर्भः पद्भिः पद्भः पादैः श्रम्भात् श्राकान्तवान् । क्षेत्रियरोगं पादमहारः पीडितवान् इत्यर्थः ॥ त्वं च श्रस्य रुग्णस्य हृदि हृदये गुल्फितम् गुल्फवद् श्रिथतं यत् क्षेत्रियम् रोगजातम् श्रस्ति तद्ग वि व्य विनाशय । श्रिषां श्रन्तकर्मणि । श्रस्मात् लोटि "श्रोतः स्यिन" इति श्रोकारलोपः श्रि ॥

हे विषाणे ! क्षेत्रियरोगके नाश करनेके लिये मणिरूपसे धारणकी हुई तुमको सेचनसमर्थ तरुण हरिण चारों पैरोंसे आक्रान्त करता था अर्थात् तेरे प्रभावसे मृगने क्षेत्रियरोगको पैरोंसे खूँद पीड़ित किया था अतः तू भी इस रोगीके हृदयमें जो गुल्फकी समान गुँथा हुआ क्षेत्रियरोग है उसको नष्ट कर।।२॥ तृतीया ॥

अदो यदंवरोचंते चतुंष्पचिमव च्छिदः।

तेनां ते सर्वं चित्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अदः । यत् । अवऽरोचते । चतुंष्पत्तम्ऽइव । छदिः ।

तेन । ते । सर्वम् । क्षेत्रियम् । ऋङ्गेभ्यः । नाशयामित ।। ३ ॥

अदः चन्द्रमण्डलस्थं विश्रकुष्टं यत् हरिणरूपं वस्तु अवरोचते अवभासते । यद्वा अदः परिदृश्यमानं यद् भूमौ आस्तृतं हारिएां चर्म अवरोचते । किमिव । चतुष्पत्तम् चतुष्कोणं छदिरिव । छायते अनेन गृहम् इति छदिस्तृ एकटः स इव । 🛞 छद अपवा-रणे इत्यस्माद् एयन्तात् अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः [ उ० २. १०७ ] इति इसि प्रत्ययः । "इस्मन्त्रन्विवषु च" इत्यु-पधाहस्वत्वम् 🛞 । तेन चन्द्रमण्डलस्थहरिणात्मकेन पुरोवर्तिणा वा चर्मणा हे रुग्ण ते तव सर्वम् चयकुष्ठादिरूपेण बहुविधं क्षेत्रियम् रोगम् अङ्गेभ्यः कुत्स्नावयवेभ्यो नाशयामसि नाशयामः॥

चन्द्रमण्डलमें जो यह हरिएारूप वस्तु प्रकाशित होरही है अथवा यह जो भूमिमें विद्या हुआ हिरनका चर्म चार कोने वाले तृ गाकट ( घर ) की समान दिप रहा है हे रोगिन ! उस चन्द्र-यएडलस्थित हरियासे वा सामनेके हिरणचर्मसे मैं तेरे चय कुष्ठ त्र्यादि अनेक प्रकारके क्षेत्रियरोगको नष्ट करता हूँ ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारंके। वि चेत्रियस्य मुझतामधमं पारांमुत्तमम् ॥ ४ ॥ अमू इति । ये इति । दिवि । सुभगे इति सुऽभगे । विऽचृतौ । नाम । तारके इति।

वि । क्षेत्रियस्य । मुश्चताम् । अधमम् । पाशम् । उत्ऽतमम् ॥४॥

दिवि द्युलोके अम् परिदृश्यमाने सुभगे शोभनभाग्ययुक्ते ये प्रसिद्धे । विचृतौ नाम तारके इत्यादि शिष्टम् "उदगातां भगवती" इत्यत्र [ २. ८. १ ] विस्तरेण व्याख्यातम् ॥

ये जो आकाशमें विचृत नामके ( मूलनामके ) सौभाग्ययुक्त तारे हैं। ये माता पिताके अंगोंसे शरीरमें आये हुए पुत्र आदि के क्षेत्र ( शरीर ) में चिकित्सा करने योग्य त्तय कुष्ट अपस्मार ब्रादि क्षेत्रिय रोगके नीचेके ब्रौर ऊपरके शरीरमें स्थित पाशकी समान वंधक रोगके वीजको (शरीरसे ) अलग करें ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

आप इद वा उं भेषजीरापें अमीवचातंनीः। आपो विश्वंस्य भेषजीस्तास्त्वां मुबन्तु चेत्रियात् ५ त्रापः । इत् । वै । ऊं इति । भेषजीः। त्रापः। त्रमीवऽचातनीः। त्र्यापः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । त्वा । मुञ्चन्तु ।क्षेत्रियात् ५

त्राप इद्वे । इदित्यवधारणे । उः पूरणः । त्राप एव खलु भेषजीः भेषजभूताः अभिषेकपानादिना रोगापनोदनेन सुखहेतवः। ॐ "केवलमामक॰" इत्यादिना भेषजशब्दाद्व ङीप् । उदात्त-निष्टत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम् । "वा छन्दसि" इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् अ। तथा आप एव ओषधिरूपेण परिणताः अमीवचातनीः अमीवचातन्यः रोगाणां नाशयित्र्यः। 🛞 चात-

यतिनीशने इत्युम्कः 🛞 । आप एव विश्वस्य सर्वस्य रोगस्य भेषजीः । श्रोषधान्तरवद्ध न कस्यचिदेव रोगस्य भेषजं किं सर्वेषामपीत्यर्थः । अपां भेषजरूपत्वम् अन्यत्र स्पष्टम् आम्नातम् "अप्सु मे सोमो अबवीद अन्तर्विश्वानि भेषजा" [ऋ०१. २३. २०] इति । ताः एवम् उक्तसामथ्योपिता त्र्यापः हे व्याधिगृहीत त्वा त्वां क्षेत्रियात् रोगाद् मुश्चन्तु वियोजयन्तु।।

जल ही भेषज हैं अर्थात् अभिषेक पान आदिसे रोगको दूर करनेके कारण मुख देने वाले हैं। तथा जल ही श्रौपधिरूपमें परिणित होकर रोगोंक दूर करने वाले हैं और जल ही सब रोगों की ख्रोषध हैं। तात्पर्य यह है, कि-दूसरी ख्रोपधियोंकी समान जल किसी एक रोगकी श्रोपध नहीं हैं किंतु सब ही रोगोंकी श्रीषध हैं † ऐसे जल हे रोगिन ! तुभी क्षेत्रियरोगसे छुड़ावें ॥४॥

षष्टी ॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः चेत्रियं त्वां व्यानशे । वेदाहं तस्य भेषजं चेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥ यत् । आऽसतेः । क्रियमाणायाः । क्षेत्रियम् । त्वा । विऽत्रानशे । वेद । अहम् । तस्य । भेषजम् । क्षेत्रियम् । नाशयामि । त्वत् ६ हे रुग्ण त्वा त्वां क्रियमाणायाः स्वीक्रियमाणाया आसुतेः। आस्यते आसिच्यते इत्यासितर्दवीभूतम् अन्नम् । [तस्मात् अ]

यथोपयुज्यमानाद् अन्नाद् यत् चेत्रियं कुष्टादिरूपे व्यानशे व्या-मोत्। 🏶 अशुच्याप्तौ । लिटि "अश्रोतेश्र" इति दीर्घीभृताद्

† ऋग्वेदसंहिता १। २३। २० में कहा है, कि-"अप्स मे सोमो अबवीत अन्तर्विश्वानि भेषजा ॥ सोमदेवताने ग्रुभत्से कहा है, कि-जलके भीतर सम्पूर्ण त्रोषियों हैं"।।

श्रभ्यासाइ उत्तरस्य नुट् %। तस्य उक्तलद्मणस्य रोगस्य भेष-जम् निवर्तकम् श्रोषधं यवादिरूपम् श्रहम् चिकित्सको वेद जानामि । % "विदो लटो वा" इति उत्तमे एलि रूपम् %॥ श्रतः त्वत् त्वत्तः सकाशात् चेत्रियं नाशयामि । % त्वद्व इति । "पश्चम्या श्रत्" [ "एकवचनस्य च" ] इति युष्मदुत्तरस्य ङसे-रदादेशः %॥

हे रोगिन ! तेरे उपयोगमें लाये हुए अन्नसे जो कुष्ठ आदि रूप क्षेत्रियरोग तुभ्तमें न्याप्त होगया है उस रोगको हटाने वाली जौ आदि औषधको मैं चिकित्सक जानता हूँ, अत एव तुभ्तमेंसे मैं क्षेत्रियरोगको नष्ट करता हूँ ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अपवासे नचेत्राणामपवास उपसांमुत । अपारमत् सर्वे दुर्भूतमपं चेत्रियमुंच्छतु ॥ ७॥

अप्रवासे । नत्तत्राणाम् । अप्रवासे । उपसाम् । उत् । अप । अस्मत् । सर्वम् । दुःऽभूतम् । अप । ज्ञेत्रियम् । उच्छतु ७

नत्तत्राणाम् तारकाणाम् । ॐ नत्तत्राणि नत्तते र्गतिकर्मणः इति हि यास्कः [ नि० ३. २०]। श्रिमनित्ति० [ उ० ३. १०५ ] इत्यादिना नत्त्रगतौ इत्यस्माद् अत्रत् प्रत्ययः ॐ । तेषाम् अपवासे अपगमनकाले उपसः पारम्भे । उतशब्दो विकल्पार्थे । अथ वा उपसाम् । प्रतिदिवसम् आहत्त्रपेत्तया उपसाम् इति बहुवचनिर्देशः । तासाम् अपवासे अपगमने । प्रभातकाले इत्यर्थः । तिस्मन् क्रियमाणेन अभिषेकादिना सर्वम् निखिलं दुर्भूतम् रोगनिदानभूतं दुष्कृतम् अस्मत् अस्मतः अप उच्छत्विति संबन्धः । स्त्रपण्च इत्यर्थः । ततः चेत्रियम् कुष्ठापस्मारादिक्ष्पम् अप

उच्छतु ऋस्मत्तः ऋपगच्छतु। सकारणं रोगजातं निवर्तताम् इत्यर्थः। क्ष्रि उद्यी विवासे अ।।

[ इति ] तृतीयकाएडे द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

नत्तत्रोंके दूर होने पर अर्थात् उपःकालमें अथवा उपःकालके बीतने पर अर्थात् मितिदिन मभातकालमें किये हुए अभिषेक आदिसे रोगका कारण संपूर्ण पाप हमसे दूर होवे। फिर कुष्ठ अपस्माररूप क्षेत्रियरोग हमसे दूर होजावे अर्थात् कारणसहित रोग हमसे दूर होजावे॥ ७॥

तृतीयकाण्डके हितीय अनुवादमें दूसरा स्क समाप्त ( ७८ ) ॥

"आ यातु मित्रः" इति सूक्तेन उपनयनकर्मणि माणवकं नाभिदेशे संस्पृश्य अनुमन्त्रयेत । सूत्रितं हि। "दिक्तिणेन पाणिना [ नाभिदेशे ] संस्तभ्य जपित 'अस्मिन् वस्र वसवो धारयन्तु' [ १. ६ ] 'विश्वे देवा वसवः' [ १. ३० ] 'आ यातु मित्रः'

[ ३. ८ ] 'ग्रमुत्र भूयात्' [ ७. ५५ ]" इत्यादि [ कौ० ७.६ ]।। ग्रस्य स्कस्य त्रायुष्यगणे पाठात् ''मेधाजननायुष्येर्जुहुयात्"

[ कौ० ७, 🚾 ] इत्यादिष्वपि विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

प्वमेव नत्तत्रकल्पेषि "श्रायुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरा-वत्याम्" [ न० क० १८ ] इत्यादिष्विष श्रस्य विनियोगः ॥ परिशिष्टेषि ।

त्र्रायुष्यश्राभयश्रेव तथा स्वस्त्ययनो गणः [ प० ५, ३ ] इत्यादिषु च ॥

"इहेदसाथ" [ ४ ] इत्यनया विवाहे शुल्कद्रव्यं पृथक्कृत्य इदं द्रव्यं तव इदं वमेति द्वाभ्यां निवर्तयेत् । सूत्रितं हि । "इहेद-साथेत्येतया शुल्कम् अपाकृत्य द्वाभ्यां निवर्तयतीह तव राध्यताम् अत्र ममेति यथा वा मन्यन्ते" इति [ कौ० १०. ५ ] ॥

"सं वो मनांसि" [ ५, ६ ] इति द्वाभ्यां सांमनस्यकर्मणि

ग्राममध्ये संपातितोदकुम्भनिनयनम् त्रिवर्षवितसकाया गोः पिशि-तानां प्राशनम् संपातितान्नप्राशनम् संपातितस्ररायाः पायनम् तथाविधप्रपोदकपायनं च कुर्यात्। तथा च सूत्रम्। "सं वो मनांसि [ ५ ] संज्ञानं नः [ ७. ५४ ] इति सांमनस्यान्युदकुलिजं संपा-तवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयत्येवं सुराकुलिजं त्रिहायण्या वत्सतर्याः शुक्लानि पिशितान्याशयित भक्तं सुरां प्रपां संपात-वत् करोति" इति [ कौ० २, ३ ]।।

"श्रा यातु मित्रः" इस सक्तसे उपनयनकर्ममें वालकके नाभि-देशको छूकर श्रानुमंत्रण करे । इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । ६ में कहा है, कि—"दित्तिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति 'श्रिह्मिन् वसु वसवो धारयन्तु' (१ । ६ ) 'विश्वे देवा वसवः' (१ । ३०) 'श्रा यातु मित्रः' (३ । ८) 'श्रमुत्र भूयात्' (७ । ५५)" इत्यादि ॥

इस सुक्तका आयुष्यगणमें पाठ है अत एव 'मेधाजननायुष्यै-जु हुयात्।—मेधाजनन और आयुष्यगणके मंत्रोंसे होम करें' इस कौशिकसूत्र ७। ८ के अनुसार जहाँ इनका विनियोग हो तहाँ इस सुक्तका भी पाठ होगा।

इसी प्रकार "आयुष्य शांतिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" इस नत्तत्रकल्प १८ के अनुसार ऐरावती महाशांतिमें भी इसका विनि-योग होगा ।

'इहेदसाथ' इस चौथी ऋचासे विवाहमें शुल्कद्रव्यको अलग रखकर ये द्रव्य तेरा है ये द्रव्य मेरा है, ये मेरा है इस प्रकार विभाग करे। सूत्रमें भी कहा है, कि—"इहेदसाथेत्येतया शुल्कं अपाकृत्य द्वाभ्यां निवर्तयतीह तब राध्यताम् अत्र ममेति यथा वा मन्यन्ते" इति (कौशिकसूत्र १०।५)

सं वो मनांसि इन ५ वीं और छठी ऋचासे सांमनस्य कर्ममें

प्रामके मध्यमें संपातित जलपूर्ण कुम्भको लावे तीन वर्षकी गौके पिशितका प्राशन करे, सम्पातित अन्नका प्राशन करे, संपातित सुराको पिलावे और पौके सम्पातित जलको पिलावे । इसी बात को कौशिकसूत्र २ । ३ में कहा है, कि—"सं वो मनांसि (५) संज्ञानं न (७ । ५४) इति सांमनस्यान्युदकुलिजं सम्पातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयत्येवं सुरकुलिजं त्रिहायएया वत्सतर्याः शुक्लानि पिशितान्याशयित भक्तं सुरां प्रपां सम्पातवत् करोति।।

तत्र प्रथमा ॥

आ यात मित्र ऋतुभिः कल्पंमानः संवेशयंन् पृथिगीमुस्रियांभिः।

अथासमभ्यं वरुणो वायुर्गिनर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु

आ। यातु । मित्रः । ऋतुऽभिः । कल्पमानः । सम्ऽवेशयन् ।

पृथिवीम् । उस्त्रियाभिः ।

अथ । अस्मभ्यम् । वर्षणः । वायुः । अग्निः । बृहत् । राष्ट्रम् । सम् । दधातु ॥ १ ॥

मित्रः । मीतेर्मरणात् त्रायते इति मित्रः एतन्नामको देवः । अ मित्रः प्रमीतेस्नायते इति हि निरुक्तम् [नि०१०. २१] अ। यद्वा सर्वेषां मित्रवद् उपकारकः । "मित्रं देवाः" इति प्रक्रम्य श्राम्नातम् । "सर्वस्य वा अहं मित्रम् अस्मि" [ते० सं०६. ४. ८. १] इति । सः मित्रः श्रा यातु अस्मद्रत्नणार्थम् श्रागच्छतु । कीदृशः । ऋतुभिः वसन्ताद्यैः कल्पमानः । ऋतुसांतत्येन दीर्घम् श्रायुः कर्तुं समर्थो भविन्तयर्थः । अकृष् सामर्थ्ये । लटः शानच्। शिष "कृषो रो लः" इति लत्वम् । ० अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे च धातुस्वरेण आदु-दात्तत्वम् अ । किं कुर्वन् । उसियाभिः गोभिः । किरणौरित्यर्थः । पृथिवीम् विस्तीर्णा भूमिं संवेशयन् व्याप्नुवन् ॥ अथ मित्रागमनानन्तरं वरुणः वायुः अभिश्व अस्मभ्यम् बृहत् महत् राष्ट्रम् राज्यं संवेश्यम् संवेशाईम् अवस्थानयोग्यं दधातु विदधातु पकरोतु । प्रत्येकापेत्तया एकवचनम् । अ संपूर्वाद्व विशेः अहाँथे यत् पत्ययः अ

परणसे रत्ता करने वाले वा मित्रकी समान सवका उपकार करने वाले मित्र नामक देवता अपनी किरणोंसे पृथिवीको व्याप्त करते हुए वसन्त आदि ऋतुओंसे हमारी दीर्घायु करनेमें समर्थ होते हुए आवें मित्रदेवताके आगमनके अनन्तर वरुण वायु और अग्निदेवता हमें वड़े भारी राज्य पर बैठने योग्य करें ॥ १॥

द्वितीया ॥

धाता रातिः संवितेर्द ज्ञषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।

हुवे देवीमदितिं शूरंपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठायथासानि

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । इन्द्रः । त्वष्टा ।

मित । हर्यन्तु । मे । वचः ।

हुवे । देवीम् । अदितिम् । शूरऽपुत्राम् । सऽजातानाम् । मध्य-

मेऽस्थाः। यथा । असानि ॥ २ ॥

धाता सर्वस्य विधाता एतन्नामा देवः रातिः दानशीलोर्यमा। "यः खलु वै ददाति सोर्यमा" [तै० सं० २. ३. ४. १. ] इति श्रुतेः । श्रु रादाने इत्यस्मात् कर्तरि क्तिच् श्रु । सिवता सर्वस्य प्रेरको देवश्च इदम् मदीयं हिवः जुपन्ताम् सेवन्ताम् । श्रु जुपी मितिसेवनयोः श्रु ॥ एते धात्रादयः इन्द्रस्त्वष्टा च मे मदीयं वच्यमाणं वचः वाक्यं स्तुतिल्क्षणं वा मित हर्यन्तु आभिग्रुख्येन कामयन्ताम् । सादरं श्रुण्वन्तु इत्यर्थः । श्रु हर्यगितकान्त्योःश्रु॥ श्रूरपुत्रान् श्रूरा विक्रान्ताः शोयोपिताः पुत्रा मित्रवक्षणादयो यस्याः सा तथोक्ता तां देवीम् दानादिग्रणयुक्ताम् अदितिम् अदीनां देव-मातरं हुवे आह्यामि । श्रु हेवो "बहुलं छन्दिस" इति संप्रक्षारणम् श्रु । किमर्थम् । सजातानाम् समानं जातानां वन्धूनां मध्यम् । मध्यवर्तमानो यथा असानि भवानि । समृद्धकामः सन् स्वसमानैः सेव्यो यथा भवानि तथा कुर्वन्तु इत्यर्थः । श्रु मध्यमपूर्वात् तिष्ठतेर्विच् । सुषामादित्वात् पत्वम् । "तत्पुक्षे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अतुक् । असानि । असेर्लोटि "आहुक्तमस्य पिच्च" इत्याडागमः श्रु ॥

सवके विधाता धाता नाम वाले देव और दानशील अर्थमा नामक देव तथा सबके पेरक सिवता देवता मेरी हिवको स्वीकृत करें। और धाता आदि देवता तथा इन्द्र और त्वष्टा देवता भी मेरी स्तुतिरूपवाणीको आदरपूर्वक अवण करें। जिसके मित्र वरुण अर्थमा आदि शूर पुत्र हैं उस देवमाता अदितिका में आहान करता हूँ ( आहान करनेका कारण यह है, कि—) जिस पकार में अपने सजातियों में मध्यमें वैठने योग्य होऊँ तात्पर्य यह है, कि—में पूर्णकाम होकर अपने समान पुरुषों से जिस प्रकार सेवनीय बनूँ, तैसा देवता करें।। २।।

तृतीया ॥

हुवे सोमं सवितारं नमां भिर्विश्वानादित्याँ श्रहमुं त्रत्वे

अयम्गिनदींदायद् दीर्घमेव सजातेरिखोंप्रतिब्रविङ्ग

हुवे । स्रोमम् । सृवितारम् । नमः ऽभिः । विश्वान् । आदित्यम् । अहम् । उत्तर् उत्वे ।

अयम् । अप्तिः । दीद्यत् । दीर्घम् । एव । सऽजातैः । इदः ।

अपतिब्रुवत्ऽभिः ॥ ३ ॥

सोमं सिवतारं विश्वान् सर्वान् आदित्यान् अदितेः पुत्रान् अन्यांश्च नमोभिः नमस्कारोपलित्ततैः स्तावकेर्मन्त्रैः अहं प्रयोक्ता जत्तरत्वे यजमानस्य श्रष्टचे । अ निमित्तसप्तम्येपा अ । श्रष्टचार्यं हुवे आह्यामि ॥ तथा अयम् आहुत्याधारभूतः अप्तिर्दादयत् दीप्यताम् । अ दीदेतिरछान्दसो दीप्तिकर्मा। अस्मात् लेटि अडागमः अ । अप्रतिब्रुद्धिः अप्रतिकृत्ववादिभिः अनुकृतं वदिद्धः सजातैः समानजन्मभिः पुरुषेः दीर्घमेव चिरकालमेव इदः समिद्धः तैरिभवर्धितः । यथाहं असानि इति वाक्यशेषः । तथा दीप्यताम् इति संबन्धः । अ इद्ध इति । विङ्ग्धी दीप्तौ । अस्माद् निष्टा-याम् इट्पतिषेधः । "अनिदिताम् " इति ने लोपः अ ॥

में प्रयोग करने वाला यजमानको श्रेष्टता दिलानेके लिये सोमदेवताको सवितादेवताको और अदितिके अन्य भी सब पुत्रों को नमस्कार और स्तुतिके मन्त्रोंसे आह्वान करता हूँ। तथा मैं सजातीय पुरुषोंसे चिरकाल तक बढ़ावा पाता रहूँ, इसलिये यह श्रीहुतिका आधारभूत अग्नि प्रदीप्त होवे।। ३।।

चतुर्थी ॥

इहेदंसाथ न प्रो गंमाथेयों गोपाः पुंष्ट्यतिर्व आजत्। अस्मै कामायोपं कामिनीर्विश्वं वो देवा उपसंयन्त ४

इह । इत् । असाथ । न । पुरः । गुमाथ । ईर्यः । गोपाः

पुष्टुऽपतिः । वः । आ । अजत् ।

अस्मै। कामाय। उप। कामिनीः। विश्वे। वः। देवाः। उपऽसंयन्तु

हे कामिन्यः यूयम् इहेत् । अ इत् इत्यवधारणे अ । इहैव कन्यासमीपदेश एव असाथ भवत वर्तध्वम् । 🍪 अस्तेर्लेटि आडा-गमः 🛞 ॥ पुरः पुरस्ताइ न गमाथ। अनेतृकाः सत्यो न गच्छत। अपुर इति । "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्रेषाम" इति असिमत्ययः तत्संनियोगेन पूर्वशब्दस्य पुरादेशश्च। गमाथ। गमे-र्लेटि ब्राडागमः । छान्दसः शपो लुक् 🍪 ॥ ईर्यः मार्गपेरको गोपाः गोपायिता पालिथिता पुष्टपितः । पुष्टं पोषः । तस्य पितः पोषियता । पूषा देव इत्यर्थः । "पूषापोषयत्" [ तै० ब्रा० १. ६. २. २ ] इति हि श्रुतिः । ईदृशो देवो वः युष्मान् आजत् परे-यतु । अ अज गतिक्षेपणयोः । ईर्य इति । ईर गतौ । अस्माद् एयन्ताद्व "अचो यत्" इति व्यत्ययेन कर्तरि यत् । गोपाः । गुपू रत्तणे । "गुपूधूपविच्छि०" इति आयमत्ययः । तदन्तात् क्विप् । श्रतो लोपे "वेरपुक्तलोपाइ वलिलोपो बलीयान्" इति यलोपः श्री। तथा कामाय कामयमानाय । 🛞 कामयतेः पचाद्यच् 🛞 । अस्मै वराय । यद्वा कामः कामना । 🛞 भावे घत्र् । ऋस्मै इति पष्टचर्थे चतुर्थी 🛞 । अत्त्य वरत्त्य कामाय उप तत्समीपे कामिनीः कामः काम्यमानं फलम् तद् आसु विद्यत इति कामिन्यः स्त्रियो गावः। 🛞 मत्वर्थीय इनिः 🛞 । यद्दा कामयमानाः । 🛞 ग्रहादित्वाद् णिनिः 🕸 । ईदृशीः वः युष्मान् विश्वे देवा उपसंयन्तु उपमग-यन्तु । 🛞 इण् गतौ । अस्मात् लोटि "इणो यण्" इति यण् 🛞 ।। हे कामनियों ! तुम कन्याके समीपके स्थानमें ही रहो,

सामनेसे न जात्रो अर्थात् नेतारहित होकर न जात्रो पार्गपेरक

रत्तक पोषण करनेवाले स्वामी पूषा देवता तुम्हें घेरणा करें, इस वरकी इच्छाके लिये कामनियोंको विश्वेदेवा आपको पासमें रक्खें४ पश्चमी ॥

सं वो मनांसि सं त्रता समाक्तीनिमामिस । अमी ये वित्रता स्थन तान् वः सं नेमयामिस ॥५॥ सम् । वः । मनांसि । सम् । त्रता । सम् । आऽक्तीः । नमामिस । अमी इति । ये।विऽत्रताः । स्थन । तान् । वः । सम् । नमयामिस ॥५॥

हे विमनस्का जनाः त्रः युष्माकं मनांसि परस्परविरुद्धानि सं
नमामसि । सम् इति एकीभावे । एकिविपयमहाणि अविसंवादीनि
कुर्मः ॥ तथा व्रता व्रतानि । कर्मनामैतत् । वचनादानादिकर्माणि
सं नमयामः ॥ एवम् आकृतीः संकल्पान् सं नमयामः । ॐ नमेएर्यन्तात् लिट शपः "छन्दस्युभयथा" इत्यार्घधातुकत्वात् णिलोपः ।
"इदन्तो मिसः" ॐ । ये अमी यूयं पूर्वं विव्रताः विरुद्धकर्माणः
स्तन भवथ । ॐ अस्त्रेलोटि तशब्दस्य "तप्तनप्तनथनाश्र"
इति तनादेशः । "श्रसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः ॐ । तान् विमनस्कान् वः युष्मान् सं नमयायसि संनमयामः । ॐ नमेएर्यन्तात्
लिट "ज्वलहलह्मलनमाम् अनुपसर्गाद्द वा" इति मिन्त्वविकल्पस्य
अनुपसर्गविषयत्वात् सोपसर्गस्य तु अमन्तत्वेन प्राप्तं मिन्त्वं नित्यम्
इति "मितां हस्वः" इति उपधाहस्वत्वम् ॐ ॥

हे विरुद्ध मन वाले पुरुषों ! तुम्हारे परस्पर विरुद्ध मनोंको एक विषयसे प्रसन्न होनेवाले विरुद्धतारहित करता हूँ । तुम्हारे वार्तालाप आदि कर्मोंको और तुम्हारे संकल्पोंको में विरोधभाव से शून्य अनुकूल करता हूँ । पहिले जो तुम परस्परके विरुद्ध कर्म करते रहते थे उन तुमको अनुकूल करता हूँ ॥ ४ ॥

## ६६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

.पष्टी ॥

अहं गृंभणामि मनसा मनांसि ममं चित्तमनुं चित्ते भिरेतं मम् वशेषु हृदंयानि वः ऋणोमि ममं यातमनुंवत्मीन एतं ॥ ६॥

अहम् । गृभ्णामि । मनसा । मनसि । मम । चित्तम् । अनु ।

चित्तेभिः। आ। इत।

मर्म । वशेषु । हृदयानि । वः । कृणोमि । मर्म । यातम् । अनुंऽ-वत्मीनः । आ । इत् ॥ ६ ॥

हे विमनस्काः युष्मदीयानि विमितिपन्नानि मनांसि मनसा मदीयेन अहं गृह्णामि स्वाधीनीकरोमि ॥ तथा यूयमपि मम चित्तम् अनुचित्तेभिः अनुसारिभियु ष्मदीयैश्वित्तेः एत आगच्छत ॥ मम वशेषु वशे इच्छामात्रे । ॐ व्यत्ययेन बहुवचनम् ॐ । यद्वा वशेषु वशीकृतेषु स्वाधीनेष्वर्थेषु । ॐ वश कान्तो । इत्यस्माद्व "वशिर्एयोहपसंख्यानम्" इति भावे कर्मणि वा अप् ॐ । वः युष्मदीयानि हृदयानि कृणोतु भवन्तः कुर्वन्तु । मत्येकविवत्तया एकवचनम् ॥ एवं मम यातम् गमनं यूयमपि अनुवर्त्मानः अनुसृतमानीः सन्तः ऐत आगच्छत ॥

इति तृतीयकाएडे द्वितीयेनुवाके तृतीयं स्कम् ॥

हे विमनस्क पुरुषों! तुम्हारे पतिकूल मनोंको मैं अपने मनसे स्वाधीन करता हूँ तथा तुम भी मेरे चित्तके अनुकूल हुए चित्तों के साथ आस्त्रो, मेरे अधीन कामोंमें तुम अपने मनको लगाओ तथा मेरे स्वीकृत मार्ग पर चलनेकी इच्छा रखकर तुम आस्रो ६ तृतीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें तीसरा सुक्त समाप्त (७९)॥ "कर्शकस्य" इति स्केन विघ्नशमनकर्मणि स्पर्शारूपविघन-विनाशार्थम् अरलुमणिबन्धनम् सर्पशृङ्गिदंष्ट्रचादिविघ्नशमनार्थं संपातयुक्तवेणुदण्डधारणम् संग्रामे शत्रुकृतमायादिरूपविघ्ननिवार-णार्थं संपातयुक्तायुधधारणम् सर्वारमभिवद्यशमनार्थं फलीकरणैर्ध्-पनं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "कर्शकस्येति पिशङ्गसूत्रम् अरलु-दण्डं यद् आयुधं फलीकरणैर्धूपयित" इति [ कौ० ४. ७ ] ॥

विध्नशमनकर्म में स्पर्धारूप विध्नका नाश करने के लिये 'कर्श-फस्य' सक्तसे अरलु (सोनापाड़ा) की मिण वाँधे, सर्पके और सींग वाले प्राणियों के और डाढ़ वाले प्राणियों के विध्नको शमन करने के लिये सम्पातित वाँसके दण्डेको धारण करे और संग्राम में शत्रुकी रचीहुई माया आदि विध्नों को दूर करने के लिये संपा-तित आयुधको धारण करे और सब कार्मों का आरम्भ करते समय विध्नको शान्त करने के लिये अससे धूपन करे। सूत्रमें भी कहा है, कि-''कर्शफस्येति पिशक्तसूत्रं अरलुदण्डं यद्ग आयुधं फली-करणे धूपयित'' (कोशिकसूत्र ५। ७)॥

तत्र प्रथमा ॥

क्शंफंस्य विश्वापस्य द्योः पिता पृथिवी माता । यथांभिचक देवास्तथापं कृणुता पुनः ॥ १ ॥ कर्शफंस्य । विऽशाफस्यं । द्योः । पिता । पृथिवी । माता । यथां । अभिऽचक्र । देवाः । तथां । अपं । कृणुत् । पुनः ॥१॥

कर्शफस्य [ करशफस्य ] क्रशशफस्य वा श्वापदस्य व्याघादेः विशफस्य विगतशफस्य स्पर्धमानपुरुषकालसर्पादेः विस्पष्टशफस्य वा क्रूरगोमहिषादेः तस्य उभयविधस्य बहुविधविघ्नकारिणः द्यौः द्युलोकः पिता दृष्ट्यादिद्वारा उत्पादकः । पृथिवी मातास्वावयवा- वष्टमभेन आधारत्वेन च मात्वज्जनियत्री। अनेन विघ्नहेत्नाम् एतेषां दृढम् लत्वात् तिन्नवारणम् अल्पप्रयाससाध्यं न भवतीति स्चितम्। अथ वा पितृमातृभूत्यावापृथिवीसंकीतेनेन विघ्नोत्पा-द्नाभावाय तेषां स्तुतिः कृता। एवं विघ्नकारिणां स्तुतिः श्रुत्य-न्तरेपि दृश्यते। "द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो आतादितिः स्वसा" इति [ ऋ० १. १६१. ६ ]। "नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीम् अनु" [ तै० सं० ४. २. ८. ३ ] इति च ॥ तेषां विघ्नहेत्नाम् अपनोदनाय तत्मेरका देवाः पार्थ्यन्ते यथेत्यादिना। हे देवाः यूयं यथा येन प्रकारेण अभिचक्र उक्तान् विघ्नहेत्न् पूर्वम् अस्मदिभम्रखान् कृतवन्तः स्थ । अकारोतः परोक्षे लिटि मध्यमबहुवचने रूपम् "यावद्यथाभ्याम्" इति निघातपतिषेधः अ॥ तथा तेनैव प्रकारेण पुनः अप कृणुत अस्मचः अपगतान् कृत्त। निवर्तयतेत्यर्थः। अकृति हिंसाकरणयोश्च। "धिन्विकृण्व्योर् च" इति जप्रत्ययः अ॥

जिनके हाथमें खुर होता है ऐसे कुश (शफ) खुर वाले व्याघ आदिके, शफरहित स्पर्धा करनेवाले पुरुष काल सर्प आदि के और स्पष्ट शफ वाले कूर गौ महिष आदिके दृष्टि आदिके द्वारा उत्पादक आकाश पिता हैं और आधार होनेसे माता पृथिवी हैं (इससे सूचित किया है, कि—इन विघ्रहेतुओं के दृद्रमूल होनेसे इनका निवारण थोड़ेसे पयत्नसे नहीं होसकता। माता ध्रीर पितारूप द्यावापृथिवीका संकीर्तन करके विघ्नोत्पादनके अभावके लिये इनकी स्तुति की है) † हे देवताओं ! तुमने इन

† विघ्नकारियोंकी स्तुति दृसरी श्रुतियोंमें भी सुनी जाती है।
यथा-"द्योर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा ॥
द्यौ तुम्हारे पिता है, पृथिवी तुम्हारी माता हैं, सोम नुम्हारे
भ्राता हैं और श्रदिति तुम्हारी वहिन हैं" (ऋग्वेदसंहिता १।

विच्चहेतुओं को जिस मकार इसारे अभिग्रुख किया है उसी मकार तुम हमसे इनको हटात्रो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम्। कृणोमि वधि विष्कंन्धं सुष्कावहीं गवांपिव ॥ २॥ ग्रश्रेष्माणः । श्रधारयन् । तथा । तत् । मनुना । कृतम् । कुलोचि । वधि । विऽस्कन्धम् । ग्रुष्कऽत्र्यावर्हः । गवाम्ऽइव ॥२॥

**अश्लेष्माणः अश्लिष्टाः विघ्नैरभिमतकार्यसं**माप्तिशून्या जनाः। अ शिलष त्रालिङ्गने इत्यस्मात् शिलष श्लेषणे इत्यस्मात् चौरा-दिकाइ वा औणादिको मनिन् 🕸 । यद्वा श्लेष्मोपलि चितत्रिदोप-दूषितशारीररहिताः दिव्यदेहा देवाः अधारयन् । विघ्नशमनाय अरलुट्टत्तविकारमणि दण्डादिकं च धृतवन्तः ॥ तथा तद्वदेव तत मएयादिधारणं मनुना मनुष्यसृष्टेः कर्त्रा स्वायं धुवेन कृतम् अनु-ष्ठितम् ॥ एवस् ऋहमपि मण्यादिधारणेन विष्कन्धम् कार्यपर्वति-प्रतिबन्धकं विघ्नजातं विघ्र । शुष्कचर्मपयी रज्जुर्वधी । [ वधी ] वरत्रा स्यात् इत्यभिधानात् [ अ० को० २. १०. ३१]। तद्युक्तम् जनमूलनपाशयुक्तं कृणोमि । पाशेनाकृष्य जनमूलयामीत्यर्थः । 🛞 वधीशब्दाइ त्रीह्यादेराकृतिगणत्त्राइ मत्वर्थीय इनिः 🛞 । यद्दा वध्रः पएडः ।

निसर्गपण्डो वध्रश्र पत्तपण्डस्तथैव च । अत्र वध्रशब्दो निर्वीर्यत्वरूपधर्मपरः। इत्यादिस्मरणात

१६१।६) श्रोर तैत्तिरीयसंहिता ४।२।८।३ में कहा है, कि-"नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिशीम् अनु ॥-जो पृथिवी पर रहते हैं उन सर्पों के लिये नमस्कार है"

सोस्यास्तीति विश्व निर्वीर्य कार्यात्तमं करोमि। यद्वा विश्व वध्यं विनष्टं करोमि। अ अदिशदिभूशुभिभ्यः किन् [उ० ४. ६५] इति वाहुलकाद्व वधेहिंसार्थादिप भवति अ। तत्र दृष्टान्तः। मुष्कावहीं गवामिव गवाम् पुंगवानां मुष्कावहीः। मुष्कम् आदृहित उन्मृत्वयतीति मुष्कावहीः। अ कर्मण्यण् अ। यद्वा आवही एम् आवही मुष्कस्यावहीं मुष्कावहीः। स्वया तान् निर्वीर्यान् पजननाशक्तान् करोति तद्वत्।।

विद्नोंके द्वारा अभिमत कार्यकी प्राप्तिसे शून्य रह जाने वालें मनुष्योंने और श्रुष्म आदि त्रिदोषसे रहित दूषित शारीर वालें देवताओंने विद्यशमनके लिये अरल दृक्तकी मिणको और दएड आदिको धारण किया है। इसी प्रकार मनुष्यसृष्टिको रचने वालें स्वायंभ्रव मनुने भी किया है। इसी प्रकार में भी मिण आदिको धारण कर कार्यप्रदृक्तिके प्रतिवंधक विद्योंको शुष्कचर्मकी रस्सी के पाससे खेंच कर उन्मूलित करता हूँ, निर्वीर्य करता हूँ, जैसे अएडकोशोंका कुचलना वैलोंको निर्वीर्य (सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ) करता है, इसी प्रकार में अरलुकी मिण आदिको धारण कर विद्नोंको निर्वीर्य करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पिशक्ते सूत्रे खर्गलं तदा बंध्नान्ति वेधसंः। श्रवस्यं शुष्मं काब्वं विधि कृखन्तु बन्धुरंः॥ ३॥

पिशक्षे । सूत्रे । खुगलम् । तत् । आ । बध्नन्ति । वेधसः ।

अवस्युम् । शुष्पम् । काववम् । विधिम् । कृएवन्तु । वन्धुरः ॥३॥

पिशङ्गे पिशङ्गवर्णे सूत्रे । मोतम् इति शेषः । खृगलम् तनुत्रा-राम् । "खृगलेव विस्तसः पातम् अस्मान्" [ ऋ० २. ३६. ४ ] इत्यत्र मन्त्रे खृगलं तनुत्राणम् इति भरतस्वामिना व्याख्यातम् । कवचवत् परकृतविद्वापनोदनेन रत्तकं तत् तम् उक्तगुणम् अरलु-पणि वेधसः विधातारः साधकाः य्रा वःनन्ति शरीरे धारयन्ति ॥ वन्धुरः । अ बन्धेरौणादिक उरच् प्रत्ययः अ ॥ अस्माभिरपि वद्धः स मणिः अवस्यम् । अव इत्यन्ननाम । वालरूपम् अन्नम् अर्हतीति अवस्यः । अ "वन्दिस च" इति यत् प्रत्ययः अ । तं शुष्मम् शोषकम् । अ शुष शोषणे । अविसिविसिशुषिभ्यः कित् [ उ० १. १४१ ] इति मन् प्रत्ययः अ । काववम् । कबुः कर्चु-रवर्णः क्रूरः पाणी । तत्संबन्धी विद्वः काववः । अ कब्नु वर्णे इत्यस्माद् श्रौणादिक उपत्ययः । "तस्येदम्" इत्यर्थे श्रण् अ । ईदृशं विद्वन्जातं विभ्रम् निर्वीर्थे वध्यं वा कृण्वन्तु करोतु । अ व्यत्ययेन बहुवचनम् अ । यद्वा बन्धुरः । अ जसः स्थाने "सुषां सुजुक्०" इति सुः अ । बन्धुराः अस्माभिर्धार्यमाणाः मणिदण्डा-दयः अवस्याद्युक्तलन्नणं विद्वनं विधं कृण्वन्तु ॥

पिंगलवर्णके डोरेमें पुरी हुई खृगल अर्थात् † कवचकी समान दूसरेके किये हुए विद्रोंको रोक कर रक्षा करने वाली अरलु-मिलाको साधक धारण करते हैं। हमारी भी धारण की हुई यह मिला अवस्य (बालरूप अन्नको लगने वाले), शोषक, कर्चुर वर्णके कूर प्राणीरूप विद्रको निर्वीर्य करे।। ३।।

चतुर्थी ॥

येनां श्रवस्यवृश्चरंथ देवा इंवासुरमायया । शुनां कपिरिंव दूषंणो बन्धुंराः काबवस्यं च ॥४॥

† "खुगलेव विस्नसः पातं अस्मान् ॥—( ऋग्वेदसंहिता २ । ३६ । ४ ) इस मन्त्रकी व्याख्या करते समय भरतस्वामीने खुगल गब्दका अर्थ कवच किया है ॥

येन । श्रवस्यवः । चरथ । देवाः ऽइव । ग्रासुर ऽमायया ।

शुनाम् । कपिः ऽइव । दूषणः । बन्धुरा । काबवस्य । च ॥४॥

हे जनः श्रवस्यवः। श्रवः अन्नं यशो वा। तत् शत्रुजयेन त्रात्मन इच्छन्तः । 🛞 "क्याच्छन्सि" इति उपत्ययः 🛞 । तादृशा युयं येन परक्रतमायारूपविद्नेन मोहिताः सन्तश्ररथ संग्रामे वर्तध्वे। तत्र दृष्टान्तः । श्रसुरमायया श्रसुरसंबन्धिन्या मायया मोहिता देवा इव । तथाविधानां भवतां संबन्धिनो मायारूपविद्यस्य काव-वस्य पागुक्तलचणस्य विव्वविशेषस्य च वन्धुरा संबद्धा खड्गादिरूपा हेतिः दूषित्री भवतु । किमिव । शुनां कपिर्यथा दूपणः । उपमानापेत्तया पुंत्तिगवा । 🍪 शुनाम् इति । "श्वयुव-मघोनाय् अतिद्वते" इति संप्रसारणम् । "न गोश्वन्त्साववर्ण०" इति विभक्तचुदात्तत्वमतिषेधः । दूषराः । दुष वैकृत्ये । इत्यस्मात् "कृत्यन्युटो बहुलम्" इति कर्ति न्युट्। "दोषो णौ" इति ऊत्वम् अ

हे शत्रुको जीत कर अन्न धन चाहने वाले मनुष्यों ! तुम असुरोंकी मायासे मोहित देवतात्रोंकी समान दूसरेकी की हुई मायारूप थिन्नसे मोहित होकर संग्राममें विचर रहे हो, उस मायारूप विध्नसे और काववरूप विव्रसे संयुक्त खड्ग आदि बन्दर जैसे कुत्तोंका दूषण है, तैसे विझोंका दूषक हो ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

दुष्ट्ये हि त्वां भत्स्यामिं दूष्यिष्यामिं कानवम् । उदाशवो रथां इव शपथेंमिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

दुष्ट्यै । हि । त्वा । भत्स्यामि । दूष्यिष्यामि । काववंम्। उत । आश्रावः । रथाःऽइव । शपथेभिः । सरिष्यथ ।। **५** ॥ हे मणे त्वा त्वां हि यस्मात् दुष्टचै परकृतिवृद्वप्णाय भत्स्यामि वध्नामि । अ बन्धेर्लु टि "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्पतिपेधः । नलोपश्कान्दसः अ । यद्वा विद्यग्रहीतः संवोध्यः । हे विद्यग्रहीत सर्वारम्भविद्यनिवारणाय त्वां भत्स्यामि दीपयामि । फलीकरणै धूपयामीत्यर्थः । अ भस भत्सेनदीप्त्योः । ञ्चान्दस इडभावः । "सस्यार्घधातुके" इति तत्वम् अ ॥ तस्मात् काव-वम् उक्तलक्तणं विद्यविशोषं दूपिष्धामि नाशिष्ध्यामि । "एक-शतं विष्कर्मानि" इति वच्यति । तेषु प्रधानत्वात् काववस्य पुनः पुनरुपादानम् ॥ ततश्च उदाशवः । त्राशुरश्वः । गमनोन्युखैवैंग-वद्धिः श्रश्वेर्धु क्ता रथा इव हे जना यूयं शपथेभिः शपथेः परकृतैविद्यनिमित्तराक्रोशैः । वियुक्ताः सन्त इति शेषः । व्यापारेषु श्रनिरुद्धनिपत्तेराक्रोशैः । वियुक्ताः सन्त इति शेषः । व्यापारेषु श्रनिरुद्धनेत्वारः चरिष्यथ यथेष्टं सश्चरत । अ शपथेभिरिति । "वहुलं छन्दिस्" इति भिस ऐसभावः अ ॥

हे मणे! तुभको में दूसरेके किये हुए विश्वको दूषित करनेके लिये धारण करता हूँ (आगे एक सौ एक विघ्नोंका वर्णन आवेगा उनमें कावन प्रधान है अतः ) कावनको में दूषित करता हूँ । तदनन्तर हे मनुष्यों! तुम गमनोन्मुख वेगनान् घोड़े नाले स्थोंकी समान दूसरेके विघ्न डालने वाले आक्रोशोंसे रहित होकर अपने व्यापारोंको विना रोकटोकके करो ॥ ॥ पष्टी ॥

एकशतं विष्कंन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।
तेषां त्वामग्र उज्जंहरुर्मणि विष्कंन्धदूर्पणम् ॥ ६॥
एकऽशतम्। विऽस्कंन्धानि । विऽस्थिता । पृथिवीम् । अनु ।
तेषाम्। त्वाम् । अग्रे। उत्। जहरुः। मिणिम्। विस्कन्धऽदूर्पणम् ६

एकशतम् एकं च शतं च एकशतम् । 🕸 "संख्या" इति सूत्रेण पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् । एकशब्दोपि कन्प्रत्ययान्तत्वेन त्राद्युदात्तः अः । एकोत्तरशतसंख्यानि विष्कन्धानि विष्नाः पृथि-वीम् अनु पृथिव्यां विष्ठिता विष्ठितानि विविधम् अवस्थितानि । 🕸 विषूर्वात् तिष्ठतेः कर्तरि निष्ठा । "द्यतिस्यतिमास्थाम् इत् ति किति" [इति ] इत्तम् । "उपसर्गात् सुनोति०" इत्यादिना षत्वम् । शेर्लोपः । "श्रजुर्लन्न ऐ" इत्यनोः कर्मपवचनीयत्वात् "कर्ममवचनीययुक्ते द्वितीया" इति पृथिवीम् इति द्वितीया 🕸 । तेषां विद्यानां निष्टत्तये हे मणे त्वाम् अग्रे पूर्वम् उज्जहः देवा उद्गृधतवन्तः । अतः विष्कन्धदृषणं मिणम् इमम् अरलुष्टक्तविकारं मिणम् । अहमपि धारयामीति वाक्यशेषः ॥

इति तृतीयकाएडे द्वितीयेनुवाके चतुर्थे स्कम्।।

एक सौ एक प्रकारके विघ्न पृथिवीमें अनेक प्रकारसे स्थित हैं, हे मणे ! उन विघ्नोंकी शांतिके लिये देवताओंने तेरा उद्धार किया था, अतः विद्नोंकी दृषक अरलुपिएको मैं भी धारण करता हुँ।। ६ ॥

तुनीयकाण्डकं द्विनीय अनुसक्में चतुर्यं हक्त समाप्त (८०) ॥ 👚 "मथमा ह न्युवास" इति सूक्तेन सर्वेण पुष्टचर्थे अष्टका-कर्मणि आज्यमांसस्थालीपाकान् पत्येकं त्रिस्तिजु होति। नवकृत्वः स्कारतः। माघकुष्णाष्टमी अष्टकेत्युच्यते। यथाहुः । "या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाइ द्वचष्टका तस्यां अष्टमी ज्येष्ठया संपद्यते ताम् एकाष्टकेत्याचत्तते'' इति [ त्र्याप० गृ० २१ ]। तस्यां तत् कर्म कार्यम् । तत्र धानाकरम्भशष्कुलीपुरोडाशोदौदनचीरौ-दनितलौदनान् अधिश्रयणपर्यप्रिकरणादिभिः संस्कृत्य आज्येन संमिश्रच विंशतिसंख्याकान् पिएडान् कृत्वा पशोर्दिक्षणं बाहुं निर्लोमसचर्मसुरं मन्नाल्य निधाय अनेन सक्तेन दर्व्या प्रत्युचं

हुत्वा अन्ते सदवीम् एकविंशीम् आहुति जुहुयात् । अयम् अत्र क्रमः। "प्रथमा ह व्युवास" [१-५] इत्याद्याः पश्च । "ब्रायमग-न्त्संवत्सरः" [ ८, ६] इति हे। "इडया जुढतो वयम्"[११,१२] इति द्रे । इति नवभिर्नव पिएडान् हुत्वा "ऋतुभ्यष्ट्रा" [१०] इत्यस्याम् ऋचि ऋतुभ्यष्टा यजे स्वाहा आर्तवेभ्यस्त्वा यजे स्वाहा इत्येवं सानुपङ्गैरष्टथा विभक्तैर्मन्त्रैः ऋष्टौ पिएडान् हुत्वा ''इन्द्रेयुत्रे सोमपुत्रे" [१३] इत्यन्तिमया अष्टादशीं जुहुयात् "अहोरात्राभ्यां त्वा यजे स्वाहा" [ कौ० १४. २ ] इति सौत्र-मन्त्रेण एकोनविंशीं हुत्वा "इडायास्पदम्" [६] इत्येका "श्रा मा पुष्टे च" [ ७ ] इत्येकावसाना द्वितीया। एताभ्याम् ऋग्भ्यां पशोदित्तिणं बाहुं विशीं जुहुयात् । तदलाभे आज्यं जुहुयात् । "पूर्णादर्वि" [७] इति अवसानद्वयेन सद्वीं पिएडीम् एकविंशीं जुहोति । ततः धानाकरम्भादीनि हिवरुच्छिष्टानि आज्यमिश्राणि कृत्वा "प्रथमा ह न्युवास" इति सर्वेण सूक्तेन तिस्र आहुती-र्जु होति । इति पुष्टचर्थे अष्टकाकम एययं क्रमः। तद् उक्तं संहिता-विभौ । "मथमा इ व्युवास सेत्यष्टक्याया [ वपां ] सर्वेण स्वतेन तिस्र आहुतीर्जु होति । समवत्तानां स्थालीपाकस्य सहहुतान् आज्यमिश्रान् हुत्वा पश्चाद् अग्नेर्वाग्यतः संविशति । महाभूतानां कीर्तयन संजिहीते" इति [ की॰ ३. २ ]॥

नित्ये ऽष्टकाकर्मणि त्राद्यन्तयोरुक्तं सक्तहोमं विहाय ऋग्भिरुक्तप्रकारेण एकविंशतिम् आहुतीर्जुहुयात् । तद्गु उक्तं कौशिकेन । "अष्टकायाम् अष्टकाहोमान् जुहुयात् । तस्या हवींपि धानाः करम्भः शष्कुल्यः पुरोडाश उदौदनः चीरौदनस्तिलौदनो यथोप-पादे पशुः । सर्वेषां हिवषां सम्रद्धत्य दर्व्या जुहुयात् प्रथमा ह न्युवाससेति पश्चिभः" इत्यादि [कौ० १४. २]।।

अस्य दर्विहोमत्वात् तन्त्रविकल्पे पाप्ते नित्यमेव तन्त्रम् इति

इषुफालिमाठरयोर्मतम् । [ तथा च कौशिकः ] " न दर्विहोमे न हस्तहोमे न पूर्णहोमे तन्त्रं क्रियेतेत्येके अष्टकायां क्रियेतेतीषुफालि-माठराँ" इति [ कौ० १४. २ ] ।।

सोमयागे सोमक्रयणीपदहोमानुमन्त्रणे "इहायास्पदम्" [६] इत्येषा विनियुक्ता । [तद् ] उक्तं वैतानसूत्रे । "सोमक्रयणीं प्रपाद्यमानाम्" इति प्रक्रम्य "पदाभिहोमम् इहायास्पदम्" इति [वै० ३.३] ॥ चातुर्मास्येषु साक्षमेधे पूर्णदिविहोमे "पूर्णो दर्वि" [७] इत्येषा । तद् उक्तं वैताने । "कार्तिक्यां साक्षमेधाः" इति प्रक्रम्य "श्वो भूते पूर्णदर्व्यं पूर्णा दर्वे" इति [वै० २.५]॥

राज्ञो रात्रौ आरात्रिकविधाने 'यां देवाः प्रतिनन्दन्ति" [२] इत्येषा रात्रिदेवतावाहने विनियुक्ता । ''संवत्सरस्य प्रतिमाम्" [३] इत्येषा च पिष्टमय्या रात्रिप्रतिकृतेरुपवेशने विनियुक्ता । तद् उवतं परिशिष्टे । ''अथानः पिष्टरात्र्याः कल्पं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य ''यां देवाः प्रतिनन्दन्तीति रात्रिम् आवाहयेत् । संवत्सरस्य प्रतिमाम् इति पिष्टमयीं प्रतिकृतिं कृत्वोदङ्गुखीम् उपवेशयेत्" [प०६.१] इति ॥

तत्रैव राज्युपस्थाने ''आ मा पुष्टे च पोषे च'' इत्येता विनि-युक्ताः । तद् उक्तं तत्रैव । ''आ मा पुष्टे च पोषेत्येताभिरूपस्थाय'' इति [प०६.१]॥

'प्रथमा ह ब्युवास' इस स्कासे पुष्टचर्थ अष्टकाकर्ममें घृत मांस और स्थालीपाक इन तीनोंमेंसे मत्येककी तीन २ वार आहुति देय। नौ वार स्काको पढ़े। मायकृष्णा अष्टमी अष्टका कहलाती है। इसी बातको आपस्तम्चयृद्धसूत्र २१ में कहा है, कि—"या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टाइ द्वचष्टका तस्याम् अष्टमी ज्येष्टया सम्पद्यते ताम् एकाष्टकेत्याचत्तते।।—माघकी पौर्णमासीसे पहिले जो दो आठें (अष्टमी) होती है उनमें जो अष्टमी ज्येष्टासे संयुक्त

होती है उसको एकाष्टका कहते हैं"।। उसमें इस कर्म को करना चाहिये। इसमें भुने हुए औ, दही मिले हुए सत्तू, पूरी, पुरो-डाशोदन, चीरौदन और तिलौदनोंको अधिश्रयण और पर्यप्र-करण आदिसे संस्कृत कर घृतसे मिलाकर वीस पिएड बनावे। फिर पशुकी दाहिनी भुजाको लोमरहित सचर्म खुरको मन्नालित कर इस सक्तसे दर्वीके द्वारा मत्येक ऋचा पर होम करके अन्त में दर्शीसहित इकीसवीं आहुति होमे। उसदा क्रम यह है, कि-'पथम ह व्युवास' इस पथम ऋचासे पाँचवीं ऋचा तक (पाँच), त्रायमगन् संवत्सर" ये = वी त्रौर नवमी दो ऋचा, "इडया जुहतो वयम्" ये ग्यारहवीं वारहवीं दो ऋचाएँ इस पकार नौ ऋचाओंसे नौ पिएडोंकी आहुति देकर 'ऋतुभ्यष्टा' इस दशवीं ऋचाके ऋतुभ्यष्ट्वा यजे स्वाहा आर्तवेभ्यस्त्वा यजे स्वाहा इस मकार अनुपङ्ग सहित आठ मकार विभक्त मन्त्रोंसे आठ पिएडों को होमे फिर 'इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे' इस तेरहवीं श्रंतिम ऋचासे अठारहवीं आहुति देय फिर 'अहोरात्राभ्यां त्वा यजे स्वाहा' ं कौशिकसूत्र १४।२) इस सौत्रमन्त्रसे उन्नीसवीं त्राहित होम कर 'इडायास्पद्म्' इस छठी और 'आ मा पुष्टे च' इस सातवीं-इन दो ऋचात्रोंसे पशुकी दाहिनी अुजारूप वीसवीं आहुति देय । उसके अभावमें घृतकी आहुति देय । फिर 'पूर्णा दर्विं इस सातवीं ऋचासे सदर्वी पिएडीकी इक्कीसवीं आहुति देय । तदनन्तर भुने हुए जो और दही । मिले हुए सत्त् आदि इविरुच्छिष्टों को घृतसे मिला कर "प्रथमा ह व्युवास" इस पूर्ण स्कसे तीन आहुति देय। इस मकार पुष्टिके लिये किये जाने वांले अष्टकाकर्ममें यह क्रम है। इसी वातको संहिताविधिमें कहा है, कि-"प्रथमा ह न्युवास सेत्यष्टक्याया [ वपां ] सर्वेण सक्तेन तिस्र आहुतीर्जुहोति । समत्त्वानां स्थालीपाकस्य सहहुतान् आज्य-

## (७८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मिश्रान् हुत्वा पश्चाद्ध अग्नेर्वाग्यतः संविशति । महाभूतानां कीर्त-यन् सिक्किहीते" इति (कौशिकसूत्र ३।२)॥

नित्य-अष्ठकाकर्ममें प्रारम्भ और अन्तमें कहे हुए सक्तहोमके अतिरिक्त ऋचाओं से पहिले कहे हुएकी समान आहु ति देय । इसी बातको कौशिकने कहा है, कि—"अष्टकायां अष्टकाहोमान जुहुयात्।। तस्या हवीं ष धाना करंभः शष्कुल्यः पुरोहाश उदौ-दनः चीरौदनस्तिलौदनो यथोपपादे पशुः। सर्वेपां हिवपां समुद्धृत्य दर्व्या जुहुयात् प्रथमा ह न्युवास सेति पश्चिमः" इत्यादि (कौशिकसूत्र १४। २)।।

यह दिवहोम है अतः तंत्रविकल्पकी प्राप्ति होने पर इपुफालि और माठरका मत है, कि-नित्य ही तंत्र है। इसी बातको कौशिकसूत्र १४। २ में कहा है, कि-'न दिवहोमे न हस्तहोमे न पूर्णहोमे तंत्रं क्रियेतेत्येके अष्टकायां क्रियेतेतीषुफामिलाठरों" इति (कौशिकसूत्र १४। २॥ सोमयागमें सोमक्रमणीयपदहो-मानुमन्त्रणमें 'इडायास्पदम्' इस बठी ऋचाका विनियोग होता है। इसी बातको वैतानसूक्तमें कहा है, कि "सोमक्रयणीं प्रपाद्य-मानां" इति प्रक्रम्य "पदाभिहोमम् इडायास्पदम्" बैतानसूत्र ३।३)॥

चातुर्मास्यमें होने वाले साकमेधके पूर्णदर्विहोममें पूर्णा दिवं? यह सातवीं ऋचा पढ़ी जाती है। इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"कार्तिक्यां साकमेधाः" इति प्रक्रम्य "श्वोभूते पूर्णदर्व्य पूर्णादर्वे" इति (वैतानसूत्र २। ५)॥

रात्रिके समय राजाकी आरती करते समय 'यां देवा प्रति-नन्दिन 'यह दूसरी ऋचा रात्रि देवताके आवाहनमें विनियुक्त होती है। और 'सम्बत्सरस्य प्रतिमा' यह तीसरी ऋचा भी रात्रि की पिट्टीकी प्रतिकृतिको बैठानेमें पढ़ी जाती है। इसी बातको परिशिष्टमें कहा है, कि—''अथातः पिष्टरात्र्याः कन्यं व्याख्या- स्याय" इति मक्रम्य "यां देवाः मितनन्दन्तीति रात्रं आवाहयेत्। सम्वत्सरस्य मितमां इति पिष्टमयीं मितकृतिं कृत्वोदङ्भुखीं उप-वेशयेत्" ॥ (परिशिष्ट ६ । १ )॥

तहाँ ही उपस्थानमें " आ मा पुष्टे च पोषे च" इनका विनि-योग है। इसी वातको तहाँ ही कहा है कि—"आ मा पुष्टे च पोपेत्येताभिरूपस्थाय" (परिशिष्ट ६।१)॥

तत्र प्रथमा ॥

प्रथमा ह व्युवास सा घेनुरंभवद् यमे । सा न पर्यस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥ प्रथमा । इ । वि । उनास । सा । धेनुः । अभवत् । यमे ।

सा। नः। पयस्वती। दुहाम्। उत्तराम्ऽउत्तराम्। समाम्।।१॥

मथमा ह सष्टचादौ उत्पन्ना खन्वेषा एकाष्टकासंबिन्धनी आद्या

उषाः न्युवास तमोन्युदसनं कृतवती। अ विपूर्वो वसिर्वर्जने वर्तते अ। सष्टेः माक् आहोरात्रविभागशृत्यं कालं तद्यक्तम् आकरोद्द इत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरे। "न वा इदं दिवा न नक्तम् आसीइ्

आव्याद्यतम्। ते देवा एता व्युष्टीरपश्यन्। ता उपाद्यत। ततो

वा इदं व्यौच्छत्" [तै० सं० ५.३.४.७] इति । यद्वा हशब्दः

श्रुत्यन्तरप्रसिद्धौ। तथा हि। "इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छत्"

[तै० सं० ४.३.११.१] इति प्रक्रम्य "प्रजाम् एकः रचत्यूर्जम् एकः" [तै० सं० ४.३.११.१] इत्यादिना प्रजारचाणादिव्यापारपश्चकविधानेन "ऋतस्य गर्भः प्रथमा व्यूषुषी" [ते० सं० ४.३.११.१] इति मन्त्रोक्तव्यापारपञ्चकभेदेन वा "पश्च व्युष्टीरमु पश्च

दोहाः" [तै० सं० ४.३.११.४] इति पश्चसंख्यानिर्दिष्टे नन्दादितिथ्यपेच्चया वा पश्चोषसः प्रतिपादिताः। एतमेव भेदम् अपेच्य "आस्वितरासु चरित पविष्टा" [8] इत्यग्रे समाझास्यते । तासां मध्ये एकाष्ट्रकासंबिन्धन्युषाः प्रथमा सर्वत्रानुगमनात् प्रधानभूता सा व्युवासेति । सा तादृष्णोयुक्ता एकाष्ट्रकायये पितृणाभ् अधिपतौ विषये धेतुः प्रीणियत्री अभवत् । अत्र एकाष्ट्रकातिथः पित्र्यकर्मणि अन्तयफलसाधनत्वेन धेनुत्वपदेशः । अत एव अन्यत्राझायते । "एकाष्ट्रकां परयत दोहमानाम् अन्तं मांसवद् चृत्वत् स्वधावत्" इति । सा एकाष्ट्रका धेनुः वः अस्माकं पयस्वती पयउपलित्तभोग्यवस्तुयुक्ता सती उत्तराग्रुक्तरां समाम् । अअत्यन्तसंयोगे दितीया अ। उपर्युपरिभाविषु सर्वेषु वत्सरेषु दुहास् अभिमतफलं दुग्धाम् । अजत्राग्रुक्तराम् इति । "नित्यवीप्सयोः" इति दिवेचनम् । "अनुदानं च" इति आस्रेडितानुदान्तस्य । दुहास् इति । दुह प्रपूर्णे । स्वस्तेक्वाद् आत्मनेपदम् । "लोटि लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः अ।।

यह सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुई एकाष्ट्रकासंबंधी उपा अंध-कारको दूर करती हुई। तात्पर्य यह है, कि—सृष्टिसे पदिले काल दिन और रात्रिके विभागसे शून्य था, उसको उपाने किया था ×। ऐसी उपासे युक्त एकाष्टका पितरोंके अधिपतिकी धेनु हुई अर्थात् उनको तृप्त करती है ÷।। वह एकाष्टका धेनु

× इसी बातका द्सरी श्रुतियों में प्रतिपादन किया है। "न वा इदं दिवा न नक्तं श्रासीद्ध श्रव्याद्य । ते देवा एता व्युष्टीर-पश्यन् । ता उपाद्यत । ततो वा इदं व्यौच्छत् ॥—पिहले न दिन था न रात्रि थी (दिन श्रीर रात्रिरूपसे) न लौटने वाला काल था। फिर देवताश्रोंने उन व्युष्टियोंको देखा, श्रीर ग्रहण किया तब यह श्रंधकार दूर हुआ" (तैत्तिरीयसंहिता ३ ।४ । ७)॥

÷ एकाष्टका तिथि पित्रयकर्ममें अत्तय फल देने वाली है अत एव उसको धेनु कहा है ॥ हमारे लिये पयस्वती (हो) उत्तरोत्तर उत्तम फलको देने वाली हो।। १।।

हितीया॥
यां देवाः प्रतिनन्दंन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली २
याम् । देवाः । प्रतिऽनन्दन्ति । रात्रिम् । धेनुम् । उपऽत्रायतीम् ।

सम् इवत्सरस्य । या । पत्नी । सा । नः । अस्तु । सु इमङ्गुली २

याम् एकाष्टकासंविन्धनीं रात्रिम् । अ "रात्रेश्वाजसौ" इति कीवभावरछान्दसः अ । धेनुम् उक्तप्रकारेण धेनुरूपाम् उपाय-तीम् समीपम् त्रागच्छन्तीं दृष्ट्वा देवाः इविश्वजः प्रतिनन्दिन्त पर्शन्सिन्त । अ उपायतीम् इति । उपाङ्पूर्वाद्व एतेर्कटः शत्रादेशः । "इणो यण्" इति यण् । "उगितश्व" इति कीप् । "शतुरनुमो नद्यजादी" इति नद्या उदात्तत्वम् अ । या एकाष्टका संवत्सरस्य तदात्मकस्य कालस्य पत्नी जाया । तथा च श्रुत्यन्तरम् । "एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यद्व एकाष्टका । एतस्यां वा एष एतां रात्रिं वसति" [ते० सं० ७. ४. ८. १ ] इति । सा एकाष्टका नः त्रास्मान् उद्दिश्य समङ्गली शोभनमङ्गलयुक्ता अस्तु भवतु । अ शोभनं मङ्गलं यस्या इति बहुबीहों "नञ्सभ्याम्" इत्युत्तरपदान्तो-दात्तत्वम् । "०समङ्गलभेषजाच" इति विहितस्य ङीपः उदात्तन्वित्तस्वरेण उदात्तत्वम् अ ॥

जिस एकाष्टकासंबंधी धेनुरूप रात्रिको समीपमें त्राती हुई देख कर हविका भोग लगाने वाले देवता प्रशंसा करते हैं, जो एकाष्टका सम्वत्सररूप कालकी पत्नी हैं ‡ वह एकाष्टका

‡ तैत्तिरीयसंहिता ७ । ४ । ८ । १ में कहा है, कि-"एषा

## ( **८२ )** श्रथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हमारी स्रोर ध्यान देकर शोभनमङ्गलमय होवे ॥ २ ॥ तृतीया ॥

संवत्सरस्यं प्रतिमां यां त्वां रात्रशुपास्महे । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पेषिण सं सृज ३

सम्ऽवत्सरस्य । प्रतिऽमाम् । याम् । त्वा । रात्रि । उप्ऽश्रास्महे ।

सा । नः । त्र्रायुष्मतीम् । पृऽजाम् । रायः । पोषेण । सम्। सुज

हे रात्रि संवत्शरस्य प्रतिमाम् प्रतिकृतिरूपाम् प्रतिनिधित्वेन निर्मीयत इति प्रतिमा । ॐ ''श्रातश्चोपसर्गे'' इत्यङ् ॐ । यां त्वा त्वाम् उपास्महे सेवामहे । ॐ श्रास उपवेशने । श्रदादित्वात् शपो लुक् ॐ ।सा त्वम् नः श्रस्माकं प्रजाम् पुत्रपौत्रादिरूपाम् श्रायुष्म-तीम् चिरकालजीवनवतीं कुर्वती सती रायः धनस्य गवादिलच-णस्य पोषेण पृष्टचा सं सज संयोजय । ॐ ''षष्टचाः पतिपुत्र०'' इति रायो विसर्जनीयस्य सत्वम् ॐ ।।

हे रात्रि ! सम्बत्सरकी प्रतिनिधिरूप जिन तुम्हारी हम उपा-सना करते हैं वह तुम हमारी पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाको चिर-काल तक जीवित रहने वाली करो फिर गौ आदि धनकी पुष्टि से हमें संयुक्त करो ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्योच्छंदास्वितंरास चरति प्रविष्टा महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवुगज्ज-

नित्री ॥ ४ ॥

वै संवत्सरस्य पत्नी यद् एकाष्टका। एतस्यां वा एष एतां रात्रि वसति ॥ जो अष्टका है वही सम्वत्सरकी पत्नी है॰"॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । विऽत्र्योच्छत् । श्रासु । इतरासु ।

चरति । प्रविष्टा ।

महान्तः । अस्याम् । महिमानः । अन्तः । वधः । जिनाय ।

नवऽगत् । जनित्री ॥ ४ ॥

इयमेव अद्यतनी एकाष्टकालत्त्रणा सा प्रथमम् उत्पन्ना उपाः। श्चनेन तादातम्यप्रतिपादनेन अस्या अतिशयितमहत्त्वम् उक्तं भवति । तच्छब्दार्थम् ब्राह । या उषाः प्रथमा प्रागुक्तप्रकारेण सृष्टचादौ उत्पन्ना सती व्यौच्छत् तमोनिरसनं कृतवती । 🕸 उछी विवासे 🛞 । सेयम् एकाष्टका उषाः त्रासु परिदृश्यमानासु [ इत-रासु ] अन्यासु उषःसु प्रविष्टा अनुगता सती चरति वर्तते उदेति । श्रुयते हि । "एका सती बहुधोषो व्युच्छिस" [ तै० सं० ४. ३. ११. ५] इति। अप्रवाद्धं विशेः कर्तरि निष्ठा। व्यत्ययेन अव्यय-पूर्वेपदमकृतिस्वरत्वम् 🛞 । यद्वा प्रविष्टा सूर्येणानुपविष्टा । 🛞 कर्मणि क्तः। "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् %॥ अस्याम् उक्तलचग्गायाम् उषसि अन्तः मध्ये महान्तः अपरिमिताः महिमानः माहात्म्यविशेषाः । वर्तन्त इति शेषः । यद्रा महिमानः महत्त्वोपेताः महान्तः मुख्याः सूर्यसोमाग्नयः अस्याम् अन्तर्वर्तन्ते । सूर्यादय एतदधीनाः प्रकाशन्त इत्यर्थः । "त्रय एनां महिमानः सचन्ते" [तै॰ सं॰ ४. ३. ११. १] इति श्रुतेः॥ वधुः सूर्यस्य जाया उषाः । ''सूर्यपत्नी विचरतः प्रजावती'" इति [ तै० सं० ४. ३. ११. १ ] श्रत्यन्तरात् । नवगत् नवम् अभिनवं प्रतिदिवसम् उद्यन्तं सूर्यं तदविनाभावेन गच्छतीति नवम् अभिनवम् उत्पद्य-मानं प्राणिजातं गच्छति व्यामोतीति वा नवगत् । यद्वा प्रतिदिनम् उत्पद्यमानमपि नवम् अभिनवम् उत्कृष्टम् एकविधं रूपं गच्छतीति

नवगत् । तथा च मन्त्रवर्णः । ''पुनःपुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णम् अभि शुम्भमाना'' [ ऋ॰ १. ६२. १० ] इति । अथवा नवधा विभक्तान् अहर्भागान् पातरादीन् गच्छतीति नवगत् । ते च भागाः पातःसंगवमध्याह्वापराह्वसायाह्वाख्याः पश्च तदन्तरा-लकालाश्च चत्वारः । श्रूयते हि तैत्तिरीयके पातरादीन् प्रस्तुत्य ''समानस्यान्हः पश्च पुण्यानि नत्त्रत्राणि । चत्वार्यश्लीलानि । तानि नव'' [ तै० ब्रा० १. ५. ३. ४ ] इति । स्मर्यते च ।

> मातरातः संगवश्च रुग्णो मध्याह्नसंतपौ । अपराह्णं खनिः सायं नवधा भिद्यते त्वहः ।

इति । अ नवपूर्वाद्ध गमेः क्विप् । "गमः क्वौ" इत्यनुनासिक-लोपः । "हस्वस्य पिति कृति०" इति तुक् । कृदुत्तरपद्मकृति-स्वरत्वम् अ । एवंभूता उषाः जिनत्री जनानां प्रकाशपदानेन साधु जनियत्री सती जिगाय जयित सर्वोत्कर्षेण वर्तते । अ जयते-लिटि "सन् लिटोर्जेः" इत्यभ्यासाद् उत्तरस्य कुत्वम् । जिनत्रीति । जनेएर्यन्तात् साधुकारिणि तृन् । "बहुलम् अन्यत्रापि" इति एयलोपः अ ॥

यह श्राजकी एकाष्टकालचणा मथम उत्पन्न हुई उषा है (इस मकार इसका परममहत्त्व सूचित होता है) जो पूर्वीक्त मकारसे सृष्टिकी श्रादिमें उत्पन्न होकर श्रंधकारको दूर कर चुकी है। वह यह एकाष्टका उपा दीखती हुई दूसरी उपाश्रोंमें प्रविष्ट होकर उदित होती है × ऐसी उषामें बड़े २ माहात्म्य हैं, सूर्य सोम श्रिय श्रादि बड़े २ देवता इसमें रहते हैं, तात्पर्य यह है, कि-सूर्य

<sup>× &</sup>quot;एका सती बहुधोषो व्युच्छिस ।। हे उपे ! तू एक होने पर भी अनेक प्रकारसे अंधकारको दूर करती है (तैत्तिरीयसंहिता ४ । ३ । ११ । ४ )।।

आदि इसके अधीन होकर ही प्रकाश करते हैं † 11 प्रतिदिन उदय होने वाले सूर्यमें श्रविना भावसे जाने वाली, प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले पाणियोंमें एकसे रूपसे जाने वाली और पति-दिन उत्पन्न होने वाले दिनमें एकसे नवीन रूपमें रहने वाली ‡ अथवा दिनके नौ भागोंमें जाने वाली नवगत् + सूर्यकी वधु उपापाणियोंको मकाशका दान देकर उनको उत्पन्न करने वाली होती हुई सर्वोत्कृष्टभावसे वर्तमान रहती है ॥ ४ ॥

वानस्पत्या त्रावांणो घोषंमकत हाविष्कुगवन्तंः परि-वत्सरीणम् ।

एकांष्टके खुप्रजसंः सुवीरां वयं स्यांम पत्यो स्यीणाम् ५

† तैत्तिरीयसंहिता ४।३।११।१ में कहा है, कि-"त्रय एनां महिमानः सचन्ते।।-तीन महत्व सम्पन्न इसकी सेवा करते हैं"

‡ ऋग्वेदसंहिता १। ६२। १० में कहा है, कि-"पुनः पुन-र्जायमाना पुराणी समानं वर्णे अभिशुम्भमाना ॥ यह प्राचीन उषा वारम्वार उत्पन्न होकर भी एकसे वर्णका ही सेवन करती है ॥"

+पातः संगव मध्याद अपराह और सायाद ये दिनके पाँच भाग हैं। इनके वीचमें चार भाग त्र्योर हैं। तैत्तिरीयबाह्मण १।५।३।४ में कहा है, कि-"समानस्याहः पश्च पुरायानि नज्ञाणि । चत्वार्यश्लीलानि तानि नव ॥—समान दिनके पाँच नत्तत्र हैं, चार श्रश्लील हैं। ये नौ हैं।" स्मृतिमें भी कहा है, कि-"मातरातः संगवश्र रुग्णो मध्याह्रसंतपौ । अपराह्रं खनिः सायं नवधा भिद्यते त्वहः ॥"

## (८६) अथवंवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

वानस्पत्याः । ग्रावाणः । घोपम् । अक्रत । इतिः । कृएवन्तः ।

परिऽवत्सरीणम् ।

एकेऽब्रष्टके । छुऽमृजसः । छुऽवीराः । वयम् । स्याम् । पतयः । स्यीणाम् ॥ ५ ॥

हे एकाष्टके त्वदर्थं वानस्पत्याः वनस्पतिविकाराः उलुखलमु-सत्तादयः। 🛞 "०पत्युत्तरपदाएएयः" 🕸 । ग्रावाएाः दषदुपत्ता-दयः परिवत्सरीणम् संवत्सरेण निर्वृत्तम् । अ "संपरिपूर्वात् ख च" इति निर्वृत्तार्थे खप्रत्ययः 🕸 । ईदृशं हिवः धानाकरम्भचरु-पुरोडाशादिकं कृण्यन्तः अवहननपेषणादिद्वारा उत्पादयन्तः घोषम् पीतिकरं शब्दम् अक्रत अक्रुषत । अक्ष क्रुव्यो लुङि आत्मनेपदे "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लु क् ॐ ॥ हे एकाष्टके एका चासावष्टका एका-ष्टका । 🕸 "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः । "ऋष्टका पितृ-देवत्ये" इति इत्वाभावः 🕸 । त्वदनुग्रहाद्व वयं सुप्रजसः शोभन-पुत्रपौत्रादियुक्ताः । 🕸 "नित्यम् श्रमिच् प्रजामेधयोः" इत्यसिच् समासान्तः 🛞 । सुवीराः । 🛞 विविधम् ईरयन्ति शत्रुन् इति वीरा भृत्याः । वीरो वीरयत्यमित्रान् [ नि० १, ७ ] इति निरु-क्तम् । वीर विकान्तौ । इत्यस्माद् वा पचाचच् । बहुव्रीहौ "वीर-वीयौं च" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् 🛞 । स्रुभृत्याः सन्तो रयीणाम् धनानां पतयः स्वामिनः स्याम भवेम । 🕸 "नाम् श्रन्यतरस्याम्" इति नाम उदात्तत्वम् %।।

हे एकाष्टके ! तेरे लिये वनस्पतिके विकार उल्लाल मूसल आदि और पत्थर आदिने वर्ष भरमें होने वाले अने हुए जों, दही मिश्रित सन्त् और पुरोडाश आदिको अवहनन (कूटना) पेषण (पीसना) आदिके द्वारा उत्पन्न करते हुए मीतिकर शब्दको किया है। हे एकाष्टके! तेरे प्रसादसे हम शोभन पुत्र पौत्र आदि से संयुक्त होकर श्रौर सुभृत्य वाले होकर धनके स्वामी हों।।४।। षष्टी ॥

इडायास्पदं घृतवंत् सरीसृपं जातवदः प्रति हब्या गृभाय ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपस्तेषां सप्तानां मिय रन्तिरस्तु इडायाः। पदम्। घृतऽवत्। सरीस्टपम्। जातऽवेदः। प्रति।

हच्या । गृभाय । ये । ग्राम्याः । पश्चः । विश्वऽरूपाः। तेषाम् ।

सप्तानाम् । मयि । रन्तिः । अस्तु ॥ ६ ॥

इलायाः । गोनामैतत् । "इला धेनुः सहवत्सा न त्रागात्" इत्यादिश्रुतेः। 🛞 "इलाया वा" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् 🛞। तस्याः पद्म् पादः घृतवत् घृतोपेतम् । "सा यत्रयत्र न्यक्रामत् ततो घृतम् अपीडचत''[तै० सं० २. ६. ७. १] इति श्रुतेः। सरी-स्पम् अत्यर्थे सर्पत् । अस्पेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्य । ''न धातुलोप त्रार्थघातुके<sup>"</sup> इति लघूपधगुणप्रतिषेधः **%। इडापदात्मना** भावितं पशोदित्तिणं पादम् हव्या हव्यानि धानाकरम्भादीनि हवींषि च । 🕸 शेर्लोपः 🕸 । हे जातवेदः जातानां वेदितरमे प्रति गृभाय प्रति-गृहाण । இ "हलः श्रः शानज्भौ" [ "छन्द्सि शायजिष्" ] इति श्रः शायजादेशः । "ह्यहोर्भः०" इति भः 🕸 ॥ ग्रहीतहवि-स्तव प्रसादाद्व ग्राम्याः ग्रामे भवा गोश्वाजाविपुरुषगर्दभोष्टाख्या विश्वरूपाः नानाकारा ये पशवः सन्ति तेपाम् उक्तानां सप्तानां पश्नां रन्तिः प्रीतिः पयि चास्तु । ततः समृद्धिर्भवतु इत्यर्थः। अ रमेः क्तिनि अनुनासिकलोपाभावरंछान्दसः 🛞 ॥

इलाका घृतोपेत पाद अधिक सर्पता है हे जातवेदः! तुम पशु

के दिल्लाणादको और अने हुए जो और करंभ (दहीके सत्तू)
आदि हिवको ग्रहण करो आपके हिवको ग्रहण कर मसन्न होने पर
गो घोड़ा बकरी भेड़ पुरुष गधा और ऊँट नाम वाले जो अनेक
प्रकारके पशु हैं, इन सात प्रकारके पशु औं की ग्रुक्मों पीति हो।।६॥

सप्तमी ॥

आ मां पुष्टे च पोषं चरात्रिं देवानी सुमतो स्याम । पूर्णा देवें परा पत सुपूर्णा पुनरा पत । सवीन यज्ञान्तसं सुअतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७॥

आ। मा। पुष्टे। च।पोषे। च।रात्रि। देवानाम्। सुऽमतौ। स्याम

पूर्णा । दर्वे । परा । पत । सुऽपूर्णा । पुनः । त्रा । पत ।

सर्वीन् । युज्ञान् । सम्ऽभुञ्जती । इपम् । ऊर्जम् । नः । आ । भर् ७

हे रात्रि मा मां पुष्टे समृद्धे धने पोषे पुत्रपौत्रादिसमृद्धौ। श्रि परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ। त्रा [इति] उपसर्गश्रतेयोग्यिक्रयाध्या-हारः श्रि । त्रा स्थापय ॥ त्रित्मसादाद्ध वयं च देवानाम् इन्द्रा-दीनां समतौ कल्याएयां बुद्धौ स्याम भवेम ॥ हे दिव होमसाधन-भूते त्वं पूर्णा हिविभिः पूरिता सती परा पत परागच्छ । यष्ट्यान् देवान् प्रति गच्छ ॥ ततः सुपूर्णा अभिमतफलैः परिपूर्णा सती पुनरा पत अस्मान् आगच्छ । श्रि पत्लृ गतौ । पूर्णिति । पू पालन-पूरणयोः इत्यस्मात् एयन्तात् "वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्न-क्वप्ताः" इति इडभावो णिलुक् च निपात्यते । "उदोष्ठचपूर्वस्य" इत्युत्वम् । "रदाभ्याम्०" इति नत्वम् । सुपूर्णिति । "गतिर-नन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् श्रि ॥ सर्वान् यज्ञान् यष्ट- व्यान् । % "यजयाच०" इत्यादिना कर्मणि नङ् प्रत्ययः % । संशुक्तती हिवण सम्यक् पालयन्ती प्रीणयन्ती । % श्रुजेः पालनार्थोद् आत्मनेपदाभावे शतुप्रत्ययः । "शतुरनुपः०" इति डीप उदात्तत्वम् % । ईदृशी सती देवेभ्यः सकाशाद् इपम् अन्नम् ऊर्जम् वलं च नः अस्मभ्यम् आ भर आहर ॥ पूर्णा दर्वीति पृथ-ग्यहणात् "प्रहणम् आ प्रहणाद्" [ कौ० १. ८. ] इति न्यायात् विनियोगविषये "आ मा पुष्टे च" इत्येकावसाना ऋक् । पश्च-पटलिकायां तु त्र्यवसाना एकैव ऋग् इत्युक्तम् ॥

हे रात्रि ! मुक्तको समृद्ध धन आदिमें और पुत्र पौत्र आदि समृद्धिमें रथापित कर । तेरे प्रसादसे हम देवताओं की कल्याणी बुद्धिमें रहें अर्थात् देवता हम पर कल्याणमयी बुद्धि रक्खें। हे होमकी साधन भूत दिवें! तू हिवयों से पूरित हमारे पूजनीय देव-ताओं के पास जा । फिर अभिमत फलों से पूर्ण हो कर हमारे पास आ । सब पूजनीय देवताओं को हिवसे तृप्त करती हुई देवताओं से हमारे लिये अन्न और वल ला ॥ ७॥

अष्टमी ॥

आयमंगन्त्संवत्सुरः पतिरेकाष्टके तर्व ।

सा न आयुंष्मतीं पूजां रायस्योषेणु सं सृज॥=॥

त्रा । त्रयम् । त्रमन् । सम्ऽत्तसरः । पतिः । एकऽत्रष्टके । तव ।

सा । नः । त्रायुष्मतीम् । प्रजाम् । रायः । पोषेण । सम् । सज्द

हे एकाष्टके तव पित अयं संवत्सरः आगन् आगतः। संवत्सर-स्य पितत्वं पाग् उक्तम् ॥ सा त्वं पत्या सिहता नः अस्माकं प्रजाम् पुत्रपौत्रादिलक्षणाम् आयुष्मतीं कुर्वती रायः धनस्य पोषेण संस्ज संयोजय ॥

हे एकाष्टके! तुम्हारा पति यह सम्बत्सर आगया। अतः तू पतिके साथ रह कर हमारी पुत्र पौत्र आदि पजाको आयुष्मती कर इमको धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ 🗸 ॥ नवमी ॥

ऋतून् यज ऋतुपतीनात्वानुत हायनान्। समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पत्ये यजे ॥६॥

ऋतून् । यजे । ऋतुऽपतीन् । आर्तवान् । उत्त। हायनान् ।

समाः । सम् अवत्सरान् । मासान् । भूतस्य । पत्ये । यजे ॥ ह॥

ऋतून् वसन्तादीन् यजे हविषा पीणयामि ॥ ऋतुपतीन् तेषाम् ऋतूनाम् अधिष्ठातृन् अग्न्यादीन् देवांश्व।यजे इति सर्वत्र संवन्धः॥ त्रातिवान् ऋत्ववर्यवान् अन्यान् अनुक्तान् कलाकाष्टादीन् काल-विशेषान्। %''ऋतोरण्'' इति ऋण् प्रत्ययः छ। उत ऋषि च हाय-नान् समाः संवत्सरान्। इत्येते शब्दा यद्यपि समानार्थास्तथापि अत्र हायनशब्देन संवत्सरसंबन्धिनः अहोरात्रा लच्यन्ते । 🕸 जहति जिहते वा भावान् इति हायनाः। "हश्र त्रोहिकालयोः" इति ल्युट् %। समाशब्देन समप्रविभक्ताश्रतुर्विंशतिसंख्याका अर्थमासाः । तान् संवत्सरान् द्वादशमासात्मकान् मासान् चैत्राद्यान् द्वादशसंख्या-कान् यज्ञ इति संबन्धः ॥ भूतस्य सद्भावं पाप्तस्य चराचरात्मकस्य जगतः पतये यः पतिरन्तर्यामी अनवच्छिन्नकालात्मकः तस्मै । 🏶 "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संपदानत्वाच्चतुर्थी 🛞 । तं भूतपति च यजे हिवषा पीणयामि । यद्वा । 🕸 भूतस्य पतय इति तादर्थे चतुर्थी 🕸 । भूतपतिप्रीणनाय ऋत्वादीन् यज इति संवन्धः॥

मैं वसन्त आदि ऋतुओं का इविसे पूजन करता हूँ और ऋतुओं के स्वामी अगि आदि देवताओंका भी पूजन करता हूँ और

सम्बत्सरके दिन रातका हिवसे यजन करता हूँ, ऋतुके अवयव कला काष्ठा आदिका हिवसे यजन करता हूँ चौबीस पत्नोंका हिवसे यजन करता हूँ और सम्बत्सरके चैत्र आदि बारह महीनों का मैं यजन करता हूँ, सत्ताको प्राप्त हुए चराचरात्मक जगत्के स्वामी अन्तर्यामी अनवच्छिन्न कालके लिये मैं (ऋतु आदिका) पूजन करता हूँ ॥ ६ ॥

#### दशमी ॥

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः । धात्रे विधात्रे सम्दर्धं भूतस्य पत्रये यजे ॥ १०॥ ऋतुऽभ्यः । त्वा । श्रार्तवेभ्यः । मात्ऽभ्यः । सम्डवत्सरेभ्यः ।

धात्रे । विऽधात्रे । सम्ऽऋधे । भूतस्य । पत्ये । यजे ॥ १० ॥

हें एकाष्टके त्वा त्वाम् ऋतुभ्यः वसन्तादिभ्यः तत्मीत्यर्थम् । यजे इत्यनुषङ्गः । एवम् आर्तवेभ्यः ऋतुसंविन्धभ्यः आहोरात्रा-दिभ्यः । त्वा यजे इति सर्वमन्त्रेषु अनुषङ्गः । माद्रचः मासेभ्यः । अ "पद्दन्नोमास् " इत्यादिना मासशब्दस्य मास् इत्यादेशः । "स्ववस्स्वतवस्मास् पता च त इष्यते छन्दसि" इति सकारस्य तत्वम् अ । संवसन्त्यस्मिन्निति संवत्सरः । अ संपूर्वाद्व वसे-रीणादिकः सरमत्ययः । "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् अ । तेभ्यः धात्रे धाता धारियता एतन्नामको देवः तस्मै विधात्रे सर्वस्य निर्मात्रे देवाय समृधे समर्धयित्रे एतन्नाम्ने देवाय । अ दृधु दृद्धौ । संपूर्वाद्व अस्मात् विवप् अ । भूतस्य पतये उक्तत्वणाय देवाय । अ "पष्टीयुक्तश्चन्दिस वा" इति पतिशब्दस्य धिसंज्ञायां "धिक्टिति" इति गुणः अ । [ यजे हिवपा मीणयामि ] ।।

वसन्त श्रादि ऋतुश्रोंकी प्रसन्नताके लिये, ऋतुसम्बन्धी दिन रात्रिकी प्रसन्नताके लिये मास श्रोर संवत्सरकी प्रसन्नता के लिये, धाता देवताकी, सबके निर्माता विधाता देवताकी, समृद्धि करने वाले समृध् नाम वाले देवताकी श्रोर सद्भावको प्राप्त हुए चराचरात्मक जगतके स्वामी श्रत्तर्यामी श्रनविद्यन्न कालके लिये हे एकाष्टके ! मैं तेरा यजन करता हूँ ॥ १० ॥ एकादशी ॥

इडंया जुह्नतो व्यं देवान् घृतवंता यजे । गृहानलुभ्यतो व्यं सं विशेमोप गोमंतः ॥ ११ ॥ इडंया । जुह्नतः । व्यम् । देवान् । घृतऽवंता । यजे ।

गृहान् । त्रालुभ्यतः । वयम् । सम् । विशेम । उप। गोऽमतः ११

इडया । गोनामैतत् । तदुपलित्ततेन मांसादिरूपेण हिवपा घृतवता उपस्तरणाभिघारणार्थघृतयुक्तेन जुहतः होमं कुर्वन्तः अभी हिवः प्रित्तपन्तः । ॐ "तृतीया च होश्छन्दिस" इति कर्मणि तृतीया ॐ । तथाविधा वयं देवान् यजे । ॐ व्यत्ययेन एकवचनम् ॐ । यजामहे पीणयामः । ॐ जुहत इति । जुहोतेर्जटः शत्रादेशे "नाभ्यस्ताच्छतः" इति तुम्प्रतिषेधः । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्यदात्तत्वम् ॐ ॥ तेषां देवानाम् अनुप्रहाह वयम् अजुभ्यतः गार्ध्यम् अजुर्वाणाः संपूर्णाः सन्तः । ॐ जुभ गार्ध्य । दिवादित्वात् श्यन् । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुम्भावः ॐ । यद्वा गृहविशेषणम् । अजुभ्यतः गार्ध्यरिहतान्। काम्यमानसकत्वक्तुसमेतान् इत्यर्थः । गोमतः । ॐ भूम्नि मतुप् ॐ । बहुभिगीभिर्युक्तान् गृहान् उप । ॐ क्रियाध्याहारः ॐ । उपत्य सं विशेम सुस्नेन निवसेम ॥

मांस और उपस्तरण तथा अभिचारणके घृतसे युक्त होमको करते हुए हम देवताओंका यजन करते हैं। उन देवताओंके अनुप्रहसे हम सकल कायनाओं से सम्पन्न और बहुतसी गौओंसे भरे पुरे घरको पाकर सुखसे वसें ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

एकाएका तपसा तप्यमांना जजान गर्भ महिमान-

भिन्द्रम् ।

तेनं देवा व्यसहन्त शत्रूं न हुन्ता दस्यूनाम भवच्छची-

पतिः ॥ १२ ॥

एकऽअष्टका । तपसा । तप्यमाना । जजान । गर्भम् । महिमानम् ।

इन्द्रम् ।

तेन । देवाः । वि । असहन्त । शत्रून् । हन्ता । दस्यूनाम् ।

अभवत् । शचीऽपतिः ॥ १२ ॥

एकाष्टका माधकुण्णाष्टमीत्युक्तम् । सा देवतात्वेन स्तूयते । तपसा तप्ययाना । अव्यत्ययेन कर्मणि तृतीया । "तपस्तपःकर्म-कस्यैव" इति कर्मवद्भावाद् यगात्मनेपदे । "अदुपदेशाल्लसार्व-धातुक०" [इति] अनुदाचत्वेन यक उदात्तत्वे पाप्ते व्यत्ययेन धातु-स्वरः 🛞 । यद्वा । 🛞 तप ऐश्वर्ये । दिवादिः ग्रात्मनेपदी । श्यनो नित्वाद्व त्राद्युदात्तत्वम् 🕸 । सर्वस्य ईशाना एकाष्टका तपसा संतापकरेण पुत्रार्थेन कर्पणा गर्भम् गर्भभूतं महिमानम् महत्त्वो-पेतम् इन्द्रं जजान जनयामांस । यद्वा गर्भं गरणीयं स्तुत्यं वन्द-नीयम् । 🕸 गृ शब्दे । अतिंगृभ्यां भन् [ उ० ३. १५२ ] इति भन् पत्ययः 🛞 । गर्भस्थवद्ध ऋदृश्यं वा । 🛞 गृ निगरणे । ऋस्माइ वा भन् %। एवं भूतम् इन्द्रम् ईशितारम् आदित्यं जजान जनया-मास प्राकाशयत् ।। तेन उक्तलक्तणेन इन्द्रेण देवाः शत्रून् शात-यितृत् असुरान् व्यसहन्त विशेषेण अभ्यभवन् ।। स च इन्द्रः शचीपितः शच्या देव्याः पितः । यद्वा शचीति कर्म नाम । शचीनां कर्म णां पितः स्वामी दस्यूनाम् उपक्तियतृणां हन्ता अभवत् घातको भवतु । श शचीपितिरिति । वनस्पत्यादित्वाद्व उभयपदमकृति-स्वरत्वम् श ।।

सवकी स्वामिनी एकाष्ट्रकाने पुत्रके लिये सन्तापमय तपके अनुष्ठानरूप कर्मसे महत्त्वयुक्त इन्द्रको प्रकाशित किया। उस इन्द्रके द्वारा देवताओंने शत्रु असुरोंको विशेषरूपसे द्वाया था। वह शचीपति इन्द्र उपचय (विनाश) करने वालोंके घातक हों।।१२।। त्रयोदशी।।

इन्द्रंपुत्रे सोमंपुत्रे दुहितासि प्रजापतः । कामानुस्माकं पूर्य प्रति गृह्णाहि नो हिवः ॥१३॥ इन्द्रंऽपुत्रे । सोमंऽपुत्रे । दुहिता । असि । प्रजाऽपतः ।

कामान् । श्रम्माकम् । पूर्य । प्रति । गृह्णाहि । नः । हृतिः १३ हे इन्द्रपुत्रे उक्तरीत्या इन्द्रः पुत्रो यस्यास्तादृशि हे सोमपुत्रे सोमः पुत्रो यस्यास्तथाविधे । "यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिम्" [२] इति राज्येकाष्ट्रकयोरभेदव्यवहाराद् रात्रौ चन्द्रस्य प्रकाश्य उपलब्धेश्च पुत्रत्वोपचारः । यद्वा गवामयनाख्ये संवतसर-सत्त्रे एकाष्टकाया सोमस्य क्रयणात् पुत्रत्वोपचारः । श्रूयते हि । गवामयनदीत्तां प्रस्तुत्य "तेपाम् एकाष्टकायां क्रयः संपद्यते" [तै० सं० ७, ४, ८, २] इति । ईदृशि हे एकाष्टके त्वं प्रजापतेः प्रतेः प्रजानां देवानां मनुष्यादीनां स्रष्टः दृहितासि पुत्री भवसि ॥

तथाविधा त्वम् अस्माकं कामान् काम्यमानान् प्रजापश्वादीन् ध्यर्थान् पूर्य समृद्धान् कुरु । तदर्थं नः अस्मदीयं हिनः प्रति गृद्धाहि प्रतिगृहाण स्वीकुरु । अ गृहेर्लोटि सिपो हिरादेशः । "हलः श्रः शानज्भौ" इति शानजादेशो ज्यत्ययेन न प्रवर्तते । "वा अन्दिस्त" इति हेः पित्त्वेन जित्त्वस्य निवर्तनात् "ई हल्यघोः" इति ईत्वमपि न भवति अ ॥

इति द्वितीयेजुवाके पश्चमं सक्तम् ॥ द्वितीयोजुवाकः समाप्तः॥

"यां देवाः पितनन्दन्ति रात्रिम्" इस दूसरी ऋचामें एकाष्टका का ख्रौर रात्रिका अभेदभाव स्वीकार किया है। और रात्रिमें चन्द्रमाका प्रकाश फैलता है अत एव रात्रिको चन्द्रमाकी माता मान कर कहते हैं, कि हे सोमपुत्रे! है इन्द्रपुत्रे! एकाष्टके! तू देवता ख्रौर मनुष्य आदिको रचने वाले प्रजापतिकी पुत्री है। अतः तूपजा पशु आदि कामनाओं से हमें पूरित कर ख्रौर इसके लिये इमारी हविको स्वीकार कर।। १३।।

> द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम स्क समाप्त ( ८१ ) ॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त

तृतीयेतुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "सुञ्चामि त्वा" इति प्रथम सूक्तेन वालग्रहरोगे निरन्तरस्त्रीसंगतिजनितयच्मिण च पूर्तिगन्ध-मत्स्यसिहतम् श्रोदनम् श्रभिमंत्र्य भोजनकाले व्याधितम् श्रोशयेत्।

तथा अनेन सक्तेन अरण्यतिलैधज्वालितोदपात्रेण उपःकाले [अरण्ये] गृहे वा व्याधितम् अवसिश्चेत् मार्जयेत् आचामयेच ॥

तथा अरएयशणारएयगोमयचित्त्यादिशान्तौषधिभिः प्रत्येकं प्रज्वालितेनोदकेन उषःकाले व्याधितस्य अवसेकमार्जनाचमनानि कुर्यात् ॥

तथा सर्वव्याधिनिवृत्तये च अनेन सक्तेन व्याधितम् उपस्पृश्य अभिमन्त्रयेत् ॥

### ( ६६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सूत्रितं हि । "मुञ्जामि त्वेति [ ग्राम्ये ] पूतिशफरीभिरोदनस् अरएये तिलशणगोमयशान्ताज्वालेनावनत्तत्रेवसिञ्चति" [ को०४० ३ ] इति ॥ शान्ता श्रोषधयश्चित्तिः मायश्चित्तिरित्येवमाद्याः सूत्र-कृतोक्ताः [ को०१० ८ ] ॥

श्रस्य स्कस्य श्रंहोलिङ्गगणे पाठात् तस्य गणस्य "श्रोपधि-वनस्पतीनाम् श्रन्नकान्यपतिषिद्धासि भैषज्यानाम् श्रंहोलिङ्गाभिः" [को० ४. ८] इत्यादिना यत्रयत्र सूत्रकृता विनियोग उक्तस्तत्र सर्वत्र श्रस्य विनियोगो द्रष्टन्यः ॥

तथा क्रतुमध्ये व्याधितस्य यजमानस्य भैपज्येपि एतत् ह्रक्तम् । तथा च वैताने । "अथ भैपज्याय यजमानम् 'असीभ्यां ते' [ २. ३३ ] 'मुआमि त्वा' [ ३. ११ ] 'उत देवाः'" [ ४. १३ ] इति [ वै० ७. ३ ] ॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सक्त हैं। उनमें 'मुश्चामि त्या' इस प्रथमसक्तसे बालग्रह रोगमें और निरन्तर स्त्रीसंग करनेसे उत्पन्न हुए यद्मारोगमें पूर्तिगंध (इमली) और मत्स्यसहित भातको अभिमन्त्रित करके भोजनके समय रोगीको खिलावे।।

तथा इस सुक्तसे जंगली तिलके ईंधनसे पज्यालित जलपूर्णपात्र से उपःकालके समय जंगल वा घरमें रोगी पर अभिषेक मार्जन करे और आचमन भी करावे ॥

तथा जंगली सन, जंगली उपले चित्या आदि शांता औष-धियोंमेंसे पत्येकसे गरम किये हुए उदकसे पातःकालके समय अभिषेक मार्जन और आचमन करे।।

तथा सकल व्याधियोंकी निष्टत्तिके लिये इस स्कूलसे रोगीका स्पर्श करके अभिमन्त्रण करे।।

सूत्रमें भी कहा हैं, कि-"मुश्चामि त्वेति ग्राम्ये पूतिश-फरी भिरोदनम् अरएये तिलशणगोमयशान्ताज्वालेनावनज्ञेव- सिश्चिति" (कौशिकसूत्र ४।३)॥ कौशिकसूत्र १। ८ में सूत्र-कारने चित्ति प्रायथिति आदि शान्ता औषधियोंका वर्णन किया है

इस स्रुक्तका अंहोलिंगगणमें पाठ है और स्नुकारने 'ओप-धिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिं-गाभिः' के अनुसार जहाँ २ विनियोग कहा है तहाँ २ सर्वत्र इसका विनियोग करना चाहिये।।

तथा यज्ञमें रुग्ण हुए यजमानकी चिकित्सामें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"अथ भैषज्याय यजमानम् 'अचीभ्यां ते' (२। ३३) 'मुश्चामि त्वा' (३। ११) 'उत देवा'" (४। १३) इति वैतानसूत्र ७। ३

तत्र प्रथमा ॥

मुशामि त्वा हविषा जीवनाय कर्मज्ञातय्दमादुत राजयदमात्।

ग्राहिज्याह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुक्तमेनम्

मुश्चामि । त्वा । ह्विषा । जीवनाय । कम् । अज्ञातुऽयदमात् । उत । राजऽयद्मात् ।

ग्राहि । ज्याहे । यदि । एतत् । एनम् । तस्याः । इन्द्राश्ची इति । म । सुसुक्तम् । एनम् ॥ १ ॥

हे व्याधिग्रस्त त्वा त्वां हविषा अन्नेन अज्ञातयस्मात् । अयम् एतत्संज्ञक इति अप्रज्ञातः शरीरगतो रोगः अज्ञातयस्मः । यद्वा राजयस्मव्यतिरिक्तः सर्वोषि रोगः अज्ञातयस्मशब्दवास्यः । तादृशाद्व रोगाद् मुआमि विश्लेषयामि । अ यज पूजायाम् इत्य-

### (६८) अथर्वदेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

स्मात् ऋतिंस्तुमुहुमृधृत्तिन्जुभायावापिदयित्तनीभ्यो मन् [ उ० १. १३७ ] इति मन्मत्ययान्तो यन्मशब्दः श्री । उत ऋषि च राज-यन्मात् यन्मात् यन्माणां रोगाणां राजा न्तयरोगो राजयन्मः । श्री राजदन्तादित्वाद् उपसर्जनस्य परिनपातः श्री । यद्वा राजा सोमः तं प्रथमं यो यन्गो गृहीतवान् स राजयन्मः । "राजानं यन्म आरद् इति तद्व राजयन्मस्य जन्म" [ तै० सं० २. ५. ६. ५ ] इति श्रुतेः । तस्मादिष त्वा मुश्चामि । किमर्थम् । जीवनाय जीवानार्थम् । इह लोके चिरकालावस्थानार्थम् इत्यर्थः । कम् इति पूरणः ॥ तथा ग्राहः ग्रहणशीला पिशाची [ यदि ] एतत् इदानीम् एनम् बालकं जग्राह गृहीतवती तस्याः सकाशात् हे इन्द्रागी युवाम् एनं प्र मुमुक्तम् प्रमोचयतम् । श्री मुचेरछान्दसो विकरणस्य रलुः श्री।

मैं तुमे हिवके द्वारा अज्ञातरूपसे शरीरमें प्रवेश करनेवाले यच्मा-रोगसे ग्रुक्त करता हूँ और जिसने राजा सोमको पहिले ग्रहण किया था उस राजयच्मा रोगसे तुमको चिरकाल तक जीवित रहनेके लिये छुड़ाता हूँ और हे इन्द्र और अग्नि देवताओं! ग्रहण करनेके स्वभाव वाली जिस पिशाचीने यदि इस बालकको ग्रहण कर लिया हो तो आप इसको उससे छुड़ाइये ॥ १॥

द्वितीया ॥

यदि चितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरिन्तकं नीत एव तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शृतशारदाय २ यदि । चित्रऽश्रायुः । यदि । वा । पराऽइतः । यदि । मृत्योः । श्रान्तकम् । निऽईतः । एव । तम् । आ । हरामि । निःऽऋतेः । जपस्थात् । अस्पार्शम् । पनम् । शतऽशारदाय ॥ २ ॥

यदि अयं व्याधिग्रस्तः चितायुः रोगेण चितायुर्भवेत्। श्चि चिये इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा। "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति पर्यु-द्रस्तत्वाद्ध् दीर्घाभावः श्च । यदि वा परेतः अस्मान्कोकात् परागतो भवेत् । यदि च मृत्योः वैवस्वतस्य अन्तिकं नीतः नितरां प्राप्त एव भवित । श्च उपायान्तरेण अश्ववयानेयत्वम् एवकारेण चोत्यते । परेतो नीत इत्युभयत्र एतेः कर्मणि निष्ठा । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । नीत इति । "स्विरतो वाजु-दाचे पदादौ" इत्येकादेशः स्वर्यते श्च । एवंभूतमि तम् पुरुषं निऋ्तोः मृत्योः उपस्थात् उपस्थानात् समीपात् आ हरामि इमं लोकम् आनयामि ॥ आहृत्य च एनं शतशारदाय शतसंवत्सर्जीवनार्थम् अस्पार्षम् प्रवलं करोमि । श्च स्पृ प्रीतिवलनयोः । आन्दस्यो लुङ्।पादादित्वात् "तिङ्ङितिङः" इति निघाताभावःश्च॥ यदि यह व्याधिग्रस्त परुष चीणाय होगया हो और इस

यदि यह व्याधिग्रस्त पुरुष ज्ञीणायु होगया हो श्रीर इस लोकसे जाने वाला हो श्रीर यमराजके पास पहुँचा हुश्रा ही हो तो भी मैं इस पुरुषको मृत्युके समीपसे इस लोकमें लाता हूँ श्रीर लाकर इसको सो वर्ष तक जीवित रहनेके लिये प्रवल करता हूँ २

वृतीया ॥

सहस्राचेणं शतवीर्येण शतायुषा हविषाहां षमेनम् । इन्द्रो यथेनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ३ सहस्र असेण । शतऽत्रीर्येण । शतऽत्रायुषा । हविषा । आ।

अहार्षम् । एनम् ।

#### (१००) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः । नयाति । अति । विश्वस्य ।

दुःऽइतस्य । पारम् ॥ ३ ॥

सहस्राक्षेण । सहस्रम् इति बहुनाम। सहस्रम् अत्तीणि चत्तृंषि दर्शनशक्तयो यस्य हिवपः फलत्वेन विद्यन्ते तत् सहस्रात्तम् । अ "बहुव्रीहो सव्ध्यन्णोः०" इति षच् समासान्तः अ । तेन शतवीर्येण । शतशब्दः अपिरिमतवाची । शतसंख्याकानि श्रोत्रादीन्द्रियसंबन्धीनि वीर्याणि श्रवणादिशक्तयः फलत्वेन यस्य सन्ति ताहशेन शतायुषा शतसंबत्सरपिरिमतम् आयुर्जीवनं फलभूतं यस्य ताहशेन हिवषा अन्नादिना एनम् व्याधिगृहीतं [ मृत्योः सकाशाद्ध आहार्षम् आनेषम् । यथा इन्द्रः एनं पुरुषं ] शरदः शत-संख्याकान् संवत्सरान् । अ "०अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया अ । तावत्कालपर्यन्तं विश्वस्य कृतस्य दुरितस्य आयुर्भङ्गनिमित्तस्य पापस्य पारम् अवसानम् अति नयाति अतिनयेत् अतिकामयेत् । तथा तम् इन्द्रं हिवषा प्रीणयामि इति शेषः । अ नयातीति। नयन्तेर्लेटि आडागमः अ ॥

जिसका फल अनन्त दर्शनशक्ति होजाना है और जिसके फलसे श्रोत्र आदि इन्द्रियोंकी श्रवणशक्तिरूप सैंकड़ों वीर्य पाप्त होते हैं और जिसके फलसे सौ वर्षकी दीर्घायु पाप्त होती है ऐसे हिवसे मैं इस व्याधिगृहीत पुरुषको मृत्युके पाससे ले आया हूँ, इसका कारण यह है, कि—इन्द्र इस पुरुषको सौ वर्ष तक आयुर्भगके कारण पापोंके पार पहुँचा देवे, इसी कारण मैं हिवसे इन्द्रको प्रसन्न करता हूँ।। ३।।

चतुर्थी ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेम्नतान्छ्तमुं वसन्तान् ।

# शतं त इन्द्रें। अभिः संविता बृहस्पतिः शतायुंषा हविषाहां विषेतम् ॥ ४ ॥

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । शतम् । हेमन्तान् । शतम् । ऊं इति । बसन्तान् ।

शासम्।ते । इन्द्रः । अभिः । सविता । बृहस्पतिः । शतऽस्रायुषा ।

हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ॥ ४ ॥

हे रोगाद् विमुक्त त्वं वर्धमानः श्रहरहरभिष्टिष्ठं प्राप्तुवत् शतं शरदः शतसंख्याकान् शरदतून् जीव प्राणान् धारय ॥ तथा शतं हेमन्तान् हेमन्ततू न् । 🕸 उशब्दः समुच्चये 🏶 । शतं वसन्तांश्र वर्धमानः । जीव इत्युभयत्र अनुपङ्गः । 🕸 सर्वत्र "०अत्यन्तसं-योगे" द्वितीया 🕸 ॥ यद्यपि शतं शरद इत्यनेनैव शतसंवत्सरप-रिमितम् आयुर्लब्धम् तथापि हेमन्तवसन्तयोः पृथगुपादानं शीतो-ष्णवर्षत्वेन संवत्सरस्य त्रैविध्यप्रदर्शनार्थम् । त्र्रानेन त्राजीवनं तत्तदतुषयुक्तशीतोष्णादिकृतदुःखजातं मा भूद् इत्युक्तं भवति । द्यत एव वर्धमान इति विशेषितम् ॥ तथा इन्द्रः ऋग्निः सविता सर्वस्य परेकः बृहस्पतिश्र ते तव शतम् शतसंवत्सरपरिभितम्। आयुः कुर्वन्तु इति शेषः । शतायुषेत्यादि पूर्ववत् ॥

हे रोगमुक्त पुरुष ! मैं सौ वर्षकी आयु देने वाले हिवसे इस को मृत्युके पाससे लौटा लाया हूँ तू दिन मतिदिन दृद्धिको माप्त होता हुत्र सौ शरद ऋतुत्रों तक जीवित रह, सौ हेमन्तऋतुत्रों तक जीवित रह सौ वसन्त ऋतुत्रों तक जीवित रह (यद्यपि सौशरइ कहनेसे ही सौ वर्षकी त्रायु आजाती है फिर हेमन्त और वसंतका

#### (१०२) अथर्ववेदसंहितासभाष्य-भाषानुवादसहित

श्रलग वर्णन शीत उच्छ श्रीर वर्षाक्ष्यसे सम्वत्सरका त्रैविध्य दिखानेके लिये हैं इससे यह सूचित किया है, कि -इन ऋतुश्रोंमें होने वाला शीत उच्ण श्रादिसे उत्पन्न दुःख न हो ) इन्द्र श्रिश्च श्रीर सबके भेरक सिता देवता तथा दृहस्पति तेरी सौ वर्षकी श्रायु करें ४ पश्चमी ।।

प्र विशतं प्राणापानावनुद्वाहांतिव बृजम् । व्यंश्न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितंरान्छतम् ॥ ५ ॥

म । विशतम् । माणापानौ । अनुद्वाहीऽइव । ब्रुनम् ।

वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ४

हे प्राणापानौ शरीरधारकौ युवां प्र विशतम् । यहमगृहीतस्य शरीरम् इति शेषः । मन्त्रसामध्येन निर्गतयोरिप पुनःप्रवेशाभि-धानेन श्रानित्योस्तयोः कैष्ठतिकन्यायेन स्थैर्य प्रार्थितं भवति । तत्र दृष्टान्तः । श्रन्ड्वाहौ श्रन्सः शकटस्य बोढारौ वलीवदौ त्रजम् स्वितवासस्थानं गोष्टमित्र । अ "श्रनसि वहेः निवधनसो डश्र" इति निवप् । "चतुरनडुहोराम् उदात्तः" इत्यागमस्य श्राम् उदात्तत्वम् । त्रजम् इति । त्रजगतौ इत्यस्माद्ध "गोचरसंचरवह-वज्रु इत्यादिना "हलश्र" इति प्राप्तस्य धन्नोपवादत्वेन घप्रत्य-यान्तो [ त्रजशब्दो ] निपातितः । "श्रुजित्रज्योश्र" इति कुत्वा-भावः अ ॥ श्रन्ये राजयत्त्रमञ्यतिरिक्ता मृत्यवः मृतिहेतवो रोगा-द्यः वि यन्तु विम्नुखा गच्छन्तु । तानेवाह । यान् इतरान् श्रन्यान् मृत्यून् शतम् शतसंख्याकान् श्राहुः कथयन्ति श्रभिज्ञाः । शतम् इति श्रपरिमितनाम । तथैव प्राग् श्राष्ट्रातम् । "मेमम् श्रन्ये मृत्यवो हिसिद्धः शतं ये" [ २, २८, १ ] इति । शाखान्तरेषि "ये ते सहस्रम् श्रयुतं पाशा मृत्यो मर्त्याय हन्तवे" [ तै० त्रा० ३, १०, २ ] इति । ॐ व्यन्य इति । संहितायाम् "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य" इति अन्यशब्दस्य अकारः स्वर्यते ॐ ।।

हे शरीरधारक पाण और अपान ! जैसे गाड़ीको खेंचने वाले बैल अपने निवासस्थान गोठमें प्रवेश करते हैं तैसे तुम यच्मग्रस्त रोगीके शरीरमें प्रवेश करो ( मन्त्रसामर्थ्यसे निकले हुए भी पाण अपानका पुनः प्रवेश कहा है और न निकले हुओंकी स्थिरताकी प्रार्थना की है ) जाननेवाले पुरुप जिन और सैंकड़ों मृत्युके हेतु ‡ रोगोंका वर्णन करते हैं वे राजयच्माके अतिरिक्त मृत्युके हेतु रोग विम्रुख होकर चले जानें।। ५।।

षष्टी ॥

इँहैव स्तं प्राणापानौ मापं गातिमृतो युवम् । शरीरमस्याङ्गांनि जुरसं वहतुं पुनः ॥ ६॥

इह । एव । स्त्य । प्राणापानौ । मा । अप । गातम । इतः । युवम् । शरीरम् । अस्य । अङ्गानि । जरसे । वहतम् । पुनः ॥ ६ ॥

हे पाणापानौ युवाम् इहैव अस्मिन्नेव शरीरे [स्तम्] भव-तम् । अ अस्तेलोटितसस्तम् । "श्रसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः श्री इतः अस्माच्छरीरात् जवं शीघम् अकाले माप गातम् मापगच्छ-

‡ अन्य अतिमें भी कहा है, कि—''मेमं अन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।।—और जो सैंकड़ों मृत्युएँ हैं, वे इसको न गारें" (अथर्य-वेद २।२८।१) और तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी कहा है, कि— ''ये ते सहस्रं अयुतं पाशा मृत्यो यत्यीय हन्तवे।।—हे मृत्यो ! मरणशील मनुष्योंको मारनेके लिये तुम्हारे जो सैंकड़ों पाश हैं" (तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१०।८।२)।।

### (१०४) अथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तम् । अ एतेर्माङ लुङ "इणो गा लुङि" इति गादेशः अ । पुनःशब्दः त्वर्थे । किं तु अस्य व्याधितस्य शरीरम् अङ्गानि हस्त-पादादीनि च जरसे जरार्थम् । जरापर्यन्तम् इत्यर्थः । वहतम् धार-यतम् । अ जरस इति । "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरसादेशः अ ॥

हे पाण और अपानों ! तुम इस ही शरीरमें रहो, इस शरीर से अकालमें शीघ्रताके साथ न जाओ और इस रोगीके शरीर को तथा इसके हाथ पैर आदि अंगोंको दृद्धावस्था तक धारण करो ॥ ६ ॥

#### सप्तमी ॥

जरायें त्वा परिं ददामि जराये नि धंवामि त्वा । जरा त्वां भद्रा नेष्ट्र व्यं १ न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहु-रितरान्ञतम् ॥ ७ ॥

जुरायै । त्वा । परि । ददामि । जरायै । नि । धुवामि । त्वा । जुरा । त्वा । भुद्रा । नेष्ट । वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् ।

श्राहुः । इतरान् । शतम् ॥ ७ ॥

हे व्याधितिनिर्मु क्त त्वा त्वां जराये पिर ददामि । रक्तणार्थं दानं पिरदानम् । जरा अवसानपर्यन्तं त्वां यथा रक्ति तथा ददा मीत्यर्थः । जीर्यन्ति अङ्गानि अस्याम् अवस्थायाम् इति जरा । अज्यूष् वयोहानो । ''पिद्धिदादिभ्योङ्'' इति अङ्भत्ययः अ।। तथा त्वा त्वां जराये नि धुवामि जरापर्यन्तं नितरां भरेयामि । ताव-त्पर्यन्तं रोगादिभ्यः पालयामि इत्यर्थः । अध्यूष् विधूनने । तुदा-दित्वात् शः । तस्य ङिन्वाद्व गुणाभावः अ।। सा जरा त्वात्वां

भद्रा भन्दनीयानि कल्याणानि । अ शेर्लोपः अ । नेष्ट नयतु प्रापयतु । अ छान्दसो लुङ् । "वहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इत्यड-भावः अ ॥ व्यन्य इत्यादि व्याख्यातम् ॥

हे व्याधिम्रक्त पुरुष ! मैं तुभे जराको देता हूँ अर्थात चुढ़ापे तक तेरी जिस प्रकार रत्ना हो तिस प्रकार तुभको देता हूँ और चुढ़ापे तक तेरी रोगोंसे रत्ना करता हूँ दृद्धावस्था तुभे चुढ़ापे तक कल्याण पाप्त करावे । विद्वान पुरुष मृत्युके कारण और जिन सैंकड़ों रोगोंका वर्णन करते हैं वे रोग तुभसे दूर रहें ॥७॥ अष्टमी ॥

श्रमि त्वा जिर्माहित गामु ज्योमिव रज्वा । यस्त्वां मृत्युरभ्यधंत्त जायमानं सुपाशयां । तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदंमुञ्जद् बृहस्पतिः ॥=॥

श्रभि । त्वा । जरिमा । श्रहित । गाम् । उत्तर्णम्ऽइव । रज्वा । यः । त्वा । मृत्युः । श्रभिऽश्रधत्त । जायमानम् । सुऽपाशया । तम् । ते । सत्यस्य । इस्ताभ्याम् । उत्। श्रमुश्चत् । बृहस्पतिः ⊏

हे व्याधिविनिष्ठ क जिरमा जरा त्वा त्वाम् अभ्यहित वदं करोतु । अ अभिपूर्वो दधातिर्वन्धने वर्तते । "अश्वाभिदानीम् आदत्ते" [ते० सं० ५. १. २. १ ] इतिवत् । दधातेलुं ङ् । "स्थाव्वीरिच" इति इत्विकत्त्वे अ । किमित्र । उत्तणम् उत्ताणम् । अ "वा पपूर्वस्य निगमे" इति दीर्घाभावः अ । सेचनसमर्थं गां रज्वेव । यो मृत्युः त्वा त्वां जायमानम् उत्पद्यमानमेव अकाले सुपाश्या शोभनः पाशो यस्याः सा ।पाशशब्दो ग्रन्थिविशेषोपेतवलयाकाररज्जवे प्रसिद्धः । यद् आह आपस्तम्वः ।

88

#### (१०६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

"मौद्धेन दाम्नान्यतरतः पाशेन" [आप० स्० २, ५, ४.] इति । तथाविधया रज्ज्वा अभ्यधत्त अबःनात् ते तव संविन्धनं तम् मृत्यु-पाशं सत्यस्य अविनाशिनो ब्रह्मणो हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुश्चत् उन्मोचयतु ॥

इति तृतीयकाएडे तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥
हे व्याधिम्रक्त ! जैसे सेचन करनेमें समर्थ बैलको रस्सीसे
बाँध लेते हैं, तैसे ही बुढ़ापा तुभको बाँध लेवे । मृत्युने तुभको
उत्पन्न होते ही अकालमें पाशसे बाँध लिया है, तेरे उस मृत्यु
पाशको अविनाशी ब्रह्माके हाथसे बृहस्पति छुड़वावें ॥ ⊏ ॥

तृतीयकाण्डके तृतीय अनुवाकमें तीसरा छक्त समाप्त ( ८२ )॥

"इहैंव ध्रुवाम्" इति प्रथमं सक्तं वास्तोष्पत्यगणे पठितम्। सूत्रितं हि। "इहैव ध्रुवाम् [ ३. १२ ]एह यातु [ ६.७३ ] यैमो मृत्युः [ ६. ६३ ] सत्यं बृहत् [ १२. १ ] इत्यनुवाको वास्तोष्पतीयानि" इति [ कौ० १. □ ]। तेन गणेन नवशालावास्तु-संस्कारार्थं शालाभूमिं हलेन कर्षत्।।

तथा यत्रयत्र चतुर्गणी महाशान्तिः शान्त्युदकादौ प्रयुज्यते तत्र सर्वत्र ऋस्य विनियोगः ॥

तस्यामेव नवशालायां गर्तेषु उच्छीयमाणस्थूणा अनेन सक्तेन अभिमन्त्रेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मिण "इहैव श्रुवाम्" [१,२] इति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां शालाभूमिं दढां घट्टयेत् ॥

"ऋतेन स्थूणाम्" [६] इत्यनया ऋचा उच्छितास स्थूणासु घृताक्तं वंशम् त्रारोपयेत् ॥

नवगृहमवेशकाले "पूर्ण नारि" [ = ] इति ऋचा उदकुम्भ-सहितां पत्नीं गृहं प्रथमं प्रवेशयेत् ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "वास्तोष्पतीयैः कुलिजकृष्टे दिन्तण-

तोबेः संभारम् आहरति । वास्तोष्पत्यादीनि महाशान्तिम् आव-पते" इति प्रक्रम्य "इहैव ध्रुवाम् इति नीयमानाम् उच्छीयमाणाम् श्रनुमन्त्रयते । अभ्यज्य । ऋतेनेति मन्त्रोक्तम् । पूर्णं नारीत्युद-कुंभम् अग्निम् आदाय पपद्यन्ते । ध्रुवाभ्यां दं हयति'' इति[कौ०५.७]

'इहैव ध्रुवाम्' यह सक्त वास्तोष्पत्यगणमें पहिले ही कहा है। वास्तोष्यत्यगणकी सूची वाले कौशिकसूत्र १। द में कहा है, कि-''इहैव ध्रुवाम् ( यह तीसरे काण्डका वारहवाँ सुक्त ) एह यातु ( यह छटे काणडका तिहत्तरवाँ सक्त ) यमो मृत्युः ( यह छटे कांडका तिरानवेंवाँ सूक्त ) और सत्यं बृहत् (यह वारहवें कांडका प्रथम सक्त ) वास्तोष्पत्यगण है" ॥ इस गणसे नवीन शालाके वास्तुसंस्कारके लिये शालां ( गृह )की भूमिको इलसे जोते

तथा शान्त्युदक त्रादिमें चतुर्गणी शान्तिका जहाँ २ होता है तहाँ २ सर्वत्र ही इसका विनियोग होता है।।

श्रीर इस नवीन शालामें गढ़ोंमें ऊपरको उठे हुए खंभोंको इस सुक्तसे अभिमन्त्रित करे।।

तथा इसी कमें "इहैव ध्रुवाम्" इन दो ऋचाओं से शाला-भूमिको दृढ़ वनवावे।।

"ऋतेन स्थूणाम्" इस छठी ऋचासे खड़े किये हुए खम्भोंमें घृतमें सनेहुए वाँसको रक्खे ॥

नवीन घरमें प्रवेश करते समय 'पूर्णा नारि' इस आठवीं ऋचासे जलकुम्भसहित पत्नीको घरमें पहिले प्रवेश करावे ॥

इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि-'इहैव ध्रुवाम् इति नीयमानां उच्छीयमाणामनुमन्त्रयते । अभज्य । ऋतेनेति मन्त्रो-क्तम् । पूर्णं नारीत्युदकुम्भम् अप्तिं आदाय पपद्यन्ते । ध्रुताभ्यां दंहयाति" (कौशिकसूत्र ५। ७)॥

तत्र प्रथमा ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां चेमें तिष्ठाति घृतमुच्चमीणा

तां त्वां शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम इह । एव । धुवाम् । नि । मिनोमि । शालाम् । क्षेमे । तिष्टाति ।

घृतम्। उत्तमाणा ।

ताम् । त्वा । शाले । सर्वेऽवीराः । सुऽवीराः । अरिष्टऽवीराः । उप । सम् । चरेम ॥ १ ॥

इहैव अस्मिन्नेव मदेशे गृह [ शालां ] ध्रुवाम् स्थिरां नि मिनोमि मिल्लामि । स्थूणानिखननादिना करोमीत्यर्थः। ॐ डुमिञ् मक्षे-पणे ॐ । सा निमिता शाला घृतम् एतदुपलिलतम् अभिमत-फलम् उत्तमाणा सिश्चन्ती मयच्छन्ती क्षेमे क्षेमेण । ॐ तृतीयार्थे सप्तमी ॐ । अग्न्यादिबाधराहित्येन तिष्ठाति तिष्ठतु । ॐ लेटि आडागमः ॐ ।। हे शाले ताम् तादृशीं त्वा त्वां सर्ववीराः अनेक-पुत्राद्युपेताः सुवीराः शोभनगुणपुत्राद्युपेताः अरिष्ट्वीराः न रिष्टा अरिष्टा रोगादिरहिताः तादृशपुत्रादिसमेताः। अत्र वाहुल्यशोभनगुणत्विहंसाराहित्यलत्तणगुणविशोपसंवन्धाय वीरशब्दस्य त्रिरावृत्ताः । एवंभूताः सन्तो वयम् उप सं चरेम व्यवहरेम ।। ॐ सर्ववीरा इति । "वहुत्रीहौ मकृत्या०" इति पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् । "प्रत्ययलत्त्रणेनाप्ययं स्वर इष्यते" इति वचनात् सर्वशब्दः 'सर्वस्य स्विपे" इत्याद्यदात्तः । सुवीरा इति । "वीर्वीयौं च" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । अरिष्ट्वीरा इति । "वहुत्रीहौ मकृत्या०"

इतिपूर्वपकृतिस्वरत्वे अरिष्टशब्दः ''अग्यये नञ्कुनिपातानाम्'' इति अन्ययपूर्वपदमकृतिस्वरेख आद्युदात्तः 🕸 ॥

में इसी प्रदेशमें खंभे आदि लगा कर शालाको स्थिर करता हूँ, वह शाला घृत आदि अभिमत फलको देती हुई अग्नि आदि के भयसे रहित होकर क्षेमपूर्वक रहे। हे शाले ! ऐसी तुभमें शोभन गुण वाले रोगरहित अरिष्टरहित पुत्रोंसे सम्पन्न होकर हम व्यवहार करें।। १।।

द्वितीया ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेश्वावती गोमती सूनतावती। ऊर्जस्वती घृतवती पर्यस्वत्युच्छ्रेयस्व महते सीभंगाय २

इह । एव । ध्रुवा । मति । तिष्ठ । शाले । श्रश्व ऽवती । गोऽमती ।

सुनृतांऽवती ।

ऊर्जस्वती । घृतऽवती । पयस्वती । उत् । श्रयस्व । महते । सीभगायर

हे शाले इहैव अस्मिन् देशे ध्रुवा स्थिरा सती प्रति तिष्ठ वर्त-स्त्र । कथंभूता । अश्वावती बहुभिरश्वेरुपेता । अ "मादुप-धाया०" इति मतुपो वत्वम् । "मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय०" इत्या दिना अश्वशब्दस्य दीर्घः अ । गोमती बहुभिर्गोभिर्युक्ता स्रवृतावती बहुभिः प्रियसत्ववाग्भिर्वालादीनां वाणीभिर्युक्ता ऊर्जस्वती प्रभूतान्नवती । अ ऊर्जस्वतीति । ऊर्ज बलपाणनयोः इत्य-स्माद्ग असन् ॥ तदन्ताद्ग मतुप् । "तसौ मत्वर्थे" इति भत्वेन पदत्वाभावाद्ग रुत्वाद्यभावः अ । घृतवती बहुघृतयुक्ता पयस्वती बहुनीरा । अ सर्वत्र "भूमिनन्दाप्रशंसास्र०" इति भूम्नि मतुप् अ । एवं बहुगुणा त्वम् अस्माकं महते प्रभूताय सौभगाय सुभगत्वाय

### (११०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुबादसहित

उच्छ्रयस्व [ उद्गता ] भव । उत्कृष्टा भवेत्यर्थः । % "सुभग मन्त्रे" इति उद्गात्रादिषु पाठाइ अञ् । "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते" इति उत्तरपदृद्धचभावः % ॥

हे शाले ! तू इस ही स्थानमें वहुतसे घोड़े गोएँ और वालकों की प्रिय वाणीसे और बहुतसे अन्न घृत तथा दूधसे सम्पन्न होकर स्थिर रह। और इस प्रकार अनेकगुणसम्पन्न तू हमें बहुत सा सीभाग्य देनेके लिये उत्कृष्ट हो।। २।।

धुरुग्यासि शाले बृहच्छन्दाः पूर्तिधान्या । आ त्वां वत्सो गंमेदा कुमार आ धेनवं सायमा-

स्पन्दंमानाः ॥ ३ ॥

धरुणी । असि । शाले । बृहत्ऽछन्दाः । पूर्तिऽधान्या ।

त्र्या । त्वा । वृत्सः । गुमेत् । त्र्या । कुमारः । त्र्या । धेनयः । सायम् । त्र्याऽस्पन्दंमानाः ॥ ३ ॥

हे शाले त्वं धरुणी भोगजातस्य धारियत्री असि भविस । अ "धारेणिलुक् च" इति उनन् प्रत्ययः । ततो डीप् अ । यद्वा धरुणा धारकाः स्तम्भाः । प्रशस्तैः स्तम्भैरुपेता । अ "छन्दसी-विनपौ०" इति मस्वर्थीय ईकारः । छान्दसः शोर्लु क् अ ॥ तथा बृहच्छन्दाः प्रभूताच्छादनाः महद्भिरछन्दोभिर्वेदैरुपेता वा पूति-धान्या पूतिगन्धोपेतजीर्णधान्ययुक्ता । बहुविधभोगदानादिनापि अन्तयधान्ययुक्ता इत्यर्थः । एवंभूतां त्वा त्वां वत्सः । अ जाता-वेकवचनम् अ। आ गमेत् आगच्छतु । अ "लिङ्याशिष्यङ्" अ। एवं कुमारः पुत्रादिः आ गमेत् । अस्यां शालायां गावः स्त्रियश्च

वत्सपुत्रादिसमेता भवन्तु इत्यर्थः ॥ तथा धेनवः दोग्त्रचो गावः सायम् सायंकाले आस्यन्दमानाः पस्तं पय आस्वन्त्यः आः गच्छन्तु त्वाम् इति ॥

हे शाले ! तू भोगोंको धारण करनेवाली है, वहुतसे छन्दोंदेव-तात्र्योंसे सम्पन्न है, पूतिमंधयुक्त जीर्णधान्यसे युक्त अर्थात् अनेक प्रकारका भोग दान आदि करने पर अन्तयधान्यसे युक्त रहने वाली है। ऐसी तुभमें वछड़े और पुत्र आवें अर्थात् इस शालामें गौएँ स्त्रियें वछड़े और पुत्रोंके साथ रहें और दृध देनेवाली गौएँ भी सायंकालके समय दूधको टपकाती हुई त्रावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।

उच्चन्तूद्रा मरुते। घतेन भगे। नो राजा नि कृषि तेनोतु इमाम् । शालाम् । सविता । वायुः । इन्द्रः । बृहस्पतिः । निः ।

मिनोतु । प्रजानन् ।

उत्तन्तु । उद्गा । मरुतः । घृतेन<sup>े</sup> । भगः । नः । राजा । नि । कृषिम् । तनोतु ॥ ४ ॥

सविता सर्वस्य प्रेरको देवः प्रजानन् वायुः इन्द्रः बृहस्पतिश्र प्रजानन् । 🛞 प्रत्येकविवत्तया एकवचनम् 🛞 । शालानिर्माणप्रकारं प्रकर्षेण जानन् इमां शालां नि मिनोतु स्तम्भादिस्थापनेन करोतु। 🕸 दुमिञ् पक्षेपणे 🅸 ।। मरुतश्च घृतेन व्वरणशीलेन उद्गा उदः केन उत्तन्तु शालाभूमिं सिश्चन्तु । 🕸 "पद्दश्रोमास्०" इत्यादिना उद्कशब्दस्य उदन् त्रादेशः। भसंज्ञायाम् त्र्रह्मोपे उदात्तनिष्टति- स्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् %। ततो नः अस्माकं राजा राजमानो भगः एतत्सं हो देवः कृषिम् शालाभूमेः कर्पणं नि तनोतु नितरां करोतु । % कृष विलेखने । इग्रपधात् कित् [ उ० ४. ११६ ] इति भावे इमत्ययः %।।

विद्वान् सबके परिक सिवता देव, विद्वान् वायु इन्द्र और दृहस्पतिदेव शालानिर्माणकी रीतिको पूर्णरीतिसे जानते हुए इस शालाको स्तंभ आदि स्थापन कर बनावें । मरुद्धदेव भी छुत से और जलसे शालाभूमिको सींचें । तदनन्तर हमारे प्रकाश-मान भगदेवता शाला भूमिका कर्पण करें ॥ ४ ॥

पुश्चमी ॥

मानस्य पत्नि शर्णा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्येष्री तृणुं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रियं दाः मानस्य । पत्नि । शुरुणा । स्योना । देवी । देवेभिः। निऽमिता।

्रश्रसि । अग्रे ।

तृर्णम् । वसोना । सुऽमनाः । त्र्यसः । त्वम् । त्र्यथः । त्र्यम् । सहऽवीरम् । रुपिम् । दुाः ॥ ४ ॥

हे मानस्य पितन । अ मान पूजायाम् । कर्मणा घन् अ । मान्नीयस्य वास्तुपतेः पितन जायाभूते शाले । यद्वा मीयमानं धान्यादिकं मानम् तस्य पितन पालियित्रि शाले त्वंशरणा रित्तत्री स्योना सुखकरी ईदृशी देवी द्योतमाना अग्रे सृष्ट्यादौ देवेभिः देवैः निर्मितासि पाण्यपभोगाय सृष्टा भवसि ॥ सा त्वं तृणं वसाना आच्छा-द्यन्ती । अ वस आच्छादने इत्यस्मात् लटः शानच् अ । सुमनाः शोभनमनस्का असः भव । अ अस्तेर्लेटि अडागमः अ ॥ अथ

अनन्तरम् अस्मभ्यं त्वयि निवसद्भचः सहवीरम् वीरैः पुत्रादिभिः सहितम् । 🕸 "वोपसर्जनस्य" इति विकल्पनात् सहस्य सत्वा-भावः 🕸 । तादृशं रियम् धनं दाः धेहि । 🕸 ददातेश्छान्दसो लुङ्ळा।

हे माननीय वास्तुपतिकी पत्नीभूत शाले और धान्य आदि का पालन करने वाली शाले ! देवताओंने सृष्टिके आरम्भमें प्राणियोंको सुख देने वाली प्राणियोंकी रत्ना करने वाली. तुभा दमकती हुई शालाको पाणियोंके उपभोगके लिये रचा है वहत् तिनकोंसे ढकी हुई शोभन मन वाली हो, फिर हम बसने वालोंके लिये पुत्र आदिसहित धन दे ॥ ४ ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नपं वृह्ध रात्रून मा ते रिषन्तुपसत्तारें गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

ऋतेन । स्थूणाम् । अधि । रोह । वंश । उग्रः । विऽराजन् । अप । वृङ्क्व । शत्रुन् ।

मा। ते। रिषन्। उपऽसत्तारः। गृहार्णाम्। शाले। शतम्। जीवेम ।

शरदः । सर्वेऽवीराः ॥ ६ ॥

हे वंश त्वम् ऋतेन अबाध्येन रूपेण सह स्थूणाम् शालामध्य-स्तम्भम् अधि रोह अधि तिष्ठ । ततः उग्रः उद्दुगूर्णवलो विराजन विशेषेण दीप्यमानः सन् शत्र्न अस्मद्द्वेष्यान् अप रुङ्क्व अपव-र्जय । 🛞 बूजी वर्जने । रुधादिः 🛞 ।। हे शाले ते तव संवन्धिनां ग्रहाणाम् उपसत्तारः उपसदनकर्तारः। निवसन्त इत्यर्थः। मार्षन् 🕻

#### (११४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

त्रार्ता हिसिता मा भूवन्। त्वयि निवसन्तो वयं सर्ववीराः श्रिभि-लिषतसर्वपुत्रपौत्रादिसमेताः शतं शरदः जीवेम ॥

हे वंश ! ( वाँस ) तू अवाध्यरूपसे शालाके मध्यस्तंभमें रह। हे शाले ! तेरे घरमें रहने वाले आर्तन हों तुभमें रहने वाले हम अभिलिषत पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न होकर सौ वर्ष तक जीवित रहें ।! ६ ॥

सप्तमी ॥

एमां कुंमारस्तरुंण आ वत्सो जगता सह।
एमां पृरिस्नृतः कुम्भ आ दुध्नः कुलशैरगुः ॥ ७॥
आ। इमाम्। कुमारः। तरुंणः। आ। वत्सः। जगता। सह।
आ। इमाम्। परिऽस्तः। कुम्भः। आ। दुध्नः। कलशैः। अगुः ७

इमां शालां तरुणः युवा कुमारः पुत्र आ गच्छतु ।। तथा जग-ता गमनशीलेन गवादिना सह । अ गमेः निविष "द्युतिगमिजुहो-तीनां द्वे च" इति द्विवचन म् अ । वत्सः । अ जातावेकवचनम् अ । आ गच्छतु ।। तथा इमां परिस्न तः परिस्नवणशीलस्य मधुनः कुम्भाः आगुः आगच्छन्तु ।। दक्ष्नः कलशीः दिषपूर्णा घटचः आगुः । अ एतेश्छान्दसो लुङ् अ ।।

इस शालामें तरुण कुमार पुत्र आवे। और गमनशील गौ आदिके साथ वत्स आवे और परिस्नवणशील मधुके कुम्भ आवें और दिधपूर्ण कलश आवें।। ७।।

अष्टमी ॥

पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतं घृतस्य धाराम् छतेन् संभृताम् इमां पातृन् छतेना समङ्गीष्टापूर्तम् भिरंचात्येनाम्॥=॥ पूर्णम् । नारि । म । भर । कुम्भम् । पृतम् । घृतस्य । घाराम् । श्रम्तेन । सम्ऽर्भृताम् ।

इमाम् । पातृन् । अमृतेन । सम् । अङ्गिप् । इष्टापूर्तम् । अभि । ुरत्ताति । एनाम् ॥ = ॥

हे नारि पूर्णम् उदकेन पूरितम् एतं कुम्भं प्रभर पहर शालां नय । कथंभूतम् । अमृतेन सुधामयोदकेन संभृताम् संपादितां घृत-स्य त्तरणशीलस्य मधुघृतादेः धाराम् । कुर्वन्तम् इति शेषः ॥ इमां पात्रीम् कलशीम् अमृतेन सुधारूपेण उदकेन समिन्धि सम्य-गिद्धां संदीप्तां कुरु । अ निइन्धी दीप्तौ । लोटि व्यत्ययेन पर-स्मैपदम् । "हुभल्भ्यो हेधिः" इति हेधित्वे "श्रान्नलोपः" इति नलोपः अ ॥ एनाम् पविश्यमानां शालाम् इष्टापूर्तम् तत्र क्रिय-माणं औतं स्मार्ते च कर्म अभि रत्नाति अभितः चोराग्न्यादिभ-याद् रत्नतु ॥

हे नारि ! इस जलसे पूर्ण सुधामय जलसे सम्पादित चरण (टपकने) के स्वभाव वाले मधु घृत आदिकी धारा करनेवाले कुम्भको शालामें ला इस कलशीको सुधारूप जलसे भली प्रकार दमका हम जिस शालामें प्रवेश कर रहे हैं उसमें किया हुआ औत और स्मार्त कर्म चोर और अग्निके भयसे रचा करे ॥=॥ नवमी॥

इमा आपः प्र भराम्ययदमा यद्मनाशनीः ।
गृहानुप् प्र सीदाम्यमृतेन सहाभिनां ॥ ६ ॥
इमाः । आपः । म । भराम् । अयुक्षाः । युक्षऽनाशनीः ।

गृहान् । उप । म । सीदामि । अमृतेन । सह । अमिना ॥६॥

## (११६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

इमाः कलशस्था आपः । अधासः स्थाने जस् अ। म भरामि महरामि प्रकर्षेण शालां नयामि । कीदशीः । अयद्माः यद्मरहिताः यद्मनाशनीः तत्सेवकानां यद्मनाशिनीः ॥ अह-मिष गृहान् उप म सीदामि । कीदशः सन् । अमृतेन अविना-शिना अग्निना सह सहितः सन् ॥

[ इति ] तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥
स्वयं यच्मरहित और आपके सेवकोंके यच्मारोगको नष्ट करने
बाले कलशके जलोंको में अविनाशी अप्तिके साथ घरमें लाता हूँ ६
तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सुक्त समाप्त ( ८३ )॥

"यददः संप्रयतीः" इति सक्तं स्वाभिमतप्रदेशे नदीप्रवाहक-रणे विनियुक्तम् । तत्रायं क्रमः । येन मार्गेण प्रवाहं निनीपति तं देशं प्रथमं खात्वा तत्र अनेन सक्तेन उदकं प्रसिश्चन् वजेत् ॥ तथा अनेन सक्तेन काशशैवालपटेरकवेतसशाखाः प्रत्येकम् अभि-मन्त्र्य तत्र खाते निखनेत्। "इदं व आपः" [७] इत्यस्या ऋचः प्रथमेन पादेन हिरण्यं खाते निद्ध्यात्। "अयं वत्सः" इति दितीयपादेन इषीकाञ्जिमण्डूकं नीललोहितवणिभ्यां सूत्राभ्यां बद्धध्वा अभिमन्त्र्य खाते निद्ध्यात्। तस्य मण्डूकस्योपिर "इहे-न्थम्" इति तृतीयपादेन अवकाम् अभिमन्त्र्य प्रक्तिपत्। "यत्रे-दम्" इति चतुर्थपादेन मण्डूकस्योपिर उदकं निनयेत्।।

तथा ग्रामनगरादिकस्य नवोदकपवहाद् भये संजाते नदीप-वाहकरणे च कृष्णत्रीहिमयचरुम् कृष्णाया गोः चीरम् आज्यं च वैतसेन स्रवेण वरुणाय त्रिर्जुहुयात् । तथा वैतसचमसे वैतसी-भ्याम् उपमन्थनीभ्यां दिधसक्तुमन्थम् उपमध्य अनेन विलहरणं कुर्यात् । ततोनेन स्वतेन वेतसशाखाम् अभिमन्त्र्य तया पाणिना वा मन्त्रितोदकेन नदीप्रवाहं सिश्चन् व्रजेत् ॥

दूरगताया नद्याः पुनिनृहत्तौ एतत् सूक्तं जिपत्वा नदीमवेश-मार्गे शयीत ॥ एवम् उक्तानि पसेचनकर्म हिरएयकर्म मण्डूककर्म पाणिकर्म इत्येतानि समुच्चयेनकार्याणीति भाष्यकारस्य दारिलस्य मतम् । विकल्पेनेत्यपरेपास् ।।

स्रत्र कौशिकः। "यददः संमयतीरिति येनेच्छेन्नदी प्रतिपद्येतेति प्रसिश्चन व्रजति । काशदिविधुवकवेतसान् निभिनोति । इदं
व स्राप इति हिरएयम् स्रिधिद्याति स्रयं वत्स इतीपीकाञ्जिमण्डूकं
नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सकत्तं बद्ध्वा । इहेन्थम् इत्यवकया
प्रच्छादयति । यत्रेदम् इति निनयति । मारुतं त्तीरौदनं मारुतं
श्वतं मारुतैः परिस्तीर्य मारुतेन स्वेण मारुतेनाज्येन वरुणाय
त्रिर्जुहोति । उक्तम् उपमन्थनं दिधमन्थं विलं हृत्वा संशोत्तणीभ्यां प्रसिश्चन् व्रजति । पाणिना वेत्रेण वा प्रत्याहृत्योपरि
निपद्यते" इति [कौ० ५, ४] ।।

तथा अनेनैव सक्तेन मरुद्धयो मान्त्रविणिकीभ्यो वा देवताभ्य आउयहोमम् काशदिविधुवकवेतसाख्यान् ओषधिविशेषान् एक-रिमन् पात्रे प्रक्षित्य संपात्य अभिमन्त्र्य अप्सु मध्येऽधोमुखं निन्यनम् तेषामेव काशादीनां संपातिताथिमन्त्रितानाम् अप्सु विसावनम् रविश्वरसो मेषशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु प्रक्षेपणम् मानुषकेशजरदुपानद्दां वंशाम्रे प्रवन्धनम् तुपसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन पोच्य त्रिपादे शिक्ये निधाय उदकमध्ये निधानं चेत्येतान्यभिवर्षणकर्माणि दृष्टिकामः कुर्यात् ॥

तथा अर्थोत्त्थापनविद्यशमनकर्मणि अनेनैव स्केन आज्यहोमं संपातिताभिमन्त्रितघटोदकेन आसावनम् अवसेकं च कुर्यात् ॥

स्त्रितं हि। "अर्थम् उत्तथास्यन्तुपदधीत" इति प्रक्रम्य "अम्बयो यन्ति [१. ४] शंभ्रमयोभू [१. ५. ६] हिरएयवर्णाः [१. ३३] यददः [३. १३]" इत्वादि ना "अभिवर्षणावसेचनानाम्" इत्यन्तेन [कौ० ५. ४]॥

## (११८) अथर्वदेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

"यददः सम्प्रयतीः" यह सक्त अपने अभिलिषत स्थानमें नदी का प्रवाह करने के कर्ममें विनियुक्त होता है। उसका क्रम यह है कि—जिस मार्गसे प्रवाहको लेजाना चाहे पहिले उस मार्गको खुद्वाकर उसमें इस सक्तसे जलको छिड़कता हुआ जावे। तथा इस सक्तसे काश शैवाल पटेर और वाँस इनमेंसे प्रत्येककी शाखा को अभिमन्त्रित कर खातको खोदे। "इदं व आपः" इस सातवीं ऋचाके प्रथम पादसे हिरएयको खातमें रक्खे। 'अयं वत्सः' इस दूसरे पादसे इषीका (सीक) में मेंडकको नीले और लाल वर्णके डोरोंसे वाँध कर अभिमन्त्रित करके खातमें रक्खे। और उस मण्डूकके जपर "इहेन्थम्" इस तीसरे पादसे अवकाको अभिमन्त्रित करके डाले। और 'यत्रेदम्' इस चतुर्थपादसे मण्डूक के जपर जल ले जावे।।

तथा ग्राम नगर आदिको नवीन जलके प्रवाहसे भय होने पर और नदीके प्रवाह करनेमें भी काले धानोंके चरुको तथा गौके दूध और घृतको वेतके स्रवेसे वरुणके लिये तीन वार आहुति देय। और वेतके चमसमें वेतकी उपमन्थनियोंसे दिधसक्तुमंथको मथ कर विलाहरण करे। फिर इस स्क्से वेतकी शाखाको अभि-मन्त्रित करके शाखासे वा हाथसे अभिमन्त्रित जलसे नदीके प्रवाहको सींचता हुआ जावे।।

दूर चली गई नदीको पुनिनर्हित्तिमें इस स्क्तको जप कर नदी प्रवेश मार्गमें शयन करे।

भाष्यकार दारिलका मत है, कि इस प्रकार कहे हुए प्रसेचन-कर्म हिरएयकर्म मण्डूककर्म और पाणिकर्म सबको एक साथ करे। दूसरे आचार्यका मत है, कि-इनको विकल्पसे करे।।

इसी वातको कौशिकसूत्र ४ । ४ में कहा है, कि-'(यददः) संप्रयतीरिति येनेच्छन्नदी प्रतिपद्येतेति प्रसिश्चन् व्रजति । काश- दिविधुवकवेतसान् निमिनोति । इदं वा त्राप इति हिरएयम् श्रिध-द्धाति अयं वत्स इतीषीकाञ्जिमएडूकं नीललोहिताभ्यां सूत्राभ्यां सकर्तं बद्धध्वा । इहेर्स्थं इत्यवकया प्रच्छादयति । यत्रेदं इति निनयति । मारुतं चीरोदनं मारुतं शृतं मारुतैः परिस्तीर्य मारुतेन स्रवेण मारुतेनाज्येन वरुणाय त्रिर्जु होति । उक्तं उपमंथनं ( द्धि-मन्थं ) बर्लि हत्वा संपीचणीभ्यां प्रसिश्चन् त्रजति । पाणिना वेत्रेण वा पत्याहत्योपरि निपद्यते"।।

तथा इसी स्रुक्तसे मन्त्रसे मतीत होने वाले मरुत् देवतात्र्योंके निमित्त होम करे । ऋौर काश दिविधुक ऋौर वेतस नाम वाखी श्रोपिथोंको एक पात्रमें रख सम्पातन श्रोर श्रभिमन्त्रण करके जलके वीचमें नीचेको मुख करके लेजाय । उन संपातित अभि-मंत्रित काश आदिको जलमें फैक देवे। मनुष्यके वाल और पुराने जूतोंको बाँसमें बाँधे, वहेडे सहित कच्चे पात्रको अभि-मंत्रित जलसे पोचित कर तीन डोरे वाले छीके पर रख कर जलके मध्यमें रक्खे इन सब दृष्टिके कर्मोंको दृष्टिकी कामना वाला करे।।

तथा धन उठानेमें होने वाले विघ्नोंको शान्त करनेके कर्ममें इस स्क्तसे घृतकी आहुति देय तथा संपातित अभिमन्त्रित घटकें जलसे स्नान ऋौर ऋभिषेक करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि-''त्र्रथ उत्त्थास्यन्धुपद्धीत'' इति प्रक्रम्य ''अम्बयो यन्ति (१।४) शंभ्रमयो भू (१।५।६) हिर-एयवर्णाः (१।३३) यददः (३।१३) इत्यादिना **ऋभिवर्ष-**णावसेचनानाम्" इत्यन्तेन ( कौशिकसूत्र ५ । ५ )।।

तत्र प्रथमा ॥

यददः संप्रयतीरहावनंदता हते ।

#### (१२०) अथर्ववेदसंहितासभाष्य-भाषानुवादसहित

तस्मादा नद्यो ३ नाम स्थता वो नामानि सिन्धवः १ यत् । अदः । सम्ऽमयतीः । अही । अनदत । हते ।

तस्मात्। त्रा।न्द्यः।नाम। स्थ।ता।वः।नामानि।सिन्धवः॥१॥

त्रदः त्रमुष्मिन् । 🕸 "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् 🛞। श्रही श्राहन्तव्ये मेघे हते ताडिते हे श्रापः यूयं यत् यस्मात् संप-यतीः संभूय इतस्ततश्च प्रयान्त्यः अनदत शब्दं कृतवत्यः स्थ । 🛞 नद अव्यक्ते शब्दे । अस्मात् लिङ मध्यमबहुवचने रूपम् । "निपातैर्यद्यदिइन्त०" इति निघातप्रतिषेघः । "अन्येषामपि दृश्यते" [ इति ] सांहितिको दीर्घः । संमयतीरिति । संमपूर्वाइ एतेः शतरि इणो यणि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । "शतुरनुमः०" इति नद्या उदात्तत्वम् 🕸 । तस्मात् कारणाइ युयम् त्रा त्राभिमुख्येन अव्यवधानेनैव नद्यो नाम [ स्थ ] भवथ । 🛞 श्रनेन नदनान्नद्य इति निर्वचनं कृतं भवति । पचादिषु नदट् इति पाठात् "टिड्डाएवं०" इत्यादिना डीप्। "यस्येति०" लोपे उदात्तनिष्टत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम् । "उदात्तस्वरितयोः०" इति विभक्तिः स्वर्यते 🕸 । हे सिन्धवः स्यन्दनशीला आपः वः युष्पाकं नामानि आपः उदकम् इत्यादीनि । अन्यान्यपि सर्वाणि [ ता ] तानि तादृशानि । अन्वर्थानीत्यर्थः । 🕸 ता इति । "शेश्बन्द्सि॰" इति शेर्लोपः 🏶 ॥

हे जलों ! इस ताड़न करने योग्य मेघके ताड़ित करने पर तुमने इधर उधरको चल कर नदन (शब्द ) किया था उसी समयसे तुम्हारा नदी नाम पड़ गया है। हे सरकनेके स्वभाव वाले जलों ! तुम्हारे अप उदक आदि जो नाम है वह भी ऐसे ही हैं अर्थात् नामके अनुकूल अर्थ वाले हैं ॥ १॥

#### द्वितीया ॥

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवंत्गत । तदाप्रोदिन्द्रों वो यतीस्तस्मादायो अनु ष्ठन ॥ २ ॥ यत् । प्रञ्हंषिताः । वरुणेन । आन । शीभम् । सम्ब्यवंत्गत। तत् । आप्नोत् । इन्द्रः । वः । यतीः । तस्मात् । आपः । अनु । स्थन

श्राप इति नाम न्युत्पादयित । यत् यदा वरुणेन राज्ञा श्रादित्येन वा प्रेषिताः प्रेरिता यूयम् श्रात् श्रनन्तरं शीभम् । ज्ञिपनामैतत् । शीघं समवन्यत संभूय नृत्यन्त्य इव वेष्टितवत्यः ।
क्ष वन्यतिर्गत्यथीं भौवादिकः । यद्योगेन निघातप्रतिषेधे "तिङि
चोदात्तविते" इति गतेरनुदात्तत्वम् क्ष । तत् तदानीं यतीः
गच्छन्तीः वः युष्मान् इन्द्रः श्राप्नोत् । तस्मात् कारणात् श्रनु
श्रनन्तरं ततःप्रभृति श्रापः स्तन श्रप्शब्दवाच्या भवत । यद्वा श्राप
इति नाम श्रनु छन श्रनुभवत । क्ष श्राप्नोतेः कर्मणि क्विषि
श्राप्नोतेहस्वश्र [ उ० २. ५८ ] इति हस्वत्वे "श्रप्तृनतृच्स्वस्नप्तनेष्टृ०" इत्यादिना सर्वनामस्थाने दीर्घः । स्तनेति । श्रस्तेर्लोग्मध्यमवहुवचनस्य तनादेशः । "उपसर्गपादुभ्याम् श्रस्तर्यचपरः" इति षत्वस्याप्रसङ्गात् सुषामादित्वेन पत्वं वेदितव्यम् क्ष ॥

( अब आप नामकी च्युत्पत्ति करते हैं, कि—) जब राजा वरुणके ( वा आदित्यके ) भेरणा करने पर तुम नाचते हुएसे एकत्रित होकर चलने लगे थे उस समय इंद्र तुमको ( आमोत् ) माप्त हुआ था, इस कारण उसी दिनसे तुम आप ( अप् ) कह-लाने लगे हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अपकामं स्यन्दंमाना अवीवरत वो हि कंस्।

## (१२२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

इन्द्रें। वः शक्तिंभिर्देवीस्तस्माद् वानीमं वो हितम् ३ अपुडकामम् । स्यन्दमानाः । अवीवरत । वः । हि। कम्। इन्द्रेः । वः । शक्तिंडभिः । देवीः। तस्मात्। वाः। नाम । वः। हितम्

वार् इति नाम पदर्शयति । अपकामम् विनैव कायेन स्यन्द-मानाः सदा स्यन्दनं कुर्घाणाः वः युष्मान् इन्द्रः वः युष्माकं शक्तिभिः हेतुभिः अवीवरत द्यतवान् युष्मान् स्वात्मसात् कर्तुम् ऐच्छत् । अ वर ईप्सायाम् । चुरादिरदन्तः । व्यत्ययेन सन्व-द्धावः । द्यणोतेर्वा स्वार्थिको णिच् अ । हिकम् इति हिशब्दार्थे । अ हिकम् नुकम् इति नवोत्तराणि पदानि [ निघ० ३.१२ ] इति यास्केन परिपठितत्वात् अ । हे देवीः देव्यो देवनशीलाः तस्मात् कारणाद् वः युष्माकं वार् इति नाम हिकम् प्रसिद्धम् । अ दृणोतेण्यन्तात् कर्मणि क्विप् अ ।।

( वार इस नामकी व्युत्पत्ति दिखाते हैं, िक—) इच्छा न होने पर भी सदा सरकने वाले तुमको इन्द्रने अपनी शक्तियोंसे वरण किया अर्थात् अपने अर्थान करनेकी इच्छा की, हे देवनशील जलों ! इस कारण तुम्हारा वार यह नाम मिसद्ध हुआ है ३

चतुर्थी ॥
एकां वो देवोष्यंतिष्ठत् स्यन्दंमाना यथावृशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुद्कमुंच्यते ॥ ४ ॥

एकः । वः । देवः । अपि।अतिष्ठत् । स्यन्दमानाः। यथाऽवशम् ।

उत् । आनिषुः । महीः । इति । तस्मात् । उद्कम् । उच्यते ४ उदकशब्दं निर्वक्ति । एकः असहायो देवः इन्द्रो यथावशम्

यथाकामं स्यन्दमानाः इतस्ततश्च स्यन्दनशीला वः युष्मान् अप्य-

तिष्ठत् अध्यतिष्ठत् । अपिशब्दः अध्यर्थे । तेन इन्द्रवहुमानेन आपो वयं महीः महत्यो जाता इति उदानिषुः उच्छ्रत्रसितवत्यः । अ अन प्राणने । लुङि रूपम् अ । तस्मात् कारणाद्ग उदकम् इति अपां नाम उच्यते निरुच्यते उदननात् । अ उदकम् इति । उत्पूर्वाद्ग अनितेरीणादिकः कप्रत्ययो नकारलोपश्च अ ॥

( अव उदकशब्दका निर्वचन करते हैं, कि-) असहाय एक देवराज इन्द्र इच्छानुसार सरकते हुए तुम पर आधिपत्य जमाते हुए, इन इन्द्रके वहुमानके कारण जलोंने हम बड़े होगए कहकर उदान किया-उच्छ्वास लिया। इस कारण जल उदक कहलाते हैं ४

#### पश्चमी ॥

आपो भुदा घृतमिदापं आसन्नुभाषोमीं विभ्रत्याप इत् ताः।

तीवा रसो मधुप्रचामरङ्गम आ मा प्राणेन सह

त्रापः । भुद्राः । घृतम् । इत् । त्रापः । श्रासन् । श्रयीषोमौ । विभ्रति । श्रापः । इत् । ताः ।

तीत्रः । रसः । मधुऽपृचाम् । अरम्ऽगमः । आ । मा । प्राणेन । सह । वर्चसा । गमेत् ॥ ४ ॥

त्रापः भद्राः भन्दनीयाः । ता एव घृतम् त्राज्यम् त्रासन् । तृणादिनिष्पादनेत घृतात्मिका भवन्ति । यद्वा घृतमित् त्रप्रौ हुतम् ब्राज्यमेव त्राप त्रासन् ।

> अग्रौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते । आदित्याज्जायते दृष्टिः

# (१२४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

इति [ म॰ समृ॰ ३. ७६ ] स्मरणात् ।। किं च ता एव आपः अभीषोमो विश्वति धारयन्ति । अन्नादिहिविर्निष्पत्या अभिम् रिमन् रुद्ध्या सोमम् । अ "ईद्ग्नेः॰" इति ईत्वम् । "अग्नेः स्तुत्स्तो-मसोमाः" इति पत्वम् । "देवताद्दन्द्वे च" इति पूर्वोत्तरपदयोर्यु ग-पत्मकृतिस्वरत्वम् अ ॥ तादृशीनाम् अपां मधुपृचाम् मधुना रसेन संपृक्तानां तीत्रः उद्गभूतो रसः अरङ्गमः पर्याप्तगमनः न कदाचिद्पि जीणः प्राणेन चज्जुरादिना वर्चसा वलेन च सह मा माम् आगन् आगच्छत् । तद्धीनत्वात् प्राणादिस्थितेः । अ गमे-श्वान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति चलेलु क् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् अ ।

जल कल्याण करनेवाले हैं वही घृत हुए अर्थात् तृण आदिको उत्पन्न कर † घृतरूप होजाते हैं और घृत ही अग्रिमें होमने पर जलरूप होजाता है और ये ही जल अग्नि और सोमको धारण करते हैं अर्थात् अन्न आदि हिवको बना कर अग्निको और किरणों की दृद्धि कर सोमको धारण करते हैं, ऐसे जलोंका मधुररससे सम्पन्न तीन्न रस कभी भी चीण न होनेकी स्थितिमें चनु आदि माणके साथ और बलके साथ मुक्तको माप्त होवे।। ४।।

षष्टी ॥

आदित् पंश्याम्युत् वां शृणोम्या मा घोषां गच्छति वाङ् मासाम् । मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरंण्यवणी अतृपं यदा वंः

† "श्रमी पास्ताहुतिः सस्यगादित्यमुपतिष्ठते । श्रादित्या-ज्जायते दृष्टिः ॥-श्रमिमें होमी हुई श्राहुति सूर्यके पास पहुँचती है। तब श्रादित्यसे दृष्टि होती है"। आत् । इत् । पुरयामि । उत् । वा । शृणोमि । आ । मा । घोषः । गच्छति । वाक् । मा । आसाम् ।

यन्ये । भेजानः । अमृतस्य । तर्हि । हिर्रणयऽवर्णाः । अर्रुपम् । यदा । वः ॥ ६ ॥

रसः पाणेन सह त्रागच्छत इत्युक्तम्। तद् इदानीं समर्थयते।
त्रादित् श्रनन्तरमेव श्रहं पश्यामि। उत वा श्रिप च शृणोमि।।
छोपः शब्दः उच्चार्यमाणश्र मा माम् श्रा गच्छित ।। तथा वाक्
वागिन्द्रियम्। कर्मेन्द्रियोपलक्षणम् एतत्। तच्च त्रासाम् श्रपां
युष्माकं रसागमनेन मा माम्। श्रा गच्छतीत्यनुपङ्गः। श्र वाग्मेति।
संहितायां "यरोन्ननासिकेनुनासिको वा" इति विकल्पेन श्रमुनस्य
मेजानः श्रमुतमेव भजन् श्रहं मन्ये तर्कयामि। श्र पूर्वयत् कर्मणः
संपदानत्वात् चतुर्ध्यर्थे षष्टी। भेजान इति। भजेश्छान्दसे
लिटि "तृफलभजनपश्र" इत्येत्वाभ्यासलोपौ श्र । कदा एवं
वितक्यत इति चेत् । उच्यते। यदा हे हिर्ण्यवर्णाः हितरमणीयवर्णयुक्ता श्रापः वः युष्माकं युष्मत्सेवनेन श्रतृपम् सहितोभवम्।
श्र तृप तृन्फ तृप्तौ । तौदादिकः । लिङ उत्तमैकवचने रूपम्।
सहितार्थयोगेन पष्टी श्र ॥

(रसके प्राणके साथ आनेका वर्णन कर अब उसका समर्थन करते हैं, कि—) इसके अनन्तर ही मैं देखता हूँ और सुनता भी हूँ, कि—उच्चारण किया हुआ शब्द मेरे पास आरहा है और वाणीमें भी आरहा है, वह आप जलोंके रसके आगमनसे सुकमें आता है अतः मैं इस समय अमृतकी सेवा करता हुआ सा समकता हूँ । हे हितरमणीय वर्ण वाले जलों! तुम्हारा सेवन करनेसे मैं तुम होगया हूँ । ६ ।।

सप्तमी ॥

इदं वं आपो हदंयम्यं वत्स ऋतावरीः। इहैत्थेमतं शकरीयेत्रेदं वेशयामि वः॥ ७॥

इदम् । वः । आपः । हृदयम् । अयम् । वत्सः । ऋतऽवरीः ।

इह । इत्थम् । आ । इत् । शक्वरीः । यत्र । इदम् । वेशयामि। वः

हे आपः वः युष्माकम् इदम् हिरएयं खाते प्रतिप्यमाणं हृदयं हृदयस्थानीयम्। ऋषां रेतोरूपत्वात् हिरएयस्य हृदयरूपता । श्रृयते हि।"श्रापो वरुणस्य पत्रय त्रासन् । ता अग्निरभ्यध्यायत । ताः सम-भवत्। तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरएयम् अभवत्" इति [तै० ब्रा० १. १. ३. ८]। यद्वा हृदयम् अन्तःकरणम् । यथा लोके हृद्यं विहाय न्नणमपि शरीरं नावितष्ठते किं तु सहैव वर्तते तथा यूयमपि हृद्य-रूपं हिरएयं पति [ एत ] । आगच्छतेत्यर्थः ॥ तथा हे ऋतावरीः ऋतवर्यः । ऋतं सत्यं यज्ञो वा यासां तास्तथोक्ताः । 🛞 ऋत-शब्दात "अन्दसीवनिपौ०" इति मत्वर्थीयो वनिष्। "वनो र च" इति डीब्रेफी। "अन्येपामपि दृश्यते" इति ऋतशब्दस्य सांहि-तिको दीर्घः। "वा बन्दसि" इति शसः पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् 🕸। सत्योपेताः हे त्रापः अयम् खाते मित्तप्यमाणो मणडुकः वत्सः युष्पाकं वत्सस्थानीयः। यथा लोके गावो वत्सम् अनुधावन्ति एवं यूयमपि वत्सस्तुतमएडूकम् अनुधावतेति भावः॥ हे शक्वरीः शक्वर्यः शक्ताः अभिमतफलपदानसमर्था आपः । अश्वाक्तु शक्तौ इत्यस्माइ ''अन्येभ्योपि दृश्यन्ते'' इति वनिष् । पूर्ववद्ग ङीब्रेफ-पूर्वसवर्णदीर्घाः 🕸 । इह अस्मिन् खातदेशे इत्थम् अनेन पका-रेण । यथात्र मण्डूकस्योपरि प्रतिप्यमाणा श्रवका रूढमूला भवन्ति तथा एत त्रागच्छत स्थिरपवाहा भवत ॥ यत्र यस्मिन् खातदेशे इदम् इदानीं वः युष्मान् वेशयामि । प्रवेशयामि निनयामि यद्वा इदम् इति उदकनाम । वः युष्माकम् ग्रंशभूतम् इदम् उदकं यत्र श्रवकाछन्ने मण्डूके वेशयामि । इहेति पूर्वत्र संबन्धः ॥

इति तृतीये जुवाके तृतीयं सुक्तम् ॥

हे जलों ! यह जलों में डाला जाता हुआ सुवर्ण आपका हृदय है + । अथवा जैसे लोकमें हृदयको छोड़कर शरीर ज्ञाण भर भी नहीं रहता है किंतु साथ ही रहता है । इस प्रकार आपभी हृदयक्ष्य सुवर्णके प्रति आइये । और हे सत्ययुक्त जलों ! यह खातमें डाला हुआ मण्डूक तुम्हारे लिये बछड़ेकी समान है । तात्पर्य यह है, कि—जैसे गोएँ बछड़ेके पासको दौड़ती हैं, इसी प्रकार तुम भी वत्सरूप मण्डूककी ओर दौड़ो। हे अभिमत फल देनेमें समर्थ जलों ! जिस खात देशमें में तुम्हारा प्रवेश कराता हूँ उसमें तुम जैसे मण्डूक पर फैंकी हुई अवका हृद जड़ वाली होजाती है इस प्रकार आओ । स्थिर प्रवाह वाले होओ ।। ७ ॥

तृतीय अनुवाकमें तीलरा एक समाप्त (८४)॥
"सं वो गोष्टेन" इति सुक्तेन गोषुष्टिकामः स्रभिनवं [पयो
पृष्टेः रलेष्ममिश्रितं कृत्वा संपात्य स्रभिमन्त्र्य स्रक्षाति ॥

तथा अनेन सक्तेन गाम् अभिमन्त्र्य ददाति गोपुष्टिकाम एव एवम् अनेन सक्तेन उदपात्रम् अभिमन्त्र्य गोवाटे निनयति ॥ अपि च करीषं सब्येन हस्तेन आक्रम्य दक्षिणेन अर्थ विक्ति-

पति गोवाटे गोपुष्टिकामः ॥

तथैव अनेन सक्तेन सारूपवत्से ओदने शकृत्पिएडान् गुग्गुलु-लवणे च एकीकृत्य पश्चाइ अम्नेर्निखनित त्रिरात्रं यावत् । चतुर्थे-

+ श्रुतिमें कहा है, कि-"आपो वरुणस्य पत्नय आसन्। ता अग्निरभ्यध्यायत्। ताः समभवत्। तस्य रेतः परापतत्। तद्धिरण्यमभवत्।" (तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।३।८)॥ इनि पातः संपात्य अभिमन्त्र्य अशाति । अविकृतश्चेत् स ओदनः । विकृते तु सति अनशनम् । अनशितेषि च फलां संपन्नम् इति मन्तव्यम्

उक्तं हि कौशिकेन । "सं वो गोष्टेन ३. १४ प्रजानतीः ७. ७६ प्रजापतिः ६. ७ इति गोष्टकमीणि । गृष्टेः पीयूपं रलेष्मिमिश्रम् अश्राति । गां ददाति । उदपात्रं निनयति । समुद्य सन्येनाधिष्टा-यार्घ दित्तणेन वित्तिपति । सारूपवत्से शकृत्पिण्डान् गुग्गुलुलवणे प्रतिनीय पश्चाद अग्रेनिंखनित ] । तिस्रणां प्रातरक्षाति" । [ कौ॰ ३. २ ] इति ॥

'सं वो गोष्टेन' इस स्कारो गौत्रोंकी पुष्टि चाहने वाला पुरुप पहलौन गौके बद्धड़ेकी लारसे मिश्रित नवीन दूधको सम्पातन स्रोर स्रभिमन्त्रण करके प्राशन करे।।

तथा गौत्रोंकी पुष्टि चाहने वाला इस सक्तरो गौको अभि-मन्त्रित करके देवे ॥

इसी प्रकार इस स्कारे जलपूर्ण पात्रका अभिमन्त्रण कर गोवाटमें ले जावे ॥

्रश्रीर गौत्रोंकी पुष्टि चाहने वाला वायें हाथसे अन्ने उपलेको उठाकर दाहिने हाथसे आधा गौत्रोंके रहनेके स्थानमें फैंक देवे।।

इसी प्रकार इस स्क्तिसे अपने और बछड़ेके एकसे रूप वाली गौके दूधमें बने भातमें गोवरके पिएड गूगल और लवएको मिला कर अग्निमें तीन रात तक दवा दे। चौथे दिन प्रातःकालके समय सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे वह भात अवि-कृत हो तभी खावे। यदि वह भात विगड़ गया हो तो न खावे और न खाने पर भी फलको मिला हुआ समभे।।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-'सं वो गोष्टेन ३।१४ प्रजावतीः ७। ७६ प्रजापितः ६। ७ इति गोष्टकर्माणि। गृष्टेः पीयुषं श्लेष्ममिश्रं अक्षाति। गां ददाति। उदपात्रं निनयति। समुद्य सत्येनाधिष्ठायार्थं दिस्तिणेन विक्तिपति । सारूपवत्से शकु-त्पिएडान् गुग्गुजुलवणेमितनीय पश्चाद् अमेनिखनित । तिस्रणां मातरश्चाति" (कौशिकसूत्र ३ । २ ) इति ॥

तत्र प्रथमा ॥

सं वो गोष्ठेन सुगदा सं रूपा संसुभूत्या। अहंजीतस्य यन्नाम तेनां वः सं सृजामसि॥१॥

सम् । वः । गोऽस्थेन । सुऽसदा । सम्। र्य्या। सम्। सुऽभूत्या।

अहं:ऽजातस्य । यत् । नामं । तेनं । वः । सम् । स्रजामसि ॥१॥

हे गावः वः युष्मान् सुषदा । सुखेन सीदिन्त निवसन्ति गावो-त्रोति सुपत् । अ सदेरधिकरणे निवप् अ । सुखिनवासेन गोष्टेन गोशालया । सं सृजामिस इति व्यवहितिक्रयापदेन सर्वत्र संबन्धः । संसृजामः । तथा रय्या आहारादिरूपेण धनेन संस्-जामः ॥ सुभूत्या समृद्ध्या च संसृजामः ॥ तथा अहर्जातस्य । आहन्यहिन जायत इत्यहर्जातः प्राणिविशोषः । तस्य यन्नाम आह-जीत इति तेन नाम्ना वः युष्मान् संसृजामिस संसृजामः । एतन्नाम-योगेन गवां पुत्रपौत्रादिरूपेण आहरहरूत्पत्तिरुक्ता ॥

हे गौत्रों ! तुमको हम सुखसे वैठने योग्य गोठोंसे सम्पन्न करते हैं, चारा आदि धनसे सम्पन्न करते हैं, समृद्धिसे सम्पन्न करते हैं और पति दिन होने वाले नाम पुत्र पौत्र आदिसे हे गौत्रों ! हम तुमको सम्पन्न करते हैं ॥ १॥

द्वितीया ॥

सं वः मृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः।
समिन्द्रो यो धनअयो मियं पुष्यत यद् वसुं ॥२॥

# (१३०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सम् । वः । सृजतु । अर्यमा । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।

सम् । इन्द्रः । यः । धनम्ऽजयः । मयि । पुष्यत । यत् । वसु २

हे गावः अर्यमा एतन्नामको देवः वः युष्मान् सं स्जतु । उत्पादयतु । पूषा पोषकः समृद्धिकरो देवः [सं]स्जतु । यहस्पति-देवः सं सजतु । यहन्दः धनंजयः । धनानि शत्रुसंवन्धीनि जयित अपहरतीति धनञ्जयः । अ "संज्ञायां भृतृष्ट्रजिधारिसहि०" इत्यादिना खन् । "अरुद्धिषदजन्तस्य स्रम्" इति पूर्वपदस्य स्रम् आगमः । चित्स्वरेण अन्तोदात्तः अ । सहन्द्रः सं सजतु । एवम् अर्थमादिभिरुत्पाद्य संवधिता हे गावः यूयं यद्ध वसु ज्ञीरघृतादिकं धनम् अस्ति तद्ध मिय साधके पुष्यत पोषयत । अ पुष पुष्टो । दैवादिकः । "युष्मदस्मदोर्ङसि" "ङिय च" इति अस्मद्ध आद्युदान्तत्वम् अ ॥

हे गौओं ! अर्थमा नामक देवता तुम्हें उत्पन्न करे । समृद्धि देने वाले पूषा देवता, बृहस्पित देवता और शत्रुओं के धनको हरने वाले इन्द्र देवता तुमको उत्पन्न करें । इस मकार इन्द्र आदि के उत्पन्न करने पर तुम्हारे पास जो चीर घृत आदि धन है, उसको तुम सुभ साथकमें पुष्ट करो ।। २ ।।

तृतीया ॥

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।

बिभ्रंतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

सम्रज्जमानाः । अविभ्युषीः । अस्मिन् । गोऽस्थे । करीषिणीः ।

विश्रतीः । सोम्यम् । मधु । अनुमीवाः । उपऽएतन ॥ ३ ॥

अस्मिन् मदीये गोष्टे संजग्मानाः पुत्रपौत्रादिभिः संगच्छमानाः।

ॐ संपूर्वाद् गमेरकर्मकात् छान्दसो लिट्। "समो गम्यृच्छि०" इत्यात्मनेपद विधानात् कानच् 🛞 । ऋविभ्युषीः चोरव्याघादिभ्यः अविभ्यत्यः । 🛞 त्रिभी भये इत्यस्मात् छान्दसे लिटि क्वसः। जिंगच्वाइ जीप्। ''वसो संप्रसारणम्''। छान्दसो जसः पूर्व-सवर्णदीर्घः । अञ्ययपूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् 🕸 ।। तथा करीषिणीः करीषं शकृत् । 🛞 भूम्निमत्वर्थीय इनिः 🛞 । चिरकालजीवनेन प्रभूतकरीपयुक्ता इत्यर्थः । अनमीवाः अमीवो रोगस्तद्रहिताः सोम्यम् सोममयम् । "सोगः खलु [ वै ]सांनाय्यम्" [तै० त्रा० ३. २. ३. ११] इति श्रुतेः । सोमाई वा । ॐ "सोमम् अईति यः" "मये च" इति सोमशब्दाद् यप्रत्ययः 🕸 । तथाविधं मधु मधुरसं त्तीरं विश्वतीः धारयन्त्यः पीनोध्न्यः सत्यः उपेतन उपेत उपगच्छत । 🕸 "तप्तनप्तनथनाश्र" इति तस्य तनादेशः 🕸 ॥

हे गौद्यो ! इस मेरे गोष्टमें तुम पुत्र पौत्र त्यादिसे सम्पन्न होती हुई, चोर व्याघ्र त्रादिसे न डरती हुई और चिरकाल तक जीवित रहनेके कारण बहुतसे अन्ने उपलोंसे युक्त होती हुई, रोगरहित रहती हुई सोममय मधुर चीरको धारण करनेसे स्थूल स्तन वाली होकर त्रात्रो ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

इंहैव गांव एतंनेहो शकेंव पुष्यत 🕴 इहैवोत प्र जायध्वं मियं संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥ इह । एव । गावः । त्रा । इतन । इहो इति । शकाऽइव । पुष्यत । इह । एवं। उत । म। जायध्वम् । मयि । सम्ऽज्ञानम् । अस्तु । वः ४

हे गावः युयम् इहैव मदीये गोष्ठ एव एतन आगच्छत । इहो इह उ । उशब्दः अवधारणे । इहैव शकेव शंका मित्तका सा यथा

## (१३२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

चणेनेव समृद्धा असंख्याता भवति तथा यृयं पुष्यत भूयस्यो भवत ।। उत अपि च इहैव गोष्टे म जायध्वम् पुत्रपौत्रादिरूपेण मजाता भवत । % "ज्ञाजनोर्जा" इति जादेशः % । मिय साधके वः युष्माकं समृद्धाना संज्ञानम् संपीतिरस्तु। मां विहाय न गच्छनेतित भावः ।।

हे गौत्रों ! तुम मेरी ही गोठमें आत्रो और मित्तका जैसे ज्ञाणभरमें ही समृद्ध होकर असंख्य होजाती हैं, इसी पकार तुम भी मेरे यहाँ ही पुष्ट होत्रो बहुतसी होस्रो । और इस गोष्टमें ही पुत्र पौत्र आदिरूपसे उत्पन्न होस्रो सुभ साधकमें तुम्हारी पीति हो, तुम सुभे छोड़ कर न जास्रो ॥ ४॥

पश्चमी ॥

शिवो वो गोष्ठो भवंतु शारिशाकेव पुष्यत । इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामिस ॥ ५ ॥

शिवः । वः । गोऽस्थः । भवतु । शारिशाकाऽइव । पुष्यत ।

इह । एव । उत । म। जायध्वम्। मया । वः । सम् । सुजामसि ५

हे गावः वः युष्माकं गोष्ठः वासस्थानं शिवः सुखकरो भवतु ॥ यूयं शारिशाकेव । त्रणेन सहस्रशोऽभिवर्धमानाः पाणिविशेषाः शारिशाकाः । तद्वत् पुष्यत समृद्धा भवत ॥ इहैवोतेति निगद-सिद्धोर्थः ॥

हे गौत्रों ! तुम्हारा गोष्ठ तुम्हें सुख देने वाला होवे तुम ज्ञण भरमें सहस्रोंकी संख्यामें बढ़ जाने वाले शारिशाक नाम वाले प्राणियोंकी समान समृद्ध होत्रो । तुम यहाँ ही रहकर पुत्र पौत्र त्रादिके रूपमें उत्पन्न होत्रो, हम तुम्हारी रचना करते हैं ॥५॥

#### पष्टी ॥

मयां गावो गोपंतिना सचध्वम्यं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णः ग्रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुपं वः सदेम।।

मया । गावः । गोऽपतिना । सचध्वम् । अयम् । वः । गोऽस्थः । इह । पोषविष्णुः ।

रायः । पोषेण । बहुताः । भवन्तीः । जीवाः । जीवन्तीः । उप । वः । सदेम ॥ ६ ॥

हे गावः यूयं गोपितना गोस्वामिना मया सचध्वम् समवेता । अवत । अप्त समवाये । भोवादिकः । गोपितना । गवां पितः गोपितः । "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् अ ॥ इह मदीये ग्रहे , अयं गोष्ठः वः गुष्मान् पोपियिष्णुः पोषकः । अपोष-यतेः "णेश्वन्दिस्" इति इष्णुच् मत्ययः । "न लोकाव्यय०" इति षष्ठीनिषेधाद व इति द्वितीया अ॥ रायः धनस्य पोषेण । अ "षष्ठचाः पितपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् अ । धन-समृद्धचा बहुलाः असंख्याता भवन्तीः जीवन्तीः चिरकालजीवनो-पेता वः युष्मान् जीवाः चिरजीविनो वयम् उप सदेम उपगच्छेम । अ सदेसशीर्तिङ "लिङचाशिष्यङ्" इति अङ् पत्ययः अ ॥ इति तृतीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे गौओं ! तुम मुक्त गोस्वामीके साथ एकत्रित होओ । मेरे घरमें यह गोठ तुम्हारा पोषण करे । चारे आदि धनकी समृद्धि से असंख्य होती हुईं और चिरकाल तक जीवित रहती हुईं तुमको हम चिरजीवी प्राप्त हों ॥ ६ ॥

तीसरे अनुवाकमं चतुर्थ स्क समाप्त (८५) ॥

#### (१३४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

[ तथा अनेनैत्र सूक्तोन पएयकामः इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा । सूत्रितम् । "इन्द्रम् अहम् इति पएयकामः" इति कौ०७. १०]॥

्रितथा क्रव्याच्छमने कर्मिण "विश्वाहा ते" म् इति ऋचा पूर्णाहुतिं जुहोति । सूत्रितं च । "विश्वाहा ते म इति पूर्णाहुतिं

जुहोति" इति कौ० ६. २ ]॥

"इन्द्रं त्रहं विणिजम्" इस सुक्तका वाणिज्यलाभके लिये विनि-योग किया जाता है। विक्रीके लिये वेचनेकी वस्तुत्रोंको दूकान में लेजाते समय वाणिज्यमें लाभ पानेके लिये विणक्कमें करे। उसकी विधि यह है, कि-'इन्द्रं त्रहम्' इस सुक्तसे वज्र वस्त्र पूर्गीफल घोड़ा हाथी वा रत्न त्रादि इनमेंसे एकको सम्पातित त्राभमन्त्रित करके उठावे। कौशिकसूत्र ७। १ में भी कहा है, कि-''इन्द्रम् ऋहम् इति पएयं सम्पातवद्व उत्त्थापयित"।।

तथा द्कानदारी करना चाहने वाला इसी सक्तसे इन्द्रका यजन वा उपस्थान करे। सूत्रमें भी कहा है, कि-"इन्द्रम् श्रहम् इति पएयकामः" (कौशिकसूत्र ७। १०)॥

तथा क्रव्याच्छमन नाम वाले कर्ममें 'विश्वाहा ते' इस आठवीं ऋचासे पूर्णाहुति होमे । इसी वातको कौशिकसूत्र ६ । १ में कहा है, कि-'विश्वाहा ते ८ इति पूर्णाहुति जुहोति' ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतं पुरएता नो अस्तु।

# नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशांनो धन्दा श्रेस्तु महाम् ॥ १ ॥

इन्द्रम् । अहम् । वृणिजम् । चोद्यामि । सः । नः । आ । एतु ।

पुरःऽएता । नः । ग्रस्तु ।

नुदन् । अरातिम् । परिऽपन्थिनम् । मृगम् । सः । ईशानः । धन्ऽ-

दाः। अस्तु । महाम् ॥

अहम् व्यवहर्ता इन्द्रम् परपैश्वयोंपतं देवं विणिजम् वाणिज्य-कर्तारं चोदयामि परियामि पवर्तयामि । अणुद परेणो अ।। सः विणिक्त्वेन परित इन्द्रो नः अस्मान् ऐतु आगच्छतु। आगत्य च नः अस्माकं पुरएता पुरतो गन्ता अस्तु भवतु । अ "पूर्वीध-रावराणाम् असि पुरधवश्चेषाम्" इति पूर्वशब्दाद् असिमत्ययः तत्संनियोगेन पुरादेशश्च । शत्रन्तेन समासे कृदुत्तरपदमकृतिस्वर-त्वम् अ। किं कुर्वन् । अरातिम् वाणिज्यविघातकं शत्रुं परि-पन्थिनम् पर्यवस्थातारं मार्गीनरोधकं चोरम् । अ "जन्दिस परि-पन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातिर" इति इनि पत्ययान्तो निपा-तितः अ। मृगम् व्याघादिकं च नुदन् हिंसन् ईशानः ईश्वरो नियन्ता स इन्द्रः मह्मम् विणिजे धनदाः वाणिज्यलाभरूपधन-पदाता अस्तु भवतु । अ ईशान इति । ईश ऐश्वर्ये । अदादि-त्वात् शपो लुक् । अनुदात्तेत्वात् "व्लसार्वधातुक् " [ इति ] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः । धनदाः । ददातेः "आतो मनिन् " इति विच् पत्ययः अ ॥

में व्यवहार करनेवाला पुरुष परमैश्वर्यसम्पन्न वाणिज्यकर्ता इन्द्रदेवको पेरित करता हूँ, विणक्भावसे पेरित वह इन्द्र हमारे

#### (१३६) अथर्ववेदसंहितासभाष्य-भाषानुवादसहित

पास आवें और आकर वाणिज्यविद्यातक शत्रुको मार्गनिरोधक चोरको और व्याघ्र आदिको मारते हुए हमारे आगे चलें। नियन्ता इन्द्रदेव मुफ्ते वाणिज्यमें लाभरूप धनके देनेवाले हों १ द्वितीया।।

ये पन्थाना बहवा देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।

ते मां जुषन्तां पयंसा घृतेन यथां कीत्वा धनमा-

ये । पन्थानः । बहवः । देवऽयानाः । अन्तरा । वावापृथिवी इति । सम्ऽचरन्ति ।

ते । मा । जुपन्ताम् । पयसा । घृतेन । यथा । क्रीत्वा ।धनम् । आऽहराणि ॥ २ ॥

ते प्रसिद्धा देवयानाः देवा यान्ति येष्विति देवयानाः। अ अधि-करणे ल्युट् अ। देवानुक्ल्ययुक्ता इत्यर्थः। यद्वा दीव्यन्ति व्य-वहरन्तीति देवा विणजः। ते यत्र यान्ति ते देवयानाः। प्रहता इत्य-र्थः। ईदृशाः बहवः बहुदेशसंबंधिनो ये पन्थानः मार्गाः द्यावापृथिवी अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये संचरन्ति वर्तन्ते। अ द्यौश्र पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ। "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः। "वा छन्द्सि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः। "नोक्तरपदेनुदाक्तादौ०" इति प्रतिषेधस्य "व्अपृथिवीरुद्वपूषमन्थिषु" इति पर्युद्दत्तत्वाद् "देवताद्वन्द्वे च" इत्युभयपदमकृतिस्वरत्वस् "अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया । ते मार्गाः पयसा घृतेन च मा मां जुषन्ताम् सेवन्ताम्। मार्गश्रम-निवर्तकक्तीरघृतोपलक्तितान्नपानोपेता भवन्तु इत्यर्थः। यथा येन प्रकारेण अहं क्रीत्वा पण्यं विक्रीय धनम् लाभसहितं मूल्यधनम् आहराणि स्वगृहं प्रापयाणि । तथा जुपन्ताम् इति संवन्धः । अहरतेः प्रार्थनायां लोट् अ।।

जिनमें व्यवहार किया जाता है वे अनेक देशोंके जो वहुतसे मार्ग द्यावापृथिवीके मध्यमें हैं। वे मार्ग घृत और त्तीरसे हमारी सेवा करें-मार्गश्रमको दूर करने वाले त्तीर घृत अन्न पान आदि से संयुक्त होवें और जिस पकार मैं खरीद वेंच कर लाभसहित मृलधनको घरमें लेआऊँ तिस पकार मेरी सेवा करें।। २।।

#### तृतीया ॥

इध्मेनां स इच्छमानो घृतेनं जुहोमि हुव्यं तरंसे बलाय यावदीशे ब्रह्मणा वन्दंमान इमां धियं शतसेयांय देवीस् इध्मेनं । असे।इच्छमानः। घृतेनं। जुहोमि। हुव्यम्। तरंसे। बलाय। यावत्। ईशे। ब्रह्मणा। वन्दंमानः। इमाम्। धियम्। शतऽसे-यायं। देवीम्।। ३।।

हे अते इच्छमानः वाणिज्यलामं कामयमानः । ॐ इषु इच्छा-याम् । व्यत्ययेन शानच् । "इषुगिमयमां छः" इति छादेशः । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे शमत्ययस्वरः ॐ। सोहम् इध्मेन इन्धनसाधनेन सिमत्समूहेन घृतेन आज्येन च सह हव्यम् हिवः जुहोमि । किमर्थम् । तरसे वेगाय शीघ्रगमनाय बलाय शरीरसामध्यीय च । ब्रह्मणा मन्त्रेण स्तोत्ररूपेण वन्दमानः त्वां स्तुवन् देवीं द्योतमानां व्यवहारकुशलाम् इमां मदीयां धियम् बुद्धिं शतसेयाय । शतम् इति अपरिमितनाम । असंख्यातधनलाभाय यावद्ध् अहम् ईशे शक्नोमिलब्धुम् । तावज्जुहोमीति संबन्धः। यद्वा यावद अहम् ईशे ईश्वरो धनाढ्यो भवामि तावत् स्तोत्रेण स्तुवन् छोतमानाम् इमां धियम् । धीरिति कर्मनाम। इदम् वाणिज्यलाभ-निमित्तं होमल् क्षणं कर्म । करोमीति शेषः । अईश इति । ईश ऐश्वर्ये । लटि उत्तमैकवचने श्रमुदात्तेत्वात् "०लसार्वधातुक०" [इति ] श्रमुदात्तत्वे धातुस्वरः। "यावद्यथाभ्याम्" इति निघात-प्रतिषेधः । शतसेयायेति । षणु दाने । व्यत्ययेन यत्प्रत्यये "ये विभाषा" इत्यात्वे "ईद्यति" इति ईत्वे गुणः । "यतोऽनावः" इत्याद्युदात्तत्वे धातुस्वरः । समासे कृदुत्तरपदमकृतिस्वरत्वम् । यद्वा धातृनाम् श्रनेकार्थत्वात् षो श्रन्तकर्मणीत्यस्मादेव यत् प्रत्ययः अ।।

हे अप्ते! मैं वाणिज्यमें लाभको चाहता हुआ शीघ्रगमनरूप वेग पानेके लिये और शरीरकी शिक्तरूप बल पानेके लिये स्तोत्र-रूप मंत्रसे आपकी स्तुति करताहुआ मकाशवान बुद्धिसे असंख्य धन पाने तक अथवा जब तक मैं धनाट्य होऊँ तब तक आपकी स्तुति करता हुआ इस होमकर्मको करता हूँ, ईंधनसे और घृतसे आपके निमित्त हवि होमता हूँ ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

इमामने शरणि मीख्यो नो यमध्यानमगाम दूरम्। शुनं नो अस्तु प्रपूर्णो विक्रयश्च प्रतिपृष्णः फलिनं मा कृणोतु ।

इदं हृब्यं संविदानौ जुनेथां शुनं नो अस्तु चरित-

हुमाम्। अप्ते । शरिएम् । मीमृषः। नः। यम् । अध्वानम्। अगाम । दूरम् शुनम् । नः । अस्तु । पटपुणः । विडक्रयः । च । प्रतिडपुणः ।

फलिनम्। मा। कृणोतु। इदम् । इष्यम् । सम्ऽविदानौ । जुपेथाम् । शुनम् । नः । अस्तु । चरितम् । उत्थितम् । च ॥ ४॥

हे अग्नेः नः अस्माकम् इमां शरिणम् प्रवासनिबन्धनां व्रतलोपलक्तणां हिंसां मीमृषः चमस्य । 🕸 मृष तितिक्ता-याम् । स्वार्थिको णिच् । छान्दसो लुङ् 🍪 । यम् श्रध्वा-नम् मार्गे दूरम् अगाम गतवन्तः स्मः । तद्ध्वगमनजनिताम् इमां शरिणम् इति पूर्वत्रान्वयः । अ इस् गतौ । लुङि "इसो गा लुङि" इति गादेशः अ । यद्दा यम् ऋध्वानं दूरम् ऋगाम इमां शरिणम् । 🍪 वर्णव्यत्ययः 🕸 । इमम् अध्वानम् नः अस्मान् मीमृषः मर्षय तितित्तय । तज्जनितदुःखनिवर्तने सहां कुर्वित्यर्थः ॥ प्रपणः व्यवहर्तुं प्रयद्रव्यस्य परिमाणकल्पनम् । विक्रयः तस्यैव सलाभमृल्यस्वीकारेण परेपां प्रदानम् । तद् उभयमपि नः अस्माकं शुनम् सुखं यथा भवति तथा अस्तु भवतु । 🕸 विक्रय इति । क्रीणातेः "एरच्" इति अच् प्रत्ययः 🕸 ॥ तथा प्रतिपणः। प्रत्या-नेतुं परद्रव्यस्य परिमाणकन्पनं प्रतिपण इत्युच्यते । सोपि मा माम् । अ प्रपणः । पणव्यवहारे इत्यस्मात् "नित्यं पणः परि-माणे" इति अच् प्रत्ययः अ। फल्तिनम् प्रभूतलाभीपेतं कृशोतु करोतु ॥ इन्द्राग्न्योः प्रकृतत्वात् तावेवात्र प्रयुक्तौ प्रार्थ्येते । हे इन्द्राग्नी युवां संविदानौ संजानानौ ऐकमत्यं गतौ। अ संपूर्वाइ वेत्तेरकर्मकात् "समो गम्यृच्छि०" इत्यात्मनेपदम् । अदादित्वात् शापो लुक् 🕸 । इदम् मया हूयमानं हव्यम् हविः जुपेथाम् सेवे-थाम् ॥ युवयोः प्रसादात् नः अस्माकं चरितम् आचरितं विक्र-यादिकम् उत्त्थितम् तस्माइ व्यवहाराइ उत्पन्नं लाभयुक्तं धनं च शुनम् सुखम् श्रस्तु ॥ हे देवाः धनेन मूल्यधनेन धनम् दृद्धियुक्तं

#### (१४०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

धनम् इच्छमानः कामयमानोहं येन धनेन प्रपणम् व्यवहर्तुं परि माणकल्पनं चरामि करोमि। तदिष शुनम् श्रम्तु इति पूर्वेण संबंधः॥

हे अग्ने! मार्ग चल कर दूर आगए हैं अतः हमारी प्रवासके कारण बनी हुई बतलोपरूपी हिंसाको आप ज्ञमा करिये। मैं दूर देशमें आगया हूँ उसमें उत्पन्न होनेवाले दुःखोंको सहनेकी शिक्त दीजिये। व्यवहार करनेके लिये लीजाने वाली वस्तुका परिमाणपण और लाभसहित मूल्य लेकर दूसरोंको देशरूप विक्रय ये दोनों ही हमें सुख देने वाले हों और प्रतिपण भी अर्थात लौटानेके लिये दूसरेके द्रव्यका परिमाण करना भी सुक्ते प्रभूत लाभ वाला करे हे इन्द्र और अग्नि देवताओं! तुम दोनों एकमत होकर मेरी होमी हुई हिक्को स्वीकार करो। आपके प्रसादसे हमारा किया हुआ विक्रय और उससे मिला हुआ लाभयुक्त धन भी सुखदायक हो। हे देवताओं! मूल्यधनसे दृद्धियुक्त धनको चाहते हुए हम जिस धनसे व्यवहार करना चाहते हैं, वह भी हमें सुख देने वाला हो।। ४।।

पश्चमी ॥

येन् धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूया भवतु मा कनीयोभे सात्रभो देवान् हविषा

नि षेध॥ ५॥

येन । धनेन । मृऽपूणम् । चरामि । धनेन । देवाः । धनम् । इच्छमानः । तत् । मे । भूयः । भवतु । मा । कनीयः । अभे । सात्ऽघः ।

देवान् । हविषां । नि । सेघ ॥ ४ ॥

हे अग्ने सातझः सातं लाभः । अ षणु दाने इत्य-रमाद्व भावे निष्ठा । "जनसनखनां सन्भःलोः" इति आत्वस् अ। स्रातं लाभं घ्रन्तीति सातघः । अ "बहुलं छन्दिस" इति इन्तेः क्विष् । शिस "गमहन॰" इत्युपधालोपः । "हो हन्तेः ॰" इति घत्वम् अ लाभमतिवन्धकान् देवान् हिवपा हूयमानेन नि पेध पिरतोण्य निवार्य । अ पिधु गत्याम् । भौवादिकः । "उपस्मात् छनोति॰" इत्यादिना पत्यम् अ ॥ येन धनेनेत्यादि पूर्ववत् । हे देवाः युष्मत्मसादात् तन्मे मदीयं धनं भूयः बहुतरं भवतु । कनीयः श्रव्यतरं मा भवतु । अ भूय इति । बहुशब्दाइ ईयस्त्रिन "बहोलोंपो भू च वहोः" इति ईयस श्रादेलोंपः बहोर्भूमावश्च । कनीय इति । "युवाल्पयोः कन् श्रन्यतरस्याम्" इति श्रव्यश्च्यस्य कन् श्रादेशः अ ॥

हे अप्ते! आप लाभके प्रतिबंधक देवताओं को होयी जाती हुई हिवसे सन्तुष्ट करके लौटा दीजिये हे देवताओ ! धनसे धनको चाहता हुआ मैं जिस धनसे व्यवहार करना चाहता हूँ, आपके प्रसादसे वह मेरा धन वहुत हो थोड़ा न होवे।। ध ।।

पष्टी ।।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनिमिच्छमानः। तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दंधातु प्रजापतिः सविता सोमो अभिः ॥ ६ ॥

येन । धनेन । मुज्यूणम् । चरामि । धनेन । देवाः । धनम् । इच्छमानः। तस्मिन् । मे । इन्द्रः । रुचिम् । आ । दुधातु । शुजाऽपतिः ।

सविता । सोमः । अग्निः ॥ ६ ॥

येनेति यत् प्रकृतं धनं तस्मिन् में मदीये धने रुचिम् सर्वजन-

## (१४२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मीति घनमदानेन आदानेच्छाम् इन्द्र आ द्यातु स्थापयतु ।। तथा प्रजापत्यादयश्च रुचिं कुर्वन्तु ।।

मैं धनसे धनको चाहता हुआ जिस धनसे प्रपण करना चाहता हूँ उस धनमें इन्द्र प्रजापित सिवता सोम और अग्नि-देवता मेरी हिचको उत्पन्न करें।। ६।।

सप्तमी ।।

उप त्वा नमंसा वृयं होतंर्वैश्वानर स्तुमः । स नः प्रजास्वात्मयु गोर्षु प्राणेषु जागृहि ॥ ७॥ उप । त्वा । नमंसा । व्यम् । होतः । वैश्वानर । स्तुमः । सः । नः । प्रजास्त्रं । आत्मऽस्त्रं । गोर्षु । प्राणेषु । जागृहि ७

हे होतः देवानाम् आहातः वैश्वानर विश्वनरहित अग्ने त्या त्वां वयं नमसा हविर्लक्षणेन अन्नेन सह उप स्तुमः उपेत्य स्तोत्रं कुर्मः ॥ स स्तुतस्त्वं नः अस्माकं प्रजास पुत्रपौत्रादिलक्षणासु आत्मस अस्मास गोषु अस्मदीयेषु पशुषु प्राणेषु च जागृहि बुध्यस्व । प्रजादिषु दुःखलेशोपि यथा न प्राप्नोति तथा रक्षन् अवहितो वर्तस्वेत्यर्थः ॥

हे देवताश्रोंका श्राहान करने वाले सम्पूर्ण मनुष्योंके हित-कारी अग्ने! हम तुम्हारी हविरूप श्रानके साथ स्तुति करते हैं। स्तुति करने पर श्राप हमारी पुत्र पात्र श्रादि प्रजामें, हममें पशुस्रोंमें श्रीर प्राणोंमें सावधान रहिये श्रर्थात् प्रजा श्रादिको थोड़ासा भी दुःख न पहुँचे, इस प्रकार रक्षा करते हुए साव-धान रहिये॥ ७॥

.त्र्यष्टमी ॥

विश्वाहां ते सद्मिन्दरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते असे प्रतिवेशा रिषाम ॥ = ॥

विश्वाहा । ते । सदम् । इत् । भरेम । अश्वायऽइव । तिष्ठते । जातऽवेदः ।

रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । मा । ते । अमे । प्रतिऽ-वेशाः । रिषाम ॥ = ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने तिष्ठते स्वग्रहे नित्यं वर्त-मानाय ते तुभ्यं विश्वाहा सर्वाएयहानि । 🕸 "० अत्यन्तसं-योगे" द्वितीया 🕸 । सदमित सदैव भरेम हरेम । हविरिति शेषः। तत्र दृष्टान्तः । अश्वायेव । स्वगृहे वर्तमानाय अश्वाय कालेकाले यथा घासः मदीयते तद्वत् ॥ हे अग्ने ते तव मतिवेशाः परिचर-णादिना प्रत्यासन्ना वयं रायः धनस्य पोषेण समृद्धचा इषा इष्यमार्णेन अन्नेन च सं मदन्तः संमाद्यन्तो हृष्यन्तः। 🛞 व्य-त्ययेन शप् 🕸। मा रिषाम विनष्टा मा भूम । 🕸 रुष रिष हिंसायाम् । पुषादित्वात् च्लेरङादेशः 🍪 ॥

इति तृतीयकाएडे तृतीयेनुवाके पश्चमं सुक्तम् ॥ समाप्तथ तृतीयोजुवाकः ॥

हे पत्येक उत्पन्न हुआंको जानने वाले अग्ने ! अपने घरमें सदा वर्तमान आपके लिये हम जैसे अपने घरमें विद्यमान घोड़े को मितदिन घास दी जाती है इस मकार मितदिन हिव देते हैं। हे अग्ने ! आपकी सेवा करनेसे आपके समीपमें रहने वाले हम धनकी दृद्धि ऋौर ऋन्नसे मदमें भरते रहें नष्ट न होवें ॥८॥ तृतीयकाण्डके तृतीय अंदुवाकमें पश्चम स्क समाप्त (८६)॥

त्तीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थे तुवाके पश्च सक्तानि । तत्र "प्रातरिनम्" इति प्रथमं सक्तम् । तेन मेधाकामः सुप्त्वोत्त्थाय सुखपत्तालनं हस्तेन कुर्यात् । तद् उक्तं कौशिकेन । "पूर्वस्य मेधाजननानि" इति प्रक्रम्य "प्रातरिप्रम् [ ३.१६] गिरावरगराटेषु [६.६६] दिवस्पृथिच्याः [ ६, १ ] इति संहाय सुखं विमाष्टिं" इति [ कौ० २.१ ] ॥

तथा अनेन स्केन दिधमधुनी संपात्य अभिमन्त्रय वर्चस्कामं ब्राह्मणम् आश्येत् । चित्रयं तु दिधमधुमिश्रम् अन्नम् आश्येत् । वैश्यादिकं तु केवलभक्तम् आश्येत् । तथा च काशिकः । "ममाप्ते वर्चः [ ५. ३ ] इति वर्चस्यानि" इति मक्तम्य "प्रातरिप्तम् [ ३. १६ ] गिरावरगराटेषु [ ६. ६६ ] दिवस्पृथिव्याः [ ६. १ ] इति दिधमध्वाणयति कीलालिमश्रं चित्रयं कीलालम् इतरान् इति [ का० २. ३ ] ॥

तथा वर्चस्यकमिए स्नातकसिंहव्याघादीनां सप्तानाम् अन्यत-मस्य नाभिलोममिए लाजाहिरएयेन वेष्टियत्वा अनेन सक्तेन

संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा वर्चस्कामानां चित्रयादीनां स्नातकादिसप्तमर्माणि प्रच्छिद्य स्थालीपाके प्रचिष्य अनेन सक्तेन संपात्य अभिमन्त्र्य स्थालीपा-केन सह पाशनम् संपातिताभिमन्त्रितजलेनासावनम् अवसेचनं च वर्चस्कामस्य कार्यम् ॥

स्त्रितं हि । "स्नातकसिंहन्याघ्रवस्तदृष्णिदृषभराज्ञां नाभि-लोमानि" इति प्रक्रम्य [ "पातरिष्रम् ३, १६ ] गिरावरगराटेषु [ ६, ६६ ] दिवस्पृथिन्याः "[ ६, १ ] इति सप्तममीणि स्थाली-पाके पृक्तान्यश्रात्यकुशलं यो ब्राह्मणो लोहितम् अशीयाद्व इति गार्ग्य उक्तो लोममणिः सर्वेरासावयत्यवसिश्चति" इति [को० २,४]

चौथे अनुवाकमें पाँच सक्त हैं। उनमें 'पातरिनम्' यह प्रथम सक्त है। बुद्धिको चाहने वाला पुरुष सोकर उठनेके अनन्तर इस सक्तको पढ़ कंर मुखसे इस्तमत्तालन करे। इसी वातको कौशिक-सूत्र २। १ में कहा है, कि-"पूर्वस्य मेधाजननानि" इति प्रक्रम्य "पातरियम् (३।१६) गिरावरगराटेषु (६।६६) दिवस्पृथिव्याः (६।१) इति संहाय मुखं विमार्ष्टि ॥"

तथा इस स्क्तसे दही और मधुका संपातन और अभिमंत्रण कर तेज चाहने वाले ब्राह्मणको प्राप्तन करावे चित्रयको दही और मधु मिला हुआ अन्न चटावे। वैश्य आदिको केवल भात ही खवावे। इसी बातको कौशिकसूत्र २। ३ में कहा है, कि— "ममाग्ने वर्चः (५।३) इति वर्चस्यानि" इति प्रक्रम्य "प्रात-रिप्रस् (३। १६) गिरावरगराटेषु (६।६६) दिवस्पृथिव्याः (६।१) इति दिधमध्वाशयति कीलालिमिश्रं चित्रयं कीलालं इतरान्"।।

तथा वर्चस्यकर्पमें स्नातक सिंह और न्याघ आदि सातमेंसे एककी नाभिके लोमोंकी मिएको लाख और सुवर्णमें लपेट कर इस सक्तसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके वाँधे।।

तथा तेजको चाहने वाले चित्रय आदिके स्नातक आदिके सात मर्गोंको काटकर स्थालीपाकमें डाले फिर इस सक्तसे संपा-तन और अभिमन्त्रण करके स्थालीपाकके साथ खावे, संपातित अभिमन्त्रित जलमें गोता लगावे और वर्चस्कामका अभिषेक भी करे

ं सूत्रमें भी कहा है, कि-

स्नातकसिंहन्याघ्रवस्तवृष्णिवृषभराज्ञाम् नाभिलोमानिः' इति प्रक्रम्य ''पातरिष्रम् (३।१६) गिरावरगराटेषु (६।६९) दिवस्पृथिन्याः (६।१) इति सप्तमर्माणि स्थालीपाके पृक्तान्य-श्राति अकुशलं यो ब्राह्मणो लोहितं अश्रीयात् इति गार्ग्य उक्तो लोममणिः सर्वेरास्नावयत्यवसिश्चति" इति (कोशिकसूत्र २।४)

## (१४६) अथववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तत्र मथमा ॥ प्रातर्शिं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्भित्रावरुणा प्रात-रश्विनां ।

प्रातभगं पूषणुं ब्रह्मणुस्पतिं प्रातः सोमंमुत रुद्रं हेवामहे ॥ १ ॥

मातः । अप्रिम् । मातः । इन्द्रम् । हुवामहे । मातः । मित्रावरुणा ।

मातः । अश्विनां ।

मातः । भगम् । पूषणम् । ब्रह्मणः । पतिम् । मातः । सोमम् । उत । रुद्रम् । हवामहे ॥ १ ॥

ऋग्न्यादयः प्रसिद्धा देवाः । तान् पातः पातःकाले वर्चसे फलाय मेथाजननफलाय च हवामहे । श्रि क्रियाफलस्य कर्तृगापित्वात् "स्विरितिञ्ञतः " इत्यात्मनेपदम् । "बहुलं छन्दसि" इति हः संप्रसारणम् । पित्रावरुणा । पित्रश्च वरुणश्च पित्रावरुणो । "देवताद्वन्द्दे च" इति पूर्वपदस्य त्रानङ् त्रादेशः । "सुपां सुलुक् " इति पूर्वपवर्षय त्रानङ् त्रादेशः । "सुपां सुलुक् " इति पूर्वपयम् । "इन्हन्पूषार्यम्णां शो" इति नियमात् "सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ" इति ऋषि पाप्तस्य दीर्घस्य निष्टत्तिः । ब्रह्मणस्पतिम् । "पष्टिचाः पतिपुत्र " इति विसर्जनीयस्य सत्वम् श्रि । उतशब्दः अप्यर्थे ।।

हम वर्च (तेज) रूप फल पानेके लिये और बुद्धिरूपी फल पानेके लिये भी पातःकालके समय इन्द्र देवताका आहान करते हैं, पातःकालके समय हम फल पानेके लिये इन्द्र मित्र वरुण अश्वनीकुमार भगदेवता पूषा ब्रह्मणस्पति सोम और रुद्रदेवताका **ब्राह्वान करते हैं ॥** १ ॥

द्वितीया ॥

प्रातर्जितं भगेमुप्रं ह्वामहे वयं पुत्रमदितेयों विधर्ता। आप्रश्चिद् यं मन्यंमानस्तुरश्चिद् राजां ।चेदु यं भगं भन्नीत्याहं ॥ २ ॥

पातःऽजितम् । भगम् । उग्रम् । हवामहे । वयम् । पुत्रम् । ऋदितेः । यः । विऽधर्ता ।

आधः । चित् । यम् । मन्यमानः । तुरः । चित् । राजा । चित् ।

यम् । भगम् । भिन्न । इति । आहं ॥ २ ॥

पातर्जितम् । पातःकाले जयति स्वाभिमतं साधयतीति पात-र्जित् । % "सत्स्रृद्धिष०" इत्यादिना क्विप् 🕸 । उग्रम् उद्गूर्णवलम् अनभिभवनीयम् । अदितेः । अदितिरदीना देवमाता । तस्या पुत्रं भगं वयं वर्चः प्रभृतिफलकामा हवामहे आहयामः । स एव विशेष्यते । य त्रादित्यो भगः विधर्ता सर्वस्य विधार्यिता दृष्टचा-दिपदानेन पोषकः आधः आधारियतव्यो दरिद्रः। चिच्छब्दः श्रप्यर्थे । दरिद्रोपि तुरश्चित् त्वरमाणः समृद्धोपि मन्यमानः स्वा-भिमतफलसाधनं जानानः यं भगं देवं भित्त भजेयेत्याह ब्रुते । राजा चित् राजापि यं भगं देवं भजेयेत्याह। सर्व एव यस्य भक्तताम् आशासत इत्यर्थः। तं भगम् इति पूर्वत्रान्वयः। अतुरः। तुर त्वरणे इत्यस्माद्ध इगुपथलत्तणः कः । भत्तीति । भजेश्लान्दसो लिङ्थे सुङ् । उत्तमैकवचने "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इत्यड-

भावः । यच्छब्दस्य आहेत्यनेन संबन्धात् भन्नीत्यस्य निघातः श्च । यद्वा उक्तः सर्वोषि जनः यं भगं देवं मन्यमानः स्तुवन् । मन्यतिः स्तुतिकर्मा । भगम् । धननामैतत् । भगं भजनीयं धनं भन्नि भज विभज मयच्छ महाम् इति यं देवम् आह इति पार्थयते । तम् आह्वयाम इति संबन्धः । श्च भन्नि । लोटि भजेश्छान्दसः शपो लुक् ह्यादेशाभावश्च श्च ॥

जो सूर्य सबको धारण करने वाले हैं, दृष्टि श्रादि कर सबका पोषण करने वाले हैं, दरिद्र पुरुष भी त्वरासे अपनेको समृद्ध समभता। हुआ अर्थात् अपने अभिलिषत फलका साधन समभता हुआ कहता है, कि-मैं भग (सूर्य) देवताकी सेवा करता हूँ। और राजा भी जिन भग देवताकी सेवा कहूँगा—कहता है। अर्थात् सब ही जिनके भक्त बनना चाहते हैं उन प्रातःकालमें अपना साधन करने वाले प्रचण्डवली देवमाता अदितिके पुत्र सूर्यदेवको हम आहान करना चाहते हैं।। २।।

तृतीया ॥

भग प्रणेतभग सत्यराधोभगेमां धियमुदंवा ददंननः। भग प्रणा जनय गोभिरश्वेभग प्रनिर्मृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

भग । प्रज्नेतः । भग । सत्य ऽराधः । भग । हुमाम् । धियम् । उत् । अव । ददत् । नः ।

भगे। प्रानुः। जन्यः। गोभि । अरवैः। भगे। प्र । नृऽभिः।

नु इवन्तः । स्याम् ॥ ३ ॥

हे भग मणेतः प्रकर्षेण सर्वस्य जगतो नेतः । विशेषणान्तर-संबन्धाय पुनः पुनर्भगेत्यामन्त्रणम् । हे सत्यराधः सत्यम् अन-श्वरं राधो धनं यस्य स तथोक्तः । अ राध इति धननाम । राध्तु-चन्स्यनेन इति यास्कः [नि० ४.४]। "आमन्त्रितं पूर्वम् श्रविद्यमानवत्" इति भगेत्यामन्त्रितस्य श्रविद्यमानवत्त्वात् "श्राम-न्त्रितस्य च" इति मणेतिरित्यस्य पाष्टिकम् आद्युदात्तत्वम् । न च ''नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्" इत्यविद्यमानवच्च-निवेखः। भगेत्यस्य विशेषवचनत्वात् । प्रणयनात् प्रणतेति प्रशेतृत्वस्य साधारणत्वेन तद्वाचिनः सामान्यवचनत्वस शिष्टचेन भगेत्यस्य विशेषवचनत्वम् । प्रणेतरित्यस्य विधेय-विशोपणत्वेन प्रणेतृन् अस्मान् कुरु इति पृथग्वाक्यत्वेन सानात् ''समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः" इति वचनात् भग सत्यराध इत्यादेर्वाक्यान्तरत्वेन पूर्वपदापेत्तया निघा-तापसङ्गः 🕸 । हे भग इमास् अस्मदीयां धियस् स्तुतिम् उदव उद्रच सफलां कुरु । 🕸 ''द्रचचोतस्तिङः'' इति सांहितिको दीर्घः कि कुर्वन् । नः अस्मभ्यं ददत् प्रयच्छन् मेथाजननादि-फलम् । 🕸 ददातेः शतिर "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुम्पतिषेधः । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तत्वम् %। हे भगनः अस्मान् गोभिरश्वैश्व म जनय मधूतान कुरु ॥ हे भग नृभिः पुत्रपौत्रादि-भिभुत्यादिभिश्च वयं नृवन्तः तद्युक्ताः प्र स्याम प्रभवेम ॥ नृभि-र वन्त इति "गवाम् असि गोपतिः" [ ऋ० ७. ६८.६ ] इति-वत् वृत्त्यवृत्तिभ्यां स्वामित्वं वहुत्वं च विवन्त्यते। अ वृभिरिति। "नृ चान्यतरस्याम्" इति हलादिविभक्तिनोदात्ता । नृवन्त इति । छान्दसं मतुपो वत्वम्। "इस्वनुड्भ्याम् ं" इति मतुप उदात्तत्वम् %।।

हे श्रेष्ठरूपसे सब जगत्के नेता अविनाशी धन वाले सूर्यदेव! इमें मेधाजनन आदि फल देकर हमारी इस स्तुतिको सफल

# (१५०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

किरये हे भग ! हमें गौ और अश्वोंसे समृद्ध किरये । हे भग-देवता ! पुत्र पौत्र आदिसे और भृत्य आदिसे युक्त ( मनुष्य वाले ) हों ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रंपित्व उत मध्ये अहाम्। उतोदितौ मघवन्तसूर्यस्य व्यं देवानां सुमतौ स्याम ४

उत । इदानीम् । भगंऽवन्तः । स्याम् । उत । पृऽपित्वे । उत । मध्ये । अहाम् ।

ष्ट्रत । उत्रर्इतौ । मुघ्डवृत् । सूर्यस्य । वृयम् । देवानाम् । सुडम्तौ । स्याम ॥ ४ ॥

उत अपि च इदानींम् अस्मिन् कर्मानुष्ठानसमये वयं भगवन्तः भगेन देवेन युक्ताः तत्स्वामिकाः भगेन धनेन सौभाग्येन वा युक्ताः स्याम भवेम ॥ उत अपि च प्रित्वे सायाह्ने अहां मध्ये मध्याह्नेपि [ उत अपि च उदितौ उदयकाले ] हे मघवन् । मघम् इति धननाम । वयं सूर्यस्य तथा देवानाम् अग्न्यादीनां सुमतौ शोभनायाम् अनुग्रहात्मिकायां बुद्धौ स्याम भवेम । देवा अपि अस्मान् अनुग्रह्णीयुरित्यर्थः ॥

इस कर्मानुष्ठानके समय हम सौभाग्य युक्त हो हम देवताके नेतृत्वमें रहें तथा सायंकाल और मध्याहके समय तथा सूर्यो-दयके समय भी हम हे मधवन ! सूर्य और अग्नि आदि देवताओं की सुबुद्धिमें रहें अर्थात् देवता हमारे ऊपर अनुग्रह करें ॥४॥

पश्चमी ॥

भगं एव भगवाँ अस्तु देवस्तेनां वयं भगवन्तः स्याम ।

तं त्वां भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ५ भगः । एव । भगऽवान् । श्रस्तु । देवः । तेन । वयम् । भगऽ-वन्तः । स्याम ।

तम् । त्वा । भग । सर्वः । इत् । जोहवीमि । सः । नः । भग। पुरः ऽएता । भव । इह ॥ ४ ॥

भग एव देवो भगवान् धनवान् अस्तु । तेन तदीयेन धनेन वयं भगवन्तः धनवन्तः स्याम भवेम । हे भग तम् तादृशं त्वा त्वां सर्व इत् सर्व एव जनः जोहवीमि जोहवीति पुनःपुनराह्वयति । 🕸 "तिङां तिङो भवन्ति" इति तिपः स्थाने मिप् 🕸 । हे भग स त्वम् इह श्रस्मिन् व्यापारे नः श्रस्माकं पुरएता पुरतो गन्ता भव।।

भगदेवता ही धनवान् हों, उनके धनसे हम भी धनी होवें। हे भग ! ऐसे त्रापको सब ही त्राह्वान करते हैं । हे भग ! त्राप हमारे व्यापारमें हमारे त्रागे चिलये ॥ ५ ॥

षष्टी ॥

समंध्वरायोषसो नमन्त दिधकावेव शुचये पदायं। अविचीनं वंसुविदं भगं मे रथंमिवाश्वां वाजिन आ

वहन्तु ॥ ६ ॥

सम्। ऋध्वराय । उषसः । नमन्त । दधिक्रावाऽइव । शुचये । पदाय ।

श्चर्याचीनम् । वसुऽविदंम् । भगम्। मे । रथम् ऽइव । अश्वाः । वाजिनः ।

श्रा । वहन्तु ॥ ६ ॥

#### (१५२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

लङ् श्रि। संनमन्ताम्। संगच्छन्ताम् इत्यर्थः।। दिधिकावेव । त्र्यश्वनामैतत् । दिधः धारियता सन् क्रामतीति दिधिकावा अश्वः।
दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा [ नि० २. २७ ] इत्यादि
निरुक्तम् । श्रि दधातेः "आहगमहनजन०" इत्यादिना किप्रत्ययो
लिड्वद्भावश्च । तिस्मिन्नुपपदे "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्रमेः
ववनिप् । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्त्वम् श्रि । स यथा
शुच्ये पदाय शुद्धाय गमनाय संनद्धो भवति एवं संनता
डषोदेवताः वसुविदम् धनानां लम्भकं भगं देवं मे मभ अर्वाचीनम्
अभिग्रुखम् आ वहन्तु आगमयन्तु । तत्र दृष्टान्तः। वाजिनः वेगवन्तः अश्वाः रथिमव ।।

जैसे पुरुषको धारण करने वाला घोड़ा शुद्ध गमनके लिये उद्यत होता है इसी प्रकार उपोदेवता धनकी प्राप्ति कराने वाले अग देवताको यज्ञार्थ मेरे पास लानेके लिये उद्यत हों और घोड़े जैसे रथको ले आते हैं तैसे मेरे पास ले जावें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीखतीः सदंगुच्छन्तु

भद्राः ।

घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अश्वऽवतीः । गोऽमतीः । नः । उपसः । वीरऽवतीः । सदम् । उच्छन्तु । भद्राः ।

घृतम् । दुहानाः । विश्वतः । पऽपीताः । यूयम् । पात् । स्वस्ति-ऽभिः । सदा । नः ॥ ७ ॥ जपासः उपोदेवताः श्रश्वावतीः बहुभिरश्वेहपैताः । अ "मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय०" इति मतौ परतो दीर्घः अ । गोमतीः गोमन्यो वीर वतीः वीरवत्यः पुत्रादिभिरुपेताः । अ "वा छन्दिस" इति सर्वत्र पूर्वसवर्णदीर्घः अ । भद्राः शिवंकर्यश्च सत्यः नः श्रस्मभ्यं सदम् सदा सर्वदा षच्छन्तु व्युष्टा भवन्तु ।। घृतम् उदकं दुहानाः विश्वतः सर्वेगु एतैः प्रपीताः श्राप्यायिता यूयम् उपसः स्वस्तिभिः श्राविनाशैः सदा सर्वदा नः श्रस्मान् पात रक्तत ।।

[ इति ] चतुर्थे तुवाके प्रथमं सुक्तम् ॥

उषोदेवता बहुतसे घोड़े गौएँ और पुत्र आदिसे संयुक्त हो कल्याणकारी होती हुई सदा हमारे घरमें उदय होवें। जलको देती हुई सब गुणोंसे तृप्त हे उषोदेवताओं! तुम अविनाशकर कमोंसे हमारी सदा रचा करो।। ७।।

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सुक्त समःम ( ८७ )

"सीरा युझिन्त" इति द्वितीयस्केन कृषिनिष्पत्तिकर्मणि क्षेत्रं गत्वा युगलाङ्गलं वध्नाति । अनेनैव स्केन दिसणम् अनड्वाहं युगे युनिक्त । ततः कर्ता अनेन स्केन प्राचीनं कृषन् स्कसमा-प्त्यनन्तरं हालिकाय इलं प्रयच्छेत् । तेन तिसृषु सीतासु कृष्टासु उत्तरसीतान्ते अग्निम् उपसमाधाय अनेन स्केन पुरोडाशेन इन्द्रम् स्थालीपाकेन अश्विनौ च यजन् उत्तरस्यां सीतायां संपा-तान् आनयेत् ॥

तथा द्वषत्वाभकर्मणि सारूपवत्से त्रोदने शकृत्पिणडगुग्गुलुल-वणानि प्रचिष्य त्र्यनेन सुक्तेन संपात्य अभिमन्त्रय अशाति ॥

"सीते वन्दामहे" [ = ] इत्यृचा हालिकेन कृष्यमाणास्तिसः सीताः कर्ता प्रत्येकम् अनुमन्त्रयते । अत्र "सीरा युज्जन्तीति युगलाङ्गलं पतनोति दिच्चिणम् उष्टारं प्रथमं युनक्ति" इत्यादि "अन-दुत्सांपदम्" इत्यन्तं कौशिकसूत्रं द्रष्टव्यम् [ कौ ३. ३ ] ॥

# (१५४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा श्रद्धतशान्तौ सीतामध्ये लाङ्गलसंसर्गे पुच्छसंसर्गे वा एतत् सूक्तं शान्त्युदके श्रनुयोजनीयम् । "श्रथ यत्रैतन्लाङ्गले संस-जतः" इत्यादि कौशिकसूत्रम् "शुनासीरा एयनुयोजयेत्" इत्यन्तम् [कौ० १३. १४]॥

यज्ञवास्तुसंस्कारकम िए "इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु" [४] इति नवाग्निस्थापनदेशे उल्लेखनं कार्यम् । तत्प्रकारश्च कौशिकेन दिश्तिः । "यथा वितानं यज्ञवास्त्वध्यवस्येत्" इति प्रक्रम्य "देव-स्य त्वा सिवतुः [१६. ५१. २] इति विमानकाष्ठं गृह्णाति । [ यत्राग्निं निधास्यन् भवति तत्र लक्षणं करोति ] । इन्द्रः सीतां निगृह्णात्विति दिल्लात आरभ्योत्तरत आलिखति" इत्यादिना [कौ० १४. १] ॥

श्रित्रचयनकर्म णि श्रिनिक्षेत्रकर्षणाय युज्यमानं सीरं "सीरा युज्जन्ति" इति ब्रह्मा श्रनुमन्त्रयते । "लाङ्गलं पवीरवत्" [३] इति कर्षणावस्थस्य लाङ्गलस्यानुमन्त्रणम् । "कृते योनो" [२] इति तस्मिन् कृष्टक्षेत्रे श्रोपधीरावपन्तम् श्रध्वयु म् श्रनुमन्त्रयेत । तथा च वैतानं सूत्रम् । "सीरा युज्जन्तीति सीरं युज्यमानम्"

इत्यादि [ वै० ५, १ ] ॥

"सीरा युझिन्त" इस दितीय सूक्तसे कृपिनिष्पित्तकर्ममें क्षेत्र पर जाकर जुए श्रोर हलको बाँधे । इसी सूक्तसे दाहिने बैलको जुएमें जोते । तदनन्तर कर्ता इस सूक्तसे पाचीन स्थानको जोतता हुश्रा सूक्तकी समाप्ति होने पर हल चलाने वालेको हल दे देय । जब उससे खेतमें तीन रेखायें जुत जावें तब श्रंतिम रेखाके श्रन्तमें श्रिको स्थापित कर इस सूक्तके द्वारा पुरोडाशसे इन्द्रको श्रीर स्थालीपाकसे श्रिश्वनीकुमारोंकी पूजा करता हुश्रा श्रंतिम रेखामें सम्पातोंको लावें ।।

तथा रुपलाभकर्ममें सारूपवत्स ( अपने और वछड़ेके एकसे

रूप वाली गौके दुग्धके बने) स्रोदनमें गोवरके पिएड गूगल स्रोर लवणको डालकर इस सूक्तसे सम्पातन स्रोर स्रोभमन्त्रण करके प्राशन करे।।

"सीते वन्दामहे" इस आठवीं ऋचासे हल चलाने वालेसे जोती हुईं तीन रेखाओं मेंसे पत्येक रेखाका कर्ता अनुमन्त्रण करे ॥ इस विषयमें "सीरा युझन्तीति युगलाङ्गलं प्रतनोति दिच्चणं उष्टारं प्रथमं युनिक्त" से "अनुडुत्साम्पदम्" तक कौशिकसूत्र ३ । ३ देखना चाहिये ॥

तथा अद्भुतमहाशान्तिमें हलरेखाके मध्यमें हलका संसर्ग होने पर वा पुच्छका संसर्ग होने पर इस सूक्तका शान्त्युदकमें अनु-योजन करे।। इस विषयमें "अथ पत्रैतल्लाङ्गले संस्रजतः" से "शुना सीराएयनुयोजयत्" तक कौशिकसूत्र १३। १४ देखना चाहिये

यज्ञवास्तुसंस्कार नामक कर्ममं "इन्द्रः सीतां निगृह्णातु" इस चौथी ऋचासे नवीन श्रिक्षको स्थापित करनेके स्थानमें उल्लेखन करे ॥ इसकी रीतिको कौशिकने वताया है, कि—"वितानके श्रमुसार यज्ञवास्तुको ठीक करे" तदनन्तर कहा है, कि—"देवस्य त्वा संवितुः ( इस १६ वें काण्डके इवयावनवें सूक्तकी द्सरी श्रम्चासे ) विमानकाष्ठको ग्रहण करे ॥ जहाँ पर श्रग्नि रखनी हो तहाँ लच्चण ( श्रङ्कन ) करे । इन्द्रः सीतां निगृह्णातु इस मन्त्र से दिच्चणसे श्रारंभ कर उत्तरकी श्रोर कुरेदे (कौशिकसूत्र १४।१)

अग्निचयनकर्ममें अग्निक क्षेत्रको कर्षण करनेके लिये लगाये हुए हलका 'सीरा युझन्ति' सूक्तसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। और "कृते योनों" इस दूसरी ऋचासे उस जुते हुए खेतमें औषियों को बोते हुए अश्वर्यु का अनुमन्त्रण करे। इस बातको बैतानसूत्र ४।१ में कहा है, कि—"सीरा युझन्तीति सीरं युज्यमानम्" इत्यादि तत्र प्रथमा ॥

सीरां युअन्ति क्वयों युगा वि तन्वते पृथक् । धीरां देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥

सीरा । युद्धन्ति । कवर्यः । युगा । वि । तन्वते । पृथक् । धीराः । देवेषु । सुम्नऽयौ ॥ १ ॥

कवयः । मेधाविनामैतत् । मेधाविनो जनाः सीरा सीराणि लाङ्गलानि । अ "शेश्छन्दसि॰" इति शेलोंपः अ । युञ्जन्ति कर्षणार्थं योजयन्ति । धीराः धीमन्तस्ते युगा युगानि च पृथक् वि तन्वते बलीवर्दानां स्कन्धेषु प्रसारयन्ति । किमर्थम् । देवेषु देविषये सुम्नयौ सुखकरयङ्गेच्छौ सित । यजमाने इत्यर्थः । "यङ्गो वै सुम्नं धीरा देवेषु यङ्गं तन्वानाः" इति वाजसनेयकम् [श॰ ब्रा॰ ७. २. २. ४]। अ "छन्दसि परेच्छायाम्" इति सुम्नशब्दात् वयच्। "न च्छन्दस्यपुत्रस्य" इति ईत्वदीर्घयोन्तिषः । "क्याच्छन्दसि" इति उपत्ययः अ । यद्वा देविषये सुम्नं सुखकरं हिवर्लज्ञणम् स्त्रन्नं यातः प्रापयत इति सुम्नयौ बलीवदी । तौ च युञ्जन्तीति संबन्धः । अ यातेः "आतो मनिन्॰" इति विच् अ ॥

वुद्धिमान् पुरुष लांगलों ( हलों ) को जोतनेके लिये लगाते हैं । वे वुद्धिमान् पुरुष देविषयक सुखदायक हिवरूप अन्नको पानेके लिये जुओंको भी अलग २ वैलोंके कन्धों पर धरते हैं १

द्वितीया ॥

युनक्त सीरा वि युगा तंनीत कृते योनी वपतेह बीजंम्।

विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृगयाः पक्वमा यंवन् ॥ २ ॥

युनक्तं। सीरा । वि । युगा । तनोत । कृते । योनौ । वपत । इह। बीजम् ।

विऽराऽनः । श्नुष्टिः। सऽभराः। ऋसत् । नः । नेदीयः । इत् । स्र्ययुः । पत्रवम् । त्या । यवन् ॥ २ ॥

हे कृपीवलाः सीरा युनक सीराणि लाङ्गलानि युगैः सह योजयत ॥ तथा युगा वि तनोत युगानि बलीवर्दानां स्कन्धेषु पसारयत ॥ अपि च योनौ अंकुरोत्पत्तियोग्ये इह अस्मिन कृते कुष्टक्षेत्रे बीजम् त्रीहियवादिकं वपत ॥ विराजः अन्नस्य त्रीहि-यवादिरूपस्य । "अन्नं वै विराट्" [तै० ब्रा० ३. ८. १०. ४] इति श्रुतेः । श्रुष्टिः आशुप्रापकः स्तम्बः सभराः फलभारसहितः नः अस्माकम् असत् भवतु । 🛞 अस्तेर्लेटि अडागमः 🛞 ॥ सफलं बीह्यादिकं नेदीय [ इत् ] अन्तिकतमम् अल्पेनैव कालेन पक्वम् परिणतफलोपेतं सत् सृष्यः। अ द्वितीयार्थे पष्टी अ। सृिणम् त्रंकुशं लवनसाधनं दात्रादिकम्। त्रा यवम् पामोतु त्रायौतु। ॐ यौतेश्छान्दसे लङि "तिङां तिङो भवन्ति" इति तिपो भिप् ॐ।। ''यदा [वा] अन्नं पच्यतेथ तत्स्रुएयोपचरन्ति'' [ श० ब्रा० ७. २. २. ४ ] इति वाजसनेयकम् ॥

हे किसानो ! हलोंको जुत्रोंसे संयुक्त करो त्रौर जुत्रोंको वैलों के कन्धों पर रक्लो और अङ्करकी उत्पत्तिके योग्य बनाये हुए इस जुते जुताये खेतमें त्रीहि जो आदिको बोओ। और धान

#### (१५६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

श्रीर जो श्रादिरूप † श्रन्नको शीघ्रतासे प्राप्त करानेवाला फल-भार सहित श्रन्न हमारे यहाँ होवे । फलसहित धान थोड़े ही समयमें पकेहुए फलवाला होकर काटनेके साधन दरेंती श्रादिको प्राप्त होवे ‡ ॥ २ ॥

त्तीया ॥ लाङ्गलं प्रवीरवंत् सुशीमं सोमुसत्सरु । उदिद् वंषतु गामितं प्रस्थावद् स्थवाहेनं पीवेरीं च प्रफर्व्यम् ॥ ३ ॥

लाङ्गलम् । पवीऽरवत् । सुऽशीमम् । सोमसत्ऽसं र

उत्। इत्। वपतु। गाम्। अविम्। मस्थाऽवत्। रथऽवाहनम्।

पीवरीम्। च । मङफर्व्य म् ॥ ३ ॥

पवीरवत् पवीरं पिवर्वज्ञम् । श्चि स्वार्थिको रमत्ययः श्चि । यद्भ वज्जमिव निशितधारं लाङ्गलाग्रे मोतं सदयोमयं शन्यं भूमिं विपाटयति तत्सिहतम् । श्चि पिवशब्दात् "कृदिकाराद् श्चिक्तनः" इति डीष् श्चि । स्वशीसम् कर्षकस्य स्रुखकरं सोमसत्सरु बीह्यादि-संपादनद्वारा सोमयागनिष्पादकः त्सरुः भूमौ अच्छन्नगमनम् कर्ष-

† तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ८। १०। ४ में कहा है, कि-"अन्नं वै विराट्।।-अन्न विराट् है"।। अत एव मूलके विराट् शब्द का अर्थ अन्न किया है।।

‡ श्तपथब्राह्मण ७।२।२।५ में कहा है, कि-'यदा वा अन्नं पच्यतेथ तत्सरपयोपचरन्ति ॥—जब अन्न पक जाता है तब उसको काटनेके साधन दरेती आदि (स्रिणि) से काटते हैं।। कहरतप्राह्योवयविष्ठोपो वा यस्य तत् तथोक्तम् । ॐ त्सर छक्षगतौ इत्यस्मात् भृमृशीतृचरित्सरीत्यादिना [ उ० १. ७ ]
उपत्ययः ॐ । एवं गुणिविशिष्टं लाङ्गलम् उदिद्व वपतु । इत्
इत्यवधारणे । उद्धरतु । संपादयतु इत्यर्थः । किं तद् इत्याह ।
गाम् अविं च मस्थावत् प्रस्थानयुक्तं गमनसमर्थम् । ॐ प्रपूर्वात्
तिष्ठतेः "आतश्रोपसर्गे" इति भावे अङ् ॐ । रथवाहनम् रथवाहनसमर्थम् अश्ववलीवद्दिकं पीवरीम् स्थूलां सर्वकामसमर्थां
पफर्व्यम् । प्रथमवयाः कन्या पफर्वी । ताम् । ॐ "वा छन्दिस्"
इति अभिपूर्वत्वस्य विकल्पनाद् यण् ॐ । कर्षणेन धान्यादिसमृद्धौ सत्याम् एतद्ववादिसमृद्धिभवतीति भावः ।।

वज्रकी समान तीच्ण धार वाला हलके अग्रभागमें लगे हुए
भूमिको फाड़ने वाले लोहेके शल्य (फाल) से युक्त हल कर्पक
को सुख देने वाला है। धान आदिको उत्पन्न करनेके कारण
सोमयागको चलाने वाला है। इसका अवयव भूमिमें दुबक कर
चलता है। ऐसे गुण वाला हल गौको भेड़ोंको चलनेमें समर्थ
रथके वाहन घोड़े और वैलोंको तथा सम्पूर्ण कामोंमं समर्थ प्रथमावस्थाकी कन्याको सम्पादन करे अर्थात् खेतीसे धान्य आदि
उत्पन्न होने पर गौ आदिकी समृद्धि होती है।। ३।।
चतुर्थी।।

इन्द्रः सीतां नि गृङ्कातु तां पूषाभि रचतु । सा नः पयंस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ४॥ इन्द्रः। सीताम्। नि। गृह्कातु। नाम्।पूषा। श्रीभ। रचतु।

सा । नः । पर्यस्वती । दुहाम् । उत्तराम् ऽउत्तराम् । समाम् ॥४॥ हे इन्द्रो देवः सीताम् लाङ्गलपद्धति नि गृह्णातु नीचीनां गृह्णातु । तां पूषा पोषको देवः अभि रत्ततु सर्वतः पालयतु । सा सीता नः अस्मभ्यं पयस्वती। पय इत्युपलक्तितम् अभिमतफलम् । तद्युक्ता सती उत्तरामुक्तरां समाम् उत्तरोत्तरं संवत्सरम् । अ "०अत्यन्त-संयोगे" दितीया अ । सर्वेष्विप कालेषु इत्यर्थः । दुहाम् दुग्धाम् । अभिमतफलम् इति शेषः । यद्वा पयस्वती उदकवती सती दुहाम् विदियवादिसस्यानि दुग्धाम् उत्तरोत्तरं संवत्सरम् इति द्विकम् कः । अ "अकथितं च" इति कम् संज्ञा । दुहाम् इति । "लोपस्त आत्मनेषु" इति तलोपः अ ।।

इन्द्रदेवता खेतकी रेखाको ग्रहण करें। पूषा देवता उसकी रत्ना करें। वह रेखा दुग्ध आदि अभिलिषत फलसे सम्पन्न होकर मितवर्ष प्रत्येक काममें हमें अभिलिषत फलको देवे और जलसे सम्पन्न होतीहुई धान जो धान्य आदिको मितवर्ष अधि-काधिक देवे ॥ ४॥

पश्चमी ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमि शुनं कीनाशा अनु

शुनोसीरा ह्विषा तोशमाना सुपिष्पुला श्रोषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

शुनम् । सुऽफालाः । वि । तुद्न्तु । भूमिम् । शुनम् । कीनाशाः ।

श्रतु । यन्तु । वाहान् ।

शुनांसीरा । हविषा । तोशमाना । सुऽपिप्पताः । त्रोपधीः । कर्तम् । अस्मै ॥ ५ ॥

सुफालाः शोभनानि लाङ्गलमुखानि ऋस्माकं शुनम् सुखं यथा भवति तथा भूमि वि तुदन्तु विक्रपन्तु ॥ कीनाशाः कर्पकाः शुनं यथा भवति तथा वाहान् वलीवदीन् अनु यन्तु अनुगच्छन्तु । अ वाह्यन्त इति वाहाः । कर्मिण घञ्। "कर्षात्वतो घञोन्त उदात्तः" इति अन्तोदात्तत्वम् 🛞 ॥ शुनासीरा हे शुनासीरौ वाय्वादित्यो । 🏶 शुनो वायुः सीर त्रादित्यः इति हि यास्कः िनि० ६. ४० ] अ । यद्वा श्रुनः सुखकरो देवः । सीरो लाङ्ग-लाभिमानी देवः । तौ युवां हविषा अस्मदीयेन तोषमाणा तोष-माणौ तुष्यन्तौ अस्मै यजमानाय ओपधीः त्रीहियवाद्याः सुपि-प्पलाः शोभनफलोपेताः कर्तम् कुरुतम् ॥

सुन्दर फाल हमें सुख देनेके लिये भूमिको खोदें। कृपक जिस प्रकार सुख पार्वे तिस प्रकार वैलोंके पीछे जावें। हे शुनासीरों अर्थात् वायु और आदित्य देवताओ ! † वा सुखदायक देवता श्रीर हलके श्रभिमानी देवता ! तुम हमारी हिवसे संतुष्ट होकर धान जो ऋदि ऋषिधयोंको शोभन फलोंसे सम्पन्न करो।।४।। षष्टी ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् । शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥ शुनम् । वाहाः । शुनम् । नरः । शुनम् । कृषतु । लाङ्गलम् ।

शुनम् । वरत्राः । वध्यन्ताम् । शुनम् । त्र्रष्ट्राम् । उत् । इङ्गय् ।।६॥

† यास्क मुनिने निरुक्त ६ । ४० में कहा है, कि-'शुनो वायुः सीर त्रादित्यः ॥-शुनस् वायुका नाम है त्रौर सीर सूर्य-देवका नाम है" ।।

## (१६२) अथर्वेदसंहितासभाष्य-भाषानुवादसहित

वाहाः वलीवदीः शुनम् सुखं कुर्वन्तु । नरः कर्षकाः शुनम् सुखं कुपन्तु । लाङ्गलम् हलं [ शुनं ] यथा भवति तथा कुषतु । अ कृष विलेखने । तौदादिकः अ ॥ वरत्राः रज्जवः शुनम् सुखं वध्यन्ताम् ॥ श्रष्ट्राम् प्रतोदं शुनम् सुखार्थम् उदिङ्गय परय । अत्र शुनासीरयोर्मध्ये शुनः संबोध्यः ॥

बैल सुख देवें, कृषक मनुष्य सुखपूर्वक जोतें। हल भी सुख-दायकरीतिसे जोते। रस्सियें सुखपूर्वक बँधे। हे शुनः देवता! भाप कोड़ेको सुखके लिये प्रेरित करिये॥ ६॥

सप्तमी ॥

शुनांसीरेह स्मं मे जुवेथाम् ।

यद् दिवि चक्रथुः पय्स्तेनेमामुपं सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

शुनासीरा । इह । स्म । मे । जुषेथाम् ।

यत् । दिवि। चक्रथुः। पयः । तेन । इमाम् । उप । सिश्चतम् ॥७॥

शुनासीरा शुनासीरों देवों इह स्म इह खलु अस्मिन् क्षेत्रे में मदीयं हिवः जुषेताम् सेवेताम्। यत् तो देवो दिवि आकाशेपयः उदकं चक्रतुः कृतवन्तो तेन दृष्टिजलेन इमाम् कृष्यमाणां भूमिम् उप सिश्चताम् आर्द्रीकुरुताम्।।

हे शुनासीर देवताओं ! इस क्षेत्रमें मेरी हिवका सेवन करो । जो देवता आकाशमें जलको करते हैं वे दृष्टिके जलसे इस जुती हुई भूमिको गीली करे ॥ ७ ॥

श्रष्टमी ॥

सीते वन्दांमहे त्वार्वाची सुभगे भव ।

यथां नः सुमना असो यथां नः सुफला भुवः॥=॥

सीते । वन्दामहे । त्वा । स्त्रर्वाची । सुऽभगे । भव ।

यथा । नः । सुऽमनाः। श्रसः । यथा । नः । सुऽफला । भ्रुवः ॥८॥

हे सीते त्वा त्वां वन्दामहें नमस्कुर्मः । हे सुभगे सुभाग्ये सीता-भिमानिदेवते त्वम् अर्वाची अस्मद्भिमुखी भव । यथा येन प्रका-रेण नः अस्माकं सुमनाः शोभनमनस्का असः स्याः । यथा येन प्रकारेण नः ऋस्पाकं सुफला शोभनफलोपेता अवः भवेः। तथा अर्वाची भवेति संबन्धः । अ अस्तेर्भवतेश्व लेटि अडागमः। शव्लुकि "भूसुवोस्तिङि" इति ग्रूणप्रतिषेधे उवङ् 🛞 ।!

हे सीते ( इलसे खेतमें खींची हुई रेखा )! हम तुभको प्रणाम करते हैं। जिस प्रकार तू हमारे लिये शोभन मन वाली हो जिस प्रकार हमारे लिये शोभनफलसे सम्पन्न हो तिसप्रकार हे सीताभिमानिदेवते ! तू हमारे अभिम्रुख हो ॥ 🖙 ॥

नवमी।।

**ष्ट्रतेन सीता मधुना समक्ता विश्वेदेवैरनुंमता मरुद्धिः।** 

सा नः सीते पर्यसाभ्याववृतस्वोर्जस्वती घृतवत्

पिन्वमाना ॥ ६ ॥

घृतेन । सीता । मधुना । सम्ऽत्र्यक्ता । विश्वैः । देवैः । त्रानुऽमता । मरु-

त्रुभिः।

सा । नः । सीते । पयसा। अभिऽत्रावदृत्स्व । ऊर्जस्वती । घृत-

<u>ऽवत् । पिन्बमाना ॥ ६ ॥</u>

घृतेन उदकेन मधुना मधुररसेन समका सम्य ग् अक्ता सिक्ता।

🕸 "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् 🕸 । सा सीता

# (१६४) अथर्षवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

विश्वेदेंवैः मरुद्धिश्र अनुमना अङ्गीकृता । हे सीते सा त्वं पयसा उदकेन नः अस्मान् अभ्यावष्टत्स्व अभिमुखम् आवर्तस्व । अ "बहुलं छन्दिसि" इति ष्टतेः शपः श्लुः अ । कथंभूता । ऊर्ज-स्वती बलोपेता घृतवत् घृतयुक्तम् अन्नं पिन्वमाना सिश्चन्ती । अ पिवि सेचने । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । "० अदुपदेशाल्लसा-विधातुक०" [ इति ] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः अ ॥

[इति ] चतुर्थेनुवाके दितीयं सुक्तम् ॥
मधुर रस वाले जलमें भीगी हुई विश्वेदेवा और मरुद् देवताओंसे अङ्गीकृत वलसम्पन्न्न घृतयुक्त अन्नका सिंचन करती हुई
हे सीतादेवता ! तू जलके साथ हमारी ओर अभिग्रुख हो ॥६॥

चरुर्थ अनुशकमें दूसरा एक समाप्त (८८) ॥

"इमां खनामि" इति तृतीयस्क्तेन सपत्नीजयकर्मणि वाणा-पर्णीपत्रचूर्णं लोहितवर्णाजाया दध्युदकेन संभिश्य अभिमन्त्र्य सपत्नीशयने परिकिरेत्। "अभि तेधाम्" इति पादेन तत्पत्रा-एयभिमन्त्र्य शयनस्याधस्तात् प्रक्षिपेत्। "उप तेधाम्" इति पादेन तत्पत्राणयभिमन्त्र्य शयनस्योपरि प्रक्षिपेत्। तद्ध उक्तं कौशिकेन। "इमां खनामीति वाणापणीं लोहिताजाया द्रप्सेन संनीय शयन् नम् अनु परिकिरति" [कौ० ४. १२] इत्यादि॥

विवादजयकर्मिण "ग्रहम् श्रस्मि सहमाना" इत्यादिस्क्तशेषं जपन् ऐशान्या दिशः सभास्थलं व्रजेत् । "श्रहम् श्रस्मीत्यपरा-जितात् परिपदम् श्रावजित" इत्यादि कौशिकस्त्रम् [कौ०५.२] ॥

'इमां खनामि' इस तीसरे सूक्तसे सपत्नीजय (सौतको जीतने) के कर्म में बाणापणीं के पत्तों के चूर्णको लालवर्ण वाली वकरीके दहीको जलमें मिलाकर अभिमन्त्रित करके सौतकी खाट पर बखेर देय। और 'अभि तेथाम' इस पादसे उसके पत्तों का अभिमन्त्रण करके खाटके नीचे फेंके। 'उपतेथाम्' इस पाद

से उसके पत्तोंको अभिमन्त्रित करके खाटके ऊपर फेंके इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-'इमां खनामीति बाणापणीं लोहितजाया द्रप्सेन संनीय शयनम् अनुपरिकिरति' ( कौशिक-सूत्र ४ । १२ )॥

विवादजयकर्पमें 'अहमस्मि सहमाना' इस सक्तरोपका जप करता हुआ ऐशानी (ईशानकोण) की दिशासे सभास्थलमें भवेश करे।। कोशिकसूत्र ५। २ में कहा है, कि-"ग्रहमस्मीत्य-पराजितात् परिषदं आवजित'' (कौशिकसूत्र ४ । २ )

तत्र प्रथमा !!

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।

ययां सपत्नीं बार्यते ययां संविन्दते पतिस् ॥ १ ॥

इमाम् । खनामि । त्रोपधिम् । वीरुधाम् । वलवत्ऽतमाम् ।

यया । सऽपत्नीम् । बाधते । यया । सम्ऽविन्दते । पतिम् ॥१॥

इमास् पाठारूयास् ऋोपधीं वीरुधाम् । विरोहन्तीति वीरुधः लतारूपा त्रोपधयः। तासां मध्ये बलवत्तमाम् स्वकार्यकरणे त्रति-श्येन बलवती खनामि खननेन संपादयामि। यया श्रोपध्या सपत्नीम् । समानः एकः पतिर्यस्याः सा सपत्नी । 🛞 "नित्यं सपत्न्यादिषु" इति ङीप् नकारान्तादेशश्च 🕸 । तादृशीं वाधते हिनस्ति । 🛞 "यद्भृत्यानिनत्यम्" इति निघातमतिषेधः 🛞 । यया च त्रोषध्या पतिम् भर्तारं संविन्दते सम्यक् असाधारएयेन लभते ताम् इमाम् श्रोषधीष् इति संबन्धः ॥

जिस अौपधिसे सौतोंको बाधा दीजाती है और (स्त्री) जिस अौपिधसे पतिको असाधारणरूपमें पाप्त करती है उस औषिधयों में परमबलवती पाठाको में खोदनेके द्वारा प्राप्त करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

उत्तांनपर्णे सुभंगे देवंजूते सहस्वति । सपतीं मे परा णुद पति मे केवंलं कृधि ॥ २ ॥

उत्तानऽपर्णे । सुऽभंगे । देवंऽजूते । सहस्वति ।

सऽपत्नीम् । मे । परा । जुदु । पतिम् । मे । केवलम् । कृधि ॥२॥

हे उत्तानपर्णे उत्तानानि ऊर्ध्वमुखानि पर्णानि पत्राणि यस्या-स्तादृशि हे सुभगे सौभाग्यहेतुभूते हे देवज्रते देवेन स्नष्ट्रा प्रेरिते। यद्वा देवेन इन्द्रादिना प्राप्ते। "पाठाम् इन्द्रो व्याश्माद् असुरेभ्य-स्तरीतवे" [२. २७. ४] इति हि निगमः। हे सहस्वति अभि-भवनवति ईदृशे हे पाठे मे मम सपत्नीं परा जुद पराङ्मुखीं परेय। पत्युः सकाशाद्व दूरं गमयेत्यर्थः। ततश्च मे मम पति केवलम् असाधारणं कृषि कुरु। अ "श्रुष्टृणुपृकृष्टभ्यश्चन्द्रसि" इति हेधिरादेशः अ।।

हे ऊर्ध्वग्रुख पत्ते वाली, सौभाग्यकी कारणभूत स्रष्टासे मेरित, इन्द्र आदिसे प्राप्तकी हुई तिरस्कार करनेकी शक्ति वाली पाठा नामक ओषधे! मेरी सौतको पराङ्गुखी करके भेज अर्थात् पति के पाससे दूर भेज फिर मेरे पतिको (मेरे लिये) असाधारण कर ॥ २॥

तृतीया ॥

नहि ते नामं जुश्राह नो श्रम्मिन् रंमसे पतौं। परामेव पंरावतं सपत्नीं गमयामसि॥ ३॥

नहि। ते। नाम । जग्राह । नो इति । अस्मिन् । रमसे । पतौ ।

परास् । एव । पराऽवतम् । सऽपत्नीम् । गमयामसि ॥ ३ ॥

हे सपितन ते तव नाम नामधेयमिष ऋहं निह जग्राह न गृह्वामि। ॐ जग्राहेति । ग्रहेः उत्तमे एालि रूपम् ॐ । ऋस्मिन् संनिहिते मदीये पतौ पत्यौ नो रमसे नैव रमस्व । ॐ पताविति । "षष्ठी-युक्तश्खन्दसि वा" इति षष्ठीयोगाभावेषि छान्दसी घिसंज्ञा ॐ ॥ ऋषि च तां सपत्नीं परां परावतमेव । परावत् .इति दूरनाम । ऋतिशयितद्रदेशमेव गमयामिस गमयामः प्राप्यामः ॥

हे सौत ! मैं तेरे नामको भी नहीं लूँगी तू मेरे पतिसे रमण न कर, इस सौतको हम बहुत दूर भेजती हैं।। ३।।

चतुर्थी ॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।

अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ १ ॥

उत्ऽतरा । ग्रहम् । उत्ऽतरे । उत्ऽतरा । इत् । उत्ऽतराभ्यः ।

अधः । सऽपत्नी।या । ममे । अधरा । सा । अधराभ्यः ॥ ४ ॥

हे उत्तरे उत्कृष्टतरे पाठे त्वत्प्रसादाद्ध ग्रहम् उत्तरा उत्कृष्टतरा भ्यासम् ॥ श्रिप च उत्तराभ्यः लोके या उत्कृष्टतराः सन्ति ताभ्योप्यहम् उत्तरेत् । इच्छब्दः श्रवधारणे । उत्कृष्टतरैव भवे-यम् ॥ श्रध श्रनन्तरं मम या सपत्नी विद्यते सा श्रधराभ्यः निकृ-ष्टाभ्योपि श्रधरा निकृष्टतरा भवत ॥

हे श्रेष्ठ पाठे! तेरे प्रसादसे मैं परम श्रेष्ठ होजाऊँ, संसारमें जो श्रेष्ठ हैं उनसे भी श्रेष्ठ होजाऊँ और मेरी जो सौत है वह नीचोंसे भी नीच होजावे॥ ४॥

पश्चमी ॥

अहमंस्मि सहंमानाथो त्वमंसि सासहिः।

## ( १६८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

उमे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

अहम्। अस्म। सहमाना । अथो इति । त्वम्। असि। सासिहः ।।

उभे इति। सहस्वती इति । भूत्वा। सऽपत्नीम् । मे। सहावहै ४

हे पाठाख्ये श्रोषधे श्रहं त्वत्प्रसादात् सहमाना श्रास्म सप-त्न्या श्राभिभवित्री भवाभि ॥ श्रथो श्राप च त्वमपि सासहिरसि शत्रूणाम् श्राभिभवित्री भवसि ॥ ततश्र श्रावाम् उभे श्रापि सहस्वती श्राभिभवनवत्यो भूत्वा मे मम सपत्नीं सहावहे श्राभिभवाव ॥ "श्रहमिस्म" इत्यादिस्काशेषस्य विवादजयकर्मणि विनियोगस्य दिशातत्वात् तद्नुसारेण सपत्नीशब्दस्य विपरिणामेन सपत्नपर-तयापि योज्यम् ॥

हे पाठा नाम वाली अभैवधे! तेरे प्रसादसे मैं सौतको वशमें रख सक्ष्म । तू भी शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाली है। इसलिये हम दोनों दवाने वाली बन कर मेरी सौतको दवावें।। ५।।

पष्टी ॥

अभि तेथां सहमानामुपं तेथां सहीयसीम् । मामनु प्र ते मनो नृत्सं गौरिव धावतु पृथा वारिवः धावतु ॥ ६ ॥

अभि । ते । अधाम् । सहमानाम् । उप । ते । अधाम् । सहीयसीम् । माम् । अनु । म । ते । मनः । वृत्सम् । गौःऽइव । धावतु । पथा ।

वाःऽइव । धावतु ॥ ६ ॥

सहमानाम् अभिभवनशीलाम् इमां पाठाख्याम् आपि हे सपित ते तव शयनस्थानम् अभि अधाम् अभितः सर्वतः शय-नस्य अधःप्रदेशे धारयामि ॥ तथा सहीयसीम् सोदृतमाम् अति-शयेनाभिभवित्रीम् इमाम् ऋोषधिं तेशयनस्थानम् उपअधाम् शय-नस्योपरिदेशे धारयामि ॥ हे सपित ते त्वदीयम् स्रोपधिप्रभावेन वशीकृतं मनः मामनु प्र धावतु अनुसत्य प्रवर्तताम् ॥ तत्र वत्सं गौरिवेत्यादि दृष्टान्तद्वयम् । यथा गौः प्रस्नुतस्तनी स्वकीयं वत्सम् इतस्ततो धावन्तं स्नेहवशाद्ध अनुधावित यथा च वाः वारि उदक पथा निम्नेन मार्गेण स्वभावतो नुधावति तथा। सपत्नी सर्वथा मद-धीनचित्ता भवतु इत्यर्थः॥

#### [इति ] चतुर्थेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

अभिभव करनेकी शक्ति वाली पाठा नामकी श्रोपिथको है सौत! मैं तेरी खाट पर चारों श्रोर रखती हूँ, तथा इस दृढ़-भावसे तिरस्कार करने वाली इस अौषधिको मैं खाटके ऊपर धरती हूँ । हे सौत ! ऋौषधिक प्रभावसे वशमें किया हुआ तेरा मन मेरे अनुकूल (इस प्रकार ) चले दृधको टपकाती हुई गौ इधर उधर दौड़ते हुए वछड़ेके पीछे स्नेहवश दौड़ती है ऋौर जल जिस प्रकार नीचेकी श्रोर स्वभावसे ही दौड़ता है। तात्पर्य यह है, कि-सौतका चित्त सर्वथा मेरे अनुकूल होजावे ॥ ६॥.

चौथे अनुवाकमें तीसग स्क समाप्त (८९)॥

"संशितं मे" इति चतुर्थसूक्तेन परसेनोट्टेजनकर्मणि आज्यं हुत्वा सितपदीम् अजाम् अविं वा संपात्य अभिमन्त्र्य शत्रुसेनां प्रति विसर्जयेत् ॥

तथा संग्रामजयार्थम् अनेन सक्तेन आज्यहोमम् सक्तुहोमम् धतु-रिध्माधानम् इषुसमिदाधानम् राज्ञे अभिमन्त्रितधनुःपदानं च कुर्यात् । "संशतं म इति सितपदीं संपातवतीम् अवस्रजति" इत्यादि

## (१७०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

"प्रदानान्तानि" इत्यन्तं कौशिकसूत्रम् [कौ०२.५]॥
तथा अप्रिचयने उन्नीयमानम् उख्यम् अप्ति "संशितं मे" इति
ब्रह्मा अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने संशितं म इत्युख्यम् उन्नीयमानम्"
इति [वै०५.१]॥

ं महात्रते ऋाजिधावने ''ऋवसृष्टा परा पत'' [ ८ ] इत्यनया ऋवसृष्ट्वाणानुमन्त्रणम् । तथा च वैतानसूत्रे । ''ऋवसृष्टा परा पतिति चतुर्थीम् इषुम् ऋवसृष्टाम् " [ वै० ६, ४ ] इति ।।

"सं शितं में" इस चौथे सक्तसे दूसरेकी सेनाको कँपानेके कर्म में घृतकी ब्राहुति देकर श्वेत पैरोंवाली बकरी वा भेड़को संपा-तित अभिमन्त्रित करके शत्रुसेनाकी ब्रोर छोड़ देय।

तथा संग्राममें विजय दिलानेके लिये इस स्क्रसे घृतहोम सक्तु-होम धनुषरूपी ईंधनका आधान और वाणरूपी समिधाका आधान करे और राजाको अभिमन्त्रित धनुष देवे ॥ इस विषयमें 'संशितं म इति सितपदीम् सम्पातवतीम् अवस्रजति' से 'प्रदानान्तानि' तकका कौशिकसूत्र २ । ५ देखना चाहिये ।

तथा अग्निचयनमें उन्नीयमान उच्य अग्निको 'संशितं मे' से ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इसी वातको वैतानसूत्र ५। १ में कहा है, कि-"संशितं म इति उच्यम् उन्नीयमानम्।।"

महात्रत आजिधावनमें 'अवसृष्टा परापत' इस आठवीं ऋचा से अवसृष्ट बाणका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"अब सृष्टा परा पतेति चतुर्थी इपुम् अवसृष्टाम्" (वैतानसूत्र ६। ४)।।

तत्र मथमा ॥

संशितं म इदं बहा संशितं वीर्यं १ बलम् ।

संशितं चत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामिस पुरोहितः

सम्ऽशितम् । मे । इदम् । ब्रह्मं । सम्ऽशितम् । वीर्यम् । बलम् । सम्ऽशितम् । च्रतम् । व्राप्तम् । व्राप

मे मदीयम् इदं ब्रह्म ब्राह्मणत्वं संशितम् जातिभ्रंशकरदोषपरिहा-रेण सम्यक् तीच्णीकृतं भवतु । तीच्णीकृते हि ब्राह्मणत्वे स्वेन क्रियमाणं शान्तिकपौष्टिकादि कर्म समृद्धफलं भवतीति आदौ तत्प्रार्थना । यद्वा ब्रह्मशब्दो वेदवाची । प्रयुज्यमानमन्त्रात्मकम् इदं ब्रह्म तीक्णीकृतम् । अमोघफलं भवतु इत्यर्थः । 🛞 शो तनू-करणे इत्यस्मात् कर्मणि निष्टा । "शाच्छोरन्यतरस्याम्" इत्त्वम् । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् 🛞 । तथा मदीयं वीर्यम् मन्त्रप्रभावजनितं सामर्थ्यं शारीरं वलं च संशितम् सम्यक् तीच्णीकृतम् अस्तु । तथा मदीयं चत्रम् चत्रियजातिः संशितम् मन्त्रमभावेन तीच्णीकृतं सत् अजरम् जरारहितम् । अत्र शरीरावयवानां सेनावयवहस्त्यश्वादीनां च चयो जराशब्देन विवित्ततः । तद्रहितं जिष्णु जयशीलम् अस्तु । 🛞 अजरम् इति। न विद्यते जरा यस्येति नञो बहुब्रीहों "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । जि जये इत्यस्मात् "ग्लानिस्थश्र ग्ह्यः" इति ग्स्नुपत्ययान्तो जिष्णुशब्दः **%** । कस्माद् एवम् अन्य-गतं फलं प्रार्थ्यत इति तत्राह । येषाम् इति । पूजार्थं बहुवचनम्। यस्य त्तत्रियस्य ऋहं पुरोहितः ऐहिकामुष्मिकसकलश्रेयोविषये पुरस्ताद्ग निहितः अस्मि भवामि । यस्माद्ग एवं पौरोहित्ये वृतोस्मि अतो मदीयस्य राज्ञो जयार्थम् एवं प्रार्थ्यत इत्यर्थः । 🕸 दधातेः कर्मणि निष्ठा । "पूर्वीधरावराणाम्०" इति श्रसिमत्ययान्तः पुरःशब्दः । तस्य च "पुरोव्ययम्" इतिगतित्बाइ "गतिरनन्तरः" इति पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् 🛞 ॥

मेरा यह ब्राह्मणत्व जातिभ्रंशकर दोषके दूर होनेसे भली
प्रकार तीच्ण होवे (ब्राह्मणत्वके तीच्ण होने पर ही किया
हुआ शांति पौष्टिक आदि कर्म समृद्ध फल वाला होता है। अत
एव पहिले उसकी प्रार्थना की है अथवा) यह मन्त्र तीच्ण हो
अमोध फल वाला हो और मन्त्रके प्रभावसे आई हुई शक्ति
और शारीरिक बल भी तीच्ण हो और हमारी चित्रय जाति
भी मन्त्रके प्रभावसे तीच्ण होकर जरारहित हो अर्थात उसकी
सेनाके अवयव हाथी घोड़े आदिका चय न हो और जय
पावे। (दूसरेके लिये ऐसी प्रार्थना क्यों करते हो इसका उत्तर
यह है. कि—) जिस चित्रयका में पुरोहित हूँ अर्थात जिसके इस
लोक और परलोक दोनों लोकोंके कल्याणके कामोंमें में पहिले
किया हुआ जाने वाला पुरोहित हूँ (अतः अपने राजाकी विजय
के लिये ऐसी प्रार्थना करता हूँ)॥ १॥
दितीया॥

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं १ बलंम । वृश्चामि राष्ट्रंणां बाहूननेनं हिवपाहम् ॥ २ ॥

सम्। ब्रहम्। एपाम्। राष्ट्रम्। स्यामि। सम्। ब्रोजः। वीर्युम्। वलम्

वृश्वामि । शत्रूणाम् । वाहून् । अनेन । हृविषा । अहम् ॥ २॥

पूर्वत्र येषाम् इति यच्छव्दिनिर्दिष्टोर्थः एषाम् इति इदमा परामृश्यते। येषां राज्ञां देशे ऋहं निवसामि एषां राष्ट्रम् जनपदं सं
श्यामि सम्यक् तीच्णीकरोमि। धनकनकसमृद्धं करोमीत्यर्थः।
श्र शो छेदने। "श्रोतः श्यिन" इति श्रोकारलोपः श्र । श्रोजः
वलनामैतत्। श्र "उब्जेर्वले बलोपश्च [ उ० ४. १६१ ] इति
श्रमुन्यत्ययस्मरणात् श्रि । येन बलेन क्षेत्रज्ञस्य शरीरे श्रवस्थितिर्भवति तद्द श्रोजःशब्दवाच्यम्। उक्तं हि श्राचार्यः।

क्षेत्रह्नस्य तद् त्रोजस्तु केवलाश्रय इष्यते।
यथा स्नेहः प्रदीपस्य यथाभ्रम् त्रशानित्वषः। इति ॥
तादृशं शरीरदाद्वचिनिमत्तम् श्रोजः तज्जनितं वीर्यम् पराभिभवसामर्थ्यम् अन्यदिष हस्त्यश्वादिलक्षणं वलं च। सं श्यामीति
सम्बन्धः। मन्त्रसामर्थ्येन दृदीकरोमीत्यर्थः ॥ तथा [ अहं ] मदीयस्य राज्ञः शत्रूणां वाहून् अनेन हूयमानेन आज्यसक्त्वादिरूपेण
दृविषः दृश्चामि जिनिश्च। आयुधग्रहणासमर्थान् भ्रष्टवीर्यान् करोमीत्यर्थः। अ त्रोत्रश्च छेदने। तुदादित्वात् शः। तस्य जिन्वात्
"ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम्। विकरणस्वरेण मध्योदात्तः। पादादित्वाद् अनिघातः अ ॥

जिन राजाके देशमें मैं रहता हूँ उनके राज्यको मैं भली प्रकार तील्ला करता हूँ - सुवर्ण आदि धनसे समृद्ध करता हूँ । शरीरको हढ़ रखने वाले ओजको शत्रुओंका तिरस्कार करनेकी शक्तिरूप वलको और हाथी घोड़े आदि सेनाको भी मन्त्रशक्तिसे हढ़ करता हूँ और मैं इस राजाके शत्रुओंकी अजाओंको घृत सन्तु आदि इविसे काटता हूँ अर्थात् आयुध उठानेमें असमर्थ वीर्यरहित करता हूँ हितीया ।।

नीचैः पंद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।

चिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥ नीचैः । पद्यन्ताम् । अधरे। भवन्तु । ये। नः । स्रिप्। मघऽवानम् । प्रतन्यान् ।

चिणामि । ब्रह्मणा । अमित्रान्। उत्। नयामि । स्वान्। अहम् ३

मदीयाः शत्रवः नीचैः पद्यन्ताम् अवाङ्मुखाः पतन्तु । ततश्र अधरे निकृष्टाः पादाक्रान्ता भवन्तु। कीदृशास्ते शत्रव इति उच्यते। नः अस्मदीयं सूरिम् कार्याकार्यविभागः मघवानम् । मघम् इति धननाम । प्रभूतधनयुक्तं राजानं जेतुं ये शत्रवः पृतन्यान् पृतयन्ति पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्ति । ते नीचैः पद्यन्ताम् इति संबन्धः। अ पृतनाशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्"। "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि-लोपः" इति क्यचि प्रतोन्त्यलोपः। तदन्तात् लेटि आद्यागमः अ॥ उक्तप्रयोजनसिद्धये ब्रह्मणा परिष्टदेन अमोघत्रीर्येण मन्त्रेण अमि-त्रानं शत्रून् अहं जिलोमि हिनस्मि। अति जिल्लाम् अपि तु स्वान् स्वकी-यान् राजः उन्नयामि । उत्कृष्टं जयं प्राप्यामीत्यर्थः ॥

जो हमारे कार्य और अकार्यके विभागको जानने वाले धनी राजाको जीतनेके लिये सेनाको एकत्रित करना चाहते हैं वे हमारे शत्रु उलटे मुख होकर गिर पड़ें फिर पैरोंसे दवें उक्त प्रयो-जनको सिद्ध करनेके लिये मैं अमोघ वीर्य बाले मन्त्रसे शत्रुओं को चीए करता हूँ और अपने राजाको परमोत्कृष्ट विजय प्राप्त कराता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तीच्णीयांसः प्रशोरुक्षेस्तीच्णतंरा उत ।

इन्द्रस्य बज्जात् तीच्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ४

तीचणीयांसः । पर्शोः । अग्नेः । तीचणऽतराः । उत ।

इन्द्रस्य । वर्जात् । तीच्रणीयांसः । येषाम् । अस्मि । पुरःऽहितः

येषां राज्ञाम् अहं पुरोहितः अस्मि ते राजानः परशोः वृत्त-दछेदनसमर्थात् निशितधारात् तीत्त्णीयांसः अतिशयेन तीद्याः

शत्रुवलच्छेदनसमर्था भवन्तु ॥ तथा अग्नेः विश्वदहनसमर्थादिष तीच्णतराः अतिशयेन तीच्णाः । चणमात्रेण कृत्सनं शत्रुवलं दम्धुं समर्था भवन्तु इत्यर्थः । उतशब्दः अप्यर्थे । स च भिन्नक्रमो योजितः ।। तथा इन्द्रस्य वज्रात् । स खलु दृत्रासुरादिहनने शिलोच्चयपत्तच्छेदनादौ च श्रकुिएठतशक्तित्वेन प्रसिद्धः। ततोपि तीच्णीयांसः अतिशयेन तीच्णा निशिताः । अपितहतगतयो भवन्तु इत्यर्थः ॥

मैं जिन राजाका पुरोहित हूँ वह राजा शत्रुकी सेनाको काटने के लिये दुत्तको काटने बाले फरसे भी अधिक तीच्एा होजावें और सम्पूर्णसंसारको जलानेमें समर्थ अग्निसे भी अधिक तीच्ए होजावें अर्थात् चणमात्रमें ही शत्रुसेनाको भस्म कर सकें अौर इन्द्रका वज्र द्वत्रासुरको मारनेमें और पर्वतोंके परोंको काटनेमें भी अकुिएठत शक्ति वाला प्रसिद्ध है हमारे राजा उससे भी तीच्या होजावें, अकुएिटत गति वाले होजावें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि । एषां चत्रमजरमस्तु जिष्णवे ३ षां चित्तं विश्वेवनतु देवाः एवाम् । अहम् । आयुधा । सम् । स्यामि । एवाम् । राष्ट्रम् । सुऽवीरम् । वर्धयामि ।

एषाम् । त्तत्रम् । अजरम् । अस्तु । जिष्णु । एषाम् । वित्तम् । विश्वे । ऋवन्तु । देवाः ॥ ५ ॥

[ अहम् ] एषाम् अस्मदीयानां राज्ञाम् आयुधां आयुधानि बाण-

## (१७६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

खड्गकुन्तादीनि सं श्यामि सम्यक् तीच्णीकरोमि ॥ एपां राष्ट्रम् राज्यं सुवीरम् शोभनवीरोपेतं वर्धयामि समृद्धं करोमि । अ सु-वीरम् इति "वीरवीयौं च" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् अ ॥ अपि च एपां राज्ञां चत्रं चतात् त्रायकं वलं चत्रियत्वं वा अज-रम् जरारहितं जिष्णु जयशीलं चास्तु ॥ तथा एपां चित्तम् युद्धो-नमुखं मनः विश्वे सर्वे देवाः अवन्तु रचन्तु ॥

अपने राजाके बाण कुन्त खड्ग आदि आयुर्थोंको में भली प्रकार तीच्ण करता हूँ, इनके राज्यको में वीरोंसे समृद्ध करता हूँ। इन राजाका आपित्तसे बचाने वाला चित्रयत्वरूप बल जरा-रित और विजयशील होवे। और इन हमारे राजाके युद्धोन्मुख मनकी सकल देवता रत्ता करें।। ५।।

उद्धर्भन्तां मघवृन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु

घोषः ।

पृथ्म घोषां उलुलयः केतुमन्त उदीन्ताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतां यन्तु सेनया ॥ ६ ॥
उत्त । हषन्ताम् । मघऽवन् । वाजिनानि । उत् । वीराणाम् ।
जयताम् । एतु । घोषः ।

पृथेक् । घोषाः । उल्लुलयः । केतुऽमन्तः । उत् । ईरताम् । देवाः । इन्द्रेऽज्येष्ठाः । मुरुतः । यन्तु । सेनया ।। ६ ॥

षष्ठी । हे मधवन् धनवन्निन्द्र त्वत्मसादाद्व वाजिनानि वलानि इस्त्यश्वरथादीनि युद्धविषये उद्धर्षन्ताम् उत्कृष्टहर्षयुक्तानि भवंतु ॥ तथा जयताम् जयं प्राप्तुवताम् अस्मदीयानां वीराणां श्र्राणां जयप्रयुक्तो घोषः सिंहनादाख्यः उदेतु उद्गच्छत् । परश्रोत्राण्यभिभूय वर्तताम् इत्यर्थः । एतदेव वित्रियते पृथग् इति उन्छुलय इति।
अनुकरणशब्दोयम् । उल्लुख इत्येवमात्मकाः केतुभन्तः प्रज्ञानवन्तः
सर्वे प्रज्ञायमाना जयप्रयुक्ता घोषाः पृथक् इतस्ततः उत् ईस्ताम्
उद्गच्छन्तु । अईर गतौ लोटि अदादित्वात् शपो खुक् अ।।

हे धनवान् इन्द्र! आपके प्रसादसे हाथी घोड़े रथ आदि युद्धमें हर्ष पावें तथा विजय पावें हमारे शूरवीरोंका विजयका सिंहनाद होवे। उल्लेख आदि सबको सुनाई देनेवाले जयघोप चारों ओर फैलें ॥ ६॥

सप्तमी ॥

प्रेता जयंता नर उग्रा वः सन्तु वाहवंः ।

तीच्णेषवीबलधंन्वनो हतोत्रायुंधा अबलानुप्रबाहवः ७

म । इत । जयत । नरः । उग्राः । वः । सन्तु । वाहवः ।

तीच्एाऽइपवः । अवलऽधन्वनः । हत । उग्रऽत्रायुधाः । अवलान् ।

उग्रऽबाहवः ॥ ७ ॥

सप्तमी । इन्द्रज्येष्ठाः इन्द्रो ज्येष्ठः श्रेष्ठः स्वामी येषां तथाविधा मरुतो देवा युद्धे षु अस्माकं साहायकम् आचिरतुं [ सेनया ] स्वस्वसेनया सार्ध यन्तु प्राप्तुवन्तु ॥ हे नरः नेतारः अस्मदीया भटाः प्रेत प्रक्रम्य युद्धभूमि गच्छत । ततो देवैरतुगृहीताः शत्रून् जयत ॥ वः युष्माकं तीच्णेषवः निशितवाणाद्यायुधोपेता बाहवः उग्राः उद्दुगूर्णवलाः शत्रुपहरणसमर्थाः सन्तु भवन्तु ॥ ततो यूयम् उग्रायुधाः निशितनिस्त्रिशवाणाद्यायुधोपेताः अत एव ज्यबाहवः

### (१७८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

उद्गूर्णहस्ताः सन्तः अवलधन्त्रनः वलरहितधनुराद्यायुधोपेतान् अत एव अवलान् वलशून्यान् हत हिंस्त । पश्चत्वं प्रापयतेत्यर्थः । क्ष हन्तेर्लोणमध्यमबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक् । "अनुदात्तो-पदेशः" इत्यादिना अनुनासिकलोपः क्ष ॥

पदेश॰" इत्यादिना अनुनासिकलोपः % ॥
इन्द्र जिनमें वड़े हैं वे मरुद्देवता युद्धमें हमारी सहायता करनेके
लिये अपनी सेनाके साथ आवें। हे हमारे सैनिकों!तुम युद्धभूमिकी
ओर भपटो। और देवताओं से अनुग्रह पाकर शत्रुओं को जीतो।
तीच्ण बाण आदि आयुधों से सम्पन्न तुम्हारी अजायें शत्रु पर
महार करनेमें समर्थ होवें। तव तुम तीच्ण बाण तलवार आयुधों
को धारण कर अतएव मचण्ड अजा वाले होकर बलरहित धनुष
वाले अत एव बलशून्य शत्रुओं को भार डालो।। ७।।

ऋष्टमी ॥

अवसृष्टा परां पतु शरंब्ये ब्रह्मसंशिते ।

जयामित्रान् प्र पंचस्व जुह्ये षां वरंवरं माभीषां मोचि

कश्चन ॥ = ॥

अवऽसष्टा । परा । पत् । शरव्ये । ब्रह्मऽसंशिते ।

जय । अमित्रान् । प्र । पद्यस्व । जहि । एषाम् । वरम्ऽवरम् ।

मा । अभीषाम् । मोचि । कः । चन् ।। ८ ।।

हे ब्रह्मसंभिते ब्रह्मणा मन्त्रेण तीच्णीकृते [शरव्ये हिंसाकुशले इषो त्वम् ] अवस्रष्टा अस्माभिर्धनुषो विनिर्मुक्ता परा पत परा-गच्छ शत्रुसेनाभिम्रुखं गच्छ । गत्वा च तान् अभित्रान् शत्रून् जय ॥ तत्मकारम् आहम् प पद्यस्वेत्यादिना । मथमं शत्रून् प पद्यस्व पविश ॥ एषां मध्ये वरंवरम् श्रेष्ठं हस्त्यश्वपदातिल्जन्नणं वलं जिह सारय । 🕸 "इन्तेर्जः" इति जादेशः । तस्य "असि-द्धवद् त्रत्रा भात्" इति श्रसिद्धत्वात् हेर्लुगभावः 🕸 ॥ त्रमी-षाम् दूरे दृश्यमानानां शत्रूणां मध्ये कश्चन कोपि वीरो मा मोचि मुक्तो मा भूत् । सर्वोपि त्वया हन्तव्य इत्यर्थः । 🕸 मोचीति । मुच्लृ मोत्तणे इत्यस्मात् कर्मिण माङि लुङि रूपम् । अमीपाम् इति । "एत ईद्धहुवचने" इति ईत्त्वमत्वे 🕸 ॥

इति ] तृतीयकाएडे चतुर्थे तुवाके चतुर्थे सूक्तम् ॥ हे मन्त्रसे तीच्या किये हुए हिंसाकुशल बाण! तू हमारे धनुषसे छुट कर शत्रुसेनाकी त्रोर जा त्रीर जाकरशत्रुत्रोंको जीत।(उन की रीति यह है, कि-) शत्रुओं में प्रवेश कर और उनमें जो श्रेष्ठ श्रेष्ठ हाथी घोड़ा पैदल आदि हो उसका संहार कर । इन दूर दीखते हुए शत्रुत्र्योंमेंसे कोई भी वीर न छूटने पावे ॥ ८ ॥

तृतीयकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ स्क्र समाप्त (९०)॥

"श्रयं ते योनिः" इति सक्तेन निऋतिकर्पणि शर्करामिश्रान् बीहीन् जुहुयात् । "अयं ते योनिरिति [ जीर्णकोष्टाद् ] बीहीन् शर्करामिश्रान्" [कौ० ३.१] इत्यादि कौशिकसूत्रम् ॥

तथा अर्थोत्त्यापनविद्यशमनकर्म णि अनेन सूक्तेन आज्यसमि-दादिभिस्तयोदशभिर्द्रव्येज् हुयात् । तस्मिन्नेव कर्मणि अस्य सूक्तस्य जपं वा कुर्यात् ॥

तथा च कौशिकः। "श्रयं ते योनिः [ ३. २० ] आ नो भर [ ५, ७ ] धीती वा [ ७. १ ] इत्यर्थम् उत्त्थास्यन्तुपद्धीत जपति" इति [ कौ० ५, ५ ]।।

"अयं ते योनिः" इत्यनया श्रारायोरात्मनि वा श्राप्तेः समा-रोपणं क्यात् । स्वितं हि। "अयं ते योनिरित्यरण्योरप्रिं समा-रोपणत्यात्मनि वा"इति [ कौ० ५. ४ ] ॥

## (१८०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सवयज्ञेषु "सोमं राजानम्" [४] इत्यनया भृग्विङ्गरोवि-दश्रतुर त्रार्षेयान् श्रोह्वयेत् ॥

अग्निचयने अनयैव गार्हपत्येष्टकाम् उपधीमानाम् अनुमन्त्रयेत । तथा च वैतानम् । "अयं ते योनिरिति गार्हपत्येष्टकां निधीय-मानाम्" इति [ वै० ५. १ ] ॥

अभिचयने औदुम्बरसिमदाधानानन्तरम् "अमे अच्छा वदेह नः" इति तिस्नः "अर्यमणं बृहस्पितम्" इति द्वे जपेत् । "बाजस्य नु प्रस्वे" इत्यनया वाजप्रस्वीयहोमानुमन्त्रणम् । तथा च वैतानं स्वत्रम् । "उद्ग एनम् उत्तरं नय [६, ५] इति सिमध आधीय-मानाः" [इति प्रक्रम्य ] "चत्वारि शृङ्गा [ऋ० ४, ५८, ३] अभ्यर्चत [७, ८७] इति जपित । "अपने अच्छ इति तिस्नः [२-४] अर्यमणं बृहस्पितम् [७, ८] इति द्वे वाजस्य नु प्रस्वे [८] इति वाजपसवीयहोमान्" इति [वै० ५, २] ॥

'श्रयं ते योनिः' इस सूक्तसे रेता मिले हुए धानोंका होम करे। इसी वातको कौशिकसूत्र ३। १ में कहा है, कि—''श्रयं ते योनिरिति जीर्णकोष्ठाद्ध बीहीन शर्करामिश्रान् ।।—श्रयं ते योनिः सूक्तसे पुराने कोठेमेंसे शर्करा मिले हुए धानोंको निकाल कर होमें"।

तथा अर्थोत्त्थापनकर्ममें इस सूक्तसे घृत समिधा आदि तेरह द्रव्योंसे होम करे। वा इसी कर्ममें इस सूक्तका जप करे।।

इसी बातको कौशिकसूत्र ४ । ४ में कहा है, कि-"अयं ते योनिः (३ । २०) श्रानो भर (४ । ७) धीती वा (७ ।१) इत्यर्थ उत्तथास्यन्तुपदधीत जपित" ॥

'अयं ते योनिः' इस ऋचासे अर्णियोंका अपनेमें वा अग्नि में समारोपण करे। सूत्रमें भी कहा है, कि-''अयं ते योनिरित्य-रण्ययोरित्रं समारोपत्यात्मिन वा" (४।४)॥ सव यज्ञींमें 'सोमं राजानम्' इस चौथी ऋचासे अथर्ववेदको जानने वाले चार ऋषिशिष्योंको बुलावे ।

अग्निचयनके समय रक्ली जाती हुई गाईपत्यकी ईंटका इसी ऋवासे अनुमंत्रण करे ॥ इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-अयं ते ''योनिरिति गाईपत्येष्टकां उपधीयमानां अनुमन्त्रयेत" ॥

अप्रिचयनमें गूलह्की सिमिधा रखनेके अनन्तर "अग्ने अच्छा बदेह नः" इत्यादि तीन ऋचाओंको और "अर्थमणं बृहस्पतिम्" इन दो ऋचाओंको जपे।। "वाजस्य नु प्रसवे" इस ऋचासे वाजपस्त्रीयहोमका अनुमंत्रण करे। इसी वातको वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि—"उद्घ एनं उत्तरं नम (६।५) इति सिमिध आधीयमानाः" (इति प्रक्रम्य) "चत्वारि शृंगाः" (ऋ० ४। ५८।३) अभ्यर्चत (७।८७) इति जपति। "अग्ने अच्छ इति तिस्तः (२–४) अर्थमणं वृहस्पतिम् (७–८) इति दे वाजस्य नु प्रसवे (८) इति वाजपसवीयहोमान्"।।

तत्र प्रथमा ॥

अयं ते योनिर्ऋित्वयो यतो जातो अरोचथाः । तं जानन्तं आ रोहाधां नो वर्धया रियम् ॥ १॥ अयम् । ते । योनिः । ऋत्वियः । यतः । जातः । अरोचथाः । तम् । जानन् । अते । आ। रोह। अर्थ । नः । वर्धया रियम्॥१॥

हे अमे ते तब अयम् अरिश्यिजमानो वा ऋत्वियः ऋतौ गर्भ-प्रहणकाले भवो योनिः उत्पत्तिकारणम् । अ ऋतुशब्दाद्व भवार्थे "अन्दिस घस्"। "सिति च" इति पदसंज्ञया भसंज्ञाया वाषनात् श्रोणिणाभावे यण् अ। यतः यस्मात् योनेः जातः उत्पन्नः सन्

## (१८२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अरोचथाः दीप्यसे । अ छान्दसो लङ् अ । तम् तादृशं योनि जानन् ममेदम् उत्पत्तौ कारणम् इत्यवगच्छन् आ रोह प्रविशा । मा परित्यात्तीः ॥ अथ अनन्तरम् नः अस्माकं रियम् धनं वर्धय समृद्धं कुरु । अ "निपातस्य च" इति अथशब्दस्य सांहितिको दीर्घः । "अन्येषाम् अपि दृश्यते" इति वर्धयेत्यस्य दीर्घः अ ॥

हे अप्रे! यह यजमान वा अरिए तेरी ऋत्विय योनि है अर्थात् गर्भग्रहणके समय होने वाला उत्पिचकारण है। क्योंकि इस योनिसे उत्पन्न होकर तुम प्रदीप्त होते हो। ऐसे अपने उत्पिकारणको जान कर तुम इसमें प्रवेश करो इसको त्यागो मत तदनन्तर हमारे धनको बढ़ाओ ॥ १॥

द्वितीया ॥

अप्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव । प्र णो यच्छ विशां पत धनुदा असि नुस्त्वम्॥२॥

अप्रे । अच्छ । बद् । इह । नः । मृत्यङ् । नः । सुऽमनाः । भव । म । नः । युच्छ । विशाम् । पते । धनुऽदाः । असि । नः । त्वम् ॥२॥

हे अप्रे इह अस्मिन् फले प्राप्तव्ये नः अस्मान् अच्छ वद । अ "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः अ । आभिमुख्येन प्रियं ब्रूहि ॥ तथा पत्यङ् अस्मान् प्रत्यञ्चन् अस्मदिभिमुखं गच्छन् नः अस्माकं सुमनाः शोभनमनस्को भव ॥ हे विशां पते सर्वासां प्रजानां वैश्वानरात्मना पालक । अ "सुवामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठचन्तस्य आमन्त्रितानुप्रवेशाद्व "आमन्त्रितस्य च" इति षष्ठचामन्त्रितसमुदायस्य आष्टिमिकम् अनुदात्तत्वम् अ । हे तादृश् अप्रे नः अस्मभ्यं प्रयच्छ । धनदा इति विशेष्यमाणत्वाद्व अर्थात् अत्र धनानीति संबध्यते। अस्मदपेन्नितानि धनानि प्रदेहि इत्यर्थः ।

यतस्त्वं नः अस्माकं धनदा असि धनानां दाता भवसि । धनानि दातुं समर्थस्त्वमेवासीत्यर्थः ॥

हे अप्रे! इस हमें पाप्त होने वाले फलके विषयमें अभिमुख होकर भिय भाषण करिये। हे वैश्वानररूपसे सब प्रजाओं का पालन करने वाले अप्रे! तुम धन देने वाले हो अतः हमें अभि-लिषत धन दो।। २।।

हतीया ॥ प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पीतः ।

प्र देवीः प्रोत सूनतां र्यिं देवी दंघातु मे ॥ ३ ॥

म । नः । युच्छतु । ऋर्यमा । म । भगः । म । बृहस्पर्तिः ।

प । देवीः । प । उत । स्रवता । र्यिम् । देवी । द्धातु । मे ।। ३ ।।

नः श्रस्मभ्यम् श्रयंमा देवः म यच्छतु यद् दातव्यं धनं तत् सर्व ददातु । अ दाण् दाने । शिष "पाघा०" इत्यादिना यच्छा-देशः अ । भगश्र बृहस्पितिश्र इमाविष देवौ श्रस्मभ्यं धनं म यच्छ-ताम् । अ बृहतां देवानां पितः बृहस्पितः । "तद्बृहतोः करप-त्योः०" इति पारस्करादिषु पाठात् सुट्तलोपौ । "उभे वनस्प-त्यादिषु०" इति उभयपदमकृतिस्वरत्वम् अ । देवीः देव्यः इन्द्रा-णीप्रभृतयः धनम् श्रस्मभ्यं म यच्छन्तु । अ जिस "वा छन्दिसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः अ ।। उत श्रपि च सृतृता पियवागात्मिका देवी सरस्वती रियम् धनं मे मह्मं [ प्रद्धातु ] प्रयच्छतु । अ शोभना चासौ ऋता चेति सृतृता । पृषोदरादित्वाद्व रूप-सिद्धः अ ।।

अर्यमादेवता हमें धन दें, भग और बृहस्पति देवता भी हमें धन दें, इन्द्राणी आदि देवियें हमें धन दें और पियवाणीरूप सरस्वती देवी भी हमें धन दें ॥ ३ ॥ चतुर्थी ॥ सोमं राजानमवसेिमं गीर्भिहेवामहे ।

अवित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृह्म्पतिम् ॥ ४॥

सोमम् । राजानम् । अवसे । अग्रिम् । गीःऽभिः । हवामहे ।

आदित्यम् । विष्णुम् । सूर्यम् । ब्रह्मार्णम् । च । वृहस्पतिम् ॥४॥

राजानम् राजमानम् । यद्वा ईश्वरम् । "सोमोस्माकं त्राह्य-णानां राजा" [तै० सं० १. ८. १०. २] इति श्रुतेः । तादृशं सोषम् अप्तिं च अवसे अभिमतफलमदानेन रत्ताणाय गीभिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भः हवामहे आह्वयामः । तथा आदित्यम् अदितेः पुत्रम् । "मित्रश्च वरुण्श्व" [तै० आ० १. १३. ३] इत्यादि-श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं देवं विष्णुम् त्रैविक्रमं रूपम् आस्थाय सर्वव्या-पिनं देवं सूर्यम् सर्वस्य परेकं मण्डलान्तरवर्तिहिरण्मयपुरुपरूपं देवं ब्रह्माण्म् एषां देवानां सृष्टारं मजापतिं बृहस्पतिम् एषां हित-करणे अवस्थितम् एतत्सं इति संबन्धः ॥

हम ब्राह्मणोंके राजा सोमको और अग्निको श्रिभलिषत फल देकर रत्ना करनेके लिये स्तुतिरूप वाणियोंसे श्राह्मन करते हैं। तथा श्रिदितिके पुत्र तीन पैरोंसे पृथ्वीको नाप लेने वाले व्यापक विष्णुदेवको मण्डलान्तर्वित हिरण्मय पुरुपरूप सर्वप्रेरक सूर्यदेवको और इन देवोंके रचियता प्रजापित ब्रह्मदेवको और इनका हित करनेमें लगे हुए बृहस्पितजीको उक्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिये श्राह्मन करते हैं।। ४।।

पश्चमी ॥

त्वं नो असे अमिमिर्वस यज्ञं च वर्धय।

त्वं ने। देव दार्तवे रियं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

त्वम् । नः । अप्रे । अप्रिऽभिः । ब्रह्म । यज्ञम् । च । वर्षय । त्वम् । नः । देव । दातवे । रियम् । दानाय । चोदय ॥ ५ ॥

हे अप्रे त्वम् अप्रिभिः त्वद्विभूतिरूपैरन्यैरप्रिभिः सार्धे नः श्चरमाकं ब्रह्म मन्त्रमयं स्तोत्रं तत्साध्यं यज्ञं च वर्धय फलसमृद्धं कुरु ।। हे देव त्वं दानवे चरुपुरोडाशादिहवीं वि दत्तवते [ नः ] यजमानाय रियम् धनं दानाय दानार्थं नोदय प्रेरय ॥

हे अपने ! आप अपनी विभूतिरूप अन्य अग्नियों के इमारे मंत्रमय स्तोत्रको उससे सिद्ध होने वाले यज्ञको भी से समृद्ध करिये। हे देव! आप चरु पुरोडाश आदि हवि अर्पण करने वाले इमारे यजमानको धन देनेके लिये प्रेरित करिये ॥५॥

षष्ट्री ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह ह्वामहे ।

यथां नः सर्वे इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानं-

कामश्र नो भुवंत् ॥ ६ ॥

इन्द्रवायू इति । उभौ । इह । सुऽहवा । इह । हवामहे ।

यथा। नः । सर्वः । इत् । जनः । सम्ऽगत्याम् । सुऽमनाः ।

असत् । दान sकामः । च । नः । भुवत् ॥ ६ ॥

इन्द्रश्र वायुश्र इन्द्रवायू । 🕸 "देवताद्वन्द्वे च" इति पाप्तस्य आनङः "उभयत्र वायोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति प्रतिषेधः । 'देवताद्वनद्वे च'' इति उभयपदमकुतिस्वरत्वस्य "नोत्तरपदेनुदा-

तादौ॰" इति प्रतिषेधः। "समासस्य" इति अन्तोदात्तत्वम् अ।
एतत्संज्ञावुभौ देवौ इह अस्मिन् कर्मणि हवामहे आह्यामः।
एतयोरेवाह्वाने कि निमित्तम् इति तद् आह सहवेति। इह अस्मिन्
फलविषये देवेषु मध्ये एतौ देवौ सहवा सहवौ सह्वानौ सुलेन
हातुं शक्यौ। अ ह्वयतेः "बहुलं छन्दिस" इति अनैमित्तिके
संप्रसारणे कृते सुपूर्वाद् अस्मात् "ईपदृदुःसुषु॰" इति खल्।
"लिति" इति प्रत्यात्पूर्वस्योदात्तत्वम्। "सुपां सुलुक्॰" इति पूर्वसवर्णदीर्घः अ। यस्याद् एवं सुह्वानौ तस्माद् आह्वयाम इत्यर्थः॥
यथा नः अस्माकं सर्व इत् सर्व एव जनः सगत्याम् संगमने प्राप्तौ
सुमना असत् शोभनमनस्को भवेत्। न केवलं सौमनस्यमेव
प्रार्थते अपि तु सर्वो जनः नः अस्मभ्यं दानकामश्च दानाभिलाषयुक्तश्च यथा स्रवत् भवेत्। तथा आह्वयाम इति संवन्धः। अ अस्तेभवतेश्च लेटि अडागमः। "भूसुवोस्तिङि" इति गुणाभावः ।।।

इन्द्र और वायु नाम वाले दोनों देवताओं को हम इस कम में आहान करने के लिये बुलाते हैं (इनके बुलाने का कारण यह है, कि-फलदाता देवताओं में इन दोनों को ही सुखसे बुलाया जा सकता है। अतरव) हम इनको बुलाते हैं। जिससे सब मनुष्य हमारी सङ्गति होने पर शोभन मन वाले होवें और सब मनुष्य हमें दान देने की इच्छा वाले होवें इसिलिये हम आपका आहान करते हैं।। ६।।

सप्तमी ॥

अर्थुमणुं बृहस्पितिमिन्दं दानांय चोदय ।

वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७॥

अर्थमणम् । बृहस्पतिम् । इन्द्रम् । दानाय । चोद्य ।

वातम् । विष्णुम् । सरस्वतीम् । सवितारम् । च । वाजिनम् ॥७॥

हे स्तोतः अर्यमादीन् देवान् अस्मभ्यम् [ दानाय ] अभिमत-फलदानाय चोदय स्तुत्या प्रेरय । यथा ते । तुष्टाः अस्मभ्यं धनं भयच्छिन्ति तथा स्तुतिवाक्यैस्तोषयेत्यर्थः ॥ तत्र वाचम् इति सर-स्वतीविशेषणम् वाग्रूपा या सरस्वतीति । एतच नदीरूपायास्तस्या निष्टत्त्यर्थम् । वाजिनम् इति सिवतृविशेषणम् । वाजः अन्नं वेगो वा तद्वन्तं सवितारम् इति ॥

हे स्तुति करने वाले ! आप अर्यमा बहम्पति इन्द्र वाग्देवता-सरस्वती व्यापक विष्णुदेव और वेग तथा अन्नसम्पन्न सूर्यदेव को अभिलिपत फलका दान देनेके लिये स्तुतिके द्वारा मेरित करिये। ७॥

#### अष्टमी ॥

वाजस्य नु प्रस्वे सं बंसूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रियं च नः सर्ववीरं

नि यंच्छ ॥ = ॥

वाजस्य । तु । प्रश्सवे । सम् । बभूविम । इमा । च । विश्वा ।

भुवनानि । श्रन्तः ।

उत । अदित्सन्तम् । दापयतु । प्रजानन् । र्यिम् । च । नः ।

सर्वेऽवीरम् । नि । यच्छ ॥ ८ ॥

वाजस्य अन्नस्य प्रसवे उत्पत्तौ तद्धे तुभूते कर्माण वा नु चिपं वयं सं वभूविम संप्राप्ता अभूम। यदा दृष्टचादिद्वारेण अन्न-

स्योत्पादको देवो वाजस्य पसवः । 🛞 ''सवजवौ छन्दसि वक्त-व्यौ" इति श्रजन्तः सवशब्दः । "थाथ०" इत्यादिना उत्तरप-दान्तोदात्तत्वम् 🛞 ॥ तस्य संप्राप्तव्यताम् उपपादयति इमा चेति । इमा इमानि परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भ्रुवनानि भूतजातानि अन्तः वाजपसवस्य मध्ये वर्तन्ते । "अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते" [तै० स्त्रा० ८. २ ] इत्यादि-श्रुतेः ॥ स च वाजपसवः उक्तलक्तणः प्रजानन् सर्वपाणिहृदय-गतम् अभिपायविशेषं जानन् उत अदित्सन्तम् दातुम् अनिच्छ-न्तमपि पुरुषं दापयतु बुद्धिपेरणेन असमभ्यम् दाने पवर्तयतु । अधित्सन्तम् इति । "सनि मीमाघुरभलभ०" इत्यादिना इसादेशः । ''सस्यार्घधातुके'' इति तत्वम् । ''अत्र लोपोभ्या-सस्य" इति ऋभ्यासलोपः । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदमकृतिस्व-रत्वम् 🕸 ॥ तथा नः अस्माकं रियम् विद्यमानं धनं च सर्ववी-रम् । वीर्याज्जायन्ते इति वीराः पुत्रादयः । सर्वैर्वीरपुरुषैरुपेतं नि यच्छात् नियच्छतु नियमयतु स्रुचिरं स्थापयतु । 🕸 वमेर्लेटि त्र्याढागमः । "इषुगमियमां छः" इति छत्वम् 🛞 ॥

हम अन्नकी उत्पत्तिके कारण कर्म को शीघ ही पाप्त होवें— करें। ये सब दीखते हुए पाणी दृष्टिके द्वारा अन्नको उत्पन्न करने वाले वाजपसव देवके मध्यमें रहते हैं, वह वाजपसव देवता सब पाणियोंके हृदयके अभिपायको जानते हैं अतः वह देना न चाहने वालेकी भी बुद्धिको पेरित कर हमें दान देनेमें पृष्टत्त करें। तथा हमारे विद्यमान धनको भी वीय से उत्पन्न होने वाले सब वीर पुत्र पौत्र आदिमें चिरकालके लिये स्थापित करें।। ।।

नवमी ॥

दुडां मे पंत्र प्रदिशों दुहामुर्वीर्यथावलम् ।

प्रापेयं सर्वा आक्तीर्मनंसा हृदयन च ॥ ६ ॥ दुहाम् । मे । पश्च । मुऽदिशः । दुहाम् । चुर्वीः । यथाऽन्लम् । प्र। श्रापेयम् । सर्वाः । श्राऽक्तीः । मनसा । हृदयेन । च ॥ ह॥

[ पञ्च ] पञ्चसंख्याकाः प्रदिशः प्राच्याद्याश्रतस्रः मध्यं चेति महादिशः मे महां दुहाय् श्रभिमतफलं दुहताम् । 🕸 "बहुलं छन्दिस" इति दुहेः परस्य भादेशस्य अतो रुडागमः । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तशब्दस्य लोपः अः ।। तथा उर्वीः उर्व्यः षट्संख्याकाः मन्त्रान्तरे प्रसिद्धाः । "परमोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्र पृथिवी चाहश्र रात्रिश्चापश्चौषधयश्च" [ स्राप्तव० १. २ ] इति । ता द्युपृथिव्याद्याः वड् उर्व्यः यथाबलम् यथाशक्ति अस्मदपेत्तितं धनं दुहाम् दुहतां प्रयच्छन्तु । दिशाम् उर्वीणां च स्त्रीत्वाद् धेतु-त्वारोपेण दुहेः प्रयोगः ॥ ततश्च अहं सर्वा आकृतीः संकल्पान् प्रापेयम् प्राप्तवानि । 🛞 त्र्याप्तु व्याप्तौ इत्यस्मात् त्र्याशिषि लिङि "तिङचाशिष्यङ्" इति ग्रङ् प्रत्ययः 🕸 । केन साधनेनेति उच्यते । मनसा संकल्पविकल्पहेतुभूतया अन्तः करणदृत्या हृदयेन हृदयोपलि चितान्तः करणेन च । यद्यत् फलजातं संकल्पयामि तत् सर्वे फर्लं मनोव्यापारमात्रेण प्राप्तुयाम इत्याशासे इत्यर्थः ॥

पूर्व अर्वाद चार अरोर मध्यकी एक इस प्रकार पाँच महा दिशाएँ मुक्ते अभिलंषित फल दें तथा आकाश पृथिवी दिन रात्रि जल और औषधि ये इः उर्वियें अपनी शक्तिके अनुसार हमारा चाहा हुआ धन दें † तब मैं संकल्प विकल्पकी हेतु अन्तःकरण-

<sup>†</sup> त्रारवलायनसूत्र १। २ में कहा है कि-''ष्एमोर्वीरंइसस्पान्तु चौश्र पृथिवी चाहश्र रात्रिश्रापश्रौषधयश्र॥-द्यौ पृथिवी दिन रात जल और औषधि ये छः उर्वियें पापसे मेरी रत्ना करें॥"

वृत्तिसे त्रीर हृदयसे जिन सब संकल्पोंको करूँ उन सब फलों को मैं प्राप्त कर लूँ॥ ६॥

दशमी।।
गोसिनं वाचेमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥१०॥
गोऽसिनम्। वाचम्। उद्देयम्। वर्चसा। मा। अभिऽउदिहि।
आ। रुन्धाम्। सर्वतः। वायुः। त्वष्टां। पोषम्। द्धातु। मे॥१०॥

गां सनोति प्रयच्छतीति गोसिनः । ६६ "इन्हिस वनसनर-चिषधाम् इति इन् प्रत्ययः ६६ । गवोपलिच्चितसर्वधनप्रदां वाचम् छहम् उदेयम् उद्यासम् उच्यासम् । ६६ वद व्यक्तायां वाचि । "लिङचाशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ६६ ॥ हे वाग्देवते । त्वं वर्चसा तेजसा मा माम् अभ्युदिहि अभ्युद्धच्छ । अभिमतफलं दातुं मां प्राप्नुहीत्यर्थः ।। "सैषानस्तिमता देवता यद्ध वायुः" इति अत्यन्तरप्रसिद्धः सूत्रात्मा वायुः सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः आ रून्धाम् प्राणात्मना आहणोतु ॥ त्वष्टा देवः मे मम् पोपम् शरीरादेः पुष्टि दघातु धारयतु । प्रयच्छतु इत्यर्थः ॥

[ इति ] तृतीयकाएडे चतुर्थेनुवाके पश्चमं सुक्तम् ॥ समाप्तश्रतुर्थोनुवाकः ॥

गौ आदि सब पकारके धनोंको देने वाली वाणीका मैंने उच्चा-रण किया है अत एव हे वाग्देवते ! तुम तेजसे मुभमें उदित हो अर्थात अभिलिषत फल देनेके लिये आओ । और 'सैपानस्त-मिता देवता यह वायुः ॥ -कभी अस्त न होने वाला देवता वायु है" इस पकार अन्य श्रुतियोंमें प्रसिद्ध सुत्रात्मा वायुदेव सब दिशाश्रोंसे पाणात्मारूपमें आकर मुफ्ते रोकें और त्वष्टा देवता मेरे शरीरको पुष्ट करें ॥ १०॥

तृतीयकाण्डके चतुर्थे अनुवाकमें पंजम स्क समाप्त (९१)॥ चतुर्थे अनुवाक समाप्त॥

पश्चमेनुवाके पश्च स्कानि । तत्र "ये अग्नयः" इति प्रथमं स्कम् । तत्र आद्याभिः सप्तभिः क्रव्यादोपहतगृहगोष्टक्षेत्रादिशान्त्यर्थं मिणधारणहोमादिकमीणि कुर्यात् । तानि च संपातित-पालाशृहक्तमिणवन्धनम् आज्यहोमः पालाशसिमदाधानम् पालाशोन उदश्चनेन उदकहोमः पालाश्याम् उदपात्र्यां यवान् प्रक्षिप्य उदकसहितयवहोमः ॥

तथा अनेन दशर्चेन सर्वेण स्कोन कव्याच्छमने सक्तूदकं कांपीलसमिद्वद्वयेन मथित्वा तं मन्थं पालाश्या दव्यो पत्यृचं जुहुयात्।। तथा वशाशमनकमे िण अनेन स्कोन वशाम् अभिमन्त्र्य ब्राह्म-णाय द्यात् ॥

तथा च कौशिकः। "ये अग्नय इति क्रव्यादोपहते पालाशं बध्नाति। जुहोति। आद्धाति। उदञ्जनेन उदपात्र्यां यदान् अद्भि-रानीयोल्लोपम्। ये अग्नय इति पालाश्या दर्व्या मन्थम् उपमध्य काम्पीलीभ्याम् उपमन्थनीभ्याम्। शमनं च।" [कौ० ५.७] इति॥

तथा वर्षां वा हवींषि वा काकोलूकश्वमानुषादयो गृहीत्वा गच्छेयुः तत्प्रायश्चित्तार्थम् अनेन दशर्चेन स्कू ने आज्यं जुहुयात्। तथा च सूत्रस् । "अथ यत्रैतद्भ वर्षा [ वा ] हवींषि वा वयांसि द्विपदचतुष्पदं वाभिमृश्यावगच्छेयुः ये अग्नयः [ ३. २१ ] नमो देववधेभ्यः [ ६. १३ ]" इत्यादि [ कौ० १३. ३१. ]।।

तथा बृहद्गणेषि आद्याः सप्तर्चः परिगणिताः। ततस्तस्य गण-स्य यत्रयत्र विनियोगस्तत्र सर्वत्र आसां विनियोगो द्रष्ट्रच्यः॥ तथा सोमस्कन्दने ''ये अग्नयः" इति सप्तभिर्मह्मा जुहुयात्। उक्तं वैताने। "यत्र विजानाति ब्रह्मन् सोमोस्कन्" इति प्रक्रम्य "ये [ अप्रनयो ] अप्पस्वन्तिरित सप्तिभिरिभिजुहोति" [ बै॰ ३, ६ ] इति ॥

त्रावसथ्याधाने क्रव्याच्छमनानन्तरं गृहम् आगत्य "ये श्रम्नयः" इति सप्तभिराज्यं जुहुयात् । स्रुत्रितं हि । "अन्तिधः [१२.२.४४] प्रत्यञ्चम् अर्कम् [१२.२.५५] ये अग्नयः [३.२१] नमो देववधेभ्यः" [६,१३] इति [कौ०६.४] ॥

तत्रैव क्रव्यादाग्नेः शमने "हिरएयपागिम्" इत्यादिभिरन्त्या-भिस्तिस्रभिः क्रव्यादग्नौ सक्तुमन्थं जुहुयात् । स्त्रितं हि । "व्या-करोमि [१२, २, ३२] इति गाईपत्यक्रव्यादो समीक्तते" [ कौ० ६, २ ] इति प्रक्रम्य "अन्येभ्यस्त्वा [ १२, २, १६ ] हिरएय-पाणिम् [ ८-१० ] इति शमयति" [ कौ० ६, ३ ] इति ॥

चातुर्मास्ये साकमेधपर्वणि आतिथ्येष्टचनन्तरं ''दिवं पृथिवीम्''
[७] इत्यनया अग्न्युपस्थानं कार्यम् । उक्तं वैताने । ''उदस्य केतवः [१३.२] इत्यादित्यम् उपतिष्ठन्ते । दिच्चणाञ्चो दिवं

पृथिवीम् इत्यन्नीन्" इति [ वै० २. ४ ]।।

पाँचनें अनुनाकमें पाँच सक्त हैं। उनमें 'ये अग्नयः' यह प्रथम सक्त हैं। इसकी पहिली सात ऋचाओं से कव्याद (राज्ञस) से दूषित घर गोठ और क्षेत्रकी शान्तिके लिये मणिधारण और होमधारण आदि कर्म करें। वे कर्म ये हैं—सम्पातित पलाश- उज्जकी मणिका वंधन, घृतहोम, पलाशकी समिधाओं का रखना, पलाशके उद्धानसे जलका होम तथा पलाशकी उद्पात्रीमें (जल-पूर्ण कलशी) में जौंको डाल कर जलसहित जौंका होम !!

तथा इस दश ऋचा वाले पूर्ण स्क्तसे क्रव्याच्छपन कम में सत्तुओं के जलको कवीलेकी दो समिधाओं से मथकर उस मंथका पलाशकी दर्वीसे मत्येक ऋचाके द्वारा होग करे।

इसी प्रकार वशाशमनकप में इस स्क्तसे वशा (वन्ध्या गौ घोड़ी आदि ) का अनुमन्त्रण करके ब्राह्मणको देदेय इसी वात को कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-'ये अग्नय इति क्रव्यादोपहते पालाशं वध्नाति । जुहोति । त्र्यादधाति । उदश्चनेन उदपात्र्याः यवान् अद्भिरानीयोल्लेपम् । ये अग्नय इति पालाश्या दर्व्या मंथं उपमध्य काम्पीलीभ्याम् उपमन्थनीभ्याम् । शमनं च।" (कौशिक-सत्र ५।७)॥

वपा वा हविको काक उल्लू कुत्ता वा मनुष्य आदि लेकर भागें तो इसका पायश्वित करनेके लिये इस दश ऋचा वाले सुक्तसे घृतकी त्राहुति देय। इसी वातको सूत्रमें कहा है, कि-''अथ यत्रैतद् वपां वा हवींषि वा वयांसि द्विपदचतुष्पदं वाभि-मृश्याभिगच्छेयुः ये ऋग्नयः (३ । २१) नमो देववधेभ्यः (६ । १३) (कौशिकसूत्र १३। ३१)॥

तथा बृहद्गणमें भी पहिली सात ऋचात्रोंकी गिनती है। अतएव इस गणका जहाँ २ विनियोग हो तहाँ २ सर्वत्र इसका विनियोग होगा॥

तथा सोमस्कन्दनमें 'ये अग्नयः' इन सात ऋचाओंसे ब्रह्मा ब्राहुति देय । इसी बातको भैतानसूत्रमें कहा है, कि-"यत्र वि-जानाति ब्रह्मन् सोमोस्कन्" इति प्रक्रम्य "ये अग्नयो अप्स्वन्त-रिति सप्तभिरभिजुहोति" ( वैतानसूत्र ३ । ६ ) ॥

त्रावसथ्याधानमें क्रव्याच्छमनके त्रनन्तर घरमें त्राकर पे अग्नयः, इन सात ऋचाओंसे आहुति देय सूत्रमें भी कहा है, कि-'अन्तर्धिः (१२।२।४४) पत्यश्चम् अर्कम् (१२।२।५५) ये अग्नयः (३ । २१) नमो देववधेभ्यः (६ । १३ )" (कौशिक-सत्र ६ । ४ ) ॥

इसी कर्म में क्रव्यादाग्निको शान्त करनेके समय हिरएय-

पाणिम्' इत्यादि अन्तकी तीन ऋचाओं से क्रव्याद अग्निमें सक्तु-मन्थका होम करे । सूत्रमें भी कहा है, कि—''व्याकरोमि (१२।२।३२) इति गाईपत्यकव्यादौ समीचते" (कोशिक-सूत्र ६।२) इति प्रक्रम्य 'अन्येभ्यस्त्वा (१२।२।१६) हिरएयपाणिम् (८–१०) इति शमयति" (कोशिकसूत्र ६।३)

चातुर्मास्यके साकमेध कर्म में आतिथ्येष्टिके अनन्तर 'दिवं पृथिवीम्' इस सातवीं ऋचासे अग्निका उपस्थान करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'उदस्य केतवः (१३।२) इत्यादित्यं उपतिष्ठते। दिच्णाश्चो दिवं पृथिवीम् इत्यग्नीन्' (वैतान-सूत्र २।४)।।

तत्र पथमा ॥

ये अप्तयो अप्स्वं १ न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मस् । य आविवेशोषंधीयों वनस्पतींस्तेभ्यों अपिभ्यों हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥

ये। अग्नयः । अप्ऽसु । अन्तः । ये । हुन्ने । ये । पुरुषे । ये । अश्मेऽसु ।

यः । आऽविवेश । ओषधीः । यः । वनस्पतीन् । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ १ ॥

अप्सु उद्केषु अन्तः मध्ये ये अग्नयः वाडवाद्याः सन्ति ये वा अग्नयो द्वते आवरणस्वभावे मेघे वैद्युतादिरूपेण विद्यन्ते । तत् को द्वतः मेघ इति नैरुक्ताः इति [ नि०२. १६ ] यास्कवच-नाद्ग द्वत्रशब्दो मेघवाची । यद्वा द्वते द्वत्रासुरशरीरे अन्तरव-स्थिता ये अग्नयः सन्ति तथा पुरुषे मानुषशरीरे अशितपीतपरि-

णामहेत्रत्वेन ये अप्रयो वैश्वानरात्मना वर्तन्ते ये वा अप्रयः अरमसु सूर्यकान्तादिशिलासु अन्तर्वर्तन्ते तथा योग्निः स्रोपधीः वीहियवादिरूपाः फलपरिपाकार्थम् त्राविवेश यश्च वनस्पतीन् वृत्तान् त्राविवेश तेभ्यः सर्वजगदनुग्राहकेभ्यः अग्निभ्यः एतत् पदीयमानं हिंदः हुतम् अस्तु दत्तं भवतु ॥ एक एवाग्निः स्ववि-भूतिरूपैरन्यैरग्निभिः कृत्स्रं जगद् अनुप्रविश्य पोपयतीति तस्य वहुत्वेन स्तुतिः । अत एव अग्नीनां प्रधानभूताग्रिशाखात्वं दाश-तय्याम् आस्नातम्। "वया इद् अग्ने अग्नेयस्ते अन्ये" [ ऋ० १. ५६. १ ] इति ॥

जलोंमें जो बड़वानल आदि अग्नियें हैं और आवरण (ढकने) के स्वभाव वाले दृत्र ‡ अर्थात् मेघोंमें जो अग्नि विजली आदिके रूपसे रहती हैं और द्वासुरके शरीरमें जो अग्नियें हैं तथा मनुष्य के शरीरमें खाये पियेको पकाने वालीं जो अगुनि वैश्वानररूपसे रहती हैं, सूर्य कान्त आदि मिणयों के भीतर जो अग्नि रहता है तथा जौं धान आदि औषधियोंमें फलको पकानेके लिये जो अगुनिदेव प्रवेश कर गए हैं और जो अगुनि इन्नोंमें प्रवेश कर गए हैं उन सब जगत् पर अनुग्रह करने वाले अग्नियोंके लिये दी हुई यह हिव प्राप्त हो

द्वितीया ॥

यः सोमं अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयंःसु यो मृगेषु।

‡ एक ही अग्निदेव अपनी विभूतिरूप अन्य अग्नियों के द्वारा सम्पूर्ण जगत्में प्रवेश कर उनका पोषण करते हैं अतः अनेक रूपसे उनकी स्तुति की है। अत एव ऋग्वेदसंहितामें अग्नियोंको मधान अग्निकी शाखा कहा है, कि-"वया इद अग्ने अग्नयस्ते अन्ये<sup>''</sup> ॥ ( ऋग्वेदसंहिता १ । ५६ । १ ) ॥

## (१९६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

य आविवेशं द्विपदो यश्चतुं व्यद्कृतिभ्यां श्राग्निभ्यां हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥

यः । सोमे । ग्रन्तः । यः । गोषु । श्रन्तः । यः । श्राऽविष्टः । वयःऽसु । यः । मृगेषु ।

यः। ब्राडविवेशं। द्विऽपदंः । यः । चर्तुःऽपदः । तेभ्यः। ब्रुग्निऽभ्यः । हतम् । ब्रस्तु । एतत् ॥ २ ॥

सोमे लतारूपे अमृतमयरसपिरपाकाय योग्निः अन्तराविष्टः प्रविष्टः यश्च गोषु । उपलक्तणम् एतत् । गोमिहिपादिषु प्राम्य-पशुषु योग्निः अन्तः प्रविष्टः पक्वं पयः करोति । अ गोष्विति । "सावेकाच्य" इति प्राप्तस्य विभक्तचुदात्तत्वस्य "न गोश्वन्य" इति प्रतिषेधः अ । तथा वयःसु पित्तषु यः अग्निः अनुप्रविष्टः तथा [यो ] मृगेषु हरिणादिषु अनुप्रविष्टः । किं वहुना । योग्निः द्विपदः पादद्वयोपेतान् मनुष्यादीन् [योग्निः ] चतुष्पदः पादन्चतुष्टयोपेतान् अन्यानिप प्राणिनः जाठरात्मना आविवेश । उक्तं हि भगवता ॥

त्रहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहम् त्राश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।

इति [ भ० गी० १५, १४ ] ।। अ दिपद इति । द्वौ पादावस्येति विग्रह्य समासे "संख्यास्त्रपूर्वस्य" इति पादशब्दान्त्यलोपः समासानतः । ततः शिस "पादः पत्" इति पद्धावः । "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्घस्र बहुवीहौ" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । एवं चतुष्पद इत्यत्रापि एवमेव रूपसिद्धः । बहुवीहौ पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् अ। तेभ्य इत्यादि पूर्ववत् ।।

लुतारूप सोममें अमृतमय रसको पकानेके लिये जो अग्नि भीतर घुसे हुए हैं और जो अग्निदेव गौ भैंस आदि ग्राम्य पशुद्रोंमें भीतर प्रविष्ट हुए दुग्धको परिपक्व करते हैं और जो अगुनि पित्तयोंमें हरिए। आदिमें अधिक क्या दो पैर वाले मनुष्य अविमें और चार पैर वाले अन्य सव प्राणियोंमें जाटराग्निके रूपसे प्रविष्ट हैं ‡ यह होमी हुई आहुति उन अग्नियोंके लिये होर वृतीया ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः। यं जोहंबीमि प्तनासु सासहिं तेभ्यां अभिभ्यां हुत-मंस्त्वेतत् ॥ ३ ॥

यः । इन्द्रेण । सऽरथम् । याति । देवः । वैश्वानरः । उत । विश्वऽद्याच्याः।

यम् । जोहवीमि । पृतनासु । सासहिम् । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ३ ॥

यो देवः दानादिगुणयुक्तोग्निः इन्द्रेण सरथम् समानरथम् एकं रथम् आरुह्य याति गच्छति । अनयोः समानरथत्वं च "य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वाम्'' इति [ ऋ० १.१०८.१ ] सन्त्रा-

‡ भगवद्गीता १५ । १४ में कहा है, कि-'त्र्यहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः । प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥-मैं वैश्वानररूपसे सब पाणियोंके शरीरमें स्थित हो भाग और अपानसे संयुक्त होकर चार मकारके अन्नोंको पचाता हूँ ॥"

# (१६८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

न्तरे स्पष्टम् अवगतम् । यथाग्निः वैश्वानरः विश्वनरहितः उत अपि च विश्वदाव्यः विश्वदावसंबन्धी विश्वस्य दाहको दावाग्निः तथा पृतनासु संग्रामेषु सासहिम् अत्यर्थम् अभिभवितारं यस् आथर्वणप्रसिद्धं सांग्रामिकम् अग्नि जोहवीमि जयार्थं चोदि-तैर्हविभिः पुनःपुनर्जु होमि यद्वा युद्धसाहाय्यार्थं पुनःपुनराह्वयामि । अ "हः संप्रसारणम्" "अभ्यस्तस्य च" इति ह्वयतेः संप्रसार-णम् । "गुणो यङ्जुकोः" इति अभ्यासस्य गुणः । "अनुदात्ते च" इति अभ्यस्ताद्युदात्तत्वम् अ । "जेतारम् अग्निं पृतनासु सासहिम्" [ते० सं० ४. १. १०. २ ] इति मन्त्रान्तरम् । तेभ्य इत्यादि गतम् ॥

दान आदि गुणोंसे सम्पन्न जो अग्निदेव इन्द्रके साथ एक रथ पर चढ़ कर चलते हैं † और जो अग्निदेव सम्पूर्ण मनुष्योंके हितकारी (वैश्वानर) होने पर विश्वदाहक दावाग्नि भी हैं और जिन संग्रामोंमें दवाने वाले अथर्ववेदमें प्रसिद्ध साङ्ग्रामिक अग्निको मैं विजयके लिये दी हुई हिवयोंसे वारम्वार पुकारता हूँ उन अग्नियोंके लिये यह आहुति प्राप्त हो ॥ ३॥

या देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृ-

्रह्मन्तेमाहुः ।

यो धीरः शकः परिभूरदाभ्यस्तेभ्या अग्निभ्यां हुतम-

† इन्द्रदेव कौर अग्निदेवका एक रथमें बैठना अन्य श्रुतियोंमें भी प्रसिद्ध है, यथा "य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वाम् ॥—हे इन्द्र और अग्निदेवताओं! तुम्हारा जो विचित्र रथ है" (ऋग्वेद-संहिता १। १०८। १)॥ यः । देवः । विश्वऽद्यत् । यम् । ऊ<sup>•</sup> इति । कामम् । त्राहुः ।

यम् । दातारम् । प्रतिऽगृह्धन्तम् । त्र्राहुः ।

यः । धीरः । शकः। परिऽभूः। ऋदाभ्यः ।तेभ्यः।ऋग्निऽभ्यः। हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ४ ॥

यो देवः दानादिगुणयुक्तः अगि्नः विश्वात् विश्वं सर्वम् अत्ति भत्तयतीति विश्वात् । 🕸 "श्रदोनन्ने" इति विट् प्रत्ययः 🛞 । यम् उ । उशब्दः अवधारणे । यमेवागिन कामम् कामियतारं काम्यमानफलात्मकं वा आहुः कथयन्ति तथा यम् अगि्न दाता-रम् इष्टफलस्य पदातारं प्रतिगृह्धन्तम् प्रतिग्रहीतारं च आहुः कथयन्ति यश्रागि्नः धीरः धीमान् शकः सर्वकार्येषु शक्तः। अ शक्ल शक्तौ इत्यस्मात् स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] रक् अ। परिभूः शत्रूणां परिभविता अदाभ्यः केनचिदपि श्रहिंस्यः । तेभ्य इत्यादि गतम् ॥

जो अप्रिदेव सम्पूर्ण विश्वका भन्नण कर लेते हैं और जिन अग्निदेवको अभिलिषत फलरूप कहते हैं और जिन अग्निदेव को इष्ट फलको देने वाले और ग्रहण करने वाले भी कहते हैं, जो अभिदेव बुद्धिमान् और सव कार्यों में समर्थ है, शत्रुओं को द्वाने वाले हैं च्यौर किसीसे दाव न खाने वाले हैं उन अग्नियों के लिये यह दी हुई आहुति हो ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविद्स्ययोदश भौवनाः पञ्च मानवाः।

#### (२००) अथर्ववेद संहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

व्चोंधसे यशसे सुनतावते तेभ्यो अभिभ्यो हुतम-

यम्। त्वा । होतारम् । मनसा । ऋभि । सम्ऽविदुः। त्रयःऽदशः।

भौवनाः । पश्च । मानवाः ।

वर्चः ऽधसे । यशसे । स्रुनुताऽवते । तेभ्यः । अग्नि ऽभ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ४ ॥

हे अप्ने यं त्वा त्वां होतारम् देवानाम् आह्वातारं मनसा बुद्धचा अभि संविदुः आभिमुख्येन संविदन्ति सम्यक् जानन्ति । 🕸 "विदो लटो वा" इति भेरुसादेशः 🕸 । के पुनस्ते इत्याह । त्रयश्च दश च त्रयोदश । 🕸 "त्रेस्त्रयः" इति त्रिशब्दस्य पूर्वपदस्य त्रयस् त्रादेशः। "संख्या" इति पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् 🕸 । त्रयो-दशसंख्याका भौवनाः । भवन्ति सत्तां लभन्ते अस्मिन् भूतजाता-नीति भुवनः संवत्सरः । 🕸 भवतेरौणादिकः वयुन् पत्ययः 🕸 । तत्संविन्धनश्रेत्राद्या मासा भौवनाः । ते हि संसर्पोहस्पत्यारूयेन अधिमासेन सह त्रयोदश भवन्ति । "अस्ति त्रयोदशो मास इत्याहुः" [ तै॰ सं॰ ६. ५. ३. ४ ] इति हि ब्राह्मणम् । तथा मानवाः मनुना सृष्ट्यादौ कल्पिता वसन्ताद्याः पञ्चर्तवः । हेमन्त-शिशिरयोः समासाभिपायम् एतत् । अ पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति हि ब्राह्मणम् इति यास्कः [ नि० ४. २७ ] 🕸 । यद्वा । "वि-श्वकर्मन् भौवन मां दिदासिथ" [ ऐ० ब्रा० ८, २१ ]। "वि-श्वकर्मा भौवनः स्वात्मनि सर्वाणि भूतानि जुहुवांचकार" [नि० १०. २६ ] इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धा भ्रुवनारुयस्य महर्षेः पुत्रा विश्वकर्भप्रभृतयस्त्रयोदशसंख्याकाः । पंश्च मानवाः निषादपश्चम

अत्वारो वर्णाः । गन्धर्वाष्म्ररसो देवा असुरा रत्तांसि इत्येके। एवमात्मकाः सर्वे त्वाम् अभिसंविदुरिति संवन्धः। तस्मै वर्ची-धसे । वर्चस्तेजः दधाति धारयति प्रयच्छतीति वा वर्चोधाः । 🕸 द्धातेरसुन् प्रत्ययः 🅸 । यशसे यशस्विने । यद्वा व्याप्तु-वते । अ अश्र व्याप्ती इत्यस्माद्ध अशोर्युट् च [ उ० ४. १६० ] इति असुन् युडागमश्र 🛞 । सुनृतावते । प्रियसत्यात्मिका वाक् स्नृता । तद्दते एवंभूताय तुभ्यं तेभ्यः प्रागुक्तभ्यस्त्वद्विभूतिरूपेभ्यः अग्निभ्यश्च । गतम् अन्यत् ॥

हे अप्रे! जिसमें पाणी सत्ताको पाप्त होते हैं उस धुवन अर्थात सम्वत्सरके अवयव तेरह भौवन अर्थात् तेरह महीने +, तथा मनुके द्वारा सृष्टिके अदिमें कल्पना की हुई पाँच ऋतुए‡ भुवन नाम वाले महर्षिके विश्वकर्मा आदि तेरह पुत्र ÷, निषाद जिनमें पाँचवाँ है ऐसे पाँच मानव वर्ण और गन्धर्व अप्सरा देवता श्रौर राज्ञस श्रौर मनुष्य ये पाँच जिन श्रापको, देवतार्श्रो

† तैत्तिरीयसंहिता ६। ५। ३। ४ में कहा है, कि-'श्रस्ति त्रयोदशो मास इत्याहु:।।-तेरहवाँ ( लौंद-ऋधिमास ) है ऐसा कइते हैं" ॥

‡ हेमन्त और शिशिरको एक मान कर पाँच ऋतु कही हैं। यास्क्रमुनि भी निरुक्त ४। २७ में कहते हैं, कि-'पञ्चर्तवः संव-त्सरस्येति ब्राह्मणम् ॥—-पाँच ऋतुएँ है-यह बात ब्राह्मण-ग्रंथों में हैं"।।

े ऐतरेय ब्राह्मण ⊏। २१ में कहा है, कि-"विश्वकर्मन भौवन मां दिदासिथ ॥ हे भ्रवनके पुत्र विश्वकर्मन् ! तू मुभे देना चाहता है" ॥ श्रीर निरुक्त १० । २६ में कहा है, कि-"विश्व-कर्मा भौवनः स्वात्मनि सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार ॥ अवनके पुत्र विश्वकर्मने अपनेमें सब भूतोंकी आहुति दी"।।

### (२०२) अथववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

को आह् वान करने वाला जानते हैं उन तेजधारी यशस्त्री प्रिय सत्य वाणी वाले आपके लिये और पहिले कही हुई आपकी विभूतरूप अग्नियोंके लिये भी दी हुई यह आहु ति पाप्त हो ५ षष्टी ॥

उत्तान्नांय वृशान्नांय सोमपृष्ठाय वेधसे । वैश्वानुरज्येष्ठेभ्युस्तेभ्यो द्यग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥६॥ उत्तर्ज्ञनाय । वृशार्त्र्जनाय । सोमर्ष्युष्ठाय । वेधसे ।

वैश्वान्रऽज्येष्ठेभ्यः। तेभ्यः । अग्निऽभ्यः। हुतम् । अस्तु। एतत् ६

डन्नान्नाय । उन्नाणः सेचनसमर्था द्यभाः । ते हिवरात्मना अन्नं यस्य स तथोक्तः । [तस्मै]। [वशान्नाय] । वशा वन्ध्या गावः । ता अन्नं यस्य तस्मै । सोमपृष्टाय हूयमानः सोमः पृष्टे उपरिभागे यस्य स सोमपृष्टः । तस्मै । वेधसे आहुतिद्वारेण सर्व-स्य जगतो विधात्रे । अविधाने इत्यस्माद् असुन् अ। समर्थते हि ।

श्रग्नो प्रास्ताहुतिः सम्यग् श्रादित्यम् उपितष्ठते । श्रादित्याज्जायते दृष्टिर्दृष्टेरन्नं ततः प्रजाः । इति [ म॰ स्मृ॰ ३. ७६ ] । तेभ्यो वैश्वानरज्येष्टेभ्यः । एक उत्तान्नः । श्रपरो वशान्नः । श्रन्यः सोमपृष्टः । ते सर्वे वैश्वानर-ज्येष्ठाः । विश्वनरिहतो जाठररूपेणावस्थितोऽग्निज्येष्ठः श्रग्रजो येषाम् । स खलु जीवदवस्थायामपि उत्तादिशरीरम् श्रनुप्रविश्य श्रुङ्क्ते । संज्ञपनोत्तरकालम् श्रन्येषाम् श्रग्नीनां भोग इति ज्या-यस्त्वकनीयस्त्वभावः । तेभ्यः इत्यादि गतम् ॥ सेचनसमर्थद्रषभ हविरूपसे जिनके श्रन्न हैं श्रीर वशा जिनका श्रन हैं श्रीर श्राहुति दिया हुश्रा सोम जिनके पृष्ठ श्रथीत् ऊपर रहता है उन श्रग्निदेवके लिये श्रीर श्राहुतिके द्वारा सव जगत्के विधाता † तथा जो उत्तान्न वशान्न श्रीर सोमपृष्ठों में वैश्वा-नररूपसे ज्येष्ठ है उस श्रग्निके लिये (श्रथीत् वह जीवित श्रव-स्थामें भी वैल श्रादिके शरीरमें प्रवेश कर उनका भोग लगाता है श्रीर श्रग्नि संज्ञपनके श्रनन्तर भोग लगाते हैं श्रत एव छोटा बड़ापन हैं) तथा पूर्वोक्त विभूतिरूप श्रग्नियोंके लियेयह श्राहुति प्राप्त हो ।। ६ ।।

सप्तमी ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तिरित्तं ये विद्युतंमनुसंचरित । ये दिन्त्रं १ न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्या अग्निभ्या हुत-मस्त्वेतत् ॥ ७ ॥

दिवम् । पृथिवीम् । अनु । अन्तरित्तम् । ये । दिऽद्युतम् । अनुऽसं-चर्नित ।

ये । दिन्नु । अन्तः । ये । वाते । अन्तः । तेभ्यः । अग्निऽभ्यः । हृतम् । अस्तु । एतत् ॥ ७ ॥

दिवम् द्युलोकं पृथिवीम् भूलोकम् अन्तरित्तं अन्तरा ज्ञान्तं

† मनुस्मृति ३। ७६ में भी कहा है, कि—"अग्नो प्रास्ता-हुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते दृष्टिईष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥—अग्निमें दी हुई आहुति आदित्यको प्राप्त होती है, तब आदित्य (सूर्य) से दृष्टि होती है, दृष्टिसे अन्न होता है लब प्रजाकी उत्पत्ति होती है"॥

### (२०४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यावापृथिन्योर्भध्यविनं लोकं च अनुप्रविश्य ये अग्नयः संचरित । ये च विद्युतम् मेघस्थितां तिहतं विद्योतमानं ज्योतिश्रकः वा अनुप्रविश्य संचरित । ये चाग्नयः लोकत्रयन्यापिकासु दिन्नु अन्तः मध्ये वर्तन्ते । ये च वाते वायौ सर्वजगदाधारभूते सूत्रात्मिन अन्तः संचरित । तेभ्यः इत्यादि गतम् ॥

द्युलोकमें भूलोकमें श्रीर द्युलोक तथा भूलोकके मध्यवर्ती लोक अन्तरित्तलोकमें प्रवेश करके जो अग्नियें विचरण करती हैं और जो मेघमें स्थित विजलीमें और दमकने वाले ज्योतिश्रक में प्रवेश करके जो अग्नियें विचरण करती हैं और जो अग्नियें तीनों लोकोंमें ज्याप्त दिशाओंमें रहती हैं और जो सब जगतके आधारभूत वायु सूत्रात्मामें प्रवेश करके भीतर विचरती हैं उन अग्नियोंके निभित्त यह आहुति हो ॥ ७॥

#### श्रष्टमी ॥

हिरंग्यपाणि सिवतार्मिन्द्रं बृह्स्पति वरुणं मित्रमिम् विश्वां न देवानि क्षिरंसो हवामह इमं ऋव्यादं शमय-न्त्विग्नम् ॥ = ॥

हिरएयऽपाणिम् । सवितारम् । इन्द्रम् । बृहुस्पतिम् । वरुणम् । मित्रम् । श्राग्निम् ।

विश्वान् । देवान् । अङ्गिरसः । हवामहे । इमम् । क्रव्युऽअदम् । शमयन्तु । अग्निम् ॥ = ॥

हिरएयपाणिम् । स्तोत्रभ्यो दातुं हिरएयं पाणौ यस्यसं तथोक्तः हितरमणीयपाणिः हिरएयपाणिः हिरएमयहस्तो वा । कुतश्चित् कार- णात् छिन्नस्तस्य सवितुः हिरणमयो हस्तः प्रतिनिहित इत्याख्या-यिका । श्रत एवान्यत्र आम्नातम्। "हिरएयहस्तो असुरः सुनीथः" [ ऋ ० १. ३५. १० ] इति । ईष्टशं सवितारम् सर्वस्य मेरकं देवम् इन्द्रादीं अ विश्वान् सर्वान् देवान् अिक्सः एतत्सं इकान् महर्षीन् हवामहे त्राह्यामः । यद्वा अङ्गिरसः आङ्गिरसगोत्रजा वयम् इति योज्यम् । ते च आहृताः सवित्रादयः इमं क्रव्यादम् । क्रव्यं मांसम् अत्तीति क्रव्यात् दुष्टोग्निः । 🕸 "क्रव्ये च" इमि अदेर्विट् प्रत्ययः **ॐ । ईदृशम् अप्रिं शमयन्तु शान्तं कुर्वन्तु ।।** 

स्त्रति करने वालोंको देनेके लिये जिनके हाथमें सुवर्ण रहता है उन सर्वपेरक सूर्यदेवको इन्द्र मित्र वरुण अग्नि इन सब देवतात्र्योंको इम अङ्गिरागोत्रमें उत्पन्न हुए महर्षि बुलाते हैं। वे देवता इस क्रव्याद अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

शान्तो अभिः ऋव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।

अथो यो विश्वदाब्ये १ स्तं क्रब्यादं मशीशमम् ॥ ६॥

शान्तः । अग्निः। क्रव्यऽत्रत् । शान्तः । पुरुषऽरेपणः ।

श्रथो इति । यः । विश्वऽदान्य । तम् । क्रव्यऽश्रदम्। अशीशमम् ॥ ६॥

यः क्रव्यात् उक्तविधः अग्निः स सवित्रादीनाम् अनुग्रहात् शान्तः सुखकरो भवतु । यः पुरुषरेषणः पुरुषस्य हिंसकोग्निः सोपि शान्तः सुखकरो भवतु ॥ अयो अपि च योग्निः विश्वदाव्यः सर्वस्य दाहको दावाग्निः तं क्रव्यादम् मांसभत्तकम् अग्निम् अशी-शमम् शान्तम् अकार्पम् । अ शमेरार्यन्तात् लुङि चङि रूपम् अ।।

### (२०६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मांसको खाने वाले क्रव्याद अग्नि सूर्य आदिके अनुग्रहसे शान्त हों अर्थात सुख देने वाले हों श्रीर जो पुरुषके हिंसक श्रान्त हैं वह भी शान्त हों और सबको जलाने वाला दावानल है उस मांसभत्तक अग्निको भी मैंने शान्त कर दिया है ॥ ६ ॥

दशमी ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आपं उत्तानशीवरीः । वातः पूर्जन्य आद्शिस्ते कृत्यादंमशीशमन् ॥१०॥ वे। पर्वताः । सोमेऽपृष्ठाः । आपः । उत्तानऽशीवरीः ।

वातः। पूर्जन्यः। आत्। अप्रिः। ते। क्रव्युऽअद्म्। अशीशमन् १०

सोमपृष्ठाः सोमः पृष्ठे उपरिभागे येषां तादृशा ये पर्वताः मुझ-वत्त्रभृतयो गिरयः सन्ति उत्तानशीवरीः उत्तानशयनस्वभावा या श्रापः सन्ति । अ "श्रन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति शीङः ववन्तिप् । "वनो र च" इति ङीब्रेफो । जिस "वा छन्द्सि" इति पूर्व-सवर्णदीर्घः अ । वातादयः मिसद्धाः । श्रात् इति श्रानन्तर्य-वाची । ते सर्वे श्रनुकान्ताः पर्वतादयः कृत्यादम् मांसभक्तकम् उपद्रवकारिणम् श्रग्निम् श्रशीशमन् शान्तम् श्रकृषत । इतः परं नास्माकं भयशङ्का विद्यत इत्यर्थः ॥

[ इति ] तृतीये काण्डे पश्चमेनुत्राके प्रथमं सक्तम् ॥
जिनके ऊपर सोम है उन मुझावन् ऋादि पर्वतोंने उत्तान शयन
करने वाले जलने वायुने तथा मेघने इस उपद्रवकारी मांसभक्तक
अग्निको शान्त कर दिया है ( ऋतः ऋव हमें भयकी शंका
नहीं है )॥ १०॥

तृतीयकाण्डके पञ्चम अनुवाकमें प्रथम स्कू समाप्त (१२)॥

"हस्तिवर्चसम्" इति द्वितीयस्केन तेजस्कामो हस्तिदन्तं स्पृष्टा उपतिष्ठते ॥

तथा हस्तिद्नतमिण्म् अनेन संपात्य अभिमन्त्र्य वध्नीयात् ॥ तद् उक्तं कौशिकेन । "ममाग्ने वर्चः [ ५.३] इति वर्च-स्यानि" [ कौ० २. ३ ] इति प्रक्रम्य "हस्तिवर्चसम् इति हस्तिनं हास्तिदन्तं बध्नाति" इति [ कौ० २. ४ ] ॥

तथा अनेन सुक्तेन पुरोहितो हस्तिनम् अभिमन्त्र्य राज्ञे मातः-पातः पयच्छेत् । तद्भ उक्तं परिशिष्टे । "अथ पुरोहितकर्माणि" इति प्रक्रम्य "वातरंहाः [६. ६२] इत्यश्वम् हस्तिवर्चसम् [ ३. २२ ] इति हस्तिनम्" इति [ प० ४. १ ]।।

''ब्राह्मीं ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च'' इति [ न० क० १७ ] विहितायां ब्राह्मचाख्यायां महाशान्तौ हस्ति-दन्तमिणवन्थनेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं नक्तत्रकल्पे । "हस्ति-वर्चसम् इति हस्तिदन्तं ब्राह्मचाम्" इति [ न० क० १६ ] ॥

तेज चाहने वाला पुरुष 'हस्तिवर्चसम्' इस दूसरे सक्तसे हाथीदाँतको छूकर उपस्थान करे ॥

तथा हाथीदाँतकी मिएको इस सुक्तसे सम्पातन श्रीर अभि-मन्त्रण करके वाँधे।।

इसी वातको कौशिकने कहा है, कि-"ममाप्ते वर्चः (४१३) इति वर्चस्यानि" (कौशिकसूत्र २।३) इति प्रक्रम्य 'हस्ति-वर्चसम् (३।२२) इति हस्तिनो हास्तिदन्तं बध्नाति" (कौशिक-स्त्र २ । ४ )॥

तथा पुरोहित प्रतिदिन प्रातःकाल इस सुक्तसे हाथीका अभि-मन्त्रण करके राजाको देवे । इसी बातको अथर्यपरिशिष्टमें कहा है, कि-"अथ पुरोहितकर्माणि" इति प्रक्रम्य "वातरंहा (६।६२)-

# (२०८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य भाषानुवादसहित

इत्यश्वं हस्तिवर्चसम् (३।२२) इति हस्तिनम्" इति (परि-शिष्ट ४।१)॥

"ब्राह्मी ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च ॥ - ब्रह्मतेज चाहने वालेके लिये तथा वस्त्र और शय्याके अग्निसे जलने पर ब्राह्मी महाशांतिको करें" इस नत्त्रवरूप १७ से विहित ब्राह्मी नाम वाली महाशांतिमें हाथी दाँतके मिणवन्धनमें यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी वातको नत्त्रवरूपमें कहा है, कि 'हस्तिवर्च-सम् इति हस्तिदन्तं ब्राह्मचाम्" (नत्त्रवरूप १६)॥

तत्र प्रथमाः ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो आदित्या यत् तन्किः संबभ्यं।

तत् सर्वे समदुर्महामेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः १

हस्तिऽवर्चसम् । प्रथताम् । बृहत् । यशः । श्रादित्याः । यत् । तन्त्रः । सम्ऽवभूवं ।

तत्। सर्वे । सम् । ऋदुः । महाम् । एतत् । विश्वे । देवाः ।

श्रदितिः । सङ्जोषाः ॥ १ ॥

हस्तिवर्चसम् । हस्तोस्यास्तीति हस्ती गजः । % "हस्ता-ज्जातो" इति गजजाताविभिधेयायाम् इनिमत्ययः % । तस्य यद्व वर्षः अप्रधृष्यं तेजः तद् .हस्तिवर्चसम् । % "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" इति अच् समासान्तः % । तत् प्रथताम् अस्मासु प्रथितं प्रख्यातं भवतु । % प्रथ प्रख्याने इति धातुः % । कीदृशं तत् हस्तिवर्चसम् इति तद् आह आदित्या इति । अदितिः अखएड- नीया अदीना वा देवमाता । तस्याः तन्वः शरीराद्व यत् बृहत्
महद्व अधिकं यशः प्रख्यातं तेजः संवभूत्र सम्रत्पन्नम् अभवत् ।
तत् एतत् यशः विश्वे सर्वे देवाः तैः सजोपाः समानभीतिः अदितिश्व सर्वे संभूय महां तेजस्कामाय अदुः ददतु प्रयच्छन्तु ।
अड्डदाञ् दाने । छान्दसे लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक् शः।
हाथीमें जो अपभृष्य तेज है वह मुक्तमें प्रसिद्ध हो । अदीना
देवमाता अदितिके शरीरसे जो वड़ा भारी प्रसिद्ध तेज उत्पन्न
हुआ है उस तेजको सब देवता तथा उनकी ही समान प्रसन्न
होकर अदिति मी मुक्त तेज चाहने वालेको देवें ।। १।।

दिनीया ॥ मित्रश्च वरुंण्श्चेन्द्री रुद्रश्च चेततु । देवासी विश्वधायसुस्ते माञ्जनतु वर्चसा ॥ २ ॥

मित्रः । च । वरुणः । च । इन्द्रः । रुद्रः । च । चेततु ।

देवासः । विश्वऽधायसः । ते । मा । अञ्चन्तु । वर्षसा ॥ २ ॥

श्रहरभिमानी देवो मित्रः । वरुणः राज्यभिमानी । इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः स्वर्गाधिपतिः । रोदयित सर्वम् श्रन्तकाले इति रुद्रः
संहर्ता देवः । अरोदेणिलुक् च [ उ० २.२२ ] इति रक् प्रत्ययः
णेश्र लुक् अ । एते सर्वे प्रत्येकं चेततु । श्रनुग्राह्योयम् इति मां
जानातु । अविती संज्ञाने अ । विश्वधायसः विश्वं सर्वं जगद्
दधित पोषयन्तीति विश्वधायसः । अविहहाधाञ्भ्यश्वन्दसि
[ उ० ४. २२० ] इति विश्वशब्दोपपदाद् दधातरसुन् प्रत्ययः ।
णिदित्यनुष्ट्रचेस्तस्य णिद्वद्धावाद् 'भातो युक् चिएकृतोः" इति
युक् अ । विश्वस्य पोषकाः ते पूर्वोक्ता मित्रादयो देवासः देवाः ।
अधि 'श्राज्जसेरसुक्' अ। मा वर्चस्कामं मां वर्चसा काम्यमानेन

# ( २१० ) अथर्वदेसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तेजसा अञ्जन्तु अक्तम् आश्लिष्टं कुर्वन्तु । अ अञ्ज् व्यक्तिम्ल-त्तण [ कान्ति ] गतिषु । "श्रसोरल्लोपः" इति अकारलोपः । "श्रान्नलोपः" अ॥

दिनके अभिमानी मित्रदेवता, रात्रिके अभिमानी वरुणदेवता, परमैश्वर्यसंपन्न स्वर्गके अधिपति देवराज इन्द्र ये सब मुभको अनुग्रह करने योग्य समभों। विश्वका पोपण करने वाले ये मित्र (सूर्य) आदि देवता मुभ तेज चाहने वालेको अभिलपित तेज से संयुक्त करें।। २॥

तृतीया ॥

येनं हुस्ती वर्चसा संबभूव येन् राजां मनुष्ये वि-प्स्वंशन्तः।

येनं देवा देवतामग्रं आयुन् तेन मामुद्य वर्चसाम्रे वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

येन । इस्ती । वर्षसा । सम्ऽवभूव । येन । राजा । मनुष्येषु । अप्ऽस्र । अन्तः ।

येन । देवाः । देवताम् । अग्रे । आयत् । तेन । माम् । अद्य । वर्चसा । अग्ने । वर्चि स्वनम् । कृषु ॥ ३ ॥

येन वर्चसा वलकरेण तेजसा हस्ती गजः संवभूव संप्राप्तो-भवत्। मनुष्येषु मनोरपत्येषु। अ "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" इति मनुशब्दाद् यत् पत्ययः पुगागमश्च। "तित् स्वरितः" इति अन्त-स्वरितत्वम् अ। मनुष्यजातीयेषु मध्ये येन वर्चसा राजा नृपतिः वर्चस्वी भवति। तथा अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये येन वर्चसा

प्राणिनो वर्चस्विनो भवन्ति । यद्वा । आपः इति अन्तरिक्तनाम । अप्स अन्तरित्तलोके अन्तः मध्ये तत्र संचारियाो यत्तगन्धर्वादयः येन वर्चस्विनो भवन्ति । देवाः इन्द्रादयः अग्रे सृष्टचादौ देवताम् देवत्वं देवभावं येन वर्षसा आयन प्राप्तुवन् । हे अप्ने तेन सर्वेण वर्चसा अद्य अस्मिन् काले मां वर्चस्विनम् तेजस्विनं कृशु कुरु। 🕸 वर्चस्विनम् इति । तद्धितरुच्यन्तर्गतस्यापि वर्चसो वर्चसेति प्रन-रुपादानं तेनेति विशेषणसंबन्धार्थम् वाचम् अवोचत् इतिवत् 🕸 ॥

जिस तेजसे हाथी हाथी होता है ऋौर जिस तेजसे राजा मनुष्योंमें तेजस्वी होता है तथा जलोंमें पाणी जिससे वर्चस्वी होते हैं श्रीर अन्तरिचलोकमें यच गंधर्व आदि जिससे तेजस्वी होते हैं ख्रौर इन्द्र ख्रादि देवताख्रोंने सृष्टिके ख्रारम्भमें जिस वर्च से देवत्व पाया है हे अपने ! उस सव वर्चसे इस समय मुक्ते वर्चस्वी करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यत् ते वर्ची जातवेदी बृहद् भंवत्याहुतेः । यावत् सूर्यस्य वर्चे आसुरस्यं च हस्तिनंः। तावंनमे अश्वना वर्च आधंत्तां पुष्करस्रजा ॥४॥

यत् । ते । वर्चः । जातऽवेदः । बृहत् । भवति । आऽहुतेः ।

यावत् । सूर्यस्य । वर्चः । त्र्राष्ट्ररस्य । च । हस्तिनः ।

तावत्। मे । अश्वनः । वर्चः । आ ।धत्ताम् । पुष्करऽस्रजा ॥४॥

हे जातवेदः जातानां वेदितः हे आहुते आहुतिभिर्हूयमानाग्नेते तव बृहत् अधिकं यत् वर्चः तेजो भवति सूर्यस्य सर्वप्रेरकस्य श्रादित्यस्य यावत् यत्परिमाणं वर्चः तेजोस्ति । 🕸 "यत्तदेतेभ्यः

परिमाणे वतुप्"। "आ सर्वनाम्नः" इति आत्वम्। "राजसूयसूर्य०" इत्यादिना सूर्यशब्दः क्यवन्तो निपातितः अ। तथा
आसुरस्य असुराणां संविन्धनो हस्तिनश्च यावद् वर्चोस्ति तावत्परिपाणं वर्चः मे महां पुरस्करस्रजा पद्मस्रगलंकृतौ अश्वना अश्वनौ
देवौ आ धत्ताम् स्थापयताम्। प्रयच्छताम् इत्यर्थः। अ अश्वना
पुस्करस्रजा इत्युभयत्र "सुपां सुलुक्०" इति सुप आकारः अ॥

हे उत्पन्न हुओं को जानने वाले और आहुतियों से बुलाये जाने बाले अग्ने! तुममें जो अधिक तेज होता है और सूर्यमें जितना तेज है उसको कमलों की मालासे अलंकृत अश्विनी-कुमार मुक्तमें स्थापित करें।। ४।।

पश्चमी ॥

यावच्चतंस्र प्रदिश्यज्जर्यावत् समश्नुते । तावत् समैतिवन्द्रियं मिय तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

यावत् । चतस्रः । मुऽदिशः । चर्त्तः । यावत् । सम्ऽत्रश्चते । तावत् । सम्ऽऐतु । इन्द्रियम् । मयि । तत् । हस्तिऽवर्चसम् ॥४॥

चतस्रः चतुःसंख्याकाः प्रदिशः प्रकृष्टाः पाच्याद्याः पहादिशः या-वत्परिमितं व्याप्तुवन्ति । तथा चत्तुः रूपग्राहकम् इन्द्रियं यावत्पर्यन्तं नत्तत्रमण्डलावधि समश्रुते सम्यग् व्यामोति तावत्परिमाणम् इन्द्रि-यम् इन्द्रिस्य परमेशवर्ययुक्तस्य लिङ्गम् असाधारणं चिद्वं समेतु अस्मान् संप्रामोतु ॥ ईदृशं तत् प्रागुक्तं हस्तिवर्चसं पिय भवतु ॥

चार दिशायें जितने स्थानको घेरती हैं, रूपको देखने वाला नेत्र नत्तत्रमण्डल तकके जितने स्थानको व्याप्त करता है उतने परिमाण वाला परमैश्वर्य युक्त इन्द्रदेवका असाधारण चिन्ह हमको प्राप्त हो, पहिले कहा हुआ हस्तिवर्चस् मुक्तको प्राप्त हो प्र षष्टी ॥

हस्ती मृगाणी सुपदामतिष्ठावीन बभुव हि । तस्य भगेन वर्चेसाभि सिञ्जामि मामृहम् ॥ ६॥

हस्ती । मृगाणाम् । सुऽसदाम् । अतिस्थाऽवान् । वभूव । हि ।

तस्य । भगेन । बर्चसा । श्रमि । सिश्चामि। माम् । श्रहम् ॥६॥

सुपदाम् । सुखेन सीदिन्त स्वेच्छ्या वर्तन्त इति सुपदः ।

अ "सत्सिदिष्ठ" इति निवण् । "सिद्रिपतेः" इति पत्वम् अ ।

स्ररण्ये स्वेच्छ्या वर्तणानानां मृणाणाम् हरिणादीनां मध्ये हस्ती
वनगजः स्रतिष्ठावान् वलातिश्येनातिकम्य स्रवस्थाता वभूव [हि]।

अ स्रतिष्ठ्वात् तिष्ठतेः "स्रातो मिनन्वविन्वविनपश्र" इति । विनिष्
नलोपाभावरञ्जान्दसः अ । यदा स्रतिक्रम्य स्रवस्थानम् स्रतिष्ठाः
तद्दान् । अ "स्रातश्रोपसर्गे" इति भावे स्रङ् । ततो मतुण् ।

"उपसर्गात् सुनोति॰" इति पत्वम् अ । तस्य तथाविथस्य हस्तिनः
भगेन भजनीयेन भाग्यरूपेण वा वर्षसा तेजसा वलादिना माम्
स्रह्म स्रभि पिश्रामि । एकस्यैव स्रस्पदर्थस्य शरीराद्युपाधिभेदेन भेदात् कर्मकर्तृभावः ।।

[ इति ] पश्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

वनमें स्वेच्छापूर्वक घूमने वाले हरिए आदिमें हाथी बलमें अधिक होनेसे इन सबके ऊपर रहता है, हाथीके उस भाग्यरूप तेजसे मैं अपनेको अभिषिक्त करता हूँ ॥ ६॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय स्क समाप्त ( ९३ ) ॥

"येन वेहद् बभूविथ" इति तृतीयसूक्तेन पुंसवनकर्मणि बाणम् अभिमन्त्र्य स्त्रिया मूर्धिन वितृहेत् ॥

## ( २१४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा शरमणि संपात्य अभिमन्त्र्य वध्नीयात ॥

तथा [ फाल ] चमसे सरूपवतसाया गोर्दुग्धे ब्रीहियवौ मित्तप्य त्रालोडच अध्यण्डे विष्टतेत् ॥

तथा पलागविदायों एकत्र पिष्टा अनेन सूक्तेन अभिमन्त्र्य दिचाणेनांगुष्टेन स्त्रिया दिचाणस्यां नासिकायां नस्यं कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "पुंसवनानि रजउद्दासायाः पुंनत्तत्रे येन वेहद्द इति वाणं सूर्धिन विद्यहति" इत्यादि [ कौ० ४. ११ ] ॥

'येन वेहर् बभूविथ' इस तृतीय स्क्तसे पुंसवनकर्ममें वाणको अभिमंत्रित कर स्त्रीके शिर पर लगावे।।

इसी प्रकार इस स्करो घृतकी आहुित देकर शरमिका सम्पातन और अभिमंत्रण करके वाँधे ॥ फालके वने चमसमें सरूपवत्सा गौके दृधको रख उसमें धान और जौको डाल आलोडन करके अएडों पर वाँधे ।

तथा पलाश और विदारीकन्दको एक स्थान पर पीस कर स्त्रीके दाहिने नथनेमें नस्य (हुलास) देवे॥

सूत्रमें भी कहा है, कि-" पुंसवनानि रज उद्दासाया पुंन-क्षत्र येन वेहत् इति वाणं मूर्धिन विष्टहति" इत्यादि (कौशिक-सूत्र ४। ११)।

तत्र प्रथमा ॥

येनं वेहद् बसूविथ नाशयांमिस तत् त्वत् । इदं तद्न्यत्र त्वद्पं दूरे नि दंध्मिस ॥ १ ॥ येनं । वेहत् । बसूविथ । नाशयांमिस । तत् । त्वत् । इदम् । तत् । अन्यत्रं । त्वत् । अपं। दूरे । नि । दुध्मिस ॥ १॥ येन वन्ध्यात्वापादकेन पापेन तज्जन्यरोगादिना वा हे नारि वेहत् गर्भघातिनी वन्ध्या वभूविथ भवसि । अ छान्दसो लिट् अ । तत् पापादिकं त्वत् त्वत्तः सकाशाद् नाशयामिस नाशयामः ग्रपहन्मः । इदं तत् नष्टसजातीयं वेहत्त्वापादकं पापरोगादिकं पुन-र्यथा त्विय नोत्पद्यते तथा त्वत् त्वत्तोन्यत्र द्रे द्रदेशे ग्रप नि द्ध्यसि अपनिद्ध्मः ग्रपत्तिपामः । अ "इदन्तो मिसः" अ ॥

हे नारि ! तू जिस वन्ध्यापन देने वाले पापसे वा पापसे जत्पन्न हुए रोगसे गर्भघातिनी वंध्या होरही हैं । उस पाप आदिको हम तुम्मसे अलग करते हैं । और यह गर्भको नष्ट करने वाला पापरोग आदि फिर उत्पन्न न हो इस प्रकार इसको द्र फैंकते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् वाण इवेषुधिम् । आ वीरोत्रं जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

त्रा । ते । योनिम् । गर्भः । एतु । पुमान् । वार्णःऽइव । इषुऽधिम् । स्रा । वीरः । स्रत्र । जायताम् । पुत्रः । ते । दशंऽमास्यः ॥ २ ॥

हे स्नि ते तब योनिम् पजननस्थानं पुमान् पुंस्त्वोपेतो मर्भ ऐतु त्र्यागच्छतु । तत्र दृष्टान्तः । बाण इवेति । यथा बाणः इषु-धिम् निषक्नं स्ववासस्थानं स्वभावतः प्रामोति तद्वत् । त्र्यनिवा-रितगतिर्गर्भः स्वस्थानं पविशतु इत्यर्थः । अ इपवोत्र धीयन्ते धार्यन्त इति इषुधिः । "कर्मण्यधिकरणे च" इति किपत्ययः । कृदुत्तरपद्मकृतिस्वरत्वम् अ ॥ स च ते त्वदीयो गर्भः [ पुत्रः पुत्रत्वेन परिणातः ] दशमास्यः दश मासान् धृतः तावत्कालभर-

### (२१६) अथर्ववेद संहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

णेन सर्वावयवसंपूर्णः वीरः वीर्येण बलेन उपेतः सन् अत्र अस्मिन् पस्तिकाले आ जायताम् अभिमुखम् उत्पद्यताम् । अ दशयास्य इति। "तम् अधीष्टो भृतो भृतो भावी" "मासाद्व वयसि यत्ख्याँ" इति यत्। "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इति संख्याया उत्तर-पदेन समासः अ।।

हे स्त्री ! जैसे बाण तरकसमें स्वभावतः जाता है, इसी प्रकार तेरे प्रजननस्थानमें पुंस्त्वसे युक्त गर्भ जावे । श्रीर वह तेरा गर्भ पुत्ररूपमें परिणत होकर दश मास तकका हो वीर्यसम्पन्न होकर इस प्रस्तिकालमें उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पुनास पुत्रं जनय तं पुमाननं जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ३
पुनासम् । पुत्रम् । जनय । तम् । पुनान् । अन्ने । जायताम् ।
भवासि । पुत्राणाम् । माता । जातानाम् । जनयाः । च । यान् ३

हे नारि त्वं पुमांसम् पुंस्त्वोपेतं पुत्रं जनय। अनु तस्योत्पन्नस्य पुत्रस्य अनन्तरं पुमानेव जायताम् पुत्र एवोत्पद्यताम् । अ श्यिन ''ज्ञाजनोर्जा'' इति जादेशः अ॥ एवम् अविच्छेदेन जातानां पुत्राणां त्वं माता भवासि भव । अ भवतेर्लेटि आडागमः अ । यांश्र पुत्रान् ततः परं जनया जनये । तेषामि माता भवेत्यर्थः । अ जनया इति । जनेएर्यन्तात् लेटि आडागमः । ''जिन जूष्त्रन-सुरुद्धोमन्ताश्र' इति तदुपथाहस्यत्वम् अ ॥

हे नारि ! तू पुरुषोंके लच्चणसे सम्पन्न पुत्रको उत्पन्न कर और उस पुत्र होनेके पीछे पुत्र ही उत्पन्न होवे, इस प्रकार अनवच्छिन्न ( अट्ट ) रूपसे उत्पन्न हुए पुत्रोंकी तू माता हो, तदनन्तर जिन पुत्रोंको तू उत्पन्न करे उनकी भी तू माता हो ३

यानि भद्राणि बीजान्युवभा जनयन्ति च । तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥ यानि । भद्राणि । वीजानि । ऋषभाः । जनयन्ति । च ।

तैः । त्वम् । पुत्रम् । विन्दस्य । सा । प्रऽस्यः । धेनुका । भव ४

भद्राणि भन्दनीयानि ऋमोघवीर्याणि यानि बीजानि ऋष-भाश्र गोषु जनयन्ति वत्सरूपेणोत्पादयन्ति । तैः तथाविधैरमोघ-वीर्येवींजैः हे नारि त्वं पुत्रं विन्दस्व लभस्व। 🕸 विद्लु लाभे। स्वरितेन्वाइ त्रात्मनेपदम् । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् 🛞 ॥ सा त्वं पसूः पसूता सती धेनुका भव । धेनुरेव धेनुका । स्वार्थिकः कः । धेनुवत् सपुत्रा वर्धस्त्र । मृतापत्या मा भूरित्यर्थः ॥

वृषभ जिन अमोघ वीर्योंको गौओंमें बबड़ेके रूपसे उत्पन्न करते हैं, तैसे अमोघ वीयोंंसे हे नारि ! तू पुत्रको माप्त कर। इस मकार मसव करती हुई त् धेनुकी समान पुत्रसहित दृद्धिको माप्त हो, स्तवत्सा न हो ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनि गर्भ एत ते । विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसुच्छमु तस्मै त्वं भवं कुणोमि । ते । प्राजाऽपत्यम्। श्रा । योनिम् । गर्भः । एतु । ते। विन्दस्व । त्वम् । पुत्रम् । नारि । यः । तुभ्यम् । शम् । असत् ।

# (२१८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

शम्। ऊ इति । तस्मै । त्वम् । भवं।। ५ ॥

हे नारि ते तव माजापत्यम् प्रजापितना ब्रह्मणा निर्मितं प्रजोत्प-त्तिकरं कर्म कृणोमि करोमि । ॐकृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृ-एव्योर च" इति उपत्ययः अकारश्चान्तादेशः । तस्य अतो लोपे सित स्थानिवज्ञावात् लघूपधगुणाभावः । प्रजापितशब्दात् पत्यु-त्तरपदलक्तणो एयः ॐ । ते यव योनिम् गर्भाशयस्थानं गर्भः ऐतु अभिगच्छतु । ततस्त्वं पुत्रं विन्दस्व लभस्व । कीदृशः स पुत्र इति विश्विनष्टि । यः पुत्रः तुभ्यं शम् असत् सुखहेतुर्भवेत् । तस्मै पुत्राय त्वमिप शं सुखहेतुः भव । भवसीत्यर्थः । तं पुत्रम् इति संबंधः

हे नारि ! मैं तेरे अर्थ प्रजापित ब्रह्माजीके निर्मित प्रजोत्पित्त-कर कर्मको करता हूँ तेरे गर्भाशयस्थानमें गर्भ प्राप्त हो । तब जो तुभे सुख दे और तू जिसको सुख दे तैसे पुत्रको प्राप्त कर ५ पृष्ठी ॥

यासां द्योः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधी बभूवं तास्त्वा पुत्रविद्याय देवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । वीरुथाम् । वभूव ।

ताः । त्वा । पुत्रऽविद्याय । दैवीः । म । अवन्तु । ओपधयः ६

यासां वीरुधाम् विरोहणस्वभावानाम् त्रोषधीनां द्यौः द्युलोकः पिता दृष्टचुदकलत्तणरेतःसेकेन जनयिता [ वभूव ] भवति । तादृशस्य रेतसो धारणेन पृथिवी [ यासां ] माता जनयित्री भवति । समुद्रः समुन्दनशीलः जलराशिरेव यासाम् उत्पत्तौ उत्पन्नानां च दृद्धौ मूलम् मूलकारणं भवति । ता देवीः दानादि- गुरायुक्ता देवतारूपा वा त्र्योषधयः पुत्रविद्याय पुत्रलाभाय त्या त्वां प्रावन्तु प्रकर्षेण रत्तन्तु । 🕸 देवीरिति । "वा छन्दसि" इति जिस पूर्वसवर्णदीर्घः 🕸 ॥

[ इति ] पश्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जिन ऊपरको चढ़नेके स्वभाव वाली श्रीषधियोंका घुलोक पिता है अर्थात् दृष्टिजलरूप वीर्यका सेचन करनेसे पिता है। अगैर तैसे वीर्यको धारण करनेसे पृथ्वी जिनकी माता है अगैर जलराशि जिनकी दृद्धिमें दृद्धिका मूलकारण होती है वे देवता-रूप औषधियें पुत्रलाभके लिये पकृष्टरूपसे तेरी रत्ना करें ॥६॥

पञ्चम अनुवाकमें तीसरा सुक्त समात ( ६४ )॥

''पयस्वतीः'' इत्यस्य धान्यसमृद्धिकर्मस्र विनियोगः । ''पयस्व-तीरिति स्फातिकरणं शान्तफल॰" इत्यादि "आ भक्तयातनाइ अनुमन्त्रयते" इत्यन्तं सूत्रं द्रष्टव्यम् [ कौ० ३. ४ ] ॥

"पयस्वतीः" इत्याद्यया पितृमेधकर्मणि शवदाहानन्तरं स्नानं कुर्यात् ॥

"पयस्वतीः" सूक्तका धान्यसमृद्धिकर्ममें विनियोग है। इस विषयमें "पयस्वतीरिति स्फातिकरणं शान्तफल०" से "त्रा भक्तयातनाद्ग् अनुमन्त्रयते" तकका कौशिकसूत्र ३ । ४ देखना चाहिये ॥

पितृमेधकर्ममें शवदाहके अनन्तर 'पयस्वतीः' इस पहिली ऋचासे स्नान करे॥

तत्र प्रथमा ॥

पर्यस्वतीरोषंधयः पर्यस्वन्मामकं वर्चः । अथो पर्यस्वतीनामा भरेहं सहस्रशः ॥ १ ॥ पयस्वतीः । त्र्योषधयः । पयस्वत् । मामकम् । वचः ।

# (२२०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अथो इति । पयस्वतीनाम् । आ । भरे । अहम्। सहस्रऽशः१

श्रोषधयः त्रीहियवाद्याः पयस्वतीः पयस्वत्यः सारवत्यो भव-नतु । % "तसौ मत्वर्थे" इति भसंज्ञया पदसंज्ञाया वाधनाद् रुत्वाभावः % ॥ तथा मामकम् मदीयं वचः वचनं पयस्वत् सार-युक्तं सर्वेरुपादेयं भवतु । % श्रम्भच्छब्दात् शैषिके श्रिणि "तवक-ममकावेकवचने" इति ममकादेशः % ॥ श्रथो श्रिपि च पय-स्वतीनाम् सारवतीनाम् श्रोषधीनां संविन्ध धान्यं सहस्रशः श्रनेकप्रकारेण श्रा भरेयं श्राहरेयम् । संपादयेयम् इत्यर्थः । % "बह्वल्पार्थाच्छस्कारकाद् श्रन्यतरस्याम्" इति सहस्रशब्दात् शस् पत्ययः % ॥

धान जो आदि औषधियें सार वाली हों, तथा मेरा वचन भी सारयुक्त हो अर्थात् उसको सब ग्रहण करें और सार वाली औषधियोंके धान्योंको मैं अनेक मकारसे माप्त करूँ।। १।।

द्वितीया ॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकारं धान्यं बहु । संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अय-ज्वनो गृहे ॥ २ ॥

वेदं। ग्रहम् । पर्यस्वन्तम् । चकारं । धान्यम् । बहु । सम्ऽभृत्वा । नामं । यः । देवः । तम् । वयम् । हवामहे । यःऽयः ।

द्ययंज्वनः । गृहे ॥ २<sup>°</sup>।

पयस्वन्तम् सारवन्तं देवम् अहं वेद जानामि । स देवः धान्यम् त्रीहियवादिकं बहु चकार अधिकं स्फीतं कृतवान् ॥

तथा संभृत्वा संभरणशीलः यत्र कुत्रापि सर्वत्र स्थितस्य सारां-शस्य मधुकरवत् संभर्ता [ नाम ] एतत्संज्ञो यो देवस्तं देवं वयं हवामहे स्तुतिभिराह्यामः । 🏶 संभृत्वेति । संपूर्वाद्व भृञः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिष् । "हुस्वस्य पिति०" इति तुक् 🛞 ॥ अधुना संभर्तव्यं निर्दिशति योय इति । अयज्वनः अकृतयागस्य धनाढचस्य गृहे योयो त्रीहियवगोहिरएकदिरूपः पदार्थोस्ति । तं सर्वम् आहृत्य संभृत्वा नाम देवः अस्मभ्यं प्रय-च्छतु इत्यर्थः । 🕸 अयज्वन इति । "स्रयजोङ्विनिप्" । नन्स-मासे अन्ययपूर्वपद्वज्ञतिस्वरत्वम् 🛞 ॥

सारवाले देवताको में जानता हूँ, वह देवता धान जो आदिको बढ़ाते हैं। वह भौरेकी समान यत्र तत्र स्थित धान्य आदिको एक-त्रित करनेवाले संभृत्वा नामक देवता हैं उनको हम स्तुतियोंसे चुलाते हैं । यज्ञ न करनेवाले धनवान्के घरमें धान जौं गौं सुवर्ण-रूप जो २ धन हो संभृत्वा नामक देव उस सबको एकत्रित कर

मुभको देवें ॥ २॥

वृतीया ॥

इमा याः पत्रं प्रदिशो मानवीः पत्रं कृष्टयः। बृष्टे शापं नदीरियेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥ इमाः । याः । पश्च । प्रऽदिशः । मानवीः । पश्च । कृष्टयः ।

दृष्टे । शापम् । नदीःऽइव । इह । स्फातिम् । सम्ऽत्रावहान् ॥३॥

इमाः परिदृश्यमाना याः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः पाच्याद्याः पश्च सन्ति तथा मानवीः मानव्यः [ मनोः ] सकाशाद्व उत्पन्नाः पञ्च कृष्टयः । मनुष्यनामैतत् । निषादपञ्चमाश्रन्वारो वर्णाः पञ्च-विधा भनुष्याः सन्ति ते सर्वे इह अस्मिन् यजमाने स्फातिम् धन- धान्यसमृद्धि समावहान् समावहन्तु सम्यक् प्रापयन्तु । तत्र दृष्टान्तः घृष्ट इति । देवे वृष्टे वर्षजलं मुश्चिति सित नदीरिव नद्य इव नद-नशीला त्रापो यथा प्रवाहमध्यस्थं शापम् प्राणिजातं वेगेन देशा-न्तरं प्रापयन्ति तद्दद् इत्यर्थः । अ स्फातिम् इति । स्फायी वृद्धौ । त्रस्मात् क्तिनि "तितुत्रं " इति इट्पतिषेधः । "लोपो व्योविलि" इति यक्तारलोपः । समावहान् इति । उपसर्गद्वययुक्ताद् वहेर्लेटि त्राहागमः अ ॥

ये दीखती हुई पूर्व आदि पाँच श्रेष्ठ दिशायें तथा मनुसे उत्पन्न हुए निषाद जिनमें पाँचवाँ है ऐसे पाँच प्रकारके मनुष्य ये सब इस यजमानमें धन और धान्यकी समृद्धिको भजी प्रकार प्राप्त करावें ( उसमें यह दृष्टान्त है, कि—) इन्द्रदेवके वर्षा करने पर निद्यें प्रवाहके बीचमें पड़े हुए प्राणियोंको जिस प्रकार एक देशसे दृसरे देशमें पहुँचा देती है ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

उदुरसं शतधारं सहस्रधारमित्तंतम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमित्तंतम् ॥ ४ ॥ उत्। उत्सम्। शतऽधारम्। सहस्रऽधारम्। अतितम्।

एव । अस्माक । इदम् । धान्यम् । सहस्रं ऽधारम् । अत्तितम् ॥ ।।।। जत्सम् जलोत्पत्तिस्थानं शतधारम् शतसंख्याकाभिरुदकस्य धाराभिर्युक्तम् तथा सहस्रधारम् अपरिमितधारोपेतं सत् अत्तितम् त्तयरिहतम् । उत् इति उपसर्गश्रुतेयोग्यिकयाध्याहारः। उद्भवतीत्यर्थः ॥ एव एवम् [ अस्माक ] अस्माकम् । अ अन्त्यलोप-रव्यान्दसः अ। इदम् परिदृश्यमानं कुस्तलादिस्यं धान्यं सहस्रभारम् अपरिमितधाराभिर्युक्तं बहुपकारेण उपायेन अभिदृद्धं सत् अत्तितम् त्त्यरिहतं भवतु ॥

जलकी उत्पत्तिका स्थान जलकी सैंकड़ों और सहस्रों धाराओं से सम्पन्न होने पर भी त्तयरहित ही उद्गभूत होता है । इसी भकार यह दीखता हुआ कुठिया आदिमें स्थित धान्य अनेक धारोंसे युक्त होने पर भी त्तयरहित रहे ॥ ४ ॥ पश्चमी ॥

शतंहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्य)स्य चेह स्फातिं समावंह ॥ ५ ॥ शतंऽहस्त।सम्ऽत्राहर । सहस्रऽहस्त।सम्। किर्।

कुतस्य । कार्यस्य । च । इह । स्फातिम् । सम्ब्यावह ॥ ५ ॥

हे शतहस्त शतसंख्याकैईस्तैष्पेत देव समाहर । बहुभिस्त्व-दीयैईस्तैर्थनधान्यं समाहत्य प्रयच्छेत्यर्थः ॥ हे सहस्रहस्त इदमपि हेतुगर्भविशेषणम् । यतस्त्वं सहस्रसंख्याकैईस्तैष्पेतः अतस्तैईस्तैः सं किर अस्मासु धनं विचिप । अ कृ विक्षेपे । तुदादित्वात् शः । "ऋत इद्धातोः" इति इत्त्वम् अ । तथा सति [ कृतस्य नि]ष्पन्नस्य कार्यस्य कर्तुम् अईस्य च धनधान्यादेः इह अस्मिन् स्थाने स्फातिम् समृद्धिं समावहम् संप्राप्तोस्मि ॥

हे सैंकड़ों हाथों वाले देव ! अपने सैंकड़ों हाथोंसे धन लाकर हमें दीजिये। हे सहस्रहस्तसम्पन्न देव ! आप सहस्र हाथ वाले हैं अतः उन हाथोंसे धन लाकर हमको दीजिये। किये हुए और किये जाने वाले कार्यकी दुद्धिको सुभे पाप्त कराइये ॥ ५॥

षष्ठी ॥

तिस्रो मात्रा गन्ध्वीणां चतस्रो गृहपत्न्याः । तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ६

# (२२४) अथर्वेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तिस्रः । मात्राः । गन्धर्वाणाम् । चतस्रः । गृहऽपत्न्याः ।

तासाम्। या। स्फातिमत्ऽतमा। तया। त्वा। ऋभि। मृशामसि ६

गन्धर्वाणाम् विश्वावसुप्रभृतीनां संविन्धन्यः तिस्रो मात्राः समृद्धिहेतवः कलाः सन्ति । तथा गृहपत्न्याः पतित्रतायाः । यद्वा जातावेकवचनम् । गन्धर्वाणां संविन्धन्यो या गृहपत्न्यः सन्ति तासाम् अप्सरसां स्वभूता याः चतस्रो मात्राः समृद्धिहेतवः अंशाः । तासां मात्राणां मध्ये या स्फातिमत्तमा अतिशयितसमृद्धियुक्ता तया हे धान्य त्वा त्वाम् अभि मृशामिस अभिमृशामः अभितः संस्पृशामः । अभिमर्शनेन वर्धस्वेत्यर्थः ॥

विश्वावसु आदि गन्धवोंकी समृद्धिकी कारण जो तीन कलायें हैं गन्धवोंकी पत्नी अप्सराओंकी समृद्धिकी कारण जो चार कलायें हैं उन कलाओंमें जो परमसमृद्धिसंपन्न कला है, हे धान्य! उससे हम तेरा स्पर्श करते हैं अर्थात् उसके स्पर्शसे तू वृद्धिको माप्त हो ॥ ६॥

सप्तमी ॥

उपोहश्च समूहश्च च्नारै। ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमचितम् ॥ ७॥ उपऽक्षहः । च । सम्ऽक्षहः । च । च्नारौ । ते । प्रजाऽपते । तौ।इह । आ। वहताम्। स्फातिम्। वहुम्। भूमानम् । अन्नितम् ७

उप समीपम् ऊहित मापयित धान्यादिकं इति उपोहः एतत्संज्ञो देवः । समूहः पाप्तं धनं समूहयित अभिवर्धयतीति समूहकरण-समर्थो देवः समूहः । परस्परसमुच्चयार्थी चकारौ । तावुभौ हे मजापते ते तव जनारौ सारथी अभिमतकार्यसंपादकौ ॥ तौ ताहशौ इह अस्मिन् स्थाने स्फातिम् समृद्धिम् आ वहतम् प्रापय-ताम्। एतदेव विद्यणोति बहुम् इति। बहुम् अनेकपकारं भूमानम् धन-धान्यविषयं बहुभावम् अत्तितम् त्तयरहितम्। एवमात्मिकां स्फातिम् इति संबन्धः । अ भूमानम् इति । बहुशब्दाद्ध इमनिचि "वहो-लोंपो भू च बहोः" इति इमनिच आदिवर्णलोपो बहोर्भूभावश्व अ॥

[ इति ] पश्चमेनुवाके चतुर्थे सक्तम् ॥

धान्यको समीपमें पहुँचाने वाले उपोह नाम वाले देवता और प्राप्त होने वाले धनको वढ़ाने वाले समूह नामक देवता, हे प्रजा-पते! ये दोनों देवता आपके सारथी हैं अर्थात् आपके अभि-लिपत फलको साधने वाले हैं उन दोनोंको आप अनेक प्रकार के ज्ञयरहित धन धान्यकी दृद्धि करनेके लिये लाइये॥ ७॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ स्क समाप्त (९५)॥

"उत्तुदस्त्वा" इति सक्तं जपन् स्त्रीवशीकरणकामः अङ्गुल्या स्त्रियं नुदेत् ॥ तथा अनेन सक्तेन एकविंशति वदरीकण्टकान् घृताक्तान् आदध्यात् ॥

तथा एकविंशतिबदरीपान्तानि सूत्रेण वेष्टियत्वा अनेन सूक्तेन

सकुज्जुहुयात् ॥

एवम् अनेनैव स्कोन कुष्टं नवनीतेन अभ्यज्य त्रिकालम् अशौ प्रतिते ॥

तथा अनेन सूक्तेन खट्वाया अधोम्रखपिटकां गृहीत्वा त्रिरात्रं

स्वप्यात् ॥

तथा अनेन सक्तेन उष्णोदकं त्रिपादे शिक्ये मवध्य अङ्गु-

ष्टाभ्यां मर्दयन् शयीत ॥

तथा लिखितां प्रतिकृतिं सूत्रोक्तलक्ताया इष्वा विध्येत् ॥
तद् उक्तं कौशिकेन । "उत्तुदस्त्वेत्यङ्गुल्योपनुदति । एकविशति प्राचीनकण्टकान् अलंकतान् अनुक्तान् आद्धाति"
इत्यादि "सितालकाण्डया हृदये विध्यति" इत्यन्तम्।[कौ०४.११]॥

# (२२६) अथववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

स्त्रीवशीकरणकी कामना वाला पुरुष 'उत्तुदस्त्वा' इस सक्तको जपता हुआ अंगुलिसे स्त्रीको पेरित करे ॥

इस सूक्तसे घृतमें भीगे वेरके इकीस काँटोंको रक्खे ।। इसी प्रकार इस स्क्तसे कूटको मक्खनमें मिला लेप करके तीन समय अग्निसे तापे ।।

तथा इस स्कार खाटकी नीचेकी मुखकी पट्टीको पकड़ कर

तथा इस सक्तसे गरम जलको तीन लड़ वाले छीके पर रख कर अंगूठेसे मसलता हुआ शयन करे।।

तथा लिखी हुई पितकृतिको सूत्रोक्त इषुसे बाँधे ॥
इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—''उत्तुदस्त्वेत्यङ्गस्योपनुदति । एकविंशति पाचीनकण्टकान् अलंकृतान् अनुक्तान्
आद्धाति" इत्यादि "सितालकाण्डया हृद्ये विध्यति" इत्यन्तम्
(कौशिकसूत्र ४ । ११ )॥

तत्र प्रथमा ॥

उत्तुदस्त्वोत् तुंदतु मा घृंथाः शयने स्वे ।

इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि १

उत्रुदः । त्वा । उत् । तुद्तु । मा । धृथाः । शयने । स्वे ।

इषुः । कामस्य । या । भीमा । तया । विध्वामि । त्वा । हृदि १

उत्तुदित उत्कृष्टम् अर्ध्वमुखं वा व्यथयतीति उत्तुदः एतत्संज्ञो देवः त्वा त्वाम् उत् तुदतु उद्व्यथयतु कामार्ता करोतु । अ तुद् व्यथने इति धातुः अ। सूचिभिरिव उत्तुदेन मदनविकारैरुद्व व्यथिता त्वं स्वे स्वकीये शयने । अ अधिकरणे ल्युट् अ। श्यनस्थाने मा दृथाः श्यनिविषयम् आदरं मा कार्षीः । अ दृङ् आदरे । अस्माद्ध माङि लुङि "हस्वाद्ध अङ्गात्" इति सिचो लोपः अ ।। कामस्य पश्चशरस्य या भीमा भयकारिणी इपुर-स्ति तया हृदि हृदये [ त्वा ] त्वां विध्यामि ताडयामि। अ व्यध ताडने । "प्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । भीमेति । विभे-त्यस्या इति भीमा । "भीमादयोपादाने" इति अपादानेथे भियः पुग्वा [ उ० १. १४५ ] इति आणादिको मक् प्रत्ययः अ ।।

उत्कृष्टरूपसे व्यथित करने वाले उत्तुद नाम वाले देवता तुभ्तको कामार्त करें। सुइयोंकी समान मदनविकारोंसे व्यथित हुई तू पलँग पर शयनमें आदर न कर। कामका जो भय देने वाला वाण है, उससे मैं तेरे हृदयको ताड़ित करता हूँ ॥ १॥

#### द्वित्तीया ॥

आधीषणाँ कामशल्यामिषुं संकृल्पकुल्मलाम् । तां सुसंनतां कृत्वा कामां विध्यतु त्वा हृदि ॥२॥ आधीऽपणीम् । कामऽशल्याम् । इषुम् । संकृल्पऽकुल्मलाम् । ताम् । सुऽसंनताम् । कृत्वा । कामः । विध्यतु । त्वा । हृदि ॥२॥

श्राधीपर्णाम् श्राधयो मानस्यः पीढाः पर्णानि पत्राणि यस्याः सा तथोक्ता । कामशल्याम् दामः श्रभिलाषः रिरंसापरपर्यायः। स एव शल्यं वाणाग्रे पोतम् श्रायसं मर्मभेदकम् श्रङ्गं यस्याः सा कामशल्या । संकल्पकुल्मलाम् । इदं मे स्याद्व इदं मे स्याद्व इति भोगविषयसंकल्पनं संकल्पः । स एव कुल्मलं दारुशल्ययोः संश्लेष्ट्रव्यं यस्याः सा तथोक्ता । ईदशीं ताम् इषुं सुसंनताम् सुष्टु सम्यङ्नतां कोदण्डारूढां कृत्वा कामः स्मरः तया इष्वा हे कामिनि त्वा त्वां [ इदि ] विध्यतु ताडयतु ।।

# ( २२८ ) अथर्ववेद संहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मानसी पीड़ाएँ जिसके पर्ण हैं और रमण करनेकी इच्छा ही जिसका मर्मभेदक शल्य है, यह मेरा होजाय यह मेरा हो जाय ऐसा भोगविषयक संकल्प ही जिसका काठ और शल्यको मिलाने वाला मसालारूप है उस वाणको धनुषपर भली प्रकार खेंच कर कामदेव उस वाणसे हे कामिनि तुमे हृदयमें वींधे २ तृतीया ॥

या स्नीहानं शोषयंति कामस्येषुः सुसंनता । प्राचीनंपचा व्योषा तयां विध्यामि त्वा हृदि ॥३॥ या । स्नीहानम् । शोषयंति । कामस्य । इषुः । सुऽसंनता ।

माचीनंऽपत्ता । विऽस्रोपा । तया । विध्यामि । त्वा । हृदि ॥३॥

कामस्य स्मरस्य सुसंनता सुष्ठु सम्यङ्नता ऋजुगामिनी या इषुः हृदयं प्रविश्य तत्परिसरवर्तिनं सीहानम् एतत्सं इं प्राणोश्रयं मांसखएडं शोषयित दहति । सा पुनर्विशेष्यते । प्राचीनपत्ता प्राचीनाः प्राञ्चना ऋजवः पत्ता यस्याः साप्राचीनपत्ता व्योषा विविधम् स्रोपति दहतीति व्योषा । अ उप दाहे इत्यस्मात् पचा-द्यच् अ। तया उदीरितगुणविशिष्टया इष्वा हे कामिनि त्वा त्वां हृदि हृदये विध्यामि ताडयामि ॥

कामदेवका भली प्रकार खेंचा हुआ सरलगामी वाण हृदय में प्रवेश करके प्राणको आश्रय देने वाले सीहा नामक मांस-खण्डको शुष्क करे। सरल पर वाले अनेक प्रकारसे जलाने वाले वाणसे हे कामिनि! मैं तेरे हृदयको बींधना हूँ।। ३।। चतुर्थी।

शुचा विद्धा ब्यो (षया शुष्कांस्याभि संपे मा।

मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुवृता ॥ ४ ॥

शुचा। विद्धा । विऽत्रोषया । शुष्कऽत्रास्या । त्र्रभि । सर्प । मा।

मृदुः।निऽमन्युः। केवली। प्रियऽवादिनी। अनुऽत्रता।। ४॥

व्योपया विदाहयुक्तया शुचा शोचयित्र्या शोकात्मिकया वा इष्वा विद्धा ताडिता सती शुष्कास्या शुष्कक्रयठा उपतापेन तालु-शोपणात् स्वमनीपितं पकटयितुम् असमर्था मा माम् अभि सर्प श्रभिगच्छ । मन्निवासस्थानम् श्रागच्छेत्यर्थः । श्रागत्य च निमन्युः न्यक्कृतप्रणयकलहा मृदुः मृदुभाषिणी केवली ऋसाधारणा मदेक-शरणा प्रियवादिनी श्रमुकूलभाषणशीला श्रमुत्रता श्रमुकूलिकया-चरण परा भव । 🕸 केवलीति । "केवलमामक०" इत्यादिना ङीप 🛞 ॥

हे स्त्र ! दाह देने वाले शोकात्मक वाणसे ताड़ित होने पर तेरा कएठ सुख जाय और उपतापके कारण तू अपने अभिपाय को प्रकाशित करनेमें असमर्थ होकर मेरे पास आ। और आकर प्रणयके कलहको छोड़ मृदुभाषिणी और केवल मेरी शरण लेती हुई अनुकुल भाषण करने वाली वन कर मेरे अनुकूल कार्य

करने वाली हो ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

ञ्चाजामि त्वाजन्या परि मातुरथे। पितुः । यथा मम कतावसो ममं चित्तमुपायंसि ॥ ५॥ श्रा। अजामि ।त्वा। श्राऽत्रजन्या। परि । मातुः । अथो इति। पितुः।

यथा । मम । कतौ । असः । मम । चित्तम् । उपऽत्र्यायसि ॥५॥

# (२३०) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हे कामिनि त्वा त्वाम् आजन्या । अभिमुखम् अजित चिपति
प्रेरयतीति आजनी कशा । "अश्वाजनीत्यश्वाजनिम् आजाय"
इति कशायाम् अजिनशब्दः पयुक्तः । तया कश्या आजािम्
आताड्य अभिमुखं परेयािम । परि मातुः [ मातुः ] पर्यन्तदेशात्
अथो अपि च पितुः पर्यन्तात् । उपलक्षणम् एतत् । यस्य कस्यापि
समीपे स्थितां त्वाम् आविपामीत्यर्थः । अ अज गतिक्षेपणयोरिति
धातुः अ । यथा येन पकारेण मम मदीये क्रतौ कर्मणि सङ्कल्पे
वा असः भवसि । यम चित्तम् मदीयां बुद्धिम् उपायसि येन पकारेण उपगच्छिस । तथा आजािम सम्बन्धः ॥

हे कामिनी! अभिमुख पेरण करने वाली कशासे ताड़न करके मैं तुभे अभिमुख पेरित करता हूँ माताके समीपसे भी और पिताके समीप तकसे मैं तुभे अपने अभिमुख करता हूँ। तू जिस पकार मेरे कर्म वा संकल्पके और मेरी बुद्धिके अनुकूल होकर आवे तिस पकार मैं तुभे कशासे ताड़ित कर अभिमुख करता हूँ॥ ५॥

पष्टी ॥

व्य स्यै मित्रावरुणे। हृदश्चित्तान्यस्यतम् । श्रथंनामकृतं कृत्वा ममेव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥ वि । श्रस्ये । पित्रावरुणो । हृदः । चित्तानि । श्रस्यतम् । श्रथं । प्नाम् । श्रकृतुम् । कृत्वा । ममं । एव । कृणुतम् । वशे ६ हे मित्रावरुणो श्रस्ये । अ पष्टचर्थे चतुर्थी अ । श्रस्याः

स्त्रिया हृदः हृदयात् हृदयपुण्डरीकात् चित्तानि ज्ञानानि व्यस्यतम्

विक्तिपतम् ।। अथ अनन्तरम् एनां स्त्रियम् अक्रतुम् कार्याकार्य-विभागज्ञानश्रुन्यां कृत्व ममैव बशे कृणुतम् मदधीनामेव कुरुतम्।।

इति पश्चमेनुवाके पश्चमं सुक्तम् ॥

[ इति ] तृतीये काग्डे पश्चमोनुवाकः ॥

हे मित्र और वरुण देवताओं ! इस स्त्रीके हृदयसे ज्ञानोंको दूर करो तदनन्तर इस स्त्रीको कार्य श्रीर श्रकार्यके विभागके ज्ञानसे शून्य करके मेरे वशमें करिये ॥ ६ ॥

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम स्क्त समात ( ९६ )॥ पंचम अनुवाक समाप्त॥

पष्टेनुवाके पट् सूक्तानि । तत्र ''येस्यां स्थ" इत्याभ्यां सूक्ता-भ्यां स्वसेनायाउत्साहजननकर्मणि प्रत्यूचं प्रतिदिशम् उपस्थान कुर्यात् । सूत्रितं हि । "दिग्युक्ताभ्याम् [ ३. २६, २७ ] नमो देववधेभ्यः [ ६. १३ ] इत्युपतिष्ठते" इति [ कौ० २. ५ ] ॥

तथा श्राभ्यां स्काभ्यां स्वस्त्ययनकर्मणि श्राज्यपलाशा-दिशान्तसमित्पुरोडाशादिशष्कुन्यन्यन्तानि त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् । सूत्रितं । "दिग्युक्ताभ्याम् [ ३. २६, २७ ] दोषो गाय [ ६. १ ] पातं नः इति पश्च [६. ३-७ ] अनदुद्वभ्यः [ ६. ५६ ] यमो मृत्युः [ ६. ६३ ] विश्वजित् [ ६. १०७ ] शकधूमम् [ ६. १२⊏ ] भवाशवौं [ ११. २ ] इत्युपदधीत" इति िकौ० ७. १ ] ॥

तथा आभ्यां सूक्ताभ्याम् अस्मिन्नेव कर्मणि हुतशेषेण प्रति-दिशं बितहरणं उपस्थानम् च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "दिश्यां बलीन् हरति प्रतिष्ठिते उपतिष्ठते मध्ये पश्चमम्" इति [कौ०७. २]॥

तथा च सर्पष्टश्चिकादि भयनिष्टत्तिकामः गृहक्षेत्रादिषु सिकता

अभिमन्त्र्य परितः प्रकिरेत् ॥ तथा [ आभ्यां] सूक्ताभ्यां तृष्णमालां संपात्य गृहनगरादिद्वारे बध्नीयात् ।।

### (२३२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा आभ्यां गोमयम् अभिमन्त्र्य तस्य गृहे विसर्जनम् द्वारि निखननम् अग्नौ होमं [ च ] कुर्यात् ॥

तथा अनेन सूक्तद्वयेन अपामार्गमुझरीं गुडूचीं वा अभिमन्त्रय

पूर्ववद्ध गृहादिषु विसर्जनादिकं कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि। "युक्तयोः [२६,२७] मा नो देवाः [६.५६] यस्ते सर्पः [१२.१.४६] इति शयनशालोर्वराः परिलिखति" इत्यादि [कौ०७.१]॥

तथा त्रिंशन्महाशान्तितन्त्रभूतायां शान्तौ ''येस्याम्'' इत्य-नेन प्रतिदिशं होमः ''पाची दिक्'' इत्यनेन प्रतिदिशम् उपस्था-नम् । तद्द उक्तं नक्तत्रकल्पे । ''येस्यां प्रतिदिशं हुत्वा पाची दिग् उपतिष्ठते " इति [ न० क० २२ ]

छठे अनुवाकमें छः सक्त हैं । उनमें येस्यां स्थ' इन दो सक्तों से अपनी सेनाको उत्साहित करनेके कर्ममें प्रत्येक ऋचासे मत्येक दिशामें उपस्थान करे ॥ इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है। यथा- "दिग्युक्ताभ्यां (३। २६। २७) नमो देववधेभ्यः (६। १३) इत्युपतिष्ठते" इति (कौशिकसूत्र २। ५)॥

तथा स्वस्त्ययनकर्षमें इन दो स्कांसे घृत पलाशादि तेरह द्रव्योंकी ब्राहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि— 'दिग्युक्ताभ्याम् (३।२६।२७) दोषो गाय (६।१) पातं न इति पंच (६।३–७) ब्रानडुद्धचः (६।५६) यमो मृत्युः (६।६३) विश्वजित् (६।१०७) शक्यूपम् (६।१२८) भवाशवौँ (११।२) इत्युपद्धीत' इति (कौशिकसूत्र ७।१)।।

तथा इसी कर्ममें इन्हीं दो स्क्तोंसे हुतशेषसे पत्येक दिशामें चलिहरण और उपस्थान करे इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है, कि—"दिश्यान बलीन हरति प्रतिदिशम् उपितष्ठते मध्ये पञ्चमम्" (कौशिकसूत्र ७ । २ ) ॥ तथा साँप वीछू आदिके भयको दूर करना चाहने वाला घर खेत आदिमें धूलके कणोंको अभिमंत्रित करके फैंके ॥

तथा इन सूक्तोंसे तृणमालाका सम्पातन करके घर वा नगरके द्वार पर वाँघ देवे ।।

तथा इन दो सूक्तोंसे गोवरको अभिमंत्रित करके उस घरमें डाले द्वार पर गाढ़े और अग्निमें होम करे ॥

तथा इन दोनों सूक्तोंसे चिरचिटेकी मझरी वा गिलोयका अभि-मंत्रण कर पहिलेकी समान गृह आदिमें विसर्जन आदिक करे।।

इसी विषयको कौशिकसूत्र ७ । १ में कहा है, कि-'युक्तयो (२६ । २७ ) मानो देवाः (६ । ५६) यस्ते सर्पः (१२।१।४६) इति शयनशालोर्वराः परिलिखति" ॥

तथा तीस महाशान्तिकी तंत्रभूत शांतिमें 'येस्याम्' से प्रत्येक दिशामें होम करे। त्रौर 'प्राची दिक्' से प्रत्येक दिशामें उपस्थान करे। इसी बातको नत्त्रत्रकल्पमें कहा है, कि—''येस्यां प्रतिदिशं हुत्वाप्राची दिगुपतिष्ठते" ( नत्त्रत्रकल्प २२ )।।

तत्र प्रथमा ॥

येश्रस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अप्रिशिवः ।

ते नो मृडत् ते नोधि ब्रुत् तेभ्यों वो नमस्तेभ्यों वः स्वाहां ये। अस्याम् । स्थ । प्राच्याम् । दिशि। हेत्यः । नाम । देवाः।

तेषाम् । वः । अग्निः । इपवः ।

ते। नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः। वः । नमः। तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ १॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ता गन्धर्वाः ये यूयम् अस्यां प्राच्यां दिशि अस्मदावासस्थानात् पूर्वस्यां दिशि हेतयो नाम स्थ। अस्मदुपद्रवकारिणां हन्तारो नाम भवथ । अ "ऊतियूति०" इत्यादिना हेतिशब्दः क्तिन्नन्तो निपातितः अन्तोदात्तः । पाच्याम् इति । प्रपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना विवन् । "अनि-दिताम्०" इति नलोपः । "श्रश्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। "अनिगन्तोश्चतावमत्यये" इति पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् 🕾 । तेषाम् पूर्वदिग्वासिनां वः युष्माकम् अग्निरिषवः अग्नितुल्याः शराः। यद्वा अग्निरेव इपुरूपेण वर्तत इत्यर्थः । अतो रित्ततुं शक्ता स्थेति भावः। ते यूयं नः अस्मान् मृलत सुखयत । तादशैर्वाणैः शत्रु-सर्पष्टिश्विकादीन् निहत्य अस्माकं सुखहेतवो भवतेत्यर्थः । तथा ते यूर्यं नः ऋस्मान् ऋधि ब्रूत ऋस्मदीया एते इति ऋाधिक्येन वदत । **श्र**धिवचनं पत्तपातेन वचनम् । ''ब्राह्मणायाधिब्रूयात्'' [ तै० सं० २. ५. ११. ६ ] ''ऋध्यवोचद् ऋधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्" [ तै॰ सं॰ ४. ४. १. २. ] इत्यादिश्रुतेः । तेभ्यो वः युष्मभ्यं नमः नमस्कारोस्तु । 🛞 "नमःस्वस्ति" इत्यादिना चतुर्थी । "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति चतुर्थ्यन्तस्य युष्मदो वसादेशः अतु-दात्तः 🛞 । तेभ्यो वः युष्मभ्यं स्वाहा इदम् अ्राज्यादिकं हविः स्वाहुतम् अस्तु ॥

हे दान आदि गुणोंसे सम्पन्न । गंधर्वदेवताओं ! तुम जो हमारे निवासस्थानसे पूर्वदिशामें हेति नामसे रहते हो अर्थात् हमारे उपद्रवकारियोंको मारते रहते हो ऐसे पूर्वदिशानिवासी आपके बाण अग्निकी समान हैं अतः आप हमारी रचा करनेमें समर्थ हैं ऐसे आप हमको सुख दीजिये अर्थात् तैसे बाणों से शत्रु सर्प और दिश्वक (बीळू) आदिको मारकर हमको सुख दीजिये।

तथा हमको 'ये हमारे हैं' इस प्रकार पत्तपातपूर्वक कहिये। ऐसे आपके लिये नमस्कार है और आपके लिये यह घृत आदिकी हिव स्वाहुत हो।। १।।

दितीया ॥ ये इंस्यां स्थ दिचिणायां दिश्य विष्यवो नामं देवा-स्तेषां वः काम इषवः ।

ते नो मुडत ते नोधि बृत तेभ्यों वो नमुस्तेभ्यों वः स्वाही

ये । अस्याम् । स्थ । दक्षिणायाम् । दिशि । अविष्यवः। नाम

देवाः । तेषाम् । वः । कामः । इपवः ।

ते । नः । मृडत् । ते । नः । अधि । ब्रूत् । तेभ्यः । वः । नमः ।

तेभ्यः। वः। स्वाहा ॥ २ ॥

हे देवाः दानादिग्णयुक्तागन्धर्वाः ये यूयम् अस्यां दित्तिणायां दिशि । अ स्याडभावश्कान्दसः अ । अस्मदावासस्थानाद् दिशि । अक्यदेश अवस्यवो नाम स्थ अवनेच्छवः एतत्सं ज्ञा भवथ । अ अवतेः अमुन्यत्ययान्तात् "छन्दिस परेच्छायामिष्" इति क्यच् । "क्याच्छन्दिस" इति उपत्ययः अ । तेषां वा युष्माकं कामः इष्टविषयोभिलाष एव इषवः । इष्ट्रूपेण वर्तत इत्यर्थः । कामपापका युष्मदोयाः शरा इत्युक्तं भवति । ते नो मृलतेत्यादि गतम् ॥

हे गन्धर्वदेवों ! तुम हमारे निवासस्थानसे दिल्लादिशामें अवस्यव नाम वाले थे अर्थात् हमारी रत्ता करनेकी इच्छा करते थे ऐसे आपकी अभिलिषत विषयकी इच्छा ही वाण हैं अर्थात्

# (२३६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

श्रापके बाण इच्छाको पूर्ण करने वाले हैं श्रतः श्राप हमको सुख दीजिये। तथा हमको 'ये हमारे' हैं इस प्रकार पत्तपात-पूर्वक किहये। श्रापके लिये नमस्कार है श्रीर यह घृत श्रादिकी हिव श्रापके लिये स्वाहुत हो।। २।।

हिव श्रापके लिये स्वाहुत हो।। २।।
हिन्नीया।।

ये हें स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैश्वा नामं देवास्तेषां व आप इषवः ।

ते नो मुडत ते नोधि ब्रूत तेभ्यो वे। नम्स्तेभ्यो वः स्वाहां ॥ ३ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्रतीच्याम् । दिशि । वैराजाः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । आपः । इषवः ।

ते। नः । मृहत् । ते। नः । अधि । ब्रुत् । तेभ्यः । वः । नर्मः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ३ ।

हे देवाः ये यूयम् अस्यां प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम स्थ भिराट् अन्नं तस्य पदातारः एतत्संज्ञा भवथ । अ प्रतीच्याम् इति । प्राच्याम् इत्यत्रोक्तप्रकारेण रूपसिद्धिः । स्वरस्तु "चौ" इति पूर्वप्रतेरन्त उदात्तः अ । तेषां वः युष्माकम् आपः दृष्ट्यु-दकानि इषवः इषुस्थानीयाः । ते नो मृलतेत्यादि गतम् ॥

हे देवताओं ! तुम जो पश्चिम दिशामें वैराज नाम वाले हो अर्थात् अन्नको देने वाले हो ऐसे आपके दृष्टिके जल ही बाए हैं, वह आप हमको सुख दीजिये। तथा हमको 'ये हमारे हैं' इस प्रकार स्नेहपूर्वक किहये। आपके लिये नमस्कार है और यह घृत आदिकी हिव आपके लिये स्वाहुत हो।। ३।।

## चतुर्थीः ॥

ये ३ स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवा-स्तेषां वो वात इपवः ।

ते नो मृहत ते नोधि ब्रूत तेम्यों वो नमस्तेभ्यों वः स्वाहां ॥ ४ ॥

ये । ऋस्याम् । स्थ । उदीच्याम् । दिशि । प्रविध्यन्तः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । वातः । इपवः ।

ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः। नमः । तेभ्यः। वः। स्वाहा ॥ ४ ॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ता गन्धर्वाः ये यूयम् अस्याम् उदी-च्याम् उत्तरस्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम स्थ अस्मद्भिसकान् प्रक-र्षेण ताडयन्तः एतत्संज्ञा भवथ । 🕸 उदीच्याम् इति । उत्पूर्वाद्व अअतेः पूर्ववत् विवनादि । "उद् ईत्" इति धात्वकारस्य ईकारः । "श्रुनिगन्त०" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् 🛞 । तेषां वः युष्माकं वातः । लुप्तोपमम् । एतत् । वातवद्देगयुक्ता इपवः । वायुरेव वा इषुत्वेन वर्तत इत्यर्थः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हे दानादियुक्त गन्धर्वों ! जो तुम इस उत्तर दिशामें हमारे हिंसकोंको अधिकतासे ताड़न करनेके कारण प्रविध्यन्त नाम बाले हो उन त्रापके वाण वायुकी समान वेग वाले हैं ऐसे त्राप हमको छुख दीजिये। ऋौर हमारे विषयमें 'ये हमारे हैं' यह बात पत्तपातपूर्वक कहिये आपके लिये नमस्कार है, यह घृत आदिकी हिव आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

पश्चमी !!

येर्इस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पानामं देवास्तेषां व अविषेधीरिषवः।

ते नो मृहत् ते नोधि ब्रूत् तेभ्यो वो नम्सतेभ्यो वः स्वाहां ॥ ५ ॥

ये । श्रम्याम् । स्थ । ध्रुवायाम् । दिशि । निऽलिम्पाः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । त्रोपधीः । इपवः ।

ते। नः । मृहत् । ते। नः । अधि । ब्रुत् । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहां ॥ ५॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ता ये यूयम् अस्यां श्रुवायाम् स्थिरायां भूमिरूपायाम् अधस्ताद्व दिशि निलिम्पा नाम स्थ नितरां लिक्षाः आश्रिताः एतत्संज्ञा भवथ । तेपां वः युष्माकम् ओषधीः ओष-धयो बीहियवतरुगुल्माद्या इषवः वाणाः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हे देवताओं ! जो तुम इस नीचेकी दिशामें निरन्तर लिप्त रहने वाले निलिम्पा नामक देवता हो। उन आपके धान जो पेड़ गुल्म आदि ही वाण हैं। ऐसे आप हमारे विषयमें विशेषता के साथ कहिये, कि—'ये हमारे हैं' और हमको सुख दीजिये, ऐसे आपके लिये नमस्कार है, यह घृत आदिकी हिव आपके लिये स्वाहुत हो।। ४॥

षष्टी ॥

ये इस्यां स्थोध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः।

# ते नो मृडत ते नोधि ब्रूत तेभ्यों वो नम्स्तेभ्यों वः स्वाहां ॥ ६ ॥

ते ! नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । नः । नमः । तेभ्यः । नः । स्वाहां ॥ ६ ॥

हे देवाः ये यूयम् अस्याम् जर्ध्वायां दिशि उपरिष्टाद्व दिशि अपस्वन्तो नाम स्थ अवनं रत्ताणं तद्दन्तः एतत्संज्ञा भवथ । तेषां वः युष्पाकं बृहस्पतिरिषवः बृहतां देवानां मन्त्राणां वा पितः बृहस्पतिर्देवः । अ "तद्बृहतोः करपत्योः " इति सुट्तलोपौ अ। स एव इषुत्वेन वर्तते । तद्दद् अमोघवीर्या युष्मदीयाः शरा इत्यर्थः ॥ गतम् अन्यत् ॥

[ इति ] तृतीयकाएडे षष्टेनुवाके पथमं सूक्तम् ॥

हे देवताओं ! तुम ऊपरकी दिशामें अवस्वन्त नाम वाले हो अर्थात् रत्ता करने वाले हो, तहाँ बड़े २ देवताओं के और मन्त्रों के पति बृहस्पतिआपके बाण हैं अर्थात् आपके वाण बृहस्पतिजी की समान अमोघ वीर्य वाले हैं, ऐसे आप हमको सुख दीजिये हमको पत्तपातके साथ 'ये हमारे हैं' कहिये आपके लिये नमस्कार है यह घृत आदिकी हिव आपके लिये स्वाहुत हो।। ६।।

तीसरे काण्डके छठे अनुवाकमें प्रथम स्क समाप्त ( ६७)॥
"पाची दिक्" इति सक्तस्य पूर्वस्कोन सह स्वसेनोत्साहजननक्षिण स्वस्त्ययनकर्मादौ च विनियोगोभिहितः। सूत्रं च तत्रैवोदाहृतम्॥

## (२४०) अथर्वेदसंहिता साध्य-भाषानुवादसहित

'प्राची दिक्' सक्तका पहिले सक्तके साथ अपनी सेनाको उत्साहित करनेके कर्ममें और स्वस्त्ययन आदिके कर्ममें विनियोग कह दिया है। सूत्र भी तहाँ ही कह दिया है।।

तत्र प्रथमा ॥

प्राची दिगमिरिधंपतिरिधतो रिच्चतादित्या इपेवः । तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो रिच्चतृभ्यो नम् इष्ट्रभ्यो नम् एभ्यो अस्त ।

यो इस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः १

प्राची । दिक् । अप्रि: । अप्रिः । असितः । रिच्ता ।

आदित्याः । इपवः ।

तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रचित्रऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । द्ध्मः ॥ १ ॥

प्राची पाञ्चना प्रकृष्टा पूर्वा दिक् । अस्मद्तुग्रहार्थे वर्तताम् इत्यर्थः । तस्या दिशः अग्निरिधपितः अधिष्टाता स्वामी । असितः कृष्णवर्णः सर्पः तस्यां दिशि रिचता जगद्रचणार्थम् अवस्थितः । आदित्याः अदितेः पुत्रा धात्रर्यमादयः तस्या दिश इषवः आयु-धानि । तेभ्यः पूर्वदिग्वतिभ्यः अग्न्युपलिचतेभ्यो नमः नमस्कारोस्तु ॥ तथा तत्रत्येभ्यो रिचतुभ्यः आसितप्रभृतिभ्यो नमोस्तु ॥ तत्रत्येभ्य इषुभ्यः इषुसंस्तुतेभ्य आदित्येभ्यो नमोस्तु ॥ एवम्

श्राधिपत्यादीन पृथक्षृथक् नमस्कृत्य पुनः समुचयेन नमस्करोति।
एभ्यः उक्तभ्यः अधिपत्यादिभ्यः सर्वभ्यो नमोस्तु अस्मदीयो
नमस्कारोस्तु । यद्दा अधिपत्यादिभ्यो यो नमस्कारः कृतः स
एभ्यः प्रीतिकरो भवतु इत्यर्थः ॥ एवं नमस्कारेण परितोष्य इष्टफलं प्रार्थयते । यः शत्रुः अस्मान् द्वेष्टि वाधते यं शत्रुं वयं द्विष्मः
तं शत्रुम् हे अग्न्यादयः वः युष्माकं जम्भे । खादनहेतुरास्यान्तर्गतो दम्तिवशेषो जम्भः । तत्र दक्ष्मः प्रक्तिपामः । तं खादतेत्यर्थः ॥

पूर्व दिशा हमारे अनुग्रहके लिये महत्त होने। उस दिशाके अधिपति इन्द्र देन और जगत्की रक्ता करनेके लिये उस दिशा में रहने वाले असितवर्ण वाले सर्प, धाता अर्थमा आदि अदिति के पुत्रक्ष्प बाण। इन पूर्वदिशामें रहने वाले अग्नि आदि अधि-पतियों के लिये नमस्कार है, तथा तहाँ रहने वाले रक्तक अदिति आदिके लिये नमस्कार है और बाणक्ष्पसे जिनकी स्तुति की है उन अदितिपुत्रों के लिये नमस्कार हो, इन अधिपति आदि सब के लिये जो नमस्कार किया है, वह इन सबको मसन्न करने वाला हो (इस प्रकार नमस्कारसे सन्तुष्ट करके अब इष्टफलकी पार्थना करते हैं, कि—) जो शत्रु हमें पीड़ा देता है और हम जिससे द्रेष करते हैं उसको हे अग्नि आदिक! हम (दाँतिवशेष) जम्भमें डालते हैं अर्थात् तुम उसको खाजाओ।। १।।

द्वितीया ॥

दिचिणा दिगिन्द्रोधिपित्रिस्तरंश्चिराजी रिच्चता पितर

इषवः ।

तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमो राचितृभ्यो नम् इषुभ्यो

नमं एभ्यो अस्तु ।

# ( २४२ ) अथर्ववेदसंहिता समाष्य-भाषानुवादसहित

यो इस्मान् देष्टि यं वयं दिष्मस्तं वो जम्में दध्मः ॥२॥

दिन्या। दिक् । इन्द्रंः । अधिऽपतिः । तिरश्चिऽराजिः । रृत्तिता ।

पितरः । इषवः ।

तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः। नमः। रिच्तिरुभ्यः । नमः । इषु-

ऽभ्यः । नमः । एभ्यः । श्रस्तु ।

यः । अस्मान् । द्वेष्टिं । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ २ ॥

दित्तणा दित्तणतोवस्थिता या दिक्। सापि अस्मदनुग्रहार्थं वर्तताम् इत्यर्थः । % "दित्तिणाद् आच्" इति आच्मत्ययान्तोत्र
दित्तिणाशब्दः %। तस्या दिशः इन्द्रः अधिपतिः अधिष्ठाता।
तिरश्च्यः तिर्यम् अवस्थिता राजयः आवत्तयः यस्य तथाविधः
सर्पः रित्तता दित्तिणस्यां दिशि मोपायिता। पितरः पितृदेवताः
तत्रत्या इषवः दुष्टनिग्रहकारीण्यायुधानि।। तेभ्यो नमोधिपतिभ्य
इत्यादि पूर्ववद् योज्यम्।।

द्तिणकी ओर स्थित दिशा इमारे कल्याणके लिये पष्टत्त हो। उस दिशाके अधिपति इन्द्र देवता, और जिनकी तिरछी अविलयें पड़ी हुई हैं वह दिन्निण दिशाके रत्नक सर्प और उस दिन्निण दिशामें दुष्टोंका निग्रह करने वाले वाणरूप पितृदेवता हैं, उन इन्द्र आदि अधिपतियोंको सर्प आदि रत्नकोंको और बाण-रूप पितरोंको नमस्कार हो। इन अधिपति आदि सबके लिये जो नमस्कार किया है वह उनको मसन्न करने वाला हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस को हम आपके जंभ नामक दाँतमें हालते हैं।। २।।

### त्रतीया ॥

प्रतीची दिग् वरुणोधिपतिः पृदांकू राचितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमां रिचतृभ्यो नम इषुभ्यो नमं एभ्यो अस्तु । यो इस्मान् देष्टि यं वयं दिष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

प्रतीची । दिक् । वरुणः । अधि अपिः । पृदांकः । रिचता ।

अनम् । इपदः ।

तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रत्तितृऽभ्यः । नमः ।

इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । श्रस्तु ।

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम्। द्विष्मः । तम् । वः। जम्भे ।

दध्यः ॥ ३ ॥

पतीची पतिमुखम् अञ्चन्ती पश्चाद्वागस्था दिक् । अस्मदनु-ग्रहार्थं वर्तताम् इत्यर्थः । तस्या दिशो वरुणः श्रधिपतिः स्वामी । पृदाकुः कुत्सितशब्दकारी । अ पर्द कुत्सिते शब्दे इत्यस्माद् त्र्याकुपत्ययः । संप्रसारणम् त्रकारलोपश्च 🕸 । एतत्संइः सर्पस्त-त्रत्यो रिचता पालियता । श्रन्नम् वीहियवादिलचणम् इषवः तत्रत्यदुष्ट्वित्रहकारीएयायुधानि ।। तेभ्यो नम इत्यादि ।।

पश्चिमकी दिशा इम पर अनुग्रह करनेके लिये परृत्त हो। उस बिशाके अधिपति वरुणदेव हैं। पृदाकु ( कुत्सित शब्द करने वाला ) नामक सर्प इस दिशाके रत्तक हैं। धान जो आदिरूप अन्न उस दिशाके बाण हैं अधिपति वरुणदेवके लिये, रत्तक

# ( २४४ ) अथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

पृदाकु सर्पके लिये और वाणरूप जो धान आदिके लिये नमस्कार है। इन अधिपति आदिको जो नमस्कार किया है वह उनको प्रसन्न करने वाला हो, हम जिससे द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उसको हम आपके जंभ नामक दाँतमें धरते हैं अर्थात् आप उसका भन्नण कर जाइये।। ३।।

चतुर्थी॥

उदीची दिक् सोमोधिपतिः स्वजो रिक्ताशिन्रिषवः। तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमे रिक्तिभ्यो नम् इर्षुभ्यो नम् एभ्यो अस्तु ।

यो इस्मान् द्वेष्टि यंवयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

उदीची । दिक् । सोमः। अधिऽपतिः। स्वजः। रुच्चिता। अशनिः।

इषवः ।

तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रिचतुऽभ्यः । नमः ।

इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ।

यः। अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ४॥

उदीची उत्तरा दिक् । श्रस्मद्तुग्रहार्थं वर्तताम् इत्यर्थः । तस्या दिशः सोमः अधिपतिः स्वामी । स्वजः । स्वायत्तजन्मा स्वयमेवो त्पन्नः स्वजनशीलो वा सर्पः स्वजः । रिक्तता गोपायिता । श्रशनिः दम्भोलिः इषवः तत्रत्यदुष्टनिग्रहार्थान्यायुधानि ॥ तेभ्यो नम इत्यादि गतम् ॥

उत्तर दिशा हमारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये परुत्त हो। उस दिशाके अधिपति सोम हैं। स्वज नामक सर्प उसके रत्तक हैं तहाँके दुष्टोंका निग्रह करनेके लिये अशनि ही वाण है अधि-पति चन्द्रमाके लिये रत्तक स्वज सर्पके लिये बाएारूप अशनिके लिये नमस्फार हो । इन अधिपति आदि सबके लिये जो नमस्कार किया है वह उनको पसन्न करने बाला हो । हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं खौर जो शत्रु इमसे द्वेष करता है उसको इम आप के जंभ दाँतमें डालते हैं ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

भ्रुवा दिग् विष्णुरिधिपतिः कल्मापंत्रीवो रचिता वीरुध इषवः ।

तेभ्यो नमोधिपतिभ्यो नमी रिचतृभ्यो नम इष्टुभ्यो नमं एभ्यो अस्तु।

योईस्मान् देष्टि यं वयं दिष्मस्तं वो जम्मं दध्मः॥५॥

भ्रुवा । दिक् । विष्णुः । स्रघिऽपतिः । कल्मार्षऽग्रीवः । रित्तता।

वीरुधः । इपवः ।

तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रिचतुऽभ्यः । नमः ।

इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ।

यः । श्रस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । ्द्ध्मः ॥ ४ ॥

ध्रुवा स्थिरा अधोदिक् अस्मान् अनुगृह्णातु । तस्या दिशो विष्णुः अधिपतिः ईश्वरः ।

# (२४६) अथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

कुष्णवर्णः ग्रीवासु यस्य स कल्माषग्रीवः एतदाख्यः सर्पो रिचता गोपायिता रिचतित्यानाम् । वीरुधः विरोहणशीला श्रोषधयः इषवः दुष्टनिबर्हणायुधानि ॥ शिष्टं स्पष्टम् ॥

जो ध्रुव स्थिर अधोदिशा पृथिवी है उसके अधिपति विष्णु हैं। और कल्मापग्रीव नामक सर्प रत्ना करने वाले हैं। दुष्टोंको दबानेमें समर्थ औपिधयें ही तहाँ वाण हैं। इस दिशाके अधिपति विष्णुके लिये, रत्नक कल्मापग्रीवके लिये और वाणक्ष श्रीपियोंके लिये नगस्कार है। इन अधिपति आदिको जो नमस्कार किया है वह इनको मसन्न करने वाला हो। हम जिस से द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है, उसको हम आपके जंभ नामक दाँतमें फैंकते हैं।। ५।।

षष्टी ॥

उच्ची दिग् बृह्स्पतिर्धिपतिः शिवुत्रो रिच्ति वर्षिभिषेवः। तेम्यो नमोधिपतिभ्यो नमे रिच्तिभ्यो नम् इर्षुभ्यो नम् एभ्यो अस्तु ।

योर्ड्समान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दभाः ६ जर्ध्वा । दिक् । बृहस्पतिः । अधिऽपतिः । रिवृत्रः । रिक्तिता ।

वर्षम् । इपवः ।

तेभ्यः । नमः । अधिपतिऽभ्यः । नमः । रित्तितृऽभ्यः । नमः । इषुऽभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ।

यः । श्रस्मान् । द्वेष्टि । यम्। वयम् । द्विष्मः । तस् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ६ ॥ कथ्वी परिष्टाइ वर्तमाना दिक् मदीयम् अभिलिषतं करोतु । तस्या दिशः वृहस्पतिर्देवः अधिपतिः अधिष्ठाता रिवना श्वेतवर्णः । श्च स्फायितश्चीत्यादिना [ उ० २. १३ ] श्विता वर्णे इत्यस्माइ रक् मत्ययः श्च । एतत्संज्ञः सर्पो रिवता शत्रुपशृतिभ्यस्नाता । वर्षम् वर्षजलं मेघनिम्र क्तम् इषवः दुष्टनिवारणायुधानि ॥ तेभ्यो नम इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[ इति ] पष्टेनुवाके द्वितीयं सुक्तम् ॥

उपर वर्तमान जो दिशा है वह मेरे अभिलिषित कार्यको करे। उस दिशाके बृहस्पतिजी अधिपति हैं। और श्वेत वर्ण वाले शिवत्र नामक सर्प उसमें शत्रु आदिसे रक्ता करने वाले हैं। और भेघका छोड़ा हुआ वर्पाका जल उसमें दुष्टोंको निवारण करने का आयुध है। इन अधिपति बृहस्पतिजीके लिये रक्तक श्वित्र-सर्पके लिये और वर्षाके जलरूप वाणके लिये नमस्कार है। इन अधिपति आदिको जो नमस्कार किया है वह इनको मसन्न अधिपति आदिको जो नमस्कार किया है वह इनको मसन्न करने वाला हो। जो हमसे द्वेप करता है और हम जिससे द्वेप करते हैं, उस शत्रुको हम आपके जंभ नामक दाँतके (नीचे) धरते हैं।। ६।।

छठे अनुवाकमें द्वितीय स्क समात ( ९८ )

"एकैकयेषा सृष्ट्या" इत्यनेन गवाश्वागर्दभीमानुषीणां यमल-जनने अद्भुते तच्छान्त्यर्थम् आज्यं हुत्वा मातृषुत्रयोमे धिन संपा-तम् आनीय उदपात्रे उत्तरसंपातं कृत्वा तेनोदकेन आचमनं गोत्तणं च कुर्यात् । स्त्रितं हि । "अथ यत्रैतद्ध यमस्पर्गैः" इति [कौ॰ १३.१७] पक्रम्य "एकैकयेषा सृष्ट्या सं वभूवेत्यनेन स्केन आज्यं जुहन्नमीषां सृधिन समातृषुत्रयोरित्यनुपूर्वं संपातान् आन-यति" इत्यादि [कौ॰ १३.१६]॥ गौ घोड़ी गधैया और स्निके यमल (जुड़वाँ-दो) सन्तान उत्पन्न होनारूप अद्गुश्त होने पर उसकी शांतिके लिये "एकैकयैषा सृष्ट्या" इस सक्तसे घृतकी आहुति देकर माता और पुत्रके मूर्धा पर सम्पातको लाकर जलपूर्णपात्रमें उत्तर सम्पात करे ि उस जलसे आचमन और पोत्तण करे। सूत्रमें भी कहा है, कि—"अथ यत्रेतद्व यमसूर्गी" इति (कोशिकसूत्र १३।७) प्रक्रम्य "एकैकयेपा सृष्ट्या सं वभूवेत्येन न स्केन आज्यं जुह-नमीपां मूर्धिन समातृपुत्रयोरित्यनुपूर्व सम्पातान् आनयिति॰" (कोशिकसूत्र १३।१६)॥

तत्र प्रथमा ॥

एकिक्येषा सृष्ट्या सं वस्य यत्र गा असृजनत भूतकृती विश्वरूपाः ।

यत्रं विजायते यभिन्यपूर्तः सापशून् चिंणाति रिफ्ती रुशंती ॥ १ ॥

एकेऽएकया । एपा । सृष्ट्या । सम् । वभूष । यत्र । गाः । अस्जन्तः । भूतऽकृतः । विश्वऽक्ष्याः ।

यत्र । बिङ्जायते । यमिनी । अपङ्कातुः । सा । पुरान । चिणाति । रिफती । रुशती ॥ १ ॥

एपा विधातकता [साधारणी] सृष्टिः एकैकया एकैकव्यक्त्या सृष्ट्या सृज्यमानया सं वभूव संभूता विधात्रा निर्मिता।एकैकव्य-क्त्युत्पत्तिरेव न्याय्या यमलजननं तु [ न तथेत्यर्थः। यत्र एकैक-व्यक्तिविशिष्टायां शुभसृष्ट्यां भूतकृतः पृथिव्यादीनां भूतानां कर्तारः एतत्संज्ञा प्रसिद्धा ऋषयो विश्वरूपाः नानावर्णा गाः गवोपलिक्तिता मानुषीवडवाद्या ] श्रम्रजन्त उदपादयन् । एषा सा साधारणी सृष्टिरिति पूर्वेण संबन्धः । यत्र यस्याम् श्रोत्पिक्तक-मृष्टी श्रपतुः श्रपकृष्टातेववीजोपेता सती गौः यमिनी यमलवत्सो-पेता विजायते प्रसूते सा यमलसृष्टिः यजमानसंबन्धिनः पश्र्त् गवाद्यान् क्षिणाति क्षयं प्रापयति । अ कि क्ये इति धातुः अ। कि कुर्वती । रिफती । अरिफ रिन्फ हिंसायाम् अ। भक्तयन्ती । रुशती चोरव्याद्यादिभिनीशयन्ती । अ रुश हिंसायाम् । उभा-विष तुदादी अ।।

पृथिवी आदिके भूतोंके रचने वाले भूतकृत नाम वाले ऋषियों ने एक एक व्यक्तिसे विशिष्ट सृष्टिमें अनेक वर्णकी गौ आदि सृष्टिको उत्पन्न किया था, यही एक एककी सृष्टि विधाताकी रची हुई है। इस उत्पत्तिके समयसे चली आई हुई सृष्टिमें अपकृष्ट वीज और रजसे युक्त हुई जो गौ जुड़वाँ सृष्टिको उत्पन्न करती है तो यह यमलसृष्टि यजमानके गौ आदि पशुओंका भन्नण करती हुई और चोर व्याघ्य आदिसे नाश कराती हुई संहार करती है।। १॥

द्वितीया ॥

एषा पश्रुन्सं चिंगाति कृष्याद् भूत्वा ब्यदंशी ।
उतैनां ब्रह्मणं दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् २
एषा ।पश्रुन्। सम् । चिणाति । कृष्यऽत्र्यत् । भूत्वा । विऽत्रद्वरी ।
उत । एनाम् । ब्रह्मणे ।दद्यात् । तथा । स्योना । शिवा । स्यात् २
एषा यमस्रुगीः पश्रुन् यजमानगृहे वर्तमानान् गवादीन् सं
चिणाति संचयं विनाशं प्रापयति । अकि चि चये । व्यत्ययेन

शा %। कथं भूता। क्रव्याद्ध भूत्वा क्रव्यं मांसम् अत्तीति क्रव्यात्। % "क्रव्ये च" इति विद् प्रत्ययः %। मांसादनशीला भूत्वा। व्यध्वरी व्यध्वो दुःखहेतुर्दुष्टमार्गः तद्दती। % रो मत्वर्थीयः %। यद्दा विरुद्धफलदा अध्वरा अभिचारयज्ञा व्यध्वराः। % "छन्द-सीवनिपौ" इति मत्वर्थीय ईकारः %। उत इति प्रश्ने। एवंविधे दोषे किं कर्तव्यम् इत्यर्थः॥ एनां यमजननीं ब्रह्मणे ब्राह्मणाय द्वात्। तथा राति सा गौः स्योना सुखकरी। यद्दा पुत्रपश्वादिभाः संतता। % षिवु तन्तुसंताने। औणादिको नप्रत्ययः। ततः अठि कृते "असिद्धं बहिरक्रम्०" इत्यस्य "नाजानान्तर्ये०" इति निषेधाद्व यण् %। शिवा कल्याणात्मिका च स्यात् भवेत्॥

यह यमसू ( दो को उत्पन्न करने वाली ) गौ मांसको खाने के स्वभाव वाली होकर और अभिचार आदिके कष्टमद फल देने वाली होकर यजमानके घरमें वर्तमान गौ आदिका संहार करती है। ऐसे दोपके मसंग पर क्या करना चाहिये ? (उत्तर) ऐसी यमसूको ब्राह्मणको दे देय। ऐसा करने पर वह गौ सुख देने वाली पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न होकर कल्याणरूप हो जाती है।। २।।

तृतीया ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गाभ्यो अश्वेभ्यः शिवा । शिवास्म सर्वस्म चेत्रांय शिवा न इहैिधं ॥ ३॥

शिवा । भव । पुरुषेभ्यः । गोभ्यः । अश्वेभ्यः । शिवा ।

शिवा । अस्मै । सर्वस्मै । क्षेत्राय । शिवा । नः । इह । एधि ३

हे यमलवत्सजननि पुरुषेभ्यः मनुषेभ्यः शिवा सुखकरी भव ॥ तथा गोभ्यः अरवेभ्यश्च शिवा सुखहेतुर्भव ॥ अस्मै सर्वस्मै [ क्षेत्राय ] शालिगोधूमादिक्षेत्राय शिवा सुखकरी भव ॥ किं बहुना । इह अस्मिन् देशे नः अस्माकं सर्वविषयेषु शिवा एधि सुखपदा भव । अ अस्तेलोटि "घ्वसोरे द्वौ०" इति एच्वे कृते तस्य "असिद्धवद्ध अत्रा भात्" इति असिद्धत्वात् "हुभल्भ्यो हेर्धिः" इति भलन्तलच्चणं हेर्धित्वं भवति अ॥

हे जुड़वाँ संतानोंको उत्पन्न करने वाली जनिन ! तू पुरुषोंके लिये सुखकारिणी हो, श्रिधिक क्या ? इस देशमें हमारे सव कामोंमें सुख देने वाली हो ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

इह पुष्टिरिह रसं इह सहस्रसातमा भव। पुशुन् यंगिनि पोषय॥ ४॥

इह । पुष्टिः । इह । रसः । इह । सहस्र ऽसातमा । भव । पश्चन् । यमिनि । पोष्य ॥ ४ ॥

इह अस्मिन् यहे पुष्टिः गवादिसर्वधनस्य पोषो भवत । ततथ इह अस्मिन् यजमानगृहे रसः चौराज्यादिरूवः समृद्धो भवत ॥ हे यमिनि यमलवत्सजनि इह अस्मिन् यजमानगृहे सहस्रसातमा सहस्रसंख्याकं धनं सनोति पयच्छतीति सहस्रसाः। अष्ठषणु दाने। "जनसनखनक्रमगमो विट्" "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आच्वम् । तत आतिशायनिकस्तमप् अ। अतिशयेन सहस्रधनस्य दात्री भवेत्यर्थः ॥ एवं यजमानसंवन्धिनः पश्चत् हे यमिनि पोषय समर्थय ॥

इस घरमें गौ आदि सब प्रकारके धनोंकी पुष्टि हो। फिर इस यजमानके घरमें दूध घी आदि रस बढ़े। हे यमलवत्स

# (२५२) अथर्वेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

जनि ! इस यजमानके घरमें तू सहस्रों धनोंको देने वाली हो और इस यजमानके पशुक्रोंको बढ़ा ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

यत्रा सहिद्दे सुकृतो मदेन्ति विहाय रोगे तन्वे १ स्वायोः तं लोकं यूमिन्यभिसंबेभूव सा नो मा हिंसीत् पुरु

षान् पश्रंश्चं ॥ ५ ॥

यत्र । सुऽहार्दः । सुऽकृतः । मदन्ति । विऽहाय । रोगम् । तन्त्रः । स्वायाः ।

तम् । लोकम् । यमिनी । अभिऽसंवभूव।सा।नः।मा।हिंसीत्। पुरुषान् । पश्चन् । च ॥ प्र॥

यत्र यस्मिश्र लोके सुहार्दः शोभनहृदयाः सुकृतः शोभनकर्माणः पुरुषा मदन्ति हृष्यन्ति । अ मदी हर्षे । व्यत्ययेन
शष् अ । किं कृत्वा । स्वायास्तन्वः स्वकीयात् शरीराद् रोगम्
ज्यरादिकं विहाय त्यक्त्वा । हृष्यन्तीत्यर्थः । तम् तादृशं लोकं
यमिनी यमलवत्सजननी गौः अभिसंवभूव आभिमुख्येन संप्राप्तवती ।। अतः सा नः अस्माकं पुरुषान् पशूंश्व माहिंसीत् माहिनस्तु ।।

जिस लोकमें शोभन हृदय वाले और शोभन कर्म वाले पुरुष अपने शरीरसे ज्वर आदि रोगको अलग कर प्रसन्न होते हैं, ऐसे लोकमें जुड़वाँ वचोंको उत्पन्न करने वाली गौ अभिमुख होकर प्राप्त होगई है, अतः वह हमारे पुरुष और पशुओंकी हिंसा न करे।। ५।।

पष्टी ॥

यत्रां सुहादीं सुकृतांमिशिहोत्रहुतां यत्रं लोकः ।

# तं लोकं यमिन्यंभिसंबंधूव सा नो मा हिंसीत् पुरु षान् पशूंश्च ॥ ६ ॥

यत्र । सुऽहादीम् । सुऽकृताम् । अधिहोत्रऽहुताम् । यत्र । लोकः । तम् । लोकम् । यभिनी । अभिऽसंवभूव । सा। नः । मा।

हिंसीत् । पुरुपान् । पश्रून् । च ॥ ६ ॥

यत्र यस्मिन् लोके छहार्दाम् शोभनहृदयानां शोभनज्ञानानां सुकृताम् शोभनं कर्म कृतवताम् । 🕸 "सुकर्मपाप०" इत्यादिना भूते क्विप् 🕸 । तादृशानाम् [ अग्निहोत्रहुताम् अग्निहोत्रहोमा-दिकं जुद्दताम् ] अप्रिहोत्रहोमादिकं शोभनं कर्म प्रतिष्ठितं भवति । यत्र च स्थाने लोकः लोक्यते श्रातुभूयत इति लोकः तस्याग्निहो-त्रादेः फलम् प्रतिष्ठितं भवति । तं लोकम् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[ इति ] पष्टेनुवाके तृतीयं सुक्तम् ॥

जिस लोकमें शोभन हृदयवाले, शोभन ज्ञानवाले और शोभन कर्ष करने वालोंके अग्निहोत्रहोम आदिमें आहुति देनेवाले शोभन कर्म प्रतिष्ठित होते हैं उस लोकमें यह यमलवत्सजननी गौ पाप्त होगई है अतः वह हमारे पुरुष और पशुओं की हिंसा न करे ६ छठे अनुवाकमें तासरा स्क समाप्त (९९)॥

''यव् राजानः'' इति पश्चर्चेन श्रोदनसर्वे कर्मणा पश्ववयवेषु पश्चापूपनिधानं निरुप्तहविरिभमर्शनादिकं च कुर्यात्। तथा च सूत्रम् । ''त्र्यग्नीन् त्राधास्यमानः सवान् वा दास्यन्'' इति [ कौ० ८. १ ] प्रक्रम्य "यद्ध राजान इत्यवेत्ति पदस्रातस्य पृथक्षादे-ष्वपूरान् निद्धाति नाभ्या पश्चमम्" इत्यादि [ कौ० ८. ५ ] ॥ "क इदं कस्मै" इति द्वाभ्यां दुष्टादुष्टमतिग्रहतद्दोपशान्त्यर्थ प्रतिग्राह्यं पदार्थम् अभिमन्त्र्य गृह्णीयात् । सूत्रितं हि । "क इदं कस्मा अदात् [ ७. ८ ] कामस्तद्रे [ १६. ५२ ] यद् अन्नम् [ ६. ७१ ] पुनर्मेत्विन्द्रियम् [ ७. ६६ ] इति प्रतिगृह्णाति" इति [ कौ० ५. ६ ] ॥

"भूमिष्टा" [ = ] इत्यनया भूमिं प्रतिगृह्णीयात् ॥

ग्रहयज्ञे "यद् राजानः" इत्यनेन बुधस्य हिवराज्ययोहेभिम् सिमदाधानम् उपस्थानं च कुर्यात् । तद्ध उक्तं शान्तिकल्पे । "यद् राजानः [६, २६] इति सोमस्यांशो युधां पते [७, ८६, ३] इति बुधाय" इति [शा० क० १५]।।

'यद् राजानः' इस पाँच ऋचा वाले स्क्रांसे ओदनसव कर्म में पशुके अवयवोंमें पाँच गुलगुले रखना और निरुप्त हिनका अभिमर्शन आदि करे इसी बातको सूत्रमें कहा है, कि—'अमीन् आधास्यमानः सवान् वा दास्यन्' (कौशिकसूत्र ८ । १ ) प्रक्रम्य ''यद् राजान इत्यवेचित पदस्नातस्य पृथक्पादेष्वपूपान् निद-धाति नाभ्यो पश्चमम्''० (कौशिकसूत्र ८ । ४ )।।

'क इदं कस्मै' इन दो ऋचाओं से दुष्ट वा अदुष्टसे लिये हुए मृतिग्रहके दोषकी शांतिके लिये दान लेनेके पदार्थको अभिमन्त्रित करके लेने । सूत्रमें भी कहा है, कि-'क इदं कस्मा अदात् (७।८) कामस्तदग्रे (१६ । ५२ ) यद्द अन्नम् (६ । ७१ ) पुनर्मे स्विद्धिन् यम् (७ । ६६ ) इति प्रतिगृह्णाति" इति (कौशिकसूत्र ५ । ६)

"भूमिष्ट्रा" इस आठवीं ऋचासे भूमिको ग्रहण करे ।।

ग्रहयज्ञमें 'यद् राजानः' इस सूक्तसे बुधका घृत और हिवका होम करे, सिमधाओंको रक्खे और उपस्थान भी करे। इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि-'यद्व राजानः' (६.२९) इति सोम-स्यांशो युधां पते (७। ८६।३) इति बुधाय (शांतिकल्प १५)

#### तत्र प्रथमा ॥

यद् राजांनो विभजनत इष्टापूर्तस्यं षोड्शं युमस्यामी संभासदः ।

अविस्तस्मात् प्र मुं अति दुत्तः शिंतिपात् स्वधा ॥१॥

यत् । राजानः । विडभजन्ते । इष्टापूर्तस्य । षोडशम् । युमस्य ।

अमी इति । सुभाऽसदः।

अविः। तस्मात् । प्र। मुश्चिति । दुत्तः । शितिऽपात् । स्वधा ॥१॥

यमस्य धर्मराजस्य अमी दक्तिणस्यां दिशि चुलोके परिदृश्य-यानाः सभासदः सभायाम् उपविष्टा दुष्टनिग्रहे शिष्टपरिपालने च नियुक्ता राजानः राजमानाः ईश्वरा वा देवाः इष्टापूर्तस्य । इष्टं श्रुतिविहितं यागादि कर्म। पूर्तं स्मृतिविहितं वापीक्र्पतटा-कादिनिर्वाणलक्तणं कर्म । तस्य उभयविधस्य कर्मणः षोडशम् षोडशसंख्यापूरकं यत् पापं विभजन्ते पुरुयराशेर्विभक्तं कुर्वन्ति । श्रयम् अर्थः । श्रुतिस्मृतिविहितकर्मसु अनुष्टीयमानेषु प्रमादाल-स्यादिना कियानपि पापस्य षोडश्या कलया श्रंशः सम्रुपजायत एव तद्भ यमस्य सभ्याः परिशोधयन्तीति । 🕸 षोडशम् इति । षोडशसंख्यायाः पूरकः। ''तस्य पूरणे डट्"। ''षष उत्वं दतृदशघा-सूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च" इति जत्वष्टुत्वे 🕸 । तस्मात् राजभिर्वि-भज्य गृहीतात् पापात् अस्मिन् सवयज्ञे दत्तः अविः अस्मान् प मुञ्जतु । यद्दा इष्टापूर्तस्य साधकं षोडशम् । ''षोडशकलो वै पुरुषः'' [ तै० त्रा०१. ७. ५. ५ ] इति श्रुतेः षोडशकलम् त्र्रात्मानं यमस्य सभासदः अमी राजानः यत् विभजनते पशुशरीराइ विभक्तं कुर्वन्ति अविः अविशारीराभिमानी आत्मा तस्मात् शरीरवियोग-

जिनताद्व दुःखात् प्र मुञ्चतु प्रमुक्तो भवतु ॥ शितिपात् श्वेतपात् स दत्तोऽविः स्वथा । अन्ननामैतत् । यमसंबन्धिभ्यः सभासद्भवः अन्नं भवतु । यद्दां स्वधेति पितृणां हिवदीने । 🕸 "स्वधाकारो हि पितृणाम्" इति [ तै० ब्रा॰ ३, ३, ६, ४ ] श्रुतेः 🕾 । हिव-ष्ट्रेन दत्तो भवतु ॥

दित्ताण दिशाकी श्रोर द्यूलोकमें दीखते हुए धर्मराज (ये) सभासद दुष्टोंको दण्ड देने वाले और शिष्टों पर अनु-ग्रह करने वाले हैं। ये श्रुतिविहित याग आदि इष्टकर्मके और स्मृतिविहित वावड़ी क्प तालाव बनवाना आदि पूर्वकर्मके ईश्वर हैं । ये दोनों प्रकारके कर्मोंमें बन जानेवाले सोलहवें भाग पापको पुण्यराशिसे अलग करते हैं। तात्पर्य यह है, कि-श्रुति और स्मृतिसे विहित कर्मोंको करने पर प्रमाद ऋरि आलस्यवश कुछ न कुछ पाप बन ही जाता है, वह सोलहवाँ भाग बन जाता है, उसका यमके सभ्य शोधत करते हैं। राजाओं ( ईश्वरों ) ने विभाग करके जिस पापको ग्रहण करिलया है उस पापसे इस सवयज्ञमें दी हुई अविहमें बचावे । अथवा तैत्तिरीय बाह्मण १। ७। ४।४ में कहा है, कि-'पोडशकलो वै पुरुष: यह आत्मा सोलह कला वाला है, उस सोलह कला वाले आत्माको यमके सभासद्ध ये ईश्वर पशुके शरीरसे अलग करते हैं अतः शरीरका अभिमानी आत्मा शरीरके वियोगके दुःखसे छूट जावे । श्वेत पैरवाला यह यह दिया हुआ अवि यमके सभासदोंका अन्न होवे, पितरोंका अन्न हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥ सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् । आकृतिप्रोविर्दत्तः शितिपान्नोपं दस्यति ॥ २ ॥ सर्वान् । कामान् । पूरयति । आऽभवन् । प्रऽभवन् । भवन् ।

आकृतिऽमः । अविः । दत्तः । शितिऽपात् । न । उप । दस्यति ॥२॥

श्राभवन् श्रा समन्ताइ भवन् व्याप्तुवन् [ प्रभवन् ] फलदानाय समर्थो भवन् भवन् विधिष्णुः सन् क्रियमाणोयं यज्ञः श्रम्मदीयान् सर्वान् कामान् पुत्रपश्वादिविषयान् पूरयित संपूर्णि[न् करोति । श्राक्तिपः इदं मे स्याद्व इदं मे स्याद्व इति ये संकल्पास्ता श्राक्तयः । तान् पूरयतीति श्राकृतिपः शितिपात् श्वेतपाद्व दत्तः श्रम्मिन् यज्ञे प्रापितोयम् श्रविः] नोप दस्यित नोपत्तीयते । श्रिषि तु यथाभिलापं वर्धत इत्यर्थः । श्रि दस्र उपन्ये इति धातुः श्रि ॥

चारों श्रोरसे फल देनेके लिये समर्थ श्रीर वर्धनशील यह किया जाता हुआ यह हमारी पुत्र पशु श्रादि सब कामनाओंको पूर्ण करता है। संकल्पोंको पूर्ण करने वाला श्रीर श्वेत पाद वाला यह दिया हुआ श्रवि त्तीण नहीं होता है।। २।।

तृतीया ॥

यो ददाति शितिपादमिं लोकेन संमितम् । स नाकंम्भ्यारोहिति यत्रं शुल्को न क्रियते अवलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

यः । ददाति । शितिऽपादम् । अविम् । लोकेन । सम्ऽमितम् । सः । नाकम् । अभिऽआरोहति। यत्रं । शुल्कः । नः । क्रियते । अवलेन । बलीयसे ॥ ३ ॥

यो यजमानः शितिपादम् श्वेतपादं लोकेन लोक्यमानेन फर्जन संमितम् सम्यक्परिच्छिन्नम् अमोधफलम् । यद्वा अनेन भूलोकेन

## (२५८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

संमितम् सद्दशम् । भूलोकवत् सर्वफलपदम् इत्यर्थः । ईदृशम् अवि ददाति प्रयच्छति स दाता नाकम् । कम् सुखम् तद्विपरीतम् अकं दुःखम् न विद्यतेस्मिन् अकम् इति नाकः स्वर्गः । अ "नभ्राणन-पात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः अ । उक्तं हि ।

दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तम् अनन्तरम् । अभिलापोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् ॥

ईदशं लोकम् अभ्यारोहित अभिप्रामोति। तं लोकं विशिनिष्टि। यत्रेति । यत्र यस्मिन् लोक अवलेन अपर्याप्तवलेन पुरुपेण वली-यसे बलवत्तराय । अ वलवच्छब्दाद् ईयस्नि "विन्मतोल् क्" इति मतोल् क् अ । तादृशाय शुल्को न क्रियते । शुल्को नाम अधिकवलस्य राज्ञो न्यूनवलेन परिसरवर्तिना अन्येन राज्ञा देयः करविशेषः । स नास्ति यस्मिन् लोक इत्यर्थः ॥

जो यजमान श्वेत पैर वाली और भूलोककी समान सब फल देने वाली भेड़को देता है, वह दाता जिसमें दुःखका नाम नहीं हैं उस स्वर्गलोक‡में चढ़ता है, उस लोकमें अल्प बलवालेको अधिक बलीको कर नहीं देना पड़ता ॥ ३॥

पञ्चापूपं शितिपादमिवं लोकेन संमितम् । प्रदातोपं जीवति पितृणां लोकेचितम् ॥ ४ ॥

पश्च ऽश्चपूपम् ।, शिति अपादम् । अविम् । लोकेन । सम् अमितम् ।

‡ दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तं अनन्तरम्। अभिलापोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् ॥ दुःखसे भिन्न हो जो दुःखसे ग्रस्त न हो और जिसमें पीछे से भी दुःख न मिलता हो और अभिलापा करते ही जो मिल जाता हो वह सुख स्वर्गका सुख कहलाता है ॥ मध्दाता । उप । जीवृति । पितृ्णाम् । लोके । अस्तितम् ॥४॥

पश्चसंख्याका अपूपा यस्य पशोश्चरुष्ठं पादेषु नाभ्यां च निहिता वर्तन्ते तं पश्चापूपं शितिपादम् श्वेतपादं लोकेन पृथिव्यादिकेन संमितम् सदशम् अवस्थितम् [ अविं ] प्रदाता मकर्षेण ददत् पितृणाम् वस्वादिरूपं प्राप्तानां लोके सोमलोकारूपे स्थाने अन्तितम् चयरिहतं फलम् उप जीवित उपभुङ्को। असंमितं प्रदातेति। तन्त्रन्तत्वात् "न लोकाव्यय०" इति कर्मणि पष्टचा निषेधे द्वितीय्येव भवित । अन्तितम् इति । निन्नये। भावे निष्ठा। "निष्ठायम् अरायदर्थे" इति पर्युद्सतत्वाद् दीर्घाभावात् "नियो दिर्घात्" इति दीर्घोपजीविनो नत्वस्यापि अभावः अ।।

जिस पशुके चार पैरों पर और नाभि पर पाँच गुलगुले रक्खे जाते हैं, उस पश्च अपूप और खेत पाद वाले पृथिवी आदि की समान स्थित भेड़को देने वाला वसु आदि पितरोंके सोम-लोकमें चयरहित फलका उपभोग करता है।। ४।।

पश्चमी !!

पञ्चांपूपं शितिपाद्मिवं लोकेन संमितम् । प्रदातोपं जीवति सूर्यामासयोरित्तंतम् ॥ ५ ॥

पञ्च ऽत्रपूपम् । शिति ऽपादम् । त्रविम् । लोकेन । सम् अमितम् ।

<u> प्रश्वाता । उप । जीवति । सुर्यामासयोः । अस्तितम् ॥ ५ ॥</u>

पादत्रयस्य स एवार्थः । मस्यते त्तयदृद्धिभ्यां परिमीयत इति मासः चन्द्रमाः । अ मसी परिमाणे इत्यस्मात् कर्मणि घञ् अ । सूर्यश्च मासश्च सूर्यामासौ । अ "देवताद्वन्द्वे च" इति पूर्वपदस्य त्यानङ् अ । सूर्याचन्द्रमसोर्लोके अत्तितम् त्तयरहितं फलम् उप-

# (२५८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

संमितम् सद्दशम् । भूलोकवत् सर्वफलपदम् इत्यर्थः । ईदृशम् अविं ददाति प्रयच्छति स दाता नाकम् । कम् सुखम् तद्विपरीतम् अकं दुःखम् न विद्यतेस्मिन् अकम् इति नाकः स्वर्गः । अ "नभ्राणन-पात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः अ । उक्तं हि । दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तम् अनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं च सुत्वं स्वर्गपदास्पदम् ।।
ईदृशं लोकम् अभ्यारोहिति अभिप्राम्नोति। तं लोकं विश्विनष्टि।
यत्रेति । यत्र यस्मिन् लोक अवलेन अपर्याप्तवलेन पुरुषेण वलीयसे वलवत्तराय । अ वलवच्छब्दाद् ईयस्नुनि "विन्मतोर्जुक्"
इति मतोर्जुक् अ । तादृशाय शुल्को न क्रियते । शुल्को नाम
अधिकवलस्य राज्ञो न्यूनवलेन परिसरवर्तिना अन्येन राज्ञा देयः
करविशेषः । स नास्ति यस्मिन् लोक इत्यर्थः ॥

जो यजमान श्वेत पैर वाली और भूलोककी समान सब फल देने वाली भेड़को देता है, वह दाता जिसमें दुःखका नाम नहीं हैं उस स्वर्गलोक में चढ़ता है, उस लोकमें अन्प बलवालेको अधिक बलीको कर नहीं देना पूड़ता ॥ ३॥

पञ्चापूपं शितिपादमिवं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोपं जीवति पितृणां लोकेचितम् ॥ २ ॥
पञ्चऽत्रपूपम् । शितिऽपादम् । अविम् । लोकेन । सम्ऽमितम् ।

‡ दुःखेन यन संभिन्नं न च ग्रस्तं अनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्णपदास्पदम् ॥

दुःखसे भिन्न हो जो दुःखसे ग्रस्त न हो और जिसमें पीछे से भी दुःख न मिलता हो और श्रभिलाषा करते ही जो मिल जाता हो वह सुख स्वर्गका सुख कहलाता है।। मऽदाता । उप । जीवति । पितृणाम् । लोके । श्रक्तितम् ॥४॥

पश्चसंख्याका अपूपा यस्य पशोश्चतुर् पादेषु नाभ्यां च निहिता वर्तन्ते तं पश्चापूपं शितिपादम् श्वेतपादं लोकेन पृथिव्यादिकेन संमितम् सदशम् अवस्थितम् [ अवि ] प्रदाता पकर्पेण ददत् पितृणाम् वस्वादिरूपं पाप्तानां लोके सोमलोकाख्ये स्थाने अिन्तानम् चयरिहतं फलम् उप जीवित उपभुङ्को । असंमितं प्रदातेति । तृत्वन्तत्वात् "न लोकाव्यय०" इति कर्मणि पष्टचा निषेधे द्विती-यैव भवित । अिच्ततम् इति । चिच्चये । भावे निष्ठा । "निष्ठा-याम् अण्यदर्थे" इति पर्युद्सतत्वाद् दीर्घाभावात् "चियो दिघीत्" इति दीर्घोपजीविनो नत्वस्यापि अभावः अ।।

जिस पशुके चार पैरों पर और नाभि पर पाँच गुलगुले रक्खे जाते हैं, उस पश्च अपूप और श्वेत पाद वाले पृथिवी आदि की समान स्थित भेड़को देने वाला वसु आदि पितरोंके सोम-लोकमें त्तयरहित फलका उपभोग करता है।। ४।।

पश्चमी !!

पञ्चांपूपं शितिपाद्मिवं लोकेन संमितम् । प्रदातोपं जीवति सूर्यामासयोरिचंतम् ॥ ५ ॥ पश्चंऽत्रपूपम् । शितिऽपादंम् । अविम् । लोकेनं । सम्अमितम् ।

शब्दाता । उप । जीवति । सुर्यामासयोः । अद्वितम् ॥ ५ ॥

पादत्रयस्य स एवार्थः । मस्यते त्तयदृद्धिभ्यां परिमीयत इति मासः चन्द्रमाः । अ मसी परिमाणे इत्यस्मात् कर्मणि घञ् अ । सूर्यश्च मासश्च सूर्यामासौ । अ "देवताद्वन्द्दे च" इति पूर्वपदस्य आनङ् अ । सूर्याचन्द्रमसोर्लोके अत्तितम् त्तयरहितं फलम् उप-

# ( २६० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

भुंक्त इत्यर्थः । अनयोश्रतुर्थीपश्चम्योरीपद्भेदत्वाद् एकत्वाभि-प्रायेण पश्चर्चेनेत्युक्तम् ॥

जिस पशुके चार पैरों पर और नाभि पर पाँच गुलगुले रक्षे जाते हैं, उस पश्च अपूप और श्वेत पैर वाले पृथिवीलोक आदिकी समान स्थित भेड़को देने वाला सूर्य और चन्द्रमाके लोकमें अज्ञयफलको पाता है।। ५।। ‡

पष्टी 🔠

इरेव नोपं दस्यति समुद्र ईव पयो महत् । देवो संवासिनाविव शितिपान्नोपं दस्यति ॥ ६ ॥

इराऽइव । न । उप । दुस्पति । समुद्रः ऽइव । पयः । महत् ।

देवौ। स्वासिनौऽइव। शितिऽपात्। न। उप। दस्यति।। ६।।

शितिपात् रवेतपादः सवयज्ञे दत्तः अवि हरेव भूमिरिव नोप दस्यित नोपत्तीयते । समुद्र इव समुद्रो यथा न त्तीयते एवं महत् अधिकं पयः त्तीरम् । तदात्मना परिणतो भवतीत्यर्थः ॥ तथा सवासिनौ समानं निवसन्तौ अश्विनौ देवाविव नोप दस्यित। तौ यथा खलु अश्विनौ देवौ सर्वफलपदत्वेन उपजीव्येते तथा अयम् अविरिप सर्वफलपदत्वेन नोपत्तीयत इत्यर्थः ॥

सवयज्ञमें प्रदान की हुई श्वेत पैर वाली भेड़ भूमिकी समान चीए नहीं होती है, समुद्रका बड़ा जल जिस प्रकार चीए नहीं होता है, एक साथ रहने वाले अश्विनीकुमार जैसे चीए नहीं होते हैं, तैसे ही यह भी चीए नहीं होती है ॥ ६ ॥

‡ चतुर्थी और पाँचवीं ऋचामें थोड़ासा ही भेद है अत एव इनको एक मान कर पाँच ऋचाओं से कहा है।

#### सप्तमी ॥ 🔭

क इदं कस्मां श्रदात कामः कामांयादात्। कामांदाता कामः प्रतिश्रहीता कामः समुद्रमा विवेश। कामान त्वा प्रति गृङ्कामि कामेतत् ते॥ ७॥ कः। इदम्। कस्मै। श्रदात्। कामः। कामाय। श्रदात्। कामः। दाता। कामः। प्रतिऽ ग्रहीता। कामः। समुद्रम्। श्रा। विवेश। कामेन। त्वा। प्रति। गृह्णामि। काम। एतत्। ते॥ ७॥

इदम् ईदग् इति अनिरुक्तरूपः मजापतिः कशब्देनोच्यते। अर्थ-सामान्यात् किंशब्दोपि तस्यैव वाचकः । कशब्दाभिधेयः प्रजा-पतिः कस्मै प्रजापतये इदम् दक्षिणात्वेन देयं द्रव्यम् अदात् दत्त-वान् । दाता च प्रतिग्रहीता च प्रजापितरेव । एवम् अनुसंद-धानस्य प्रतिग्रहदोषो न जायत इत्यर्थः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "क इदं कस्मा श्रदाइ इत्याह। प्रजापतिर्वे कः। स प्रजापतये ददाति" इति [ तै० ब्रा० २. २. ५. ५ ] ।। तथा कामः फल-विषयोभिलापः । श्रामुष्यिकफलाभिलाषी दाता । ऐहिकफला-भिलापी मतिग्रहीता । स्रतः उभावपि कामात्मानौ । तथा च काम एव कामाय अदात् दत्तवान् नाहं प्रतिगृह्वामीति आत्मानं व्या-वृत्य प्रतिगृहे कृते तद्दोषो न संस्पृशतीत्यर्थः । तथा च तैत्तिरीय-कम् । 🕸 "य एवं विद्वान् व्याष्टत्य दिल्लाणां प्रतिगृह्णाति नैनं दित्तिणा व्लीनाति" इति [तै० ब्रा० २. २. ५. १] 🕸 । उक्तम् अर्थम् उपपादयति। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीतेति। व्याख्यात-शायम् एतत् । उक्तो देवतारूपः कत्मः सम्रुद्रम् सम्रुद्रवन्निर्वधिकं रूपम् आ विवेश प्राप्तवान् । "समुद्र इव हि कामः । नैव हि काम-

## ( २६२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

स्यान्तोस्ति" [ तै० ब्रा० २. २. ५. ६. ] इति हि तैत्तिरीयकम्। तादृशेन कामेन हे दित्तिणाद्रव्य त्वा त्वां प्रति गृह्णामि । नात्मने-त्यर्थः । हे काम एतत् प्रतिगृहीतं द्रव्यं ते तुभ्यं त्वदर्थमेत्र ॥

प्रजापित प्रजापित के लिये दिलाणारूप द्रव्यको देते हैं। दाता और ग्रहण करने वाले प्रजापित ही हैं। तात्पर्य यह है, कि—ऐसा अनुसंधान करने वालेको प्रतिग्रहका दोष नहीं लगता है †। फलकी अभिलाषाविषयक काम, और परलोक के फलको चाहने वाला दाता तथा इस लोकके फलको चाहने वाला पितृग्रहीता, ये दोनों कामात्मा हैं, अतः कामने ही काम को दिया है मैं ग्रहण नहीं करता हूँ, इस प्रकार आत्माको अलग कर प्रतिग्रह करने पर दोष नहीं लगता है ‡ (इसी अर्थकी पृष्टि करते हैं) कि—काम ही दाता है, काम ही ग्रहण करनेवाला है। उक्त देवतारूप काम ही सम्रद्रकी समान अवधिरहित रूपमें प्रवेश कर गया है ×। हे दिल्लाद्रव्य! ऐसे कामके द्वारा मैं तुभको ग्रहण करता हूँ, कुछ अपने आप ग्रहण नहीं करता हूँ, हे काम! यह ग्रहण किया हुआ द्रव्य तेरे ही लिये हैं।। ७।।

† तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।५।५ में कहा है, कि-'क इदं कस्मा अदाद इत्याह।।-क इसको क के लिये देता हुआ। मजापित ही क है वह मजापितके लिये देता है"।

‡ 'य एवं विद्वान् व्यावृत्य दिन्नणां मितगृह्णाति नैनं दिन्नणा व्लीनाति ॥—जो यह जानता हुआ आत्माभिमानको अलग रख दिन्निणाको प्रहण करता है उसको दिन्निणा दोपसे लिप्त नहीं करती है" (तैन्तिरीयबाह्मण २।२।५।१)॥

तेत्तिरीयब्राह्मण २ । २ । ५ । ६ में कहा है, कि
 "समुद्र इव हि कामः । नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति ॥—काम

 (इच्छा ) समुद्रकी समान है, उसका अन्त नहीं है ॥"

अष्टमी ॥

भूभिष्टा प्रति गृह्णात्वन्तरिचिमिदं महत्।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजयां प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ = ॥

भूमिः । त्वा । प्रति । युह्वातु । य्यन्तरित्तम् । इदम् । मुहत् ।

मा । श्रहस् । प्राणेनं । मा । श्रात्मनां । मा । मुङ्जयां । प्रतिङग्रह्ण। वि । राधिषि ॥ = ॥

हे देय द्रव्य त्वा त्वां भूमिः भूरेवता प्रति गृह्णातु । तथा महत् अधिकं विस्तीर्णम् इदम् अन्तिरः च त्वा त्वां प्रति गृह्णातु । अतः आहं प्रतिगृह्ण प्रतिग्रहं कृत्वा तज्जनितदोपात् प्राणेन मुख-नासिकाभ्यां संचरता जीवावस्थिति लिङ्गेन पा वि राधिपि राद्धो वर्जितो पा भूवम् । तथा आत्मना जीवेन तद्दिशिष्टशरीरेण वा मा वि राधिषि। तथा प्रजया पुत्रपौत्रादिलक्तणया मा वि राधिषि । अ माङि खुङि उत्तमैकवचने रूपम् अ ।।

[ इति ] पष्टेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे देय द्रव्य! श्रुमिदेवता तुभको ग्रहण करे। और यह परम-विस्तृत अन्तिरित्त भी तुभको ग्रहण करे। अत एव मैं प्रतिग्रहको करके उससे होने वाले दोषके कारण पाणसे वियुक्त न होऊँ अर्थात् मुख और नासिकासे चलते हुए जीवकी स्थितिके चिन्ह और जीवसे सन्पन्न शरीरसे अलग न होऊँ तथा पुत्र पौत्र आदिसे वियुक्त न होऊँ॥ ८॥

छठ अनुवाकमें चौथा स्क समात (१००)॥

"सहृद्यं सांमनुष्यम्" इति सक्तेन सामनस्यकर्मणि ग्राम-मध्ये संपातितोदकुम्भनिनयनम् तद्दत् सुराकुम्भनिनयनम् त्रिवर्ष-

# ( २६४ ) अथववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

वित्सकाया गोः पिशितानां प्राशनम् संपातितान्नप्राशनम् संपाि तितसुरायाः पायनम् तथाविधप्रपोदकपायनं च कुर्यात् । सुत्रितं हि । "सहृदयम् [ ३. ३० ] तद्षु ते [ ५. १. ५ ] सं जानी-ध्वम्" [ ६. ६४ ] इति प्रक्रम्य "सांमनस्यान्युदकुलिजं संपात-वन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निनयति" इत्यादि [ कौ० २. ३ ] ॥

तथा उपाकर्मणयपि आज्यहोमे अस्य स्क्रस्य विनियोगः।
सूत्रितं हि। "अभिजिति शिष्यान् उपनीय श्वोभूते संभारान्
संभरति" इति प्रक्रस्य "गणकर्मभिविंश्वकर्मभिरायुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. ३]। अत्र गणकर्मशब्देन
"सहृदयम्" "तद् षु ते" इत्यादिगणो विवित्ततः।।

"सहदयं सांमनुष्यम्" इस सूक्तसे सांपनस्य कर्ममें ग्राथमें सम्पातित जलपूर्ण कलशको लावे और सुराके कुम्भको लावे। तथा त्रिवर्षा गौके पिशितका भक्तण, सम्पातित अन्नका प्राश्न, संपातित सुराका पान तथा ऐसी ही पौके जलका पान भी करे। सूत्रमें भी कहा है, कि—"स हृदयम्" (३।३०) तदू पुते (५।१।५) सं जानीध्वम् (६।६४) इति प्रक्रम्य "सांमनस्यान्युदकुलिजं संपातवन्तं ग्रामं परिहृत्य मध्ये निन्यति" (कौशिकसूत्र २।३)॥

तथा उपाकर्मके घृतहोममें भी इसदा विनियोग होता है। सूत्र में भी कहा है, कि—''श्रिभिजिति शिष्यां नुपनीय श्वोभूते संभारान् संभरति ॥—श्रिभिजित् मुहूर्तमें शिष्यों का उपनयन करा कर दूसरा दिन श्राने पर संभारों को लावे'' इसका श्रारम्भ करके कहा है, कि—''गणकर्मभिविश्वकर्मभिरायुष्येः स्वस्त्ययनेराज्यं जुहु-यात्॥—गणकर्म—विश्वकर्म—श्रायुष्य श्रीर स्वस्त्यगनगणके मन्त्रों से घृतकी श्राहुति देय।'' (कौशिकसूत्र १४।३)॥ वहाँ गणकर्म शब्दसे ''सहृदयम्'' ''तद् पु ते'' इत्यादि गण लिया जाता है।। तत्र प्रथमा ॥

सहंदयं सांमनस्यमविदेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमुभि हर्यत वत्सं जातिमवाष्ट्या ॥१॥

सऽहृदयम् । साम् अन्नस्यम् । अवि उद्वेषम् । कृणोमि । वः ।

अन्यः । अन्यम् । अभि । हर्यत् । वृत्सम् । जातम् ऽइव । अध्न्या १

हे विवदमाना जनाः वः युष्माकम् श्रविद्वेषम् विद्वेषाभावोपलित्ततं सांमनस्यं कर्म कृणोमि करोमि । कीष्टशं तत् सांमनस्यम्।सहृदयम् समानेह दयैरुपेतम् । समानिचत्तदृत्तियुक्तम् इत्यर्थः ।सांमनुष्यम् । मिथः संभीतियुक्ता मनुष्याः संमनुष्याः तैनिर्वर्तितं सांमनुष्यम् । ईष्टशं समानज्ञानहेतुभूतं सख्यं करोमीत्यर्थः ॥ ततो यूयमि जातं वत्सम् श्रष्टन्याः गोनामैतत्।श्रहन्तव्या गाव इव श्रन्योन्यं परस्परम् श्रिभ हर्यत श्राभिग्रख्येन कामयध्वम् । अहर्यगतिकान्त्योः अ॥

हे विवाद करने वाले मनुष्यों ! मैं तुम्हारे अर्थ विद्वेषभावको हटाने वाला, समान हृदय करने बाला प्रीतिमय सांमनस्य कर्म करता हूँ, अतः तुम गौएँ जैसे उत्पन्न हुए बळड़ेसे स्नेह करती हैं तिस पकार अभिग्रुख होकर वर्ताव करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अनुत्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अनु ऽत्रतः । पितुः । पुत्रः । मात्रा । भवतु । सम् ऽमनाः ।

जाया । पत्ये । मधुं अमतीम् । वाचम् । वद्तु । शन्ति अवाम् ॥२॥

पुत्रः तनयः पितुरतुत्रतः । त्रतम् इति कर्मनाम । त्रानुक्र्लकर्मा भवत् । यत् पिता कामयते तत्कर्मकारी भवत् ।। माता च संमनाः पुत्रादिभिः समानमनस्का भवत् ॥ पत्ये भर्ते जाया भार्या मधु-मतीम् माधुर्यवतीं शन्तिवाम् सुखयुक्तां वाचं वदत् त्रवीत् । समानमनस्का भवत् इत्यर्थः । अपत्ये । "पतिः समास एव" इति विसंज्ञाया नियमात् केवलस्य त्रभावात् तत्कार्याभावे यण् । शन्तिवाम् इति । "कंशंभ्याम्०" इति शम्शब्दात् तिप्रत्ययः । ततो मत्वर्थीयो वः अ।।

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करने वाला हो, माता पुत्र आदिके साथ एकसे मन वाली हो, भार्या पतिसे मधुरताभरी सुखदायिनी वाणी बोले ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मा आता आतरं दिच्नमा स्वसीरमुत स्वसी । सम्यञ्चः सत्रता भूत्वा वाचे वदत भूद्रया ॥ ३॥

मा । भ्राता । भ्रातरम् । द्विचत् । मा । स्वसारम् । उत । स्वसा।

सम्यश्चः। सऽत्रतः । भूत्वा । वाचम् । वद्त । भद्रया ॥ ३ ॥

भाता सोदरः भ्रातरं मा द्विष्यात् दायभागादिनिमित्तेन भ्रात्-विषयम् श्रियं मा कुर्यात् ॥ उत श्रिप च स्वसारम् भिगनीं स्वसा मा द्विष्यात् ॥ ॐ "ऋन्नेभ्यः०" इति प्राप्तस्य ङीपः " न पट्-स्वसादिभ्यः" इति प्रतिषेधः ॐ ॥ ते सर्वे भ्रात्रादयः सम्यश्चः समञ्चनाः समानगतयः सत्रताः समानकर्माणो भृत्वा भद्रया कल्याण्या वाचा वागिन्द्रियेण वाचं वदतु वदन्तु ॥ ॐ व्यत्ययेन एकवचनम् । सम्यश्च इति । संपूर्वाद्व श्रश्चतेः "ऋत्विग्०" इत्या-दिना विवन् । "समः सिंग" इति सम्यादेशः ॐ ॥

सहोदर भ्राता दायविभागके निमित्त भ्राताका अपिय न करे वहिन भाईसे द्वेष न करें। ये सब भ्राता त्रादि समान गति और समान कम वाले होकर कल्याणकारी वार्तालाप करें।। ३।।

चतुर्थी॥

येनं देवा न वियन्ति नो चं विद्विषतें मिथः। तत् कृरमो बहा वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥ येन । देवाः । न । विऽयन्ति । नो इति । च । विऽद्विषते । मिथः।

तत् । कुरमः । ब्रह्म । वः। गृहे । सम्ऽज्ञानम् । पुरुषेभ्यः ॥४॥

येन ब्रह्मणा देवा इन्द्रादयः न वियन्ति विमतिं न पाप्नुवन्ति । नो च नैव च मिथः परस्परं विद्विषते विद्वेषं न कुर्वते । 🕸 द्विष अभीतो । अदादित्वात् शपो लुक् 🕸 । तत् संज्ञानम् समानज्ञान-निमित्तम् ऐकमत्यापादकं ब्रह्म मन्त्रात्मकं सांमनस्यं वः युष्माकं गृहे पुरुषेभ्यः। तादर्थ्ये चतुर्थी। तद्र्थे कृएमः कुर्मः। 🛞 कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्दिकृणव्योर च" इति उपत्ययः। "लोप-श्रास्यान्यतरस्यां स्त्रोः" इति उकारलोपः 🛞 ॥

जिस मन्त्रके प्रभाववश देवता भिन्न मित वाले नहीं होते हैं श्रीर परस्पर द्वेष भी नहीं करते हैं। उस समान ज्ञानके कारण श्रर्थात् एकमतिका सम्पादन करने वाले मन्त्रात्मक सांमनस्यको हम तुम्हारे घरके पुरुषोंके लिये करते हैं।। ४ ॥

पश्चमी ॥

ज्यायस्वन्ताश्चित्तिनो मा वि योष्ट संराधयंन्तः सधुरा-

श्चरंन्तः ।

## अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एतं सधीचीनान् वः संमेनसस्कृणोमि ॥ ५॥

ज्यायस्वन्तः । चित्तिनः । मा । वि । योष्ट । सम्ऽराधयन्तः ।

सऽधुराः । चरन्तः ।

अन्यः । अन्यस्मै । वल्गु । वद्न्तः । आ । इत्। सधीचीनान्।

वः । सम्ऽयनसः । कृणोमि ॥ ५ ॥

ज्यायस्वन्तः ज्यायस्त्वग्रुणोपेताः । ज्येष्टकनिष्टभावेन परस्परभ् अनुसरन्त इत्यर्थः । चित्तिनः समानचित्तयुक्ताः संराधयन्तः समानसंसिद्धिकाः । समानकार्या इत्यर्थः । सधुराः समानकार्यो-द्वहनाः । ॐ ''ऋक्पूरब्धृःपथाम्०'' इति श्रकारः समासान्तः ॐ । इत्थं चरन्तः वर्तमाना यूयं मा वि यौष्ट मा पृथग् भूत । वियुक्ता मा भवतेत्यर्थः । अ यु मिश्रणामिश्रणयोरित्यस्मात् माङि लुङि मध्यमबहुवचने रूपम् । इडभावश्छान्दसः 🛞 । अन्योन्यस्मै पर-स्परं वल्गु शोभनं पियवाक्यं वदन्तः भाषमाणा यूयम् ऐत आ-गच्छत ॥ ऋहमि हे जनाः वः युष्मान् सधीचीनान् सहाञ्चतः कार्येषु सह प्रवृत्तान् संमनसः समानमनस्कान् कृणोमि करोमि । ॐ सम्रीचीनान् इति । सह अञ्चन्तीति विगृह्य अश्वतेः ''ऋत्विग्०'' इत्यादिना क्विन् । "सहस्य सिधः" इति सश्रचादेशः । "विभा-षाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति स्वार्थिकः खः। ततो भसंज्ञायाम् ''अचः'' इति अकारलोपे ''चौं'' इति दीर्घत्वम् ॥

तुम छोटे बड़ेका ध्यान कर वर्ताव करते हुए, समान चित्त रखते हुए, समान कार्य करते हुए अलग न होओ तुम परस्पर शोभन भिय बाणी बोलते हुए आत्रो । हे मनुष्यों ! मैं भी तुमको एकसे कार्योंमें परत होने वाले करता हूँ ॥ ५ ॥

#### षष्टी ॥

ल्मानी प्रपा सह वेन्निभागः समाने योक्त्रे सहवे। जुनज्मि ।

सम्यञ्जोशिं संपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६॥

समानी । मुडपा । सह । वः । अन्नुडभागः । समाने । योक्त्रे । सह । वः । युनजिम ।

लय्यश्चः । अधिय् । सपर्यत । अराः । नाभिम् ऽइव । अभितः ६

हे सांमनस्यकामाः वः युष्माकं समानी एका प्रपा पानीयशाला भवतु । अन्नभागश्च सहैव भवतु । परस्परानुरागवशेन एकत्रा-वस्थितम् अन्नपानादिकं युष्माभिरुपशुज्यताम् इत्यर्थः । तदर्थम् अहं वः युष्मान् समाने योक्त्रे एकस्मिन् वन्धने स्नेहपाशे सह युनजिम वध्नामि ॥ अपि च सम्यश्चः सङ्गताः एकफलार्थिनो भृत्वा समान-ज्ञानाः सन्तः अग्नि सपर्यत पूज्यत । अ सपर पूजायाम् कण्ड्वादित्वाद् यक् अ । कथिमव स्थिता इति तत्राह । अरा नाभिमिव अभितः । रथचक्रस्य मन्यिच्छदं नाभिः । तस्या अभितो वर्तनाना अराः चक्रावयवाः कीलका नियतस्थानाः परिवेष्ट्य वर्तते । एवम् एकम् अग्निम् अभितो वर्तमानाः परिवरतेत्यर्थः । अभितः परितः समयाः अभितो वर्तमानाः परिवरतेत्यर्थः । अभितः परितः समयाः उति स्मरणात् तद्योगाद् नाभिम् इति द्वितीया अ ॥

हे सांमनस्यकी इच्छा करने वालों ! तुम्हारी एक ही पौ हो और अन्नभाग भी समान ही हो अर्थात् परस्पर अनुरागके कारण तुम एक जगह ही अन्न पान आदिका उपभोग करो इ अ लिये मैं तुमको एक स्तेहपाशमें साथ २ बाँधता हूँ जैसे अरे

#### ( २७० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

नाभिका आश्रय करके रहते हैं तैसे ही तुम एक ही फलको चाहने वाले बन कर अग्निकी पूजा करो।। ६।। सप्तमी।।

स्धीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्स्वननेन् सर्वान् ।

देवा इवामृतं रच्नेमाणाः सायंत्रातः सौमन्सो वो अस्तु

स्ध्रीचीनान् । वः । सम्ऽमनसः । कृणोिमः । एकऽरनुष्टीन् । सम्ऽवननेन । सर्वान् ।

देवाःऽइव । अमृतम् । रत्तमाणाः । सायम् अपातः । सौमनसः । वः । अस्तु ॥ ७॥

सधीचीनान् सह पर्वतमानान् एककार्यकरणे सहोद्युक्तान् संमन्तरः समानमनस्कान् वः युष्मान् कृणोमि करोमि॥ तथा युष्माकम् एकश्विष्टम् एकविष्यं न्यापनम् एकविष्यस्यान्नस्य भ्रक्तिं वा करोमि। संवननेन वशीकरणेन अनेन सांमनस्यकर्मणा युष्मान् सर्वान्। वशीकरोमीत्यर्थः ॥ अमृतम् द्युलोकस्थम् अजरामरत्वप्रापकं पीयूषं रक्तमाणाः ऐकमत्येन पालयन्तः देवा [ इव ] इन्द्रादयो यथा सौष-नस्ययुक्ता भवन्ति एवं वः युष्माकं सायंपातः एतदुपलक्तिते सर्विस्मन् कालो सौमनसः सौमनस्यं शोभनयनस्कत्वम् [ अस्तु ] भवतु

इति पश्चमं स्कम्

मैं तुमको एकसा कार्य करनेमें महत्त छोर समान मन वाले करता हूँ और तुमको एक मकारका छन्न खाने वाला करता हूँ, इसी वशीकरण कर्मके द्वारा तुम सबको मैं वशमें करता हूँ, स्वर्गमें स्थित छजर छमर करने वाले छम्नुतकी एक मतसे रक्षा

करने बाले इंद्र आदि देवता जैसे शोभन मन वाले रहते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातःकाल आदि सब समय तुम्हारा मन शोभन रहे ७ पञ्चम स्क समाप्त (१०१)॥

"वि देवा जरसा" इति स्केन उपनयनानन्तरम् आयुष्का-पस्य धाणवकस्य शारीरम् आचार्यः अभिमन्त्रयेत्। तथा च कौशिक स्त्रम् । "वि देवा जरसा [ ३, ३१ ] उत देवाः" [ ४, १३ ] इत्यादि "विषासहिस् [ १७, १ ] इत्यभिमन्त्रयते ब्राह्मणोक्तम्" इत्यन्तस् [ कौ० ७, ६ ] ॥

तथा पितृमेधे दहनानन्तरम् उदकसमीपे एतत् स्तः ब्रह्मा जपेत् तथा आग्रहायणीकर्मणि "उदायुपा" [१०,११] इति द्वाभ्याम् उत्तिष्ठेत् । स्त्रितं हि । "आग्रहायण्यां पश्चाद्द अग्रेर्दभेषु" इति प्रक्रम्य "उदायुपेत्यभ्युपोत्तिष्ठति" इति [कौ० ३.७]॥

तथा सोमक्रयणानन्तरम् "उदायुषा" [१०] इति ब्रह्मा उत्तिष्टेत् । तथा च वैतानम् । "क्रीते क्रुरीरं निर्मुष्णाति । उदायु-षेत्युपोत्तिष्ठति" इति [वै० ३. ३] ॥

'वि देवा जरसा' इस स्कासे उपनयनके अनन्तर । आयु चाहने वाले बालकके शरीरका आचार्य अभिमंत्रण करे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—'वि देवा जरसा (३।३१) उत देवाः (४।१३) इत्यादि "विषासहिम् (१७।१) इत्यभिमन्त्रयते ब्राह्मणोक्तम्" इत्यन्तं (कौशिकसूत्र (७)६)"

तथा पितृमेधमें दहनके अनन्तर जलके समीपमें ब्रह्मा इस सकता जप करे।।

तथा आग्रहायणीकर्ममें "उदायुषा" इन दशवीं और ग्यारहवीं ऋचाओं से उठे । इसी बातको कौशिकसूत्र ३ । ७ में कहा है, कि—"आग्रहायण्यां पश्चात् अग्नेर्दर्भेषु" इति प्रक्रम्य "उदायुषे-त्यभ्युपोत्तिष्ठति" ॥ तथा सोमक्रयणके पीछे 'उदायुषा' इस दशवीं ऋचाको पढ़ कर ब्रह्मा उठे । इसी बातको वैतानसूत्र ३ । ३ में कहा है, कि-"क्रीते कुरीरं निर्धुष्णाति । उदायुषेत्युपेत्तिष्ठति" ॥ तत्र प्रथमा ॥

वि देवा जरसावतन् वि त्वमंसे अशंत्या ।

व्यं १ हं सर्वेण पापमा वियद्मेण समायुषा ॥ १॥

वि । देवाः । जरसा । अष्टतन् । वि । त्वस् । अग्ने । अरात्या ।

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्पना । वि । यद्मेश । सम् । आयुषा १

हे देवा देवी अश्वनी इमम् उपनीतं जरसा जरया वयोहान्या व्यव्यतम् वियोजयतम् । जूष् वयोहानी इत्यस्मात् "पिद्धिदादि-भ्योङ्" इति श्रङ् । "जराया जरस् अन्यतरस्माम्" इति जरस् आदेशः क्ष ॥ हे श्रम्ने त्वमपि अरात्या श्रदानेन अमित्रेण या वि योजय ॥ श्रहं च सर्वेण पाप्मना रोगादिदुःखजनकेन पापेन इमं वि योजयामि । यद्मेण च वि योजयामि । श्रायुषा चिरकाल-जीवनेन सं योजयामि ॥

हे अश्वनीकुमार नामक देवताओं ! तुम इस उपनीत वालक को अवस्थाहानिरूप बुढ़ापेसे अलग रिखये । हे अग्ने ! आप भी इसको दानरहितपनेसे और अमित्रोंसे अलग रिखये । और मैं इसको दुःखदायक पापसे अलग करता हूँ यदमारोगसे मुक्त करता हूँ और दीर्घायुसे संयुक्त करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

व्यार्त्या पर्वमानो वि शकः पापकृत्यया ।

व्यं १ हं सर्वेण पाप्मना वि यद्तेण समायुषा ॥२॥

वि । त्र्यार्त्यो । पवमानः । वि । शुक्रः । पापऽकुत्यया ।

वि । श्रहम् । सर्वेण । पाप्पना । वि । यस्मेण । सम् । श्रायुंपा २

पवमानः सर्वत्र संचरन् वायुः आर्त्या रोगादिजनित्तपीडया वि योजयतु ।। शक्रः सर्वकार्येषु शक्त इन्द्रः पापकृत्यया । पापस्य कृत्या करणं पापकृत्या । % "कृञः श च" इति भावे क्यप् % । तया ब्रह्मचारिणं वि योजयतु ।।

सर्वत्र विचरण करने वाले वायुदेव इसको रोगजनित पीड़ासे युक्त करें और सब कार्यों में समर्थ इन्द्रदेव इस ब्रह्मचारीको पापके करनेसे अलग रक्खें और मैं इसको रोग आदि दुःखको देने वाले पापसे अलग रखता हूँ, राजयच्मारोगसे अलग रखता हूँ और दीर्घायुसे संयुक्त करता हूँ ॥ २ ॥

वृतीया ॥

वि याम्याः पृशवं आर्ग्यैर्व्याप्रस्तृष्णयासरन्। व्यं १ हं सर्वेण पाप्मना वि यद्मेण समायुषा ३

वि । ग्राम्याः । पृश्वंः । श्रार्एयैः । वि । श्रापः । तृष्णंया । श्रसरन् ।

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्पना । वि । यद्मेण । सम् । आयुषा
ग्राम्याः ग्रामे भवा गोमहिषाद्याः पशवः आरएयैः अरएयोत्पन्नैः
स्वापदादिभिर्दुष्टमृगैः स्वभावतो विगता यथा भवन्ति । यथा च आपः तृष्णया पिपासया व्यसरन् विगता भवन्ति । जलव्यति-रिक्तस्य हि प्राणिजातस्य पिपासा । एवम् अहं सर्वेण पाप्पना ब्रह्मचारिएं विगमयामीत्यर्थः । गतम् अन्यत् ।।

ग्राममें रहने वाले गौ भैंस आदि पशु जैसे जंगलमें रहने वाले मांसभची सिंह आदिसे स्वभावतः अलग रहते हैं और जल-

#### ( २७४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

रहित पिलासे पाणीकी पियाससे जल जैसे अलग होते हैं। इसी प्रकार मैं भी सब पापोंसे ब्रह्मचारीको अलग रखता हूँ यदमा-रोगसे ब्रह्मचारीको अलग रखता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ॥३॥

चतुर्थी ।।

वीर्भे द्यावांपृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् । व्यंश्हं सर्वेण पापमना वि यदमेण समायुषा ॥२॥

वि । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । इतः । वि । पन्थानः

दिशम् अदिशम् ।

वि । ग्रहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यच्मेण । सम् । श्रायुषा ॥ ४ ॥

इमे परिदृश्यमाने द्यावापृथिवी द्यावापृथिवयो वीतः विगच्छतः स्वभावतो वियुक्ते एव भवतः । दिशंदिशम् एकम्माद्धः ग्रामात् प्रतिदिशं गच्छन्तः पन्थानः मार्गाः वि यन्ति स्वभावतो विगताः पृथगवस्थाना भवन्ति । यथैवं तथा इमं माणवकं सर्वेण पाप्मना स्वभावतो वियुक्तं करोमि । गतम् अन्यत् ॥

ये द्यावापृथिवी स्वभावतः अलग २ होते हैं, एक ग्रामसे द्सरी दिशाओंको जाने वाले मार्ग भी स्वभावतः अलग अलग ही स्थित होते हैं, इसी प्रकार में इस वालकको पापोंसे स्वभावतः अलग करता हूँ, यद्मारोगसे अलग करता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

त्वष्टां दुहिन्ने वहतुं युन्कीतीदं विश्वं भुवनं वि याति । व्यश्हं सर्वेण पापना वि यद्मेण समायुषा ॥ ५॥

(२७५)

त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । युनुक्ति । इति । इदम् । विश्वम् । अर्वनम् । वि । याति ।

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मनां । वि । यत्त्रमेण । सम् । आयुंषा ॥ ५ ॥

त्वष्टा देवो दुहित्रे विवाहकाले स्वदुहितृपीत्यर्थं वहतुम् । पुरुषेक्ष ते जापातृग्रहं प्राप्यत इति वहतुः । दुहित्रा सह प्रीत्या प्रस्थापनीयं वस्नालंकारादि द्रव्यं वहतुशब्देन विविक्तितम् । "मा हिंसिपुर्वहतुम् उद्यमानम्" [१४. २. ६] इत्यादिमन्त्रान्तरप्र-सिद्धम् । तद्भ युनक्ति प्रस्थापयित इति बुद्धचा तस्य स्रवकाशं दातुम् इदं विश्वं अवनम् पृथिव्यन्तरिक्तादिरूपं वि याति परस्परं विगतं भवति । एवम् स्रहम् इमं माणवकं पाप्मना वियोजयामी-त्यर्थः । गतम् स्रन्यत् ॥

त्वष्टा देवताने श्रपनी पुत्रीके विवाहके समय दहेज भेजा था ( उसको देख कर ) उसको जानेके लिये स्थान देनेके लिये यह सारा पृथिवी श्रीर अन्तरित्त परस्पर अलग होगया था। इसी प्रकार में इस वालकको पापसे मुक्त करता हूँ यच्मारोगसे मुक्त करता हूँ श्रीर दीर्घायुसे संयुक्त करता हूँ ॥ ४ ॥

षष्टी ॥

अिंशः प्राणान्त्सं दंधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः । व्यं १ हं सर्वेण पापना वि यद्मेण समायुषा ॥६॥ अभिः । प्राणान् । सम् । दुधाति । चन्द्रः । प्राणेन । सम् ४ हितः । वि । अहम् । सर्वेण । पापना । वि । यद्मेण । सम् । आयुषा ॥६॥

#### (२७६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

त्राणान् चन्नुरादीन्द्रियाणि अन्नरसप्रापणेन सं द्धाति संहितान् संश्लिष्ठान् स्वस्वकार्यसमर्थान् करोति । तथा चन्द्रः सोमः प्राणेन प्राणावायुना तदाधारभूतेन मनसा वा संहितः सन् अमृतमयेन रसेन कृत्स्नम् आत्मानं पोषयतीत्यर्थः । "एतावद् वा इदम् अन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नम् अग्निरन्नादः" इत्यादिश्रुतेः अग्नी-पोमात्मकत्वाद्व विश्वस्य अत्र तयोरुपादानम् । गतम् अन्यत् ॥ खाये पियेको पचाने वाला श्ररीरके भीतर स्थित जाठराग्नि

चत्तु त्रादि पाणोंको अन्नका रस प्राप्त करा कर अपने २ कार्य को करनेमें समर्थ करता है, इसी प्रकार चन्द्रमा प्राणवायुसे वा आधारभूतमनसे संहित होकर अमृतमय रससे आत्माका पोषण करता है। मैं इस वालकको सब प्रकारके पापोंसे मुक्त करता हूँ, यद्मारोगसे मुक्त करता हूँ और आयुसे सम्पन्न करता हूँ ६

सप्तमी ॥

प्राणेनं विश्वतीवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।

ब्यं १ हं सर्वेण पाप्मना वि यद्मेण समायुंषा ॥ ७॥

माणेन । विश्वतः ऽवीर्यम् । देवाः । सूर्यम् । सम् । ऐर्यन् ।

वि । ऋहम् । सर्वेण । पाप्पनां । वि । यत्त्र्पेण । सम् । ऋार्युषा ॥ ७॥

विश्वतः सर्वतो वीर्यम् वीर्यभूतं सूर्यम् सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरकम् आदित्यं प्राणेन जगत्प्राणरूपेण देवाः समैरयन् सर्वत्र पावर्तयन् । "योसौ तपन्तुदेति । स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदायोदेति" [तै० आ० १.१४.१] इत्यादिश्रुतेः । अतस्ता- दृशं प्राणात्मकं सूर्यं माणवके आयुषोभिद्यद्वये संस्थापयामीत्यर्थः ॥

सब श्रोरसे वीर्यरूप सब पाणियोंके परिक सूर्यदेवको जगत्के

पाणरूपसे देवताओंने पटत किया था † । अतः ऐसे पाणात्मक सूर्यदेवको में वालकमें आयुर्दे दिके लिये स्थापित करता हूँ, इस वालकको में रोगोत्पत्तिके कारण सव पापोंसे अलग करता हूँ, यच्मारोगसे दूर रखता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ७ अष्टमी ।।

आयुष्मतामायुष्कृतीं प्राणेनं जीव मा मृथाः । व्यंशृहं सर्वेण पापमना वि यदमेण समायुषा ॥ = ॥

त्रायुष्मताम् । त्रायुः ऽकृताम् । पाणेन । जीव । मा। मृथाः ।

वि । ऋहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यत्त्रमेण । सम् । श्रायुषा

श्रायुष्मताम् प्रशस्तेन दीर्घेण श्रायुषा तद्वताम् श्रायुष्कृताम् तादृशस्य श्रायुषः कत् णां देवानां संविन्धना प्राणेन दृदतरेण चिरकालावस्थायिना प्राणवायुना हे माणवक जीव प्राणान् धारय चिरकालं वर्तस्व । मा मृथाः प्राणान् मा त्यात्तीः । % "स्रियनतेल् ङ्लिक्येश्व" इति श्रात्मनेपदम् । "हस्वाद् श्रङ्गात्" इति सिज्लोपः % ॥

श्रायु वालोंकी प्रशस्त दीर्घायुसे श्रोर श्रायु करने वाले देव-ताश्रोंके चिरकाल तक स्थिर रहने वाले परम दृढ़ प्राणवायुसे हे बालक ! तू प्राणोंको चिरकाल तक धारण कर, प्राणोंको पत त्याग, मैं तुभको सब पापोंसे छुड़ाता हूँ, यच्मारोगसे छुड़ाता हूँ श्रीर दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ॥ = ॥

ं तैत्तिरीय आर्एयक १।१४।१ में कहा है, कि-"योऽसी तपन्तुदेति। स सर्वेषां भूतानां प्राणान आदायोदेति॥ यह जो ताप देते हुए सूर्य उदय होते हैं। यह प्राणियों के प्राणों को साथ लोते हुए उदित होते हैं"॥

नवमी ॥

प्राणिनं प्राण्तां प्राण्हित भंतु मा स्रंथाः । व्यंश्हं सर्वेण पाप्पना वि यद्मंण समायुंपा ॥ ६ ॥

मारोन । प्राणताम् । प्र । अन् । इह । एव । भव । मा। मृथाः ।

वि । ऋहम् । सर्वेण । पाष्मना । वि । यद्त्रेण । सम् । आयुपा ६

प्राणताम् प्राणनव्यापारं कुर्वतां श्वसतां प्राणिनां सर्वेषां संव-निधना प्राणेन प्राणवायुना हे माणवक प्राण प्राणनव्यापारं कुरु । ततश्च इहैव श्रस्मिन्नेव लोके भव वर्तस्व । मा मृथाः मा प्राणां-स्त्याचीः । यद्वा हे प्राण इहैव माणवके भवेति योज्यम् ॥

पाणन व्यापार करने वाले सब पाणियोंके स्वाससे हे बालक ! तू पाणनका अर्थात् स्वास लेनेका व्यापार कर । इसी लोकमें रह व्यर्थ ही मत मर, मैं तुभे सब पापोंसे छक्त करता हूँ, यक्त्मारोगसे छुड़ाता हूँ तथा दोर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ॥६॥

दशमी ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।

व्यंश्हं सर्वेण पापमना वि यदमेण समायुंषा ॥१०॥

उत् । त्रायुषा । सम् । त्रायुषा । उत् । त्रोषधीनाम् । रसेन । वि । त्रहम् । सर्वेण । पाप्पना । वि । यच्मेण । सम् । त्रायुषा १०

अस्थामेति उपरि वदयमाणा किया अत्रापि उपसगेंण संब-ध्यते । आयुषा जीवनेन चिरकालावस्थानेन वयम् उत् अस्थाम उत्थिता मृत्योरुत्तीर्णा भवाम ॥ तथा तादृशेन आयुषा सम् अस्थाम अस्मिन लोके सम्यक् स्थिता भवाम । ओषधीनाम् त्रीहियवादीनां रसेन आयुष्करेण सारेण उत् अस्थाम उत्थिताः भरुद्धा अभूम ॥ स्पष्टम् अन्यत् ॥

हम आयुके प्रभावसे मृत्यसे उत्तीर्ण होते हैं तथा आयके द्वारा हम इस लोकमें स्थित होते हैं और जो धान आदि औप-धियोंके आयुःपद रससे हम बढ़ते हैं। मैं सब रोगोंके कारण पापसे तुम्कको अलग करता हूँ, यद्तमारोगसे अलग रखता हूँ और दीर्घायुसे सम्पन्न करता हूँ ॥ १०॥

एकादशी ॥

ञ्जा पुर्जनयंस्य वृष्टचोदंस्थामामृतां व्यम् ।

व्यं १ हं सर्वेण पाप्मना वि यद्मेण समायुंषा ॥११॥

श्रा । पूर्जन्यस्य । दृष्टचा । उत् । श्रस्थाम् । श्रमृताः । वयम् ।

वि । ऋहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यच्मेर्ण । सम् । ऋायुषा ॥११॥

श्रा समन्तात् स्थितस्य पर्जन्यस्य दृष्टिकारिणो देवस्य संब-निधन्या दृष्ट्या जगत्याणभूतेन वर्षजलेन वयम् श्रमृताः मरण-रहिता श्रमृतत्वं पाप्ताः सन्तः उत् श्रस्थाम उत्थिता भवाम । % "अन्द्रसि लुङ्लङ्लिटः" इति तिष्ठतेलुङ् । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । श्रमृता इति । "नत्रो जरमरिमत्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् % । व्याहम् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[ इति ] तृतीये काएडे षष्टेनुवाके षष्टं सूक्तम् । वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दे निवारयन् । पुमर्थाश्चतुरो देयाद्व विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरंधरेण

सायणाचार्येण विरचिते अथर्ववेदार्थप्रकाशे

वृतीयकाएडः समाप्तः॥

#### (२८०) अथववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हम वर्षा करने वाले पर्जन्यदेवके जगत्के पाए भूत वर्षाजल से अमृतत्वको पाकर उठते हैं। मैं सब रोगोंके कारण पापसे तुभको मुक्त करता हूँ, यद्मारोगसे तुभको मुक्त करता हूँ श्रीर दीर्घायुसे तुभको सम्पन्न करता हूँ।। ११।।

तृतीयकाण्डके छठे अनुवाकमें छठा स्क समाप्त (१०२)॥ छठा अनुवाक समाप्त

इति श्री त्रथर्ववेदसंहिताका तृतीयकाएड ऋ० छ० प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका सम्पादक ऋ० छ० प० रामचन्द्र शर्मा कृत सायणभाष्यानुकृल भाषानुवाद सहित समाप्त.

तृतीयः कागडः समाप्तः





# अथर्ववेदसंहिता है-



## चतुर्थं-काग्डम्

## सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत्। निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

।। अ श्रीगणेशाय नमः अ।। वेद जिनके निःश्वासरूप हैं श्रीर वेदोंसे जिन्होंने सम्पूर्ण जगत्को रचा है, उन विद्यातीर्थ-महेरवरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

चतुर्थे काएडे अष्टानुवाकाः । तत्र पथमेनुवाके पश्च स्कानि । तत्र "ब्रह्म जज्ञानम्" इति त्र्याद्यं सूक्तं वेदकल्पाद्यध्ययनादौ विव्र-शमनार्थम् शास्त्रवादादौ पतिवादिजयार्थं च जपेत् । सूत्रितं हि । "ब्रह्म जज्ञानम् इत्यध्यायान् उपाकरिष्यन्नभिव्याहारयति प्राशम् आरूयास्यन् ब्रह्मोद्यं वदिष्यन्" इति [ कौ० ५. २ ] ॥

तथा गोपुष्टिकर्मणि गवां रोगशमने च अनेन सुक्तेन लवणम् अभिमन्त्र्य गाः पाययेत् ॥

तथा अनेनैव प्रपातटाकादिस्थम् उदकम् अभिमन्त्रय गाः पाययेत्।। सूत्रितं हि । "ब्रह्म जज्ञानम् [ ४. १ ] त्र्या गावः [ ४. २१ ] एका च मे [ ५. १५ ] इति गा लवर्ण पापयत्युपतापिनीः मज-ननकामाः । प्रपाम् अवरुणद्धि" इति [ कौ॰ ३. २ ] ॥

"ब्रह्म जज्ञानम्" इति आद्या बृहद्गणे पठिता । तस्य बृहद्ग-णस्य यत्र यत्र विनियोगस्तत्रतत्र अस्या विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

तथा विवाहे चतुर्थिकाकर्माण "ब्रह्म जज्ञानम्" इत्यनया वरः ऋंगुष्ठेन प्रजननदेशं तुदति । सूत्रितं हि । "ब्रह्म जज्ञानम् इत्यंग्य-ष्टेन व्यचस्करोति" इति [ कौ० १० ५ ] ॥

उपाकर्मिणि च "ब्रह्म जज्ञानम्" इत्येताम् उपाध्यायो जपेत् । सुत्रितं हि । "अव्यसश्च [ १६.६८ ] इति जपित्वा सावित्रीं ब्रह्म

जज्ञानम् [१] इत्येकाम् इति [कौ०१४, ३]॥

"ब्रह्म जज्ञानम्" इति द्वाभ्यां प्रवर्ण्ये कर्मिण निधीयमानं महा-वीरम् अनुमन्त्रयेत । सूत्रितं हि । "ब्रह्म जज्ञानम् [१] इयं पित्र्या [२] इति शस्त्रवद् अर्धर्चश आहावप्रतिगरवर्जम्" इति । वि०३. ४]।।

तथा श्रित्रचयने हिरण्मयरुक्मम् उपधीयमानं "ब्रह्म जज्ञानम्" इत्यनया श्रतुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "ब्रह्म जज्ञानम् इति रुक्मं

निधीयमानम्" इति [ वै० ५, १ ]।।

तथा "ब्राह्मीं ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च" [न० क० १७ ] इति विहितायां ब्राह्मचां महाशान्तौ "ब्रह्म जज्ञानम्" इति विनियुक्तम् । तद्भ उक्तं नत्त्रत्रकल्पे । "ब्रह्म जज्ञानम् ब्रह्म भ्राजत्" इति [न० क० १८ ]।।

तथा तुलापुरुषविधौ "ब्रह्म जज्ञानम्" इति जुहुयात् । तद्भ उक्तं परिशिष्टे । "श्रथातस्तुलापुरुषविधि व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य "महाव्याहृतिं सावित्रीं शान्ति ब्रह्म जज्ञानम् इति हुत्वा" इति प० ११. १ ]।।

चतुर्थ काण्डमें आठ अनुवाक हैं। इनमेंके पहिले अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस प्रथमस्क्तका वेदकल्प आदिके अध्ययनके आरम्भमें विद्यशमनके लिये किये जाने वाले शास्त्रवादकी आदिमें और पतिवादीका जय करनेके लिये भी जप करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"ब्रह्म जज्ञा-नम् इत्यध्यायान् उपाकरिष्यन्नभिव्याहारयति प्राशं श्राख्या-स्यन् ब्रह्मोद्यं वदिष्यन्" ( कौशिकसूत्र ५ । २ ) ॥

तथा गोपुष्टिकर्ममें त्र्यौर गौत्र्योंका रोग शान्त करनेके लिये भी लवणको अभिमंत्रित कर गौओंको पिलावे।

तथा इसी सुक्तसे पौ वा तालाव आदिके जलका अभिमंत्रण करके गौश्रोंको पिलावे।।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"ब्रह्म जज्ञानम् (४।१) आ गावः (४।२१) एका मे (४।१४) इति गा लवर्णं पाययत्युपतापिनी<mark>ः प्रजनन</mark>कामाः । प्रपाम् अवरुणद्धि" (कौशिकसूत्र ३।२)॥

"ब्रह्म जज्ञानम्" इस पहिली ऋचाका बृहद्गणमें पाठ है। अत एव बृहद्गणका जहाँ २ विनियोग हो तहाँ सर्वत्र इसका विनियोग करना चाहिये।

तथा विवाहके समय चतुर्थिकाकर्ममें वर 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस ऋचाको पढ़ता हुआ अँगूठेसे पजननदेशको तुदन करे। सूत्रमें भी कहा है, कि-''ब्रह्म जज्ञानम् इत्यङ्ग ष्टेन व्यचस्करोति'' ( कौशिकसूत्र १० । ५ ) ॥

उपाकर्ममें भी उपाध्याय 'ब्रह्म जज्ञानम्' इस ऋचाका जप करे। सूत्रमें भी कहा है, कि-"श्रव्यसथ (१६।६८) इति जिपत्वा सावित्रीं ब्रह्म जज्ञानम्(१)इत्येकाम्"(कौशिकसूत्र१४।३)॥

"ब्रह्म जज्ञानम्" स्रादि दो ऋचाओं से प्रवर्ग्यकर्ममें निधीय-मान महावीरका श्रनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"ब्रह्म जज्ञानम् (१) इयं पित्र्या (२) इति शस्त्र-बद्ध अर्धर्चश आहावप्रतिगरवर्जम्" (वैतानसूत्र ३ । ४ )॥

### (२८४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा अग्निचयनमें उपधीयमान हिरएमय रुक्मका 'ब्रह्म जज्ञा-नम्' इस ऋचासे अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—

तथा—"ब्राह्मीं ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च ।।— ब्रह्मवर्च चाहने वालेके वस्त्र श्रीर शयनके श्रिग्निसे जलने पर ब्राह्मी महाशान्तिको करे" इस नत्त्रत्रक्प १७ में विहित ब्राह्मी महाशान्तिमें 'ब्रह्म जज्ञानम्'का विनियोग किया जाता है। इसी वातको नत्त्रत्रक्पमें कहा है, कि—"ब्रह्म जज्ञानम् ब्रह्म भ्राजत्"

तथा तुलापुरुषविधिमें "ब्रह्म जज्ञानम्" इस सूक्तसे आहुति देय । इसी वातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"अथातस्तु लापुरुषविधि व्याख्यास्यामः" ॥

तत्र प्रथमा ॥

ब्रह्मं जुज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुची वेन अविः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सृतश्च योनिमसतश्च

विवंः॥ १॥

बह्म । जज्ञानम् । प्रथमम् । पुरस्तात् । वि । सीमतः । सुऽहचः। वेनः । आवः ।

सः। बुध्न्या । उपडमाः। ग्रस्य । विडस्थाः। सतः। च । योनिम् । ग्रसतः। च । वि । वः ॥ १ ॥

"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" [ तै० आ० ८. १ ] इति त्रय्य-न्तप्रसिद्धं सचित्सुखात्मकम् अपरिच्छिन्नं सर्वजगत्कारणं यत् परं ब्रह्म तत् पुरस्तात् पूर्वस्मिन् काले सृष्ट्यादौ प्रथमम् प्रथम- कार्य हिरएयगर्भरूपं सूर्यात्मकं जज्ञानम् जातम् उत्पन्नम् । उक्तं हि । स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते

इति । यद्दा उक्तलचाणं सूर्यात्मकं परं ब्रह्म पत्यहं पुरस्तातः पूर्वस्यां दिशि पथमं जज्ञानं पूर्वम् आविर्भूतं सत् पथात् स्वतेजसा कृत्स्नं जगद्भ व्यामोतीत्यर्थः । श्रथ वा प्रथमम् मुख्यं सर्वतेजसां प्रधानभूतम् । 🕸 जनी प्रादुर्भावे इत्यस्मात् लिट् कानज्वा" इति कानजादेशः । "गमहन०" इति उपधालोपे "द्विचनेचि" इति स्थानिवन्वाद् द्विर्वचनम् । "पूर्वाधरावराणाम् श्रसि पुरधवश्रेषाम्" "श्रस्तीति च" इति पूर्वशब्दात् सप्तम्यर्थे श्रस्तातिप्रत्ययः तत्संनियोगेन पुर् श्रादेशश्र 🕸 । तच्च पूर्वस्यां दिशि प्रादुर्भूतं हैरएयगर्भं सूर्यात्मकं परमं तेजो वेनः कान्तः मध्य-मस्थानः प्रकाशप्रवर्षणादिहेतुर्देवः । 🕸 वेनो वेनतः कान्तिकर्मणः इति निरुक्तम् [ नि० १०. ३८ ] % । तत्स्वरूपं ''वेनस्तत् परयत्" [ २. १ ] इत्यत्र विस्तरेणोक्तम् । स च दीप्यमानः पर-ब्रह्मात्मको वेनः सीमतः सीमभ्यः लोकपर्यादाभ्यो दिक्षान्त-देशेभ्यः त्रारभ्य सुरुचः शोभना दीप्तीः स्वकीयाः सुष्ठु रोच-मानान् लोकान् वा व्यावः विदृणोति विशेषेण आहणोति । प्रभा-मग्डलेन अन्धतमसं निराकृत्य सर्वे जगत् बादयतीत्यर्थः 🛞 सीमत इति । सीमन्शब्दात् ''अपादाने चाहीयरुहोः" इति तसिप्रत्ययः । आवरिति । वृञ् वरणे इत्यस्मात् "छन्दिस लुङ्-लङ्लिटः" इति वर्तमाने लुङ्। "मन्त्रे घस०" इत्यादिना च्ले-र्जु क् । इन्डचादिलोपे ''अन्दस्यिप दश्यते'' इति आडागमः 🛞 ॥ न केवलं पार्थिवानेव लोकान् आरुणोति आन्तरिचानपीत्याइ स इति । स च सूर्यात्मको वेनः बुध्त्याः बुध्नम् अन्तरिक्तम् तत्र भवा बुध्न्याः । 🕸 "भवे छन्दसि" इति यत् 🕸 । श्रस्य कारणभूतस्य ब्रह्मरास्तेजसा उपमाः उपमीयमानाः परिच्छिद्यमाना विष्ठाः विवि-

धम् अवस्थिताः । ईदृशान् आन्तरित्तानपि लोकान् व्यावरिति संबन्धः। 🕸 उपमा इति । "आतश्रोपसर्गे" इति कर्मणा अङ् मत्ययः। विष्ठा इति। विपूर्वति तिष्ठतेः "त्रातश्चोपसर्गे" इति दर्तिर कः 🕸 । यद्वा अस्य पपश्चस्य विष्ठाः विविधा अव-स्थितीः वियदादिभूतथौतिकात्मिकाः च्यावृणोति । 🕸 ''त्र्यात-थोपसर्गे" इति भावे ऋङ् । "उपसर्गात् सुनोति०" इत्यादिना षत्वम् 🕸 ॥ किं बहुना । सतश्च विद्यमानस्य अभिन्यकतनाम-रूपप्रपञ्चस्य योनिम् कारणम् असतश्च अन्याकृतावस्थस्य अनिभव्यक्तनामरूपात्मकस्य प्रपश्चस्य योनिस् कार्गाभूतां सन्व-रजस्तयोग्रणात्मिकां सृलपकृतिं वि वः विष्टणोति व्यामोति । 🕸 पूर्ववत् लुङ् 🕸 । यद्दा सच्छब्देन चत्तुर्शाग्धं पृथिव्यप्तेजो-लक्ष्णं भूतत्रयम् उच्यते। श्रसच्छब्देन च परोक्तं वाय्वाकाशलक्षणं धूतदृयस् उच्यते। एतच मत्यत्तपरोत्तभेदेन द्वैविध्यम् अन्यत्र आ-झातम् । "सच त्यचाभवत्" [तै० त्रा० ८. ६] इति ॥ एतद् उक्तं भवति । उदीरितलच्चाणं परं बह्म स्वमायाशक्तिवशेन आदि-त्यापरपर्यायो वेनो भूत्वा स्वतेजसा भूतभौतिकात्मकं जगत् सका-रणकं व्यामोतीति ॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस तैत्तिरीय आरएयक द्र । १ में प्रसिद्ध सत्-चित्-स्रखात्मक अपरिच्छिन्न तथा सब जगत्का कारण जो परब्रह्म है वह पहिले सृष्टिकी आदिमें प्रथमकार्य हिरएयगर्भरूप सूर्यरूपमें उत्पन्न हुआ है ‡ वह पूर्वदिशामें उदय हुआ हिरएयगर्भका सूर्यात्मक परम तेज वेन है अर्थात् कान्ति फैलाने वाला है तथा प्रकाश और वर्षाका कारण मध्य-

<sup>‡ &</sup>quot;स वै शरीरी मथमं स वै पुरुष उच्यते। वही मथम शरीर-धारी हैं वही पुरुष कहलाते हैं।"

मस्थानीय देवता है †!। वह दमकता हुआ परब्रह्मात्मक वेन ( आदित्य ) लोकमर्यादाके लिये वाँधी हुई दिशाओं के कोनोंसे लेकर सुन्दर कांति वाले लोकों तकको व्याप्त कर देता है अर्थात् प्रभामएडलसे अंथकारको दूर कर सव जगत्को छा लेता है। वह केवल पार्थिव लोकोंको ही नहीं छा लेता है, किंतु वह सूर्या-त्मक वेन कारणभूत ब्रह्मके तिजसे परिच्छिन्न अनेक प्रकारसे स्थित अन्तरिचके लोकोंको और इस प्रपश्चकी स्थितिके कारण **ञ्चाकाश ञ्चादि भूत भौतिक स्थितियोंको व्याप्त कर लेता है** । अधिक क्या कहें, सत् अर्थात् विद्यमान प्रकट नाम और रूप प्रपञ्चकी और असत् अर्थात् अपकट अवस्थामें स्थित नामरूप वाले पपश्चकी कारण सन्धरजस्तमोग्रणरूपा सूल-प्रकृतिको भी व्याप्त कर लेता है अौर सत्—चजुसे ग्रहण करने योग्य पृथ्वी जल और तेजरूप तीन भूतोंको तथा असत्—परोत्त वायु त्र्याकाशरूप दो!भूतोंको भी व्याप्त कर लेता है +। तात्पर्य यह है, कि-पूर्वोक्त लक्तण वाला परब्रह्म अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे त्रादित्य ( वेन ) वन कर ऋपने तेजसे भूत समृह और भूतोंसे बने हुए कारणसहित पूर्ण जगत्को व्याप्त कर लेते हैं १ द्वितीया !!

इयं पित्रया राष्ट्रयेत्वये प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः । तस्मा एतं सुरुचं हारमहां घमं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे

<sup>†</sup> इसका स्वरूप 'वेनस्तत् पश्यत्' इस द्वितीयकाण्डके प्रथम सूक्तमें विस्तारपूर्वक दिखाया है।।

<sup>+</sup> प्रत्यत्त त्र्यौर परोत्त ये भूतों के दो भेद अन्यत्र भी कहे हैं, कि—"सचत्यचाभवत्" (तैतिरीय आरएयक = । ६ )।।

#### ( २८८ ) अथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

इयम्। पित्र्या। राष्ट्री। एतु । अग्रे। प्रथमाय। जनुषे। भुवने उस्थाः। तस्मे । एतम्। सु उरुचम्। हारस्। अहाम्। धर्मस्। श्रीणन्तु । प्रथ-

माय । धास्यवे ॥ २ ॥

पित्रया । पिता कृत्स्नस्य जगत उत्पाद्यिता प्रजापितः । तत् आगता । क्ष "पितुर्यच" इति यत् प्रत्ययः क्ष । अवनेष्ठाः अवने भूतजाते नादात्मना न्याप्य तिष्ठतीति अदनेष्ठाः उक्तं हि आचार्यैःशब्दब्रह्मप्रकर्णे ।

> स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः। आविभीवति देहेषु माणिनाम् अर्थविस्तृतः॥

इति ॥ इयम् परिदृश्यमाना शब्दश्रह्मात्मिका वाग्देवता राष्ट्री । ईश्वरनामैतत् । राज्ञी सर्वजगद्मवहारस्य ईश्वरा नियन्त्री प्रथमाय प्रथमशब्दवाच्याय प्रागुक्ताय ब्रह्मणे जनुषे सूर्यात्मना जायमानाय। अ जनेरुसिः [ उ० २.११४] इति कर्तरि उसिप्रत्ययः । "क्रियायहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी अ । जायमानं प्रथमं सुख्यम् आदित्यात्मकं ब्रह्म अग्रे पूर्वम् एतु । स्तुतिष्ठ्वेण व्यामोतु । यद्वा इयं भूमिः पित्र्या पितुः कश्यपाद् [ आगता राष्ट्री स्वा]श्रितस्य जगतो नियन्त्री प्रथमाय स्वर्गादिभोगयोग्याय जनुषे जन्मने । अ ताद्रथ्ये चतुर्थी अ । तद्रथम् अग्रे प्रथमम् एतु प्रवन्याधिष्ठानतां प्रामोतु । यः प्रवर्गात्मक आदित्यः स्वनेष्ठाः स्वन्याधिष्ठानतां प्रामोतु । यः प्रवर्गात्मक आदित्यः स्वनेष्ठाः स्वनशब्दवाच्यं लोकत्रयं व्याप्य स्थितः । तस्मै तादृशाय प्रथमाय धास्यवे । धासिरित्यन्ननाम । हिवर्लन्तणम् अन्नम् इच्छते देवाय स्वय्य सुद्ध रोचमानं द्वारम् कृटिलं वर्तमानम् । अ ह्व कौटिल्ये इत्यस्मात् एयन्तात् पचाद्यच् । यद्वा ह्वर्यते कौटिल्येन प्राप्यत इति ह्वारः । कर्पणि घत्र् । "कर्षात्वस्रः" इति अन्तोदात्तत्वम् अ ।

अह्मम् । 🛞 अहि गतौ 🛞 । गन्तव्यं सुकृतविशेषैः प्राप्यम् । यद्वा श्रहनि भवः श्रहाः । 🕸 "भवे छन्दसि" इति यत् । "नस्ति द्वते" इति टिलोपः। "ब्रह्मष्टलोरेव" इति नियमस्तु "सर्वे विधय छन्दसि विकल्प्यन्ते" इति प्रवर्तते अः। एवं गुराविशिष्टम् एतं घर्मा म् प्रवर्ग्य हिवः श्रीणन्तु ऋत्विजः पयसा संस्कुर्वन्तु । यद्वा । अश्रीज् पाके अः। पचन्तु तपन्तु ॥

प्रजापित सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करनेसे पिता कहलाते हैं उन पितासे त्राई हुई भुवन भरके माणियोंमें नादरूपसे व्याप्त होकर रहने वाली ‡ यह शब्दब्रह्मरूपा वाग्देवता जगतके सम्पूर्ण व्यवहारोंकी ईश्वरी है यह प्रथमशब्दवाच्य सूर्यरूपसे उत्पन्न हुए ब्रह्मके त्रागे त्रावे त्रर्थात् स्तुतिरूपसे न्याप्त होजावे। श्रथवा -यह भूमि पिता कश्यपके पाससे आई हुई है और अपने त्राश्रित जगत्की स्वामिनी है वह प्रथम अर्थात् स्वर्गे आदि भोगके योग्य जन्मके लिये प्रवर्ग्यकी अधिष्ठानताको प्राप्त होवे ॥ जो प्रवर्ग्यात्मक आदित्य तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर स्थित हैं, उन पहिलो ही हविरूप अन्नको चाहने वाले कुटिलगामी और जिनको पुएयोंसे पाप्त किया जाता है उन प्रकाशमय सूर्यदेवके लिये ऋत्विज् इस वर्म प्रवर्ग्य हविको दुग्धसे संस्कृत करें ॥२॥ वृतीया ॥

प्र यो जज्ञे विद्वानंस्य बन्धुविश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ।

‡ आचार्योंने कहा भी है, कि-"स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः । आविभवति देहेषु पाणिनां अर्थविस्तृतः ॥-वह वह शब्दब्रह्म सबमें पुरा हुआ है, प्राणिसमूहके पकट होने पर उनके अर्थसे विस्तारको प्राप्त होकर वह प्रकट होता है"।।

ब्रह्म ब्रह्मण उड्जभार मध्यान्नीचैहचैः स्वधा अभि प्रतस्थी ॥ ३ ॥

म । यः । जुज्ञे । बिद्धान् । अस्यु । बन्धुः । विश्वा । देवानाम् ।

जनिम । विवक्ति ।

ब्रह्म । ब्रह्मणः । उत् । जभार । मध्यात् । नीचैः । उच्चैः । स्वधाः । अभि । प्र । तस्थौ ॥ ३॥

श्रस्य प्रपश्चस्य बन्धुः वन्धकः कारणभूतः यद्दा वन्धुवत् हितकारी विद्वान् निरावरणज्ञानेन सर्वे जगत् जानन् यो देवः प जज्ञे प्रथमम् उत्पन्नः । ॐ जनी पादुभवि इत्यस्मात् लिटि "गमहन०" इति उप-धालोपः 🕸 । यद्वा । 🕸 जानातेर्लिट् 🕸 । म जज्ञे मजानीते । अध्यातो लोप इटि च" इति आल्लोपे कृते "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवद्भावात् साच्कस्य द्विर्वचनम् । "यद्षृत्रतान्नित्यस्" इति निघातप्रतिषेधः 🍪 🕴 स प्रथमजो देवः देवानाम् अन्येषाम् इन्द्रा-दीनां विश्वा विश्वानि सर्वाणि जनिमा जन्मानि विवक्ति अन्येभ्यः कथयति । 🥹 वच परिभाषणे । त्र्यादादिकः । छान्दसः शपः रुतुः 🛞 । स च ब्रह्मणः कारणभूतात् परत्रह्मणः सका-शात् त्रयीरूपं ब्रह्म मध्यात् मध्यभागात् नीचैः अधोभागात उच्चैः उपरिभागाच्च उत् जभार उज्जहार उद्धृतवान् । अ"हुग्र-होर्भः ॰ " इति भत्वम् 🕸 । एवं वेदस्य उद्धरणे सति स्वधाः । अन्ननामैतत् । चरुपुरोडाशहविर्लन्तणानि अन्नानि अभिल्च्य अग्न्यादिर्देवः म तस्थौ माप्तवान् । यद्वा वेदवाक्यविहितानि हवींषि ऋत्विग्भिद्त्तानि देवान् अभिल्च्य प्र तस्थौ प्रतस्थिरे। वचनव्य-त्ययः। %''समवप्रविभ्यः स्थः'' इति त्र्यात्मनेपदाभावश्ळान्दसः%

इस पपश्चके बाँधने वाले कारण और वन्धुकी समान इस पपञ्चका हित करने वाले तथा आवरणरहित ज्ञानसे सब जगत को जानने वाले जो देव प्रथम उत्पन्न हुए सवकी वातोंको पहिलो ही जानते हैं, वह सूर्यदेव इन्द्र आदि सब देवताओं की उत्पत्तिको दूसरोंसे कहते हैं, उन सूर्यदेवने कारणभूत परब्रह्मसे त्रयीरूप ब्रह्म अर्थात् वेदका मध्यभागसे और उत्परके भागसे उद्धार किया । इस प्रकार वेदका उद्धार होने पर चरु पुरोडाश श्रादि हविरूप अन्न अग्नि आदि देवताओंको पाप्त हुआ है और वेदवाक्यसे विहित हवि आदि अन्न ऋत्विजोंके देने पर देव-ताओंको पाप्त हुए ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही चेमं रोदंसी

असकभायत् ।

महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पर्धिवं

्रच रजः॥ ४॥

सः । हिः । दिवः । सः । पृथिव्याः । ऋतऽस्थाः । मही इति ।

क्षेमम् । रोदसी इति । अस्कभायत् ।

महान् । मही इति । अस्कभायत् । वि । जातः । द्याम् । सब ।

पार्थिवम् । च । रजः ॥ ४ ॥

स हि स खलु सूर्यात्मकः प्रथमजो देवः दिवः दुलोकस्य ऋतस्थाः कारणभूतं यद् ऋतशब्दवाच्यं परं ब्रह्म तदात्मना स्थितः । तथा स एव पृथिव्याः संबन्धिऋतम्थाः सत्यरूपेण

#### ( २६२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

स्थितः । अतो मही महत्यौ रोदसी रोदस्यौ द्यावापृथिव्यौ क्षेमम् अस्कभायत् अविनाशो यथा भवति तथा अस्कभ्नात् स्वस्थाने स्थापितवान् । अ स्कन्भः सौत्रो धातुः गतिमतिवन्धे । "स्त अस्तुन्भुस्कुन्भ्यः रनुश्र" इति श्राप्तत्ययः । "शायच् अन्दिस सर्वत्र" इति अहाविष श्रः शायजादेशः अ । एतदेव विष्टणोति । महान् अधिकः द्यावापृथिव्यौ व्याप्य वर्तमानः मही महत्यौ द्यावापृथिव्यौ अस्कभायत् अस्कभ्नात् ॥ तथा जातः तयोर्मध्ये सूर्यात्मना प्रादुर्भूतः सन् द्याम् द्युलोकात्मकं सद्म सद्नं पार्थिवम् पृथिवी-संवन्धि च रजः लोकम् । अ लोका रजांस्युच्यन्ते इति हि यास्कः [ नि० ४, १६ ] अ। स्वतेजसा व्यामोद् इत्यर्थः ॥ अष्टि पार्थिवम् इति । "पृथिव्या वाजौ" इति अञ् प्रत्ययः अ।

वह सूर्यस्वरूप प्रथम उत्पन्न हुए देव घुलोकका कारणभूत जो ऋत शब्दसे कहा जाने वाला परब्रह्म तदात्म्यभावसे स्थित हैं तथा वही पृथिवीके सत्यरूपसे स्थित हैं अत एव वह विशाल खावापृथिवीमें अविनाशको स्थापित करते हैं (इसीको स्पष्ट करते हैं, कि—) महान सूर्यदेव द्यावापृथिवीको व्याप्त कर विशाल द्यावा पृथिवीको अपनेमें स्थापित करते हैं और उनके मध्यमें सूर्यरूपसे प्रकट होकर स्वर्ग-लोकरूपी भवनको और पृथिवीलोक को अपने तेजसे व्याप्त करते हैं ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

स बुध्न्यादाष्ट्रजनुषोभ्यश्रं बृह्स्पतिर्देवता तस्य सम्राद् । अहर्यच्छुकं ज्योतिषो जिन्षाय द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥ ५ ॥

सः । बुध्न्यात् । त्राष्ट्र । जनुषः । त्राभि । त्राप्रम् । बृहस्पतिः ।

देवता । तस्य । सम्ऽराट् ।

श्चरः । यत् । शुक्रम् । ज्योतिषः । जनिष्ट । श्चथं । द्युऽमन्तः ।

वि । वसन्तु । विषाः ॥ ५ ॥

स परत्रह्मात्मकः प्रथमजो देवः जनुषः जनिमतो लोकस्य बुध्न्यात् । बुध्नं मूलम् । तत्संवन्धिदेशात् रसातलादिल्लणाद आरभ्य तस्यैव लोकस्य अग्रम् उपरिभागम् अभिलच्य आष्ट आश्तुत व्यामोत् । 🏶 अश्र व्याप्तौ इत्यस्मात् लुङि ऊदित्त्वाद इडभावपक्षे "भलो भलि" इति सिचो लोपः 🕸 । त्र्यपि च देवता । अ "देवात् तल्" इति स्वार्थिकस्तल् प्रत्ययः अ । देवो दानादिगुण्युक्तो बृहस्पतिः तस्य जनिमतो लोकस्य सम्राट् सम्यक् राजमानोधिपतिः । ॐ संपूर्वाद्व राजतेः "सत्स्रुद्विष०" इत्यादिना क्विप् । "मो राजि समः क्वौ" इति समो मकारस्य मकारवच-नाद् श्रनुस्वाराभावः 🛞 । यद्दा तस्य प्रथमजस्य देवस्य प्रसा-दात् सम्राट् सम्यक् राजमानः त्रतिशयितदीप्तियुक्तः । वर्तत इत्यर्थः । यत् यदा शुक्रम् दीप्यमानम् त्रहः ज्योतिषो जनिष्ट द्योत-मानात् सूर्योद् उत्पन्नम् अभूत्। अथ अनन्तरं द्यमन्तः दीप्तिमन्तो विपाः मेधाविन ऋत्विजः वि वसन्तु स्वस्वव्यापारेषु विविधं वर्त-न्ताम् । यद्दा विवसतिः परिचरणकर्मा । वि वसन्तु इविभिर्देवान् परिचरन्तु ॥

परब्रह्मात्मक मथम उत्पन्न हुए सूर्यदेव जन्म लेने वालोंके मूल-लोक रसातल आदिके आरम्भसे ऊपर तक व्याप्त हो जाते हैं श्रीर दान श्रादि गुणसे सम्पन्न बृहस्पतिदेव इस उत्पन्न होनेवाले लोकके सम्राट् हैं। जब प्रकाशमय दिन प्रकाशमान सूर्यसे प्रकट होवे । तब दीप्तिमय बुद्धिमान् ऋत्विक् अपने २ व्यापारमें

परृत्त होवें, हविसे देवतात्र्योंकी सेवा करें।। ५।।

षष्टी ॥

नुनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्यं पूर्व्यस्य धामं।
एष जो वहुिभंः साकिमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन् नु ६
नुनम्। तत्। अस्य । काव्यः। हिनोति। महः। देवस्य। पूर्व्यस्य। धामं।
एषः। जन्ने। वहुऽभिः। साकम्। इत्था। पूर्वे। अर्थे। विऽसिते।
ससन्। नु॥ ६॥

काव्यः । कत्रयं ऋत्विजः । तत्संवन्धी यज्ञः काव्यः । स च अस्य दृश्यमानस्य महः महतः पूर्वस्य सर्वदेवेभ्यः प्रथमम् उत्प-नन्मय [देवस्य] तत् धाम तेजोर्ख्णं मण्डलात्मकं स्थानं त्नम् निश्चयं हिनोति प्रेरयति । उद्याद्विं प्रापयतीत्यर्थः । अ हि गतौ दृद्धौ च इति धातुः अ ॥ एष च सूर्यः यहुभिः सहस्रसंख्याकै रश्मिभिः साकम् सार्थम् इत्था अनेन प्रकारेण पूर्वे पूर्वदिक्संव-निधनि विपिते विशेषेण संबद्धे अर्थे देशे ससन् । अन्ननामैतत्। हिवर्लक्षणम् अन्नम् उद्दिश्य चु क्षिपं जज्ञे जायते । उदेतीत्यर्थः । अ इत्थिति । "था हेतौ च च्छन्दिस" इति इदमः थाप्रत्ययः अ ॥

ऋतिवजोंसे सम्बन्ध रखने वाला यज्ञ इन देवतात्रोंमें प्रथम उत्पन्न हुए दश्यमान सूर्यदेवके तेजोमएडलरूप स्थानको उदया-चल पर भेजता है। यह सूर्यदेव पूर्वदिशासे सम्बन्ध रखने वाले देशमें हविरूप अन्नको लच्यमें रखकर शीघ्र ही उदय होते हैं ६ सप्तमी ॥

योथर्वाणं पितरं देवबन्धं बृह्स्पतिं नमसावं च गच्छात्। त्वं विश्वेपां जानिता यथासः कृविर्देवो न दभायत् स्वधावान् ॥ ७॥ यः । अर्थर्वाणम् । पितरम् । देवऽवन्धुम् । वृहस्पतिम् । नमसा । अव । च । गच्छात ।

त्वम् । विश्वेपाम् । जनिता । यथा । असः । कविः । देवः । न। दभायत् । स्वधाऽत्रान् ॥ ७ ॥

यः देवः बृहस्पतिः अथर्वाणम् मजापतिम् । "अथर्वा वैमजा-पतिः" [ गो० त्रा० १. ४ ] इति श्रुतेः । पितरम् लोकस्यो-त्पादकं देववन्धुस् देवानां वन्धुं कारणभूतम् । यद्दा अथर्वाणम् महर्षि पितरम् अस्माकं पितृभूतं देववन्धुम् देवा इन्द्रादयो वन्धवो बान्धवा [ यस्य ] तथाविधं नमसा अन्नेन तथा अव गच्छात् श्रवगच्छेत् जानीयात् यथा येन प्रकारेण त्वं विश्वेषाम् सर्वेषां स्थावरजङ्गमात्मकानां भावानां जनिता जनियता ऋसः भवेः। 🕸 ''जनिता मन्त्रे" इति णिलोपो निपात्यते । अस्तेर्लेटि अडा-गमः 🛞 । कथिः क्रान्तदर्शी स देवः वृहस्पतिः स्वधावान् अन्न-वान् हिवर्लन्तरोन अन्नेन युक्तः सन् न दभायत् न दभ्नोति न हिनस्ति । सर्वम् अनुगृह्णातीत्यर्थः । 🕸 दन्भु दम्भे । व्यत्ययेन श्रा । पूर्ववत् शायजादेशः 🕾 ॥

[ इति ] चतुर्थे काएडे प्रथमेनुवाके प्रथमं सुक्तम् ॥ बृहस्पतिदेव देवताओं के वन्धु हैं वह प्रजापित अथर्वा ‡ को

नगस्कार और अन्नसे इस पंकार सम्पन्न समभ्तें, कि-जिस प्रकार तू सब स्थावर जङ्गमों के भावको उत्पन्न करने वाला हो। वह अतीन्द्रियदर्शी बृहस्पतिदेव हविरूप अन्नसे युक्त होकर हिंसा नहीं करते हैं । सब पर अनुग्रह ही करते हैं ॥ ७ ॥

चनुर्धकाण्डके प्रथम अनुनःकमै प्रथम सुक्त समाप्त (१०१३)॥

‡ गोपथब्राह्मण १ । ४ में कहा है, कि—''श्रथर्या वें प्रजा-पति: ॥-अथर्वा शब्द प्रजापतिका वाचक हैं" ॥

#### (२६६) अथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

"य आत्मदाः" इति सूक्तं वशाशमनकर्मणि शान्त्युदके अनु-योजयेत् । सूत्रितं हि । "य आत्मदा इति वशाशमनम्" इति प्रक्रम्य "शान्त्युदकं करोति तत्रैतत् सूक्तम् अनुयोजयित" इति [कौ॰ ५. ८]।।

तथा संज्ञप्ताया वशाया यदि गर्भी दृश्येत तं गर्भम् अञ्जलौ
गृहीत्वा सूत्रोक्तप्रकारेण अनेन सूक्तेन जुहुयात् । सूत्रितं हि ।
"यद्यष्टापदी स्याद् गर्भम् अञ्जलौ सहिरएयं सयवं वा य आत्मदा इति खदायां ज्यरत्नावग्नौ सकुज्जुहोति" इति [कौ० ५. ६]॥

तथा वशाशमनकर्मिण चरुहोमे अवदानहोमे च एतत् सक्तम्। "य आत्मदा इति वशाशमनम्" [कौ० ५. ८] इति सामान्येन सुत्रितत्वात् ॥

चातुर्मास्ये वरुणमधासारूयपर्विण "य आत्मदाः" इत्यनया कायम् एककपालं इविरनुमन्त्रयते । उक्तं वैताने । "वारुणं मारुतं कायं वरुणोपां य आत्मदाः" इति [ वै २. ४ ] ॥

अधिचयने प्राजापत्यपशोरवदाना तुमन्त्रणे "य आत्मदाः" इति उक्तं वैताने । "य आत्मदा इत्यवदानानाम्" इति [ वै० ५,१]

तत्रैव हिरएमयपुरुषोपधाने "हिरएयगर्भः" [ ७ ] इत्येषा । तद् उक्तं वैताने । "हिरएयगर्भ इति हिरएपुरुषम्" इति [वै०५.१]

'य त्रात्मदा' इस सक्तको वशाशमनकर्मके शान्त्युदकमें अनु-योजन करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—''य आत्मदा इति वशाशमनम्'' इति प्रक्रम्य ''शान्त्युदकं करोति तत्रैतत् सक्तं अनुयोजयति" (कौशिकसूत्र ४। ८)।।

तथा सँज्ञप्ता वशाका यदि गर्भ दीखे तो उस गर्भको अञ्जलि में प्रहण करके सूत्रोक्तरीतिसे इस सक्तसे आहुति देय। इसी वातको कौशिकसूत्र ४। ६ में कहा है, कि-"यद्यष्टापदी स्याद्व गर्भे अञ्जलौ सहिरएयं सयवं वा य त्रात्मदा इति खदा ( ट्वा ) यां त्र्यरतावयौ सकुज्जुहोति" ॥

तथा वशाशमनकर्मके चरुहोममें और अवदानहोममें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है क्योंकि-कौशिकसूत्रमें सामान्यरूपसे कहा है कि-"य त्रात्मदा इति वशाशमनम्"

चातुर्मास्यमें होने वाले वरुणमघास नामक पर्वमें 'य आत्मदा' इस ऋचासे काय एककपाल हिवका अनुमन्त्रण करे। इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"वारुणं मारुतं कायं वरुणोपां य त्र्यात्मदाः" ( वैतानसूत्र २। ४ ) ॥

अग्निचयनमें पाजापत्य पशुके अवदानानुमन्त्रणमें 'य आत्मदा' सुक्त आता है। इसी वातको वैतानसूत्र ४।१ में कहा है, कि-"य त्र्यात्मदा इत्यवदानानाम्" ॥

तहाँ ही हिरएमय पुरुषके उपधानके समय 'हिरएयगर्भः' यह सातवीं ऋचा पढ़ी जाती है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-'हिरएमयगर्भ इति हिरएयपुरुषम्' ( वैतानसूत्र ४ । १ ) ॥

द्वितीयस्वते मथमा ॥

य आंत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासंते प्रशिषं यस्यं देवाः

यो ३ स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषां विधेम

यः । त्रात्मऽदाः । बलंऽदाः । यस्य । विश्वे । जपऽत्रासते ।

मऽशिषम् । यस्य । देवाः ।

यः । श्रस्य । ईशे । द्विऽपदः । यः । चतुःऽपदः । कस्मै । देवाय ।

हविषा । विधेम ॥ १ ॥

#### ( २६८ ) अथववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यः प्रजापतिः त्रात्मदाः सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः त्रात्मानं ददा-तीति त्रात्मदाः । पाणपद इत्यर्थः । बलदा बलस्य पदाता । अधिक्षातो मिनन्०" इति उभयत्रापि विच्यत्ययः अधि विश्वे सर्वे प्राणिनः यस्य देवस्य प्रशिषम् प्रकृष्टं शासनम् आज्ञाम् उपासते भजन्ते । 🛞 श्रास उपवेशने । श्रदादित्वात् शेपो लुक् । दात्तेत्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। ''यद्द्वत्तान्नित्यम्'' इति निघाताभावः। "तिङि चोदात्तवति" इति गतेरनुदात्तत्वम्। प्रशिषम् इति । ''क्वौ चशासः'' इति क्विबन्तस्य शास उपधाया इस्तम्। "शासिवसिघंसीनां च" इति पत्वम् 🕸 । तथा यस्य देवस्य प्रशासनं देवा अपि उपासते । यो देवः द्विपदः पादद्वय-युक्तस्य त्र्यस्य पाणिजातस्य मनुष्यादेः ईशे ईष्टे । 🕸 "लोपस्त **त्रात्मनेपदेषु'' इति तलोपः। पूर्ववत् ल्**सार्वधातुकानुदात्तत्वे धातु-स्वरः 🕸 । तथा चतुष्पदः पाद्चतुष्ट्योपेतस्य गोमहिषादेः प्राणिनः यः ईष्टे तस्मै कस्मै । इदम् ईदृग् इत्यनिरुक्तरूपत्वात् किंशब्दवाच्याय प्रजापतये देवाय । 🏶 "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्म णः संपदा-नत्वात् चतुर्थी अ। ईदृशं देवं हविषा विधेम परिचरेम । अविधितः परिचरणकर्मा । द्विपद इति । द्वौ पादावस्येति विगृह्य समासे ''संख्यासुपूर्वस्य'' इति पादशब्दान्त्यलोपः । ततो ङसि भसंज्ञायां ''पादः पत्'' इति पद्भावः । ''द्वित्रिभ्यां पादन्मूर्घम्रु०'' इति उत्तर-पदान्तोदात्तत्वम् । चतुष्पद इत्यस्यापि रूपसिद्धिरेवमेव । त्रीहौ पूर्वपदमकृतिस्वरत्वं विशेषः 🕸 ॥

जो प्रजापित आत्मदा हैं अर्थात सब प्राणियोंको बल देते हैं श्रीर सब प्राणी उनकी श्रेष्ठ आज्ञाका पालन करते हैं और जिनके शासनकी देवता भी उपासना करते हैं और जो देवता, दो पैर बाले मनुष्य आदि पर शासन करते हैं और जो चार पैर वाले गो भेंस आदि पर भी शासन करते हैं उन प्रजापित-देवकी हम हिवसे सेवा करते हैं ॥ १॥

#### द्वितीया ॥

यः प्राणितो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बुभूवं। यस्यं च्छायामृतं यस्यं मृत्युः कस्मे देवाय हविषां विधेम यः। प्राणतः। निऽमिषतः। महिऽत्वा। एकः। राजा। जगतः। बभूवं। यस्यं। छाया। अमृतम्। यस्य। मृत्युः। कस्मै। देवायं। हविषा। विधेमः।। २ ॥

यः प्रजापितः महित्वा । ॐ तृतीयाया आकारः ॐ । महित्वेन माहात्म्येन प्राणतः प्रश्वसतः श्वासोच्छ्वासव्यापारं कुर्वतः । ॐ श्वस प्राणने अन च इति धातुः । लटः शत्रादेशे अदादित्वात् शपो लुक् ॐ । निमिषतः निमेपणम् अन्तिपचमपित्स्पन्द-ल्वाणं व्यापारं कुर्वतः । ॐ मिष स्पर्धायाम् । अत्रापि पूर्ववत् शति तुदादित्वात् शः । उभयत्र ''शतुरनुमः ं' इति षष्टचा उदात्तत्वम् ॐ । एवंभूनस्य जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य एकः असाधारणो राजा अधिपितः बभूव भवति । ॐ ''छन्दिस लुङ्ल्लुंटः'' इति सार्वकालिको लिट् ''लिति'' इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ॐ । यस्य देवस्य अमृतम् परणाभावोपलिन्तिन्य अमृतत्वं छायेव स्वाधीनं वर्तते । मृत्युः मरणं सर्वजनसंबन्धि छायेव यस्य वशे वर्तते। ॐ अमृतम् इति । ''नञो जरमरिमत्रमृताः'' इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॐ । कस्मै देवायेत्यादि व्याख्यातम् ॥

जो प्रजापित देवता अपने माहात्म्यके कारण श्वास उच्छ्वास करने वाले, पलक मारने वाले जङ्गम प्राणियोंके वड़े अधिपित हैं और मरणके अभावका साधनरूप अमृत छायाकी समान जिन देवताके अधीन हैं और सब प्राणियोंका मरण भी जिनके अधीन है उन प्रजापित देवकी हम हिवसे सेवा करते हैं ॥ २ ॥ वृतीया।।
यं क्रन्दंसी अवंतश्चस्कभाने भियसाने रेदिसी
अहंयथाम्।
यंस्यासी पन्था रजसो विमानः करमे देवाय हृविषा
विधेम।। ३।।

यम् । क्रन्दंसी इति । अवतः । चस्कभाने इति । भियसाने इति । रोदंसी इति । अहयेथाम् ।

यस्य । असौ । पन्थाः । रजसः । विश्मानः । कस्मै । देवाय ।

हविषा । विधेम ॥ ३ ॥

क्रन्दसी क्रन्दिन क्रोशन्ति अनयोराश्रिता जना इति क्रन्दसी यावापृथिन्यो । अक्ष क्रिट् क्रिट आहाने रोदने च इति थातुः । अधिकरणे असुन् प्रत्ययः अ। अवतः । अवनम् अवः । अ'धिकरं किविधानम्'' इति भावे कः अ। अवनात् जगद्रचणाद्धे तोः चस्कभाने संस्तभ्यमाने । यथा अधो न पततस्तथा निराधार-प्रदेशे देवेन धार्यमाणे इत्यर्थः । अस्कन्भेश्छान्दसो लिट् । ''लिटः कानज्वा'' इति तस्य कानजादेशः अ। भियसाने अधः पतनाद् विभ्यत्यो । अभिभी भये इत्यस्माद् औणादिकः असानच् प्रत्ययः अ। रोदसी रोदस्यो द्यावापृथिन्यो । यस्माद् अन्योमिध्ये वर्तमानः प्रजापितः अरोदीत् तस्माद्ध रोदिति अनयोरिति न्युत्पत्त्या रोदसी इति द्यावापृथिन्योनीम संपन्नम् । तथा च तैत्ति-रीयकम् । ''सोरोदीत् प्रजापितः'' इति प्रक्रम्य ''यद्द अरोदीत् तद्द अनयो रोदस्त्वम्'' [ तै० ब्रा० २. २.६.४] इति । ईदृश्यौ

धावापृथिव्यौ त्रात्मरत्त्रणार्थं यं देवम् आह्वयेताम् । यस्य देवस्य संबन्धी असौ द्युलोकस्थः पन्थाः मार्गो रजसः उदकस्य दृष्टिलच-णस्य विमानः विशेषेण निर्माता तस्मै । कस्मा इत्यादि गतम् ॥

जिनके आश्रयमें रहने वाले पाणी क्रन्दन करते हैं वे क्रन्दसी कहाने वाले द्यावापृथिवी जिन देवताकी रत्ताके प्रभावसे स्तंभित होकर नीचे नहीं गिरते हैं। नीचे गिरनेदी आशंकासे डरते हुए इन द्यावापृथिवीके वीचमें वर्तमान प्रजापति रोये अत एव इन द्यावापृथिवीका नाम रोदसी पड़गया है। † ऐसे द्यावापृथिवीने आत्मरत्ताके लिये जिन देवताको पुकारा है और जिस देवताका द्युलोकमें स्थित मार्ग ष्टष्टिके जलको प्रकृष्टरूपसे वनाने वाला है उन प्रजापित देवकी हम हिवसे सेवा करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ।।

यस्य द्यौरुवीं पृथिवी चं मही यस्याद उर्वे १न्तरिचम्। यस्यासौ सूरो वितंतो महित्वा कस्मैं देवायं हविषां विधेम ॥ १८॥

यस्य । द्यौः । उर्वी । पृथिवी । च । मही । यस्य । ऋदः । उरु । अन्तरित्तम्।

† इसी बातको तैत्तिरीयकमें कहा है, कि-"सोरोदीत्प्रजा-पितः" इति प्रक्रम्य "यद् अरोदीत् तत् अनयोरोदस्त्वम् ॥---श्रर्थात् वह प्रजापित रोये इसका आरम्भ करके कहा है, कि-जो रोये यही इन द्यावापृथिवीका रोदस्त्व है" (तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।६।४)॥

### (३०२) अथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यस्य । ऋसौ । सूरः । विऽततः । महिऽत्वा । कस्मै । देवाय ।

हविषा । विधेम ॥ ४ ॥

यस्य देवस्य महित्वा महित्वेन माहात्म्येन द्योः उर्वी विस्तीर्णा जाता । अ उरुशब्दादु "वोतो गुणवचनात्" इति ङीष् अ । पृथिवी च यस्य महिस्ना मही महती विस्तीर्णा जाता । यस्य च माहात्म्येन स्रदः एतद् स्रन्तरित्तम् उरु विस्तीर्णम् स्रभवत् । स्रमौ द्युलोके प्रत्यन्तं दृश्यमानः सूरः सूर्यः यस्य ब्रह्मणो महिस्ना विततः विस्तीर्णो जातः तस्मै । कस्मा इत्यादि समानम् ॥

जिन देवताके माहात्म्यसे द्यों (स्वर्गलोक) विस्तृत हुआ है ख्रोर जिनकी महिमासे पृथ्वी विस्तृत हुई है मही हुई है ख्रोर जिनके माहात्म्यसे यह ख्रन्तरित्त विस्तृत हुख्रा है ख्रोर यह द्युलोकमें प्रत्यत्त दीखते हुए सूर्यदेव जिन ब्रह्मदेवकी महिमासे विस्तृत हुए है उन प्रजापतिकी हम हिवसे सेवा करते हैं ॥ ४ ॥

#### पश्चमी ॥

यस्य तिश्वे हिमवन्तो महित्वा संमुद्दे यस्य रसामिदाहुः। इमाश्चे प्रदिशो यस्य बाह् कस्में देवाय हिविषा विधेम ५ यस्य । विश्वे । हिमऽवन्तः । महिऽत्वा । समुद्दे । यस्य । रसाम्। इत् । आहुः।

इमाः । च । पुऽदिशः । यस्य । वाहू इति । कस्मै । देवाय ।

ह्विपा । विधेम ॥ ४॥

यस्य प्रजापतेर्देवस्य महित्वा महिस्ना विश्वे सर्वे हिमवन्तः हिमवत्पर्वतोपलित्तता महागिरयः संजाताः । यस्य च महिम्ना

समुद्रे उदधो । रसाम् रसोस्याम् अस्तीति रसा नदी । अ अर्श-आदित्वाद् अच् अ । रसित शब्दायत इति वा रसा । अ पचा-द्यच् । रसा नदी भवति रसतेः शब्दकर्मणः इति यास्कः । [ नि० ११. २५ ] जातावेकवचनम् । इच्छब्दः अवधारणे अ । सर्वा नदीः अन्तर्भूता एव आहुः अवन्ति । समुद्रा नद्यश्च यस्य विभूति-रूपा इत्यर्थः । इमाश्च पदिशः पधानभूताश्चतस्रो दिशः यस्य देव-स्य वाह् वाहुभूताः तस्मै । कस्मा इत्यादिगतम् ॥

जिन प्रजापितदेवकी महिमासे यह सम्पूर्ण हिमवान् आदि पर्वत उत्पन्न हुए हैं और जिनकी महिमासे समुद्रमें नदी होती हैं अर्थात् समुद्र और निदयें जिनकी विभूतिरूप हैं और ये चार प्रधान दिशायें जिन देवताकी अंजारूप हैं उन प्रजापितदेवकी हम हिक्के द्वारा सेवा करते हैं।। ५।।

षष्ठी ॥

आपो अथे विश्वंमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋत्जाः। यासुं देवीष्वधिं देव आसीत् कस्में देवायं हविषां विधेम

आपः । अग्रे । विश्वम् । आवन् । गर्भम् । दर्घानाः । अमृताः ।

ऋतऽज्ञाः ।

यास्त्रं। देवीषु । अधि । देवः । आसीत् । कस्मे । देवाय

इविषा । विधेम ॥ ६ ॥

श्रग्रे सृष्टचादौ सृष्टा श्रापः विश्वम् कृत्स्नं जगत् कारणकृषेण श्रवस्थितम् श्रावन् श्ररत्तन् उपचितम् श्रकुर्वन् । कि कुर्वत्यः । गर्भम् विश्वजगद्विधानाय गर्भकृषेण श्रवस्थितं हिरएयगर्भे दधानाः

#### (३०४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

धारयन्त्यः अमृताः अविनाशा ऋतज्ञाः । ऋतं सत्यं जगत्कारणं ब्रह्म । ब्रह्म जानानाः । स्मर्यते हि ।

अप एव समर्जादौ तासु वीर्यम् अवाकिरत् । तद् अएडम् अभवद्धेमम्

इति [ म० स्म० १. ६ ] । अ द्धाना इति । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् । ऋतज्ञा इति । ज्ञा अवबोधने । "आतोनुपसर्गे कः" इति कः अ । यासु अप्सु देवेषु लिङ्गव्यत्ययः । देवीषु देवतारूपासु देवः गर्भभूतः अध्यासीत् । अधिकम् अवर्धतेत्यर्थः । ता आप इति संवन्धः । तस्मै अपां गर्भभूताय । कस्मा इत्यादि ।।

सृष्टिकी आदिमें रचे हुए, जलोंने कारणरूपसे स्थित जगत्की रत्ता की (उसकी रीति यह है, कि—) सम्पूर्ण जगत्की रत्ता करनेके लिये गर्भरूपसे स्थित हिरएयगर्भको धारण करते हुए और ऋत अर्थात् जगत्के कारण ब्रह्मको जानते हुए इन्होंने जगत्की रत्ता की । जिन देवीरूप जलोंमें हिरएयगर्भ गर्भरूपसे बढ़े थे ‡ उन जलोंके गर्भभूत मजापतिकी हम हिवसे सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

हिरग्यगर्भः समवर्ततात्रे भूतस्य जातः पित्रेकं आसीत् स दाधार पृथिवीमुत द्यां करेमें देवायं द्विषां विधेम

‡ मनुस्मृति १। ६ में भी कहा है, कि-"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्य अवाकिरत्। तदएडमभवद्ध द्वैधम्।।-पहिले जलकी ही रचना की और उनमें वीर्यको स्थापित किया वह अंड दो दुकड़े होगया"। हिरएयऽगर्भः । सम् । अवर्तत। अप्रे । धूतस्य । जातः । पतिः। एकः। आसीत्।

सः । दाधार् । पृथिवीम् । उत । द्याम् । कर्मे । देवाय । हिवपा । विधेम ॥ ७ ॥

[ हिरएयगर्भः ] हिरएयस्य हिरएमयस्याएडस्य गर्भः गर्भवद् अन्तरवस्थितः अग्रे सर्वजगत्सृष्टेः पाक् सम्वर्तत उद्पद्यत । स च जातः सन् भूतस्य सत्तया प्रतिभासमानस्य पपञ्चस्य एकः ग्रसा-धारणः पतिः ईश्वर त्रासीत् । स्मर्यते हि ।

> स वै शरीरी मथमः स वै पुरुष उच्यते। श्रादिगर्भः स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत

इति । स च पृथिवीम् इमां भूमिम् । उतशब्दः समुचये । द्याम् दिवं च दाधार धृतवान् । पृथिव्याद्युपलितं कृत्स्नं जगत् सृष्ट्-वान् इत्यर्थः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हिरएमय ऋंडेके भीतर गर्भकी समान स्थित हिरएयगर्भ संपूर्ण सृष्टिसे पहिलो उत्पन्न हुए वह उत्पन्न होकर सत्ता (विद्यमान) रूपसे भासमान पपश्चके असाधारण स्वामी हुए †। उन्होंने इस पृथिवीको ख्रौर स्वर्गको भी धारण किया उन पजापतिदेवकी हम हिवसे सेवा करते हैं।। ७॥

† स्मृतियें भी कहा है, कि-"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । त्यादिगर्भः स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥ -वही प्रथम शरीरधारी हुए वही पुरुष कहलाते हैं, वह पाणियोंके आदि-गर्भ हैं वह ब्रह्माजीसे पहिले हुए"।

अष्टमी ॥

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् । तस्योत जायमानस्योल्वं आसीद्धिरण्ययः कस्मैं देवायं ह्विषां विधेम ॥ = ॥

आपः । वृत्सम् । जनयन्तीः । गर्भम् । अग्रे । सम् । ऐरयन् । तस्य । उत् । जायमानस्य । उल्वः । आसीत् । हिरएययः कस्मै । देवाय । हिवषा । विधेम । ⊏ ॥

ईश्वरेण प्रथमसृष्टा आपः वत्सम् पुत्रभूतं हिरएयगर्भ जन-यन्तीः। श्रि हेतौ शतृप्रत्ययः श्रि। जत्पादनाद्धे तोः अग्रे ततः प्राक्काले गर्भ समैरयन्। ईश्वरेण विसृष्टं वीर्यं गर्भाशयं प्रापयन्। तस्य गर्भीभूतस्य हि जायमानस्य हिरएयगर्भाष्ट्यस्य प्रजापतेः। उत्तशब्दः अप्यर्थे। स च भिन्नक्रमः। उल्वोपि। गर्भवेष्टनः पट उल्वशब्दवाच्यः। सोपि हिरएययः हिरएमयः सुवर्णमय एवा-सीत्। "तद् अएडम् अभवद्धै मम्" इति प्रागुक्तहिरएमयाएडा-भिष्ठायम् एतत्। श्रि "ऋत्व्यवास्त्व्य०" इत्यादिना हिरएय-शब्दो निपातितः श्रि।। कस्मा इत्यादि व्याख्यातम्।।

[ इति ] चतुर्थकाएडे मथमेनुवाके द्वितीयं स्कम् ॥

ईश्वरके द्वारा पहिले रचे हुए जलोंने उत्पन्न करनेके लिये ईश्वरके छोड़े वीर्यको गर्भाशयमें प्राप्त कराया, उन गर्भरूप हुए उत्पन्न होने वाले हिरएयगर्भ नामक प्रजापतिका उन्व (अर्थात् गर्भको ढकने वाली-िक्स्मी-अर्थडा) भी सुवर्णमय था। उन प्रजापतिकी हम हविसे सेवा करते हैं।। = 11

चतुर्थकाण्डक प्रथम अनुवाकमें दूसरा स्क समाप्त (१०४)॥

"उदितस्त्रयो अक्रमन्" इति सुक्तेन गवादीनां व्याधचोरादि-भयनिवृत्त्यर्थे खादिरं शङ्कं संपात्य अभिमन्त्र्य तेन गोसंचार-भूमिं लिखन् गा अनुव्रजेत् ॥

तथा अनेन उद्घटम् अभिमन्त्र्य गोप्रचारदेशे निनयेत्। ततः पांसुकूटं तत्र कृत्वा अर्थे दित्तिणहस्तेन वित्तिपेत् ॥

एवमेव अनेन सुक्तेन सारूपवत्सम् ओदनम् इन्द्राय त्रिर्जु हु-यात् ॥

सूत्रितं हि । "उदित इति खादिरं शङ्कं संपातवन्तम् उद्गृह्वन् लिखन् गा ऋनुत्रजति" इत्यादि [ की॰ ७. २ ]

"उदितस्त्रयो अक्रमन्" इस सुक्तसे गौओंके चोर व्याघ आदि के भयको दूर करनेके लिये खैरके खूँ टेका संपातन और अभिमंत्रण करके उससे गोसश्चार भूमिको कुरेदता हुआ गौओंके पीछे जावे।।

तथा इस स्क्तसे जलपूर्ण कलशका अभिमन्त्रण करके गौओं के विचरनेके स्थानमें ले जावे। तथा तहाँ धृलका ढेर बना कर उसका आधा करे और उस आधेको दाहिने हाथसे वलेर देय।। इसी प्रकार इस सुक्तसे सारूपवत्स श्रोदनको तीन वार होमे।।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"उदित इति खादिरं शङ्कं सम्पातवन्तं उद्गृह्धन् लिखन् गा अनुत्रजति" (कौशिक-सूत्र ७।२)॥

तत्र प्रथमा ॥

उदितस्रयो अकमन् व्याघः पुरुषो वकः। हिरुग्घ यन्ति सिन्धंवो हिरुग् देवो वनस्पतिर्हिरुंड-मन्तु शत्रंबः ॥ १ ॥

उत् । इतः । त्रयः । अक्रमन् । व्याघः । पुरुषः । द्रकः

# ( ३०८ ) श्रथवंवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हिरुक् । हि । यन्ति । सिन्धं ३: । हिरुक् । देवः । वनुस्पतिः ।

हिरुक् । नमन्तु । शत्रवः ॥ १ ॥

व्याजिञ्जति विशिष्टाञ्चाणमात्रेण प्राणिनो इन्तीति व्याञः। 🛞 घ्रा गन्धोपादाने इत्यस्मात् ''श्रातश्चोपसर्गे'' इति कप्रत्ययः 🛞। तथा पुरुषः चोरः । "परमेणोत तस्करः" इति उत्तरत्र तस्यैवानु-कीतनात् । हकः अरएयश्वा पाणिनां घातकः एते त्रयः इतः श्रमात् स्थानात् उदक्रमन् उदक्रामन् उत्क्रान्ता उत्थिता श्रभवन् । यद्दा इतः श्रस्मात् स्थानात् उदक्रमन् उत्थाय पलायन्तास् । 🕸 "क्रमः परस्मैपदेषु" इति दीर्घाभावश्ळान्दसः 🕸 । ते यथा हिरुक् । अन्तर्हितनामैतत् । अन्तर्हिता भवन्ति तथा सिन्धवः स्यन्दनशीला नद्यः यन्ति गच्छन्ति । हिशब्दः मसिद्धौ । यद्वा यथा हि सिन्धवो हिरुक् अन्तर्हिता गूढाशया यन्ति पवहन्ति तथा व्याघादयो अन्तर्हिताः । दग्गोचरा न भवन्तु इत्यर्थः ॥ तथा वनस्पतिः वनानां पतिः श्रिधिष्ठाता देवः तत्र श्रम्तिहितो दर्तते तद्वद्व व्याघादयोपि हिरुक् अन्तर्हिता भवन्तु । 🛞 वनस्पतिरिति । पारस्करादित्वात् छट् । "उभे वनस्पत्यादिषु०" इति उभयपद-प्रकृतिस्वरत्वम् 🕸 । ऋषि च व्याघादीनां ये शत्रवः विरोधिनः सन्ति ते तान् व्याघादीन् हिरुक् नमन्तु अन्तर्हितान् कुर्वन्तु । यद्वा शातनशीलास्ते व्याघाद्यः अन्तर्हिताः सन्तः पद्वा भवन्तु ॥

विशिष्ट घाणसे ही प्राणियोंको मारने वाला व्याघ, चोर पुरुष श्रीर भेड़िया ये तीनों इस स्थानसे उठ कर भाग जावें। जैसे निदये गूढ़ाशय वाली अन्तिहित होकर वहती हैं, इसी प्रकार व्याघ आदि अन्तिहित होजावें, दिष्टिगोचर न होवें और वन-स्पितियोंके अधिष्ठाता देव तहाँ अन्तर्धान होकर रहते हैं इसी प्रकार व्याघ आदि भी अन्तर्धान होकर रहें और व्याघ आदि के जो शत्रु हैं वे उनको अन्तर्धान करें।। १।। द्वितीया ॥

परेणितु पथा वृक्तः परमेणोत तस्करः । परेण दस्वती रज्जुः परेणाघायुरंषेतु ॥ २ ॥

परेण । एतु । पथा । इकः । परमेण । उत । तस्करः ।

परेण । दत्वती । रज्जुः । परेण । अघऽयुः । अर्षतु ॥ २ ॥

परेण अस्मत्सं चारमार्गाइ अन्येन पथा वृक्तः अरण्यश्वा एतु
गच्छतु । उतशब्दः अप्यर्थे । तस्करः चोरोपि परमेण ततोपि
दूरतरेण मार्गेण गच्छतु । अ "दिवाविभा०" इत्यादिना तच्छब्दोपपदे करोतेष्ठः । "तद्बृहतोः कर्पत्योः०" इति चोरेभिधेये
सुद् तलोपः अ । दत्वती दन्तवती रज्जुः रज्ज्वाकृतिः सर्पः परेण
श्रान्येन मार्गेण गच्छतु । अ दन्ता अस्याः सन्तीति मतुपि
"पदन्०" इत्यादिना दन्तशब्दस्य दद्धावः अ । तथा अध्म पापं
हिंसनं परेषाम् इच्छतीति अधायुः । अ "अन्दिस परेच्छायामिष"
इति वयच् । "अश्वायस्यात्" इति आच्यम् । "क्याच्छन्दिस"
इति उपत्ययः अ । य एवंविधः अन्योपि हिंसः प्राणी अस्मत्संचरणभदेशे विद्यते सोपि परेण अन्येन पथा अर्घतु गच्छतु ।
अ ऋषी गतौ इति धातुः अ ॥

जंगली कुत्ता भेड़िया जिस मार्गमें हम विचरण करते हैं उस से अन्य मार्गमें जावे चोर उससे भी दूरके मार्गमें जावे। आर जिसके दाँत वाली रज्जु है वह सर्प अन्यमार्गसे जावे तथा दूसरों का मरना रूप पापको चाहने वाला अघायु शत्रु तथा इसी पकार के अन्य हिंसक पाणी भी अन्य मार्गसे जावें।। २।। तृतीया।।

अस्यो च ते मुखं च ते व्याघ जम्भयामासि ।

## ( ३१० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

# आत् सर्वान् विंशतिं नुखान् ॥ ३ ॥

अच्यौ । च । ते। मुखम् । च । ते । व्याघ्र । जुम्भयामसि ।

श्रात् । सर्वान् । विंशतिम् । नुखान् ॥ ३ ॥

हे व्याघ्र ते तव असौ असिणी च मुखं च आस्यं च जम्भ-यामिस जम्भयामः । अ जिभ नाशने । "इदन्तो मिसः" अ ॥ [आत् ] अनन्तरं विंशतिम् विंशतिसंख्याकान् पादचतुष्टये पश्च-शोवस्थितान् सर्वान् नखान् विनाशयामः। अ "पङ्क्तिविंशति॰" इत्यादिना निपातितो विंशतिशब्दः। संख्येयानां बहुत्वेपि विंशति-संख्याया एकत्वात् तदिभमायेण एकवचनम् अ ॥

हे च्याघ ! इम तेरे नेत्र और मुखको नष्ट करते हैं फिर तेरे चारों पैरोंमें स्थित बीस नाखूनोंको नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

, चतुर्थी **।**ि

ब्याघं द्तवतां वयं प्रथमं जन्भयामित । आदं ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वकम् ॥ ४॥

व्याघ्रम् । दत्वताम् । वयम् । प्रथमम् । जम्भयामसि ।

आत् । ऊ इति । स्तेनम् । अथो इति । अहिम् । यातुऽधानम्।

अथो इति । इकम् ॥ ४ ॥

दत्वताम् दन्तवतां खादनशीलानां हिस्राणां मध्ये व्याघ्रम् शार्द् ं पथमं वयं जम्भयामिस जम्भयामः नाशयामः । आदु अनन्तरमेव स्तेनम् तस्करं जम्भयामः ॥ अयो अनन्तरमेव अहिम् सर्पं यातुधानम् यत्तरत्वःप्रभृतिग्रहं टकम् सालाटकं च नाशयामः ॥ दाँत वाले हिंसक जीवोंमेंसे पहिले हम व्याघ्रको नष्ट करते हैं फिर चोरको नष्ट करते हैं उसके पीछे ही हम सर्पको राजस और भेड़ियेको नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यो अद्य स्तेन आयंति स संपिष्टो अपायिति । पृथामंपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रंण हन्तु तस् ॥ ५ ॥

यः । श्रद्य । स्तेनः । श्राऽश्रयति । सः । सम्ऽपिष्टः । श्रप । श्रयति । पथाम् । श्रपऽध्वंसेन । एतु । इन्द्रः । वर्ज्ञेण । हन्तु । तम् ॥४॥

श्रद्धा इदानीं यः स्तेन चोरः श्रायित श्रागच्छित । अश्रय पय गतौ अ । स चोरः संपिष्टः श्रस्माभिश्रृणींकृतः सन् श्रपायित श्रपगच्छित । श्रपकामतु इत्यर्थः । स च पथाम् मार्गाणां मध्ये ध्वंसेन ध्वंसकेन कष्टेन मार्गेण श्रप एतु श्रपगच्छतु । तादृशेन मार्गेण श्रपगच्छन्तं तम् इन्द्रो देवः वजेण स्वकीयेन श्रायुधेन इन्तु हिनस्तु ॥

इस समय जो चोर आरहा है वह हमसे पिट कुट कर चूर्ण होकर भाग जावे और वह कष्ट देने वाले मार्गसे भागे और ऐसे मार्गसे भागने पर इन्द्रदेव उसको अपने वज्र नामक आयुधसे मार डालें।। ४।।

षष्ठी ॥

मूर्णी मृगस्य दन्ता अपिशीणी उ पृष्टयः । निमुक् ते गोधा भवतु नीचायं च्छश्युर्मृगः ॥६॥ मूर्णाः । मृगस्य । दन्ताः । अपिऽशीर्णाः । ऊ' इति । पृष्टयः । निऽमुक् । ते । गोधा । भवतु । नीचा । अयत् । शशयुः । मृगः ६

### ( ३१२ ) ऋथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मृगस्य हिस्सस्य व्याघादेः दन्ताः मूर्णाः भृदाः खादनसमर्था न भवन्तु । अ मुर्जा मोहसमुच्छाययोः इत्यस्माद् निष्टा । "राष्ट्रोपः" इति छकारलोपः । "रदाञ्याम् " इति निष्टानत्यम् । "न ध्याख्यापृमूर्छिमदाम्" इति निषेधस्तु छान्दरात्वाद्ध न मन्वति अ । शीष्णाः शिरसि भवा हिंसका शृङ्गादयः अवयवा अपि मृदा भवन्तु । उशव्दः समुचये । पृष्टयः पर्शवः । पाश्वीस्थीन्यपि मृदानि भवन्तु ॥ हे पान्थ ते तव गोधा एतत्संज्ञः प्राणी निम्नुक् भवतु दृष्टिविषयो न भवतु । अ० मृत्यु म्छुचु गत्यर्थाः इत्यस्मात् निपूर्वात् दर्शनवाचिनः विवप् अ । शश्यः । शयन-श्रीलो दृष्टो मृगः । नीचा न्यग्भूतेन पार्गण अयत् अयतु गच्छतु । अ अयतेर्लेटि अडागमः । शश्युरिति । शीङ् स्वप्ने इत्यस्मात् ० मृशी० [जं०१.७] इत्यादिना उगत्ययः। वाहुलकाद् द्विवचनम् अ।।

हिंसक व्याघ आदिके दाँत सृढ़ हो जावें अर्थात् भन्नण करने में असमर्थ हो जावें और शिरके सींग आदि भी मृढ़ होजावें और पसलीकी हिंडुयें भी मृढ़ होजावें। और हे यात्रिन् !गोधा नामक प्राणी तेरी दृष्टिमें न पड़े। और शयनके स्वभाव वाला दृष्ट मृग भी नीचेके मार्गसे चला जावे।। ६।।

सप्तमी ।।

यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः । इन्द्रजाः सोमजा आर्थर्वणमसि व्याघ्रजम्भेनम् ।७।

यत्। सम् ऽयमः । नं। वि। यमः । वि। यमः । यत् । न।

सम्ऽयमः।

इन्द्रऽजाः। सोमऽजाः। आधर्वेणम्। असि । व्याघऽजम्भनम् ७

इन्द्रजाः इन्द्राज्जातः [ सोमजाः ] सोमाज्जातः । अ उभयत्र "जनसनस्वनक्रमगमो विट्" । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्त्वम् अ । एवंविधः संयमः संयमनं सम्यग् व्याघादीनां मन्त्रसामध्येन नियमनं यत् अस्ति नासौ वियमः विरुद्धयमनं भवति । कृतस्य संयमस्य अन्यथाभावो नास्तीत्यर्थः । तथा वियमः वियमनं विरुद्धप्रापणं यत् मन्त्रेण क्रियते नायं संयमः । तत् तथैव भवतीत्यर्थः । आथर्वणस्य क्रियाकत्वापस्य न कुत्रापि अन्यथाभावोस्तीत्यर्थः !! अनेन स्क्तेन क्रियमाणं खादिरशङ्क्वा-लेखनादिकं क्रियाकत्वापं संबोध्य व्रते । हे क्रियाकत्वाप त्वम् आथर्वणम् अथर्वणा महर्षिणा दृष्टं कृतं वा व्याघ्रजम्भनम् । उप-लक्षणम् एतत् । व्याघादिदृष्टपाणिहिसकम् असि भवति । अ अथर्वनशब्दाद्व अणि "अन्" इति प्रकृतिभावः अ ।।

[ इति ] चतुर्थकाएडे पथमेनुवाके तृतीयं सक्तम् ॥
इन्द्रसे उत्पन्न हुआ और सोमसे उत्पन्न हुआ जो व्याघ्र
आदिका मन्त्रशक्तिसम्पन्न संयमन है वह वियमन नहीं होता
है अर्थात् किया हुआ नियमन उत्तटा नहीं होता है। (इस सक्त
से किये जाने वाले क्रियाकंतापका उल्लेख करके कहते हैं, कि-)
हे क्रियाकताप ! तू महर्षि अथर्याका देखा हुआ है तू व्याघ्र

त्र्यादि दुष्ट प्राणियोंको मार ही डालता है ॥ ७ ॥ चतुर्थकाण्डक प्रथम अनुवाकमें तीसरा सुक्तः समाप्त (१०५) ॥

"यां त्वा गन्धर्वः" इति स्केन पुरुषस्य वीर्यकरणकर्मणि कपित्थकमृत्तम् त्रोषधिवत् खात्वा दुग्धे श्रपयित्वा श्रभिमन्त्र्य श्रिधिज्यं धनुः उत्सङ्गे कृत्वा वीर्यकामः पुरुषः पिवेत् ॥

एवमेव कीलके मुसले वा उपविश्य पूर्ववद्ध अभिमन्त्र्य पिवेत् ॥

सूत्रितं हि । "यां त्वा गन्धर्वो अखनद् द्वपणस्ते खनितारः" इति प्रक्रम्य "दुग्धफाण्टावधिष्यम् उपस्थ आधाय पिवति मयूखे सुसले वासीनः" इति [ कौ॰ ५. ४ ] ॥

# ( ३१४ ) भ्रथवेदेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

पुरुषको वीर्यसम्पन्न बनानेके कर्ममें "यां त्वा गन्धर्वः" इस सुक्तसे कैथकी जड़को ख्रोपधिकी समान खोदकर दूधमें ख्रौंटावे फिर ख्रिभिनित्रत करे तथा मत्यञ्चा चढ़े हुए धनुषको गोदीमें रख कर वीर्य चाहने वाला पुरुष पिये ॥

इसी प्रकार कीलक वा मूसल पर वैठ कर पहिलेकी समान

श्रभिमन्त्रित करके पिये ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि:-"यां त्वा मन्धर्वी अखनद् दृषणस्ते खनितारः" इति प्रक्रम्य दुग्धफाएटावधिज्यम् उपस्थ आधाय पिवति सयूखे सुसले वा आसीनः" (कौशिक-सूत्र १ । ४ )।।

तत्र पथमा ॥

यां त्वां गन्ध्वों अखन्द् वरुणाय सृतम्रेजे । तां त्वां व्यं खनामस्योषिं शेयहर्षणीय् ॥ १ ॥

याम् । त्वा । गृनधर्वः । अखनत् । वरुणाय । मृतऽभ्रजे । ताम् । त्वा । वयम् । खनामसि । श्रोपंधिम् । शेपऽहर्षणीम् १

मृतभ्रजे नष्टवीर्याय वरुणाय पुनस्तस्य वीर्यं जनियतुं हे छो-षधे यां त्वा त्वां गन्धवीं अखनत् खननेन उद्धृतवान् [ तास् ] तादृशीं त्वा त्वां शेपोहर्षणीम् शेपसः पुंस्प्रजननस्य वर्धनीं वीर्य-पदानेन उन्नमियत्रीम् छोषिम् किपत्थकारूयां वयं खनामिस खनामः । अशोपोहर्षणीम् इति । दृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च [ उ० ४. २०० ] इति स्वाङ्गे छाभिधेये शीङः असुन् पुगाग-मश्च । हृष्यतेः करणे न्युट् । दिन्वाद् ङीप् अ।।

वरुणका वीर्य नष्ट होने पर उनमें फिर वीर्य उत्पन्न करनेके लिये जिस तुभको हे त्रोषधे ! गन्धर्वने खोदा था त्रर्थात् खोद

कर तेरा उद्धार. किया था ऐसी तुभ्त पुरुषके उत्पन्न करनेवाली शक्तिको बढ़ाने वाली कैथ नामक श्रौषधिको हम खोदते हैं १ द्वितीया ॥

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मांमकं वचंः। उदेंजतु प्रजापंतिर्रुषा शुष्मेंण वाजिनां ॥ २ ॥

उत्। उपाः। उत्। ऊ इति । सूर्यः। उत्। इदम्। मामकम्। वचः।

उत् । एजतु । प्रजाऽपतिः । दृपां । शुष्मेण । वाजिनां ॥ २ ॥

उषाः सूर्यस्य पत्नी देवी वाजिना बलवता शुष्मेण वीर्येण उदे-जतु उद्गृहत्तं करोतु । उशब्दः चार्थे । सूर्यश्र उदेजतु उत्कृष्ट्वीर्य-युक्तं करोतु मामकम् मदीयम् इदम् मन्त्रात्मकं वचः उदेजतु ॥ तथा [ रुषा वर्षकः ] प्रजापतिः प्रजानां पतिः सर्वजगत्स्रष्टा देवः उक्तलक्षणेन वीर्येण उदेजतु लम्बमानं पुंस्प्रजननम् उत्कम्पयतु। 🛞 एज वस्पने इति धातुः । प्रजापतिरिति । प्रजायन्ते इति प्रजाः । ''उपसर्गे च संज्ञायाम्'' इति डमत्ययः । षष्टीसमासे ''पत्यावैश्वर्ये'' इति पूर्वपदपकृतिस्वरत्वम् 🕸 ॥

सूर्यकी पत्नी उषा देवी बलसंपन्न वीर्यसे उद्गृत करें श्रीर सूर्य भी उत्कृष्टवीर्य सम्पन्न करें, मेरा यह मन्त्रात्मक वचन वीर्य-संपन्न हो, वर्षक सब जगत्के स्रष्टा प्रजापतिदेव पूर्वोक्त लक्तरण वाले वीर्यसे लम्बमान पुंस्पजननको उत्कम्पित करें ॥ २ ॥

त्रतीया ॥

यथां सम ते विरोहंतो भितंत्रमिवानंति । ततंस्ते शुष्मंवत्तरमियं कृणोत्वोषंधिः ॥ ३ ॥

# ( ३१६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यथा । सम् । ते । विऽरोहं । श्रभितप्तम् ऽइव । श्रनित । ततः । ते । शुष्मवत् ऽतरम् । इयम् । कृणोतु । श्रोपिः ॥ ३ ॥

हे वीर्यकाम पुरुष ते तव विरोहितः पुत्रपौत्रादिरूपेण विरोह-णस्य निमित्तं पुंच्यञ्जनम् अभितप्तं फण्यङ्गमित्र यथा स्म येन प्रकारेण खलु अनित चेष्टते ततः तेनैव प्रकारेण इयम् श्रोषधिः ते तव पुंच्यञ्जनं शुष्मदृत्तरं अतिशयितवीर्ययुक्तं कृणोतु करोतु ॥

हे वीर्यको चाहने वाले पुरुष ! तेरा पुत्र पौत्र आदिरूपसे विरोहणका निमित्त पुंच्यञ्जक संतप्त सर्पफनकी समान जिस प्रकार चेष्टा कर सके, तैसा करनेके लिये ही यह औषधि तेरे पुंच्यञ्जनको परमवीर्य वाला करे ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

उच्छुष्मौषंधीनां सारं ऋष्भाणांम् ।

सं पुंसामिन्द्र वृष्यपमिसम् घेहि तन्वशिन्॥४॥

उत्। शुष्मा । त्र्योषधीनाम् । सारा । ऋषभाणाम् ।

सम् । पुंसाम् । इन्द्रः । रुष्णयम् । श्रस्मन् । धेहि । तन् ऽविशान् ४

श्रोषधीनाम् अन्यासां वीर्ययुक्तानां वीरुधाम् इयम् श्रोपधिः श्रुष्मा वीर्यरूपा ऋषभाणाम् सेचनसमर्थानां वीर्यवतां सारा सारभूता तादृशी श्रोषधिः इमं पुरुषम् उत् ईरयतु वीर्ययुक्तं करोतु । असार ऋषभाणाम् इति । "ऋत्यकः" इति प्रकृतिभावः अ। हे इन्द्र संपूषाम् सम्यक् पोषियत्रीणाम् श्रोषधीनां संविन्ध यद् रृष्ण्यम् वीर्यम् अस्ति तद् अस्मिन् पुरुषे तन् वशम् शरीराधीनं कृत्वा धेहि धारय । असंपूषाम् इति । पूष पुष्टो इत्यस्मात् "निवप् च" इति निवप् । धेहीति । "ध्वसोरेद्धौ०" इति एत्वा-भ्यासलोपौ अश्व ॥

अन्य वीर्य मयी औषियोंमें भी यह श्रीपिध वीर्य वती है, श्रीर यह सेचन करनेमें समर्थ वीय वान वैलोंमें भी साररूप है, ऐसी यह श्रोषिघ इस पुरुषको वीय सम्पन्न करे। हे इन्द्र! पोषक श्रौषियोंमें जो बीर्य है उसको इस पुरुषके शरीरके अधीन करके धारण करिये ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

अपां रसंः प्रथमजोथो वनस्पतीनाम् ।

उत सोमंस्य आतांस्युतारीमंसि वृष्णयंम्।। ५ ॥

अपाम् । रसः । प्रथमऽजः । श्रथो इति । वनस्पतीनाम् ।

उत । सोमस्य । भ्राता । श्रसि । उत । श्रार्शम् । श्रसि । दृष्ण्यम् ५

हे कपित्थकमूल त्वम् अपाम् मध्यमानानां प्रथमजः प्रथमम् उत्पन्नो रसः श्रमृतात्मकस्त्वम् श्रसि । श्रथो श्रपि च वनस्पती-नाम् समानजातीयानां दृत्ताणां सारभूतोसि ॥ [ उत अपि च ] सोयस्य स्रोपधीनाम् ऋधिपतेः स्रमृतमयस्य देवस्य भ्राता सह-जोसि । अमृतमथनकाले सहोत्पन्नत्वात् ॥ उत अपि च [आर्षम्] ऋषीणाम् अङ्गिरःपभृतीनां संबन्धि दृष्णयम् मन्त्रमभावजनितं वीर्ये असि ॥

हे कैथकी जड़ ! तू जलोंके मथते समय पहिले उत्पन्न हुई है अमृतमय रस है । श्रीर वनस्पतियों में भी सारभूत है। श्रीर श्रोपिधयोंके स्वामी अमृतमय सोमकी त् भाई है, क्योंकि-श्रमृत-मथनके समय तू साथ ही उत्पन्न हुई हैं और तू अंगिरा आदि ऋषियोंका मन्त्रके मभावसे उत्पन्न वीय रूप है ॥ ५ ॥

षष्टी ॥

अद्योगं अद्य संवितस्य देवि सरस्वति ।

### ( ३१८ ) अथर्वदेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

श्रद्धास्य ब्रह्मणस्पते धर्नुस्वि तानया पसंः ॥६॥ श्रद्य । श्रद्ये । श्रद्य । स्वितः । श्रद्य । देवि । सरस्वित ।

अदा। अस्य। ब्रह्मणः। पते। धतुः ऽइव। आ। तानयः। पसः ६

हे अग्ने अद्य इदानीम् अस्य वीर्यकामस्य पसः पुंच्यञ्जनं वीर्य-प्रदानेन धनुरित आ तानय आततम् अर्ध्वायतं कुरु । अद्य सिव-तरित्यादिकम् एवं योज्यम् ॥ सिवता सर्वस्य प्रेरको देवः ॥ देवी देवतारूपा सरस्वती । अनेन विशेषणेन नदीरूपाया व्या-दृत्तिः । अद्याणस्पतिर्यन्त्रस्याधिपतिर्देवः ॥ अ आ तानयेति। तज्जु विस्तारे इत्यस्मात् एयन्तात् लोट् अ । पसःशब्दस्य लिङ्गवाचि-त्वम् "आहतं गभे पसो निजन्युक्तीति धाणिका" [ तै० सं० ७. ४. १६. ३ ] इत्यादिमन्त्रान्तरमसिद्धम् ॥

हे अमे ! इस वीर्य चाहने चाहने वालेके पुंच्यञ्जनको वीर्य-दान देकर धनुषकी समान उपरको फैला हुआ करिये। हे सबके मेरक सूर्य देव और हे देवी सरस्वती और हे मन्त्रके अधिपति ब्रह्मणस्पते! आप इस वीर्य कामके पुंच्यञ्जनको धनुषकी समान उपरको फैला हुआ करिये॥ ६॥

सप्तमी ॥

आहं तंनोमि ते पसो अधिज्यामिव धन्वंनि । क्रमस्वर्शं इव रोहितमनेवग्लायता सदो ॥ ७॥

श्रा । अहम् । तनोमि । ते । पसः । अधि । ज्याम् ऽइंब । धन्वनि । क्रमस्व । ऋशःऽइव । रोहितम् । श्रनवऽग्लायता । सदा ॥ ७॥

हे वीर्यकाम ते त्वदीयं पसः पुंच्यञ्जनम् अहम् या तनोमि मन्त्रप्रभावेन याततं वीर्ययुक्तं करोमि । तत्र हृष्टान्तः । धन्वनि धञ्जुषि अध्यारोपितां ज्यामिव मौर्वीमिव ॥ तस्मात् त्वम् ऋप इव सेचनसमर्थो हपभ इव रोहितम् अनु पुंच्यञ्जनम् अनु वन्य्यता वृत्यता मनसा सदा सर्वदा क्रमस्व भार्याम् आक्रमस्व ॥ अ"हत्ति-सर्मतायनेषु क्रमः" इति आत्मनेपद्म् वन्य्यति कण्ड्वादिः । ततो यगनतात् लटः शत्रादेशः अ॥

हे बीर्याभिलापिन् ! तेरे पुंच्यञ्जनको में मन्त्रके मभावसे धनुष पर चढ़ा कर तानी हुई प्रत्यश्चाकी समान बीर्यसम्पन्न करता हूँ इस कारण तू सेचन करनेमें समर्थ द्वपभकी समान नाचते हुए मन और पुंच्यञ्जनके साथ सदा भाषीके पास जा ॥ ७॥

अष्टमी ॥

अश्वंस्याश्वत्रस्याजस्य पेत्वंस्य च ।

अर्थ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् घेंहि तन्वशिन्

अश्वह्य । अश्वतरस्य । अजस्य । पेत्वस्य । च ।

अर्थ । ऋषभस्य । ये। वाजाः । तान्। अस्मिन्। धेहि। तत् ऽवशिन्

श्रवः प्रसिद्धः । श्रयनतरस्तु श्रवनर्यस्योः सांकर्येण उत्पन्नो जातिविशेषः । श्रजः छागः । पेत्वो मेषः । श्रयभः गोजातिः सेक्ता पुमान् । श्रथशब्दः चार्थे । एतेषाम् श्रथवादीनां ये वाजाः यानि वीर्याणि सन्ति तान् वाजान् हे श्रोपधे तन् वश्मम् तन्वाः शरीरस्य वशो यथा भवति तथा श्रस्मिन् वीर्यकामे पुंच्यञ्जने वा धेहि स्थापय ॥

[ इति ] चतुर्थे काएडे पथमेतुवाके चतुर्थ सक्तम् ॥ घोडे खचर बकरे मेढे और वैलमें जो वीर्य है तैसे वीर्योंको हे ओषधे ! तू इसके शरीरके वशमें करके स्थापित कर ॥ = ॥

चतुर्ध काण्डक गथम अनुवाकमे चतुर्ध स्क समान (१०६)

# ( ३२० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

"सहस्रशृङ्गः" इति सुक्तेन स्त्र्यभिगमने तस्यास्तत्परिसरवर्तिनां च स्वापनार्थम् उदपात्रं संपात्य अभिमन्त्र्य तेन शयनशालां मोच्य शेषम् अभ्यन्तरद्वारे निनयेत् ॥

तथा नग्नः सन् अनेनैव उल्खलम् अभिमन्त्रयेत ॥

तथा गृहस्योत्तरां स्नक्ति स्नीखट्वाया दित्तरणं पादं रज्जुं वा अभिमन्त्रयेत ॥

सूत्रितं हि । "सहस्रशृङ्ग इति स्वापनम् उदपात्रेण संपातवता शालां संभोच्यापरस्मिन् द्वारपक्षे न्युब्जति । एवं नय उल्खलम् उत्तरां स्रक्तिं दक्तिणं शयनपादं तन्तृत् श्रभिमन्त्रयते" इति [को॰ ४. १२] ॥

स्त्रीके पास जाते समय "सहस्रशृंगः" इस स्क्रू उसको और उसके पासके व्यक्तियोंको निद्रित करनेके लिये जलपूर्ण पात्रका सम्पातन और अभियन्त्रण करके उससे शयनशालाका मोत्तण करे और वाकीको भीतरके द्वारमें ले जावे ॥

तथा नम होकर इसी सक्तिसे त्रोललीका त्रभिमन्त्रण करे।।
तथा घरकी उत्तरकी त्रोरकी नींव वास्त्रीके खाटके दायें पाये वा
रस्सीका त्रभिमन्त्रण करें।।

सूत्रमें भी कहा है, कि-'सहस्रश्टंग इति स्वापनम् उदपात्रेण सम्पातवता शालां सम्योच्यापरिस्मन् द्वारपक्षे न्युब्जति । एवं नम्न उल्लूखलं उत्तरां स्नक्ति दित्तणं शयनपादं तन्तून् अभिमन्त्रयते" (कौशिकसूत्र ४।१२)।।

तत्र प्रथमा ॥

सृहस्रशृङ्गो वृषमो यः संसुद्रादुदाचरत् । तेनां सहस्येना वयं नि जनांन्त्स्वापयामसि ॥१॥

सहस्रऽशृक्षः। रुषभः । यः। सुमुद्रात् । उत्ऽत्राचरत् ।

तेन । सहस्येन । वयम् । नि । जनात् । स्वापयामिस ।। १ ॥

सहस्रशृङ्गः सहस्रारिमः सुर्यः द्यभः वर्षिता कामानां दृष्टि-जलस्य वा । स्मर्यते हि ।

आदित्याज्जायते दृष्टिर्दृष्टेरन्नं ततः पजाः

इति [ म० समृ० ३. ७६ ] । एवं भूतो य आदित्यः अस्वुधेः । यद्वा समुद्रम् इति अन्तरित्तनाम । अन्तरित्तपदेशाद उदयाचलपरिसरवर्तिनः उदाचरत् उदगात् तेन उदितेन सहस्येन। सहः शत्रूणाम् अभिभवनम् । तत्र साधुः सहस्यः । तादृशेन आदि-त्येन वयं ] जनान् अवस्थितान् नि व्वापयामसि निव्वापयामः । स्वापेन परवशान् क्रमः ॥

सहस्र किरणों वाले, कामनाओं की और जलकी वर्षा करने वाले जो सूर्यदेव उदयाचलके समीपवर्ती समुद्रोपनामक आकाश से उदित होते हैं, उन शत्रुश्रोंको दवाने वाले उदयसे सम्पन्न आदित्यसे हम यहाँ पर उपस्थित व्यक्तियोंको निद्रासे परवश करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन । स्त्रियेश्व सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रेसला चरेन् ॥ २ ॥ न । भूमिम् । वातः । ऋति। वाति । न । ऋति। पश्यति। कः। चन। स्त्रिय । च । सर्वाः । स्वापय । शुनः । च । इन्द्रऽसखा । चरन् २ वातः वायुः भूमिं नाति वाति नातिमात्रं गच्छतु । श्रतिवातेन स्वापभङ्गो मा भृद्ध इत्यर्थः ॥ तथा कश्चन यः कोपि तत्रस्थो जनः नाति पश्यति त्र्यतिशयेन न पश्यतु । स्वापपरवशो भवतु इत्पर्थः ॥ श्रिप च हे वात त्वम् इन्द्रसखा । इन्द्रः आत्मा । स सखा यस्य

## ( ३२२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

भाणवायोः तदात्मकः चरन् देहे वर्तमानः तत्र परितोवस्थिताः सर्वाः स्त्रियश्च शुनश्च स्वापय । अ श्वन्शब्दात् शसि "श्वयुव-मघोनाम् अतद्धिते" इति संश्रसारणम् अ ॥

वायु भूमिमें अधिक न चले अर्थात् अधिक वायुसे निदाका
भक्ष न होने, तथा यहाँ पर स्थित कोई मनुष्य न देखसके अर्थात्
निदाके वशमें होजानें। हे वायुदेव! आप इन्द्रसखा हैं अर्थात्
आत्माके सहायक माणवायुरूप हैं वह आप देहमें रह कर सब
स्त्रियोंको और कुत्तोंको भी निद्रित कर दीजिये।। २ ॥

हतीया।।

प्रोष्टेशयास्तं ल्पेशया नारीर्याः वंद्यशिवंरीः । स्त्रियो याः पुरायंगन्धयस्ताः सर्वीः स्वापयामसि ३

मोष्टेऽशयाः । तुल्पेऽशुयाः । नारीः।याः। <u>व</u>ह्यऽशीवरीः ।

स्त्रियः । याः । पुरायं अन्धयः । ताः । सर्वाः । स्वापयामसि ।३।

प्रोष्टेशयाः प्राङ्कणे शयानाः तल्पेशयाः खट्वायां शयानाः ।
अ उभयत्रापि "अधिकरणे शेतेः" इति अच् प्रत्ययः । "शयवासवासिष्वकालात्" इति सप्तम्या अलुक् अ । या एवंभूता
नारीः नार्यः सन्ति याश्र वह्यशीवरीः । वहत्यनेनेति वहनसाधनम् आन्दोलिकादि वह्यम् ।तत्र शयनस्यभावा याः स्त्रियः सन्ति ।
अ [वह्यम् इति ] "वह्यं करणम्" इति यत्प्रत्ययान्तो निपात्यते ।
तिस्मन्तुपपदे शेतेः "अन्यभ्योपि दृश्यन्ते" इति व्वनिप् । "वनो
र च" इति ङीव्रेफौ । जिस "वा छन्दिसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः अ । याश्र अन्याः स्त्रियः पुण्यगन्धयः शोभनगन्धयुक्ताः
सन्ति । अ पुण्यस्य गन्ध इव गन्धो यास्र इति विग्रह्म "उपमानाच्च" इति गन्धस्य इत् अन्तादेशः अ । ता अनुकान्ताः सर्वाः
स्त्रियः स्वापयामिस स्वापयामः ॥

जो स्त्रियें पलँग पर सोरही हैं, जो स्त्रियें आँगनमें सोरही हैं, जो स्त्रियें पालकी त्र्यादिको उठाती हैं और जो स्त्रियें पुरुष-गन्धा हैं उन सब स्त्रियोंको हम सुलाते हैं।। ३।।

चतुर्थी ॥

एजंदेजदजग्रभं चत्तुः प्राणमंजग्रभम् । अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥

एजत्ऽएजत् । अन्यभम् । चत्तुः । प्राणम् । अन्यभम् ।

अङ्गानि । अजग्रभम् । सर्वाः। रात्रीणाम् । अतिऽशर्वरे ४

एजदेजत् यद्यद् एजितमद् अस्ति प्राणिजातं तत् सर्वम् अजग्रभम् स्वापेन गृहीतम् अकार्पम् । अ एजृ कम्पने इत्यस्मात् लटः
श्राम् इति। रूपम् । "ह्रग्रहोर्भः ०" इति भत्वम् अ ॥ तथा चत्तुः
प्राणम् तदीयं दर्शनसाधनम् इन्द्रियं प्राण्यसंचारस्थानाश्रितं गन्धग्राहकम् इन्द्रियं च अजग्रभम् स्वापेन गृहीतम् अकृषि ॥ तथा
तदीयानि सर्वा सर्वाणि अङ्गानि हस्तपादादीनि अजग्रभम् अजग्रहम् ॥ एतत् सर्वे किस्मन् कालेकृतम् इति तद् आह् । रात्रीणाम्
इति । रात्रीणां संबन्धिन अतिशर्वरे अतिशयिता शर्वरी यस्मिन्
काले स कालः अतिशर्वरः। तमोभू थिष्ठे मध्यरात्रकाल इत्यर्थः ॥

जो जङ्गम पाणी हैं उन सबको मैंने निद्रासे वशमें कर लिया है और उनकी दर्शनसाधन चत्तुरिन्द्रियको मैंने ग्रहण कर लिया है और पाणसंचारस्थानमें स्थित घाणेन्द्रियको मैंने ग्रहण कर लिया है और इनके हाथ पैर स्नादि सब स्नंगोंको मैंने संधकार भरे अर्थरात्रिके समय निद्रासे वशमें कर लिया है ॥ ४ ॥ पश्चमी ॥

य आस्ते यश्चरित यश्च तिष्ठं विपश्यति । तेषां सं देष्मो अचीणि यथेदं हर्म्यतथा ॥ ५॥

यः । त्रास्ते । यः । चरति । यः । च । तिष्ठन् । विऽपश्यति । तेषाम् । सम् । दृध्मः । अत्तीणि । यथा । इदम् । हम्र्यम् । तथा ५

श्रस्मद्भिसरणसमये यो जनः तत्र श्रास्ते यश्च चिरति ]सश्च-रित यश्च तत्र तिष्ठन् स्थितः सन् विपश्यिति विविधम् इतस्ततः पश्यित । तेषां सर्वेषाम् श्रज्ञीणि चर्त्तूषि सं दध्मः । संहितानि निमीलितानि कुर्मः । तत्र दृष्टान्तः । इदम् दृश्यमानं हर्म्यं यथा दर्शनशक्तिशून्यं तथा । चन्नुष्मदिष प्राणिजातं मां दृष्टुम् श्रसमर्थं भवतु इत्यर्थः ॥

हमारे गमनके समय जो पुरुष घूम रहा है जो तहाँ वैठ कर इधर उधर देख रहा है उन सबके नेत्रोंको हम, यह भवन जैसे दर्शनशक्तिश्रन्य है तिस प्रकार, वन्द करते हैं श्रर्थात् नेत्रवाला प्राणिसमृह भी हमें न देख सके ॥ ५ ॥

पष्टी ॥

स्वपंति माता स्वप्ते पिता स्वप्तु श्वा स्वप्ते विश्पतिः।
स्वपंत्त्वस्य ज्ञातयः स्वप्त्वयम्भितो जनः ॥ ६॥
स्वप्ते माता।स्वप्ते । पिता । स्वप्ते । श्वा।स्वप्ते । विश्पतिः।
स्वपन्तु । अस्ये । ज्ञातयः । स्वप्ते । अयम् । श्वभितः । जनः ६
यस्याः स्वियाः मस्वापनेन वशीकरणम् अत्र चिकीपितं तस्या

माता प्रथमं स्वप्तु स्विपितु निद्रापरवशा भवतु । अञ्जिष्वप् शये।

अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" इति इडभावश्छान्दसः ॐ।। तस्याः पिता च स्वप्तु निद्रातु।।
यस्तस्य गृहस्य परिरक्ताणाय श्वाद्वारि वर्तते सोपि स्वप्तु निद्रातु।।
विश्पतिः गृहाधिपतिश्र स्वप्तु शेताम्।। अस्यै। ॐ पष्टचर्थे
चतुर्थी ॐ। अस्याः प्रेप्सितायाः स्त्रिया ये ज्ञातयः सन्ति तेपि स्वपन्तु। गृहाद् वहिः अभितः रक्ताणार्थं नियुक्तः अयं जनश्र स्वप्तु
निद्रागृहीतो अवतु। एवं मात्रादीनां स्वापनप्रार्थनेन स्वाभिलिपतसिद्धिराशास्यते।।

जिस स्त्रीको स्वापसे-निद्रासे हम वशमें करना चाहते हैं,
पहिले उसकी माता सो जावे, उसका पिता भी निद्राके अधीन
होजावे और उसके घरकी रक्ता करनेके लिये जो कुत्ता उसके द्वार
पर रहता है वह भी सोजावे, गृहाधिपति भी सोजावे, इस स्त्रीके
जो जाति वाले हैं वह भी सो जावें और घरके वाहर चारों ओर
रक्ता करनेके लिये जो पुरुष नियुक्त है, वह भी सोजावे।। ५।।

सप्तमी ॥

स्वप्तं स्वप्ताभिकरणेन सर्वं नि व्वापया जनम्।
आत्स्र्यमन्यान्तस्वापयाव्युवं जागृताद्द्यमन्द्रं इवारिष्टो

अचितः॥ ७॥

स्वम । स्वमऽस्रभिकरणेन । सर्वम् । नि । स्वापय । जनम् ।

त्राऽउत्सूर्यम् । अत्यान् । स्त्रापय । त्राऽच्युषम् । जागृतात् ।

श्रहम् । इन्द्रःऽइव । श्ररिष्टः । श्रद्गितः ॥ ७ ॥

हे स्वप्न स्वप्नाभिभानिन देव स्वमाधिकरणेन स्वमस्य यद्व श्रिधिकरणम् अधिष्ठानं शय्यादि तेन साधनेन सर्व जनं नि ष्वा-

### ( ३२६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

पय नितरां स्वापय । अयमेवार्थः अवधिपदर्शनेन विवियते। मात्रा-दयो ये अन्य अनुक्रान्ताः तान् अन्यान् ओत्सूर्यम् उद्यन् सूर्यो यस्मिन् काले स उत्सूर्यः कालः तावत्पर्यन्तं स्वापयेत्यर्थः ॥ एवं सर्वजनस्य प्रस्वापने सित [ अपिष्टः ] अहिंसितः अस्तितः स्वय-रित असन् अहम् इन्द्र इव भोगपरो भूत्वा आव्यूपम् उपःकाला-विध जाषृतात् । अ पुरुषव्यत्ययः अ। जागरं करवाणि ॥

[ इति ] चतुर्थे काएडे प्रथमेनुवाके पश्चमं सुक्तम् ॥ [ इति ] चतुर्थे काएडे प्रथमानुवाकः ॥

हे स्वमके अभिमानी देव ! स्वमका जो शय्या आदि अधि-ष्ठान है, उसके द्वारा आप इन सबको सूर्यके उदय तक निद्धित रखिये, इस मकार सबके सोने पर मैं आहिंसित और ज्ञयरहित होकर इन्द्रकी समान भोगपरायण होकर उपःकाल तक जाग-रण कर सक्ँ॥ ७॥

चतुर्थं काण्डके प्रथम अनुवाकर्मे पञ्चम स्क समाप्त (१०७)।। प्रथम अनुवाक समाप्तः

"ब्राह्मणो जज्ञे" "वारिदम्" इत्याभ्यां कन्दिवपभैष्ण्यार्थम् उदकम् अभिमन्त्र्य विषादृतं पुरुषं पाययेत् । तथाविधोदकेन मोक्षेत् तथा कृमुकदृत्तशकलं सहोदकम् अभिमन्त्र्य पाययेत् मोक्षेच ॥ तथा आभ्यां जीर्णहरिणचर्मावज्वालितं पतितमार्जनिकाशक-लैवी अवज्वालितम् उदकम् आभ्याम् अभिमन्त्र्य तेनोदकेन विषा-दृतम् अवसिश्चेत् ॥

तथा आभ्याम् सुक्ताभ्याम् उदपात्रं संपात्य अभिमन्त्र्य तेन सावयेत् तथा विषत्तिप्ताभ्याम् अर्ध्वफलाभ्यां सक्तुमन्थं मथित्वा अभि-मन्त्र्य पाययेत् ॥

मथा मदनफलानि पत्यृचम् अभिमन्त्र्य यथा छदिभेवति तथा प्रत्यृचं भन्नयेत् । सर्पिपा सहितां हरिद्राम् अनेनैवाभिमन्त्रय आविष्टविषं पाययेत् स्रिवितं हि । "व्राह्मणो जज्ञ इति तत्त्रकायाञ्चलि कृत्वा जपन्ना-चामयित अभ्युत्तति । क्रम्जकशक्लं संज्ञुच दूर्शजरदिजनावकर-ज्वालेन संपातवद् उदपात्रम् अर्ध्वफलाभ्यां दिग्धाभ्यां मन्थम् उप-मध्य रियधारणिपरहान् अन्तृचं प्रकीयं छर्दयति । हरिद्रां सर्पिषा पाययति" इति [ की० ४. ४ ]।।

अत्र "ब्राह्मणो जज्ञे" इति एक खुक्त प्रतीकोपादानेन विषापनो-दनपरं "वारिदम्" इति समनन्तरं सक्तमि गृह्यते । "ग्रहणम् आ ग्रहणात्" [कौ०१. ८] इति परिभाषायाः सौत्रक्रम इव संहिता-क्रमेपि पृटक्तिरस्तीति व्याख्यातृभिरभिहितत्वात् ॥

"ब्राह्मणो जज्ञे" और "वारिदम्" इन दो स्क्तोंसे कन्दिवपकी चिकित्सा करनेके लिये जलको अभिमंत्रित करके विपसे आक्रांत पुरुषको पिलावे । और ऐसे ही जलसे मोज्ञण करे ॥

श्रीर सुपारीके दृक्तके दुकड़ेको जलसहित श्रिमन्त्रण करके पिलावे श्रीर/मोक्तण करे।।

तथा जीर्ण हरिएको चर्मसे गरम किये हुए वा गिरे हुए चुहारीके टुकड़ोंसे गरम किये हुए जलको इन दोनों सक्तोंसे अभि-मंत्रित करके उस जलको पिलावे और मोक्तए करे (छिड़के)।।

श्रीर इन दोनों सुक्तोंसे जलपूर्ण पात्रका सम्पातन श्रीर श्रिभ-मंत्रण करके उससे स्नान करावे ॥

तथा विषत्तिप्त ऊर्ध्वफलोंसे सक्तुमन्थको मथ कर श्रमि-मंत्रित करके पिलावे ॥

तथा मदनफलों (धतूरेके फलों) का मत्येक ऋचासे अभि-मंत्रण करके जिस मकार के हो तिस मकार मत्येक ऋचासे भन्नण करे।।

त्रीर विषाकान्त पुरुषको घी श्रीर हल्दीको इस सक्तसे श्रीभ-मंत्रित करके पिलावे ॥ इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"ब्राह्मणो जज्ञ इति तत्त्रकायाञ्जलि कृत्वा जपन्नाचामयति अभ्युत्तति । कृमुकशकलं संजुद्य दृशीजरदिजनावकरज्वालेन सम्पातवद् उदपात्रं अध्वीपत्ला-भ्यां दिग्धाभ्यां मन्यं उपमध्य रियधारणिषण्डान् अन्द्रचं प्रकीये ब्रद्यते । हरिद्रां सर्पिषा पाययति इति (कोशिकसूत्र ४ । ४ )।।

यहाँ 'ब्राह्मणो जज्ञे' इस एक सूक्तका प्रतीक देनेसे विपको दूर करने वाला इसके वादका ही 'वारिदम्' सूक्त भी ग्रहण किया जाता है। क्योंकि—"ग्रहणं आ ग्रहणात" (कोशिकसूत्र १। ८) इस परिभाषाके अनुसार सूत्रके क्रमकी समान संहिता का क्रम भी लिया जाता है। ऐसा व्याख्याताओंने कहा है।।

बाह्यणो जंज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः । स सोमं प्रथमः पंपो स चंकारारसं विषय् ॥ १ ॥

ब्राह्मणः। जुज्ञे । मथमः । दश्राऽशिर्षः । दश्राऽस्रास्यः ।

सः । सोमम् । पथमः । पपौ । सः । चकार । अरसम् । विपस् १

मनुष्यजातिवत् सर्पजाताविष चातुर्वर्ण्य म् अस्ति । तत्र प्रथमः सर्पजातीयानाम् आदिभूतस्तज्ञकाख्यो ब्राह्मणः ब्राह्मणजातिः जज्ञ उत्पन्नः । स विशेष्यते । दशशीर्षः दशसंख्यानि शीर्पाणि शिरांसि यस्य स तथोक्तः । अत एव दशास्यः दशमुखः । यस्माद् अयं ब्राह्मणः तस्मात् स तज्ञकः प्रथमः ज्ञियादिजातीयेभ्यः पूर्वभावी सन् सोमं पपौ युलोकस्थम् अमृतमयं सोमं पीतवान् । स च सोमपो ब्राह्मणः कन्दमृलादिजनितम् एतद् विषम् अरसम् रसरिहतं निर्वीर्यं चकार करोतु । अ ब्रान्दसो लिट् । जज्ञे इति । जनी पादुर्भावे इत्यस्मात् लिट् । "गमहन् " इति उपधालोपे "द्विवचनेचि" इति स्थानिवद्रावाद् द्विवचनम् ॥

(मनुष्यजातिकी समान सर्पजातिमें भी चारों वर्ण हैं) सर्पजाति में प्रथम तत्तक ब्राह्मण जातिके उत्पन्न हुए, उनके दश फन हैं श्रोर दश मुख हैं। यह तत्तकसर्प ब्राह्मण हैं, इस कारण इन्होंने त्तत्रियजाति वालोंसे प्रथम होनेके कारण चुलोकमें स्थित अमृत-मय सोमको पिया यह सोमपायी ब्राह्मण इस कन्दमूल आदिसे उत्पन्न हुए विपको रसरहित अर्थात् निर्वीय करें ॥ १ ॥

#### दितीया ॥

यावंती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावंत् सप्त सिंधंवो वितिष्ठिरे वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥ यावती इति । द्यावापृथिवी इति । वरिम्णा । यावत् । सप्त ।

सिन्धवः । विऽतष्ठिरे ।

वाचम् । विषस्य । दूपणीम् । ताम् । इतः । निः । अवादिपम् २

द्यात्रापृथिवी द्यौथ पृथिवी च द्यात्रापृथिव्यौ । 🛞 ''दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः । "वा छन्दिसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः छ। ते द्यावापृथिव्यो वरिम्णा उरुत्वेन विस्तारेण यावती यावत्यौ यावत्परिमाणयुक्ते भवतः । 🛞 यच्छब्दात् ''यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" इति वतुप्। "श्रा सर्वनाम्नः" इति आत्वम्। वरिम्णेति। उरुशब्दाइ इमनिचि "पियस्थिर०" इत्यादिना वर् आदेशः। उदात्तिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् 🕸 । तथा [सप्त ] सप्त-संख्याकाः सिन्धवः समुद्रा यावत् यत्परिमाणवैशिष्टचेन वितस्थिरे न्यावर्तन्ते । 🛞 "समवप्रविभ्यः स्थः" इति त्र्यात्मनेपदम् 🛞 । इतः अस्मात् ताद्दवपरिमाणविशिष्टयोद्यीवापृथिव्योः सकाशात् सप्त-सगुद्रवेष्टितस्थानाच विषस्य दूषणीम् कन्दमृलादिजनितविषस्य द्यावापृथिवी अपने बड़े भारी विस्तारसे जितने परिमाणसे युक्त हैं और सात समुद्र जितने परिमाणमें फैले हुए हैं, इन सब स्थानोंके कन्द मूल फल आदिके विषको दूर करने वाली मन्त्रात्मिका वाणीको मैं तालु आदिसे उच्चारण करता हूँ ॥२॥ तृतीया ॥

सुपर्णस्त्वां गरुत्मान् विष प्रथममावयत् । नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥३॥

सुऽपर्णाः । त्वा । गरुत्मान् । विष । मथमम् । आवयत् । न । अमीमदः । न । अरूरुपः । उत । अस्मै । अभवः । पितुः ३

सुपर्णः शोभनपत्रयुक्तः । अ "बहुत्रीहो नञ्सुभ्याम्" इति उत्तर-पदान्तोदात्तत्वम् अ । एवंभूतो गरुत्मान् वैनतेयः हे विष त्वा त्वां प्रथमम् पूर्वम् श्रावयत् । श्रावयतिः श्रत्तिकर्मा । श्रभत्तयत् । श्रतो निर्वीर्यत्वाद् विषोपहतं पुरुषं नामीमदः मत्तं ज्ञानिक्षकः मा कार्षीः। श्रत एव नारूरुपः । अ युप रुप लुप विमोहने इति धातुः अ । विमूढं मा कार्षीरित्यर्थः । अ उभयत्रापि एयन्तात् लुङि चङि रूपम् अ ।। उत श्रपि तु श्रम्मे विषदुष्टाय पुरुषाय हे विष त्वं पितुः । श्रन्ननामैतत् । श्रन्नम् श्रभवः । अ छान्दसो लङ् अ । श्रन्नवज्जीर्णो भवेत्यर्थः ।।

सुन्दर पर वाले विनतानन्दन गरुड़ने हे विष ! पहिले तुभको खा लिया था अतः निर्वीर्य होनेसे तू इस विषपीड़ित पुरुषको ज्ञानविकल न कर, मूढ़ न कर, किन्तु हे विष ! इस विषद्षित पुरुषको तू अन्नरूप होजा अर्थात् अन्नकी समान पच जा ॥३। चतुर्थी ॥

यस्त आस्यत् पत्रां क्रुरिर्वकाचित्रदि धन्वंनः । अपस्कम्भस्यं शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥

यः । ते । श्रास्यत्। पश्च ऽत्रज्ञहिरः । वृकात् । चित् । श्रिधं। धन्वनः।

अपुडस्क्रम्भर्य । शन्यात् । निः । अवोचम् । अहम् । विषम्॥४॥

पश्चांगुरिः पश्च अंगुरयः अंगुलयो यस्य स तथोक्तः। अ"वालमूललघ्वलमङ्गुलीना रो लम् आपद्यते" इति लत्त्रस्य विकल्पनाइ
रेफः अ। एवंभूतो यो हस्तः ते त्वां वक्रात् वक्रीभूताइ [ अधि ]
अधिज्याद धन्वनः आस्यत् धनुर्यन्त्रेण पुरुषशरीरे पान्निपत्।
चिच्छब्दः अप्यर्थे। तं विषम् विषमदं हस्तम् अपस्कम्भस्य अपस्कभ्यते विधार्यते अन्तिरक्षे इति अपस्कम्भः क्रमुकदृन्नः तस्य
शल्यात् शक्लाद् निमित्ताद्व [ अहं ] निरवोचम् मन्त्रेण निर्वीर्यं
करोमि। यद्वा अपस्कभ्यते धनुषि धार्यते इति अपस्कम्भो वाणः।
तस्य शल्यात् विषदिग्धाद् अयोमयाद् अग्रात्। यो विषम् आस्यत्
इति संबन्धः। अ एभि स्कभि गतिप्रतिवन्धे। अस्मात् कर्मणि
घञ् अ। यद्वा तदीयं विषं निर्गतं व्रवीमीत्यर्थः॥

पाँच अंगुलि वाले हाथने तुभाको मुखरूप पत्यश्चा चढ़े हुए धनुष-रूपी यंत्रसे पुरुषको शारीरमें डाल दिया है, उस विषको और विषपद हाथको मैं सुपारीके वृत्तके डुकड़ेके द्वारा मन्त्रसे निर्वीर्य करता हूँ ४

पश्चमी ॥

श्राल्याद् विषं निरंवोचं प्राञ्जनादुत पंर्ण्धेः। अपाष्ठाच्छुङ्गात् कुल्मलान्निरंवोचमुहं विषम्॥५॥

शल्यात् । विषम् । निः । अवीचम् । पृऽत्रज्ञनात् । उत । पृर्णेऽघेः

# ( ३३२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अपाष्टात् । शृङ्गात् । कुल्मलात् । निः । अवोचस् । अहम् । विषम्

[ शल्यात् ] उक्तलत्ताणाद् वाणादिशल्यात् संभूतं विषं निर-वोचम् निर्गतं व्रवीमि । तथा प्राञ्जनात् प्रलेपात् । उतशब्दः समु-चये । पर्णधेः पर्णानि पत्राणि धीयन्तेस्मिन्नित पर्णधि इषुकाण्डः विपमयपत्रयुक्तो हक्तो वा । तस्माच्च यद् उद्भूतं विषम् अपाष्टात् अपकृष्टावस्थाद् एतत्संज्ञाद् विषोपादानात् शृङ्गात् विषाणात् कुल्म-लात् कुत्सितप्राणिमलाच्च यद् उद्भूतं विषम् तत् सर्वे विषम् अहं निरवोचम् निर्ववीमि । मन्त्रसामध्येन निर्गतं करोमीत्यर्थः ॥

वाणके फलकेसे जो विष हुआ है उसको मैं निकला हुआ कहता हूँ अर्थात मंत्रके प्रभावसे निकालता हूँ, प्रलेपसे, सेंटेसे, विषमय पत्ते वाले उत्तसे जो विष हुआ है, नीचेको सुके हुए सींगसे (डाइसे) और कुत्सितपाणिमलसे जो विष उत्पन्न हुआ है उस सबको मैं मन्त्रकी शक्तिसे निकला हुआ करता हूँ ॥५॥

षष्टी ॥

अरसस्तं इषो शल्योथों ते अरसं विषम् । उतारसस्य वृत्तस्य धर्नुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

अरसः । ते । इपो इति। शल्यः । अथो इति । ते । अरसम्। विषम्।

उत । अरसस्य । द्वतस्य । धनुः । ते । अरस । अरसम् ॥ ६॥

हे इषो बाण ते त्वदीयो विषदिग्धः शल्यः अरसः निर्विषो भवतु ॥ अथो अनन्तहं च ते त्वदीयं विषम् अरसम् रसरिहतं निर्वीर्यं भवतु ॥ उत अषि च अरसस्य निःसारस्य दृत्तस्य संबन्धि ते त्वदीयं धतुः अरसारसम् अत्यर्थम् अरसं नीरसं निर्वीर्यं भवतु ॥ हे बाण ! तेरा विषमें बुक्ता हुआ बाण निर्विष होजावे, फिर तेरा विष निर्वीर्य होजावे, फिर निःसार द्वाका तेरा धनुष बहुत ही निर्वीय होजावे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ये अपीपन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासंजन्।

सर्वे ते वश्रयः कृता विश्वविषिगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

ये । अपीपन् । ये । अदिहन् । ये । आस्यन् । ये । अव्ऽअस्जन्।

सर्वे । ते । वर्त्रयः। कृताः।विष्ठः । विषऽगिरिः । कृतः ॥ ७॥

ये जनाः अपीषन् विषोपादानम् औषधम् अपिषन् चूर्णीकृत्य प्रयच्छन्तीत्यर्थः। ॐ छान्दसो लङ् येच जना अदिहन् अलिम्पन्। लेपनविषं प्युद्धत इत्यर्थः। ये च आस्यन् विषम् अस्यन्ति दूरात् पत्तिपन्ति ये च अवास्रजन् समीपस्थः विषम् अन्नपानादिषु संस-जन्ति ते सर्वे जनाः एतन्मन्त्रप्रभावाद्व वध्रयः निर्वीर्याः कृताः। विषिगिरिः कन्दम्लादिविषोत्पत्तिहेतुः पर्वतश्च विधः निर्वीर्यः कृतः

जो प्राणी विषमयी औषधिको पीस करके देते हैं, जो पुरुष लेपनिविषका प्रयोग करते हैं, जो पुरुष दूरसे विषको फैंकते हैं और जो प्राणी समीपमें खड़े होकर विषको अन्न जल आदिमें मिलाते हैं उन सब पुरुषोंको इस मन्त्रके प्रभावसे निर्वीर्य कर दिया और कन्द मूल आदिके विषकी उत्पत्तिका हेतु पर्वत भी निर्वीर्य कर दिया गया ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

वश्रयस्ते खनितारो वश्रिस्त्वमस्योषघे ।

विश्रः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥=॥

वर्ष्यः । ते । खनितारः । विघः । त्वम् । असि । अपिधे ।

विधः । सः । पर्वतः । गिरिः । यतः । जातम् । इदम् । विषम् =

हे त्रोषधे विषोपादानभूते ते तव कन्दमूलादेः खनितारः खन-नेन उद्धर्तारो जनः वध्रयः निर्वीर्या भवन्तु । त्वमपि मन्त्रमभा-वात् विधिरसि निर्वीर्या भवसि । स तादृशः पर्वतः पर्ववान् गिरिः शिलोच्चयः विधः निर्वीर्यो भवति । यतः यस्माद् गिरेः इदम् कन्दमूलादिलच्यां विषं जातम् उत्पन्नम् । स पर्वत इति संबन्धः । श्र जातम् इति । जनेः कर्तरि निष्ठा । "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति इट्मतिषेधः । "जनसनखनां सन्भलोः" इति त्राच्चम् श्री।

[ इति ] चतुर्थे काएडे [ द्वितीयेनुवाके ] पथमं सक्तम् ॥

हे विषमयी श्रोषधे ! तुभ कन्द मूल श्रादिको खोदकर उद्धार करने वाले मनुष्य भी निर्वीय होजावें, तू भी मन्त्रके प्रभावसे निर्वीर्य होजा श्रोर जिस पर्वतसे यह कन्द मूल श्रादिका विष उत्पन्न होता है, वह पर्वत निर्वीर्य होजावे ॥ 🗷 ॥

चतुर्थकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें प्रथम स्क समाप्त (१०८)

"वारिदं वारयाते" इति द्वितीयस्कस्य पूर्वस्केन सह उक्ती विनियोगः ॥

"वारिदं वारियाते" इस द्वितीय स्क्तका पहिले स्क्तके साथ विनियोग कह दिया है।।

तत्र प्रथमा ॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि ।

तत्रामृतस्यासिकं तेनां ते वाखे विषम् ॥ १ ॥

वाः । इदम् । वार्यातै । वरणऽवत्याम् । अधि ।

तत्र । अमृतस्य । आऽसिक्तम् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥१॥

वरणावत्याम् । वरणा नाम वृत्तविशेषाः ते अस्यां सन्तीति

वरणावती । अ "शरादीनां च" इति मतौ पूर्वपदस्य दीर्घः अ। तस्याम् [ श्रिध ] । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी । तस्यां स्थितम् इदम् विषहरं वाः वारि वारयाते श्रस्मदीयं विषं वारयत् । अ वारयते लेंटि श्राडागमः अ। वरणावत्युदकस्य कोतिशय इति तत्राह तत्रामृतस्येति । तत्र वरणावत्याम् श्रमृतस्य द्युलोकस्थस्य विषहरं स्वरूपम् श्रासिक्तम् प्रचित्तं विद्यते । श्रतः तेन श्रमृतमयेन उदकेन ते त्वदीयं कन्दमृलादिजनितं विषं वारये निवारयामि ॥

वरण नामके द्वत्त जिसमें होते हैं उस वरणावतीका यह विषकों दूर करने वाला जल हमारे विषकों दूर करे। इस वरणावतीमें युलोकमें स्थित अमृतका विषकों हरने वाला स्वरूप मित्ति होनेसे वर्तमान है, अतः उस अमृतमय जलसे तेरे कन्दमूल आदिसे हुए विषकों में दूर करता हूँ ॥ १॥

द्वितीया ॥

अरसं प्राच्यं विषमंरसं यदुदीच्यम् । अथदमंधराच्यं करम्भेण वि कंल्पते ॥ २ ॥ अरसम् । प्राच्यं म् । विषम् । अरसम्। यत्। उदीच्यं म् । अथं । इदम् । अधराच्यम् । करम्भेणं । वि । कल्पते ॥ २ ॥

प्राच्यम् प्राग्देशे भवं विषम् अरसम् नीरसं निर्वीर्यम् अस्तु ।
तथा उदीच्यम् उदग्देशे भवं यद्ग विषम् अस्ति तदिष अरसम्
निर्वीर्यं भवतु । अ "द्युपागपागुदक्पतीचो यत्" इति शैषिको यत्प्रत्ययः अ । अथ अनन्तरम् इदम् अधराच्यम् । अधरम् अधोदेशम् अश्वतीति अधराक् पृथिच्या अधस्ताद् वर्तमाना दिक् ।
तत्र भवम् अधराच्यं विषम् । यद्वा "प्राग् अपाग् उदग् अधराक्"
[ २०. कु० ८. १ ] "प्राक्ताद् अपाक्ताद्व अधराद्व उदक्ताद्व"

# ( ३३६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

[ ऋ० ७. १०४. १६ ] इत्यादिमन्त्रान्तरेषु प्रागादिदिक्त्रयस-मभिन्याहारेण दिल्ला दिक् अधरावशन्दत्राच्या । एतच प्रत्य-ग्दिशोष्युपलक्तकम् । एवं सर्वदिक्संबन्धि विषं करम्भेण । "मन्धं संयुतं करम्भ इत्याचक्तते" [ आप० १२. ४. १३ ] इति आप-स्तम्बवचनाङ् अत्र विषहरे मयोगे प्रयुज्यमानो मन्धः करम्भशन्द-वाच्यः । तेन वि कल्पते । विगतसामध्यं भवतीत्यर्थः । ॐ कुपू सामध्ये । "कृपो रो लः" इति लत्वम् ॐ ॥

पूर्व दिशाका विष नीरस हो ( निर्वीर्य हो ) उत्तर दिशामें होने वाला विष निर्वीर्य हो, पृथित्रीमें दिलाण दिशामें होनेवाला विष निर्वीर्य हो, इसप्रकार सब दिशाओं में होने वाला विष मन्त्र

के द्वारा निष्फल होवे ॥ २ ॥

क्रममं कृत्वा तिर्य पीबस्पाक मुदार्थिम् ।

चुधा किलं त्वा दुष्टनो जिच्चान्त्स न रूरुपः ।३।

करम्भम् । कृत्वा । तिर्यम् । पीवः ऽपाकम् । उदार्थिम् ।

चुधा । किलं । त्वा । दुस्तनो इति दुः ऽतनो । जिच्चान् । सः ।

न। रूक्षः ॥ ३ ॥

हे दुष्टनो दुष्टशरीर विष तिर्यम् तिरोभवं पच्छन्नत्वेन प्रयु-क्तम् । श्रि तिरस्शब्दात् "भवे छन्दसि" इति यत् । "अव्य-यानां भयात्रे इति दिलोपः श्रि । पीवस्पाकम् । पीवो मेदः पच्यते येन तत् पीवस्पाकम् । श्रि पचेः करणे घञ् श्रि । उदार्थिम् उद्रिक्तार्तिजनकम् ईदृशं त्या त्यां करम्भं कृत्या करम्भशब्दवाच्यं मन्थं विभाव्य जुधा किल वुशुक्तया । किलेति अपरमार्थे । जिले वान् भित्तत्वान् । पुरुषो भित्तत्वान् । स भिन्नतस्त्वं तं पुरुषं न रूरुपः मृर्ज्जितं गा कुरु । 🕸 जित्तवान् इति अदेश्विटः क्वसः। "लिटचन्यतरस्याम्" इति घस्तृ त्रादेशः । "वस्वेकाजाद्रसाम्" इति इटि कृते उपधालोपे स्थानिवद्भावाइ द्विर्वचनादि। रूरुप इति। रुप विमोहने । एयन्तात् लुङि चङि रूपम् 🕸 ॥

हे शरीरको द्षित करनेवाले विष ! घोखेसे खाए हुए, मेदको पचाने वाले और भयङ्कर पीड़ा देने वाले तुभको मन्थ समभ कर भूँ खमें इस पुरुषने भक्तण कर लिया है वह खाया हुआ तू इस पुरुषको मूर्जित न कर ॥ ३॥ चतुर्थी ॥

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।

प्र त्वां चरुमिव येषन्तं वचंसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

वि । ते । मदम् । मदऽवति । शरम्ऽइव । पातयामसि ।

म । त्वा । चरुम्ऽइव । येषन्तम् । वचसा । स्थापयामसि ॥ ४ ॥

हे मदावति मूर्छाकरमदयुक्ते विषोपादानभूते त्रोपधे ते त्वदीयं मदम् मूर्छाकरं विषम् शरुमिव धनुषो विमुक्तं शरमिव वि पातया-मिस विपातयामः । अ शरुम् इति । शृ हिंसायाम् इत्यस्मात् श्रुस्ट्रिसिहि॰ [ ७० १. १० ] इत्यादिना उपत्ययः 🕸 । शरीराद्व विश्लोषयामः । हे विष चरुम् चरणशीलं गूढचरं दृतमिव जेपन्तम् । ॐ जेषु प्रयत्ने ॐ। प्रयतमानम् अङ्गप्रत्यङ्गानि च्याप्नुवन्तं त्वा त्वां वचसा मन्त्रेण म स्थापयामसि मस्थापयामः॥

हे मूर्छादायक मदसे युक्त श्रीपधे ! तेरे मूर्छा करने वाले विष को हम धनुषसे छूटने वाले बाणकी समान शरीरसे अलग करते हैं। हे विष ! गुप्तरूपसे विचरण करने वाले द्तकी समान चेष्टा कर अङ्ग पत्यंगमें व्याप्त होते हुए तुभको हम मन्त्रके द्वारा ( दूर ) भेजते हैं ॥ ४॥

### ( ३३८ ) अथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

पश्चमी ॥

पिर ग्रामिन। चितं वचसा स्थापयामिस ।
तिष्ठां वृत्त इंत् स्थाम्न्यभिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥
परि । ग्रामम् ऽइव । स्थाप्ति । चर्चसा । स्थापयामिस ।
तिष्ठं । वृत्तः ऽइंव । स्थाप्ति । अभ्रिऽखाते । न । रूरुपः ॥ ५ ॥

ग्रामित जनसमूहिमत श्राचितम् उपचितं विषम् । ग्रामदृष्टान्तेन विषस्य मावल्यम् उक्तम् । ईदृशमिप वचसा मन्त्रेण परिहृत्य श्रम्यत्र स्थापयामिस स्थापयामः । निरस्याम इत्यर्थः ॥ हे श्रिभि-षाते । श्रिभिः खननसाधनम् । तदीयखननेन लब्धे श्रोपधे स्थामि स्थाने स्वकीये दृज्ञ इत्र निश्चला भूत्वा तिष्ठ । मा व्याप्नुहीत्यर्थः । श्रत एव न रूह्पः पुरुषं नाम्मसुहः ॥

जनसमूहकी समान एकत्रित हुए विषको भी हम मन्त्ररूप वचनसे हरकर अन्यत्र भेजते हैं, अर्थात् निकालते हैं, हे खोदनेसे माप्त होने वाली औषधे! तू अपने स्थानमें ही द्वत्तकी समान निश्चल होकर रह, व्याप्त मत हो, इस पुरुषको मोहमें न डाल ५

प्वस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दृशेंभिर्जिनैरुत । प्रकीरांसि त्वमीष्धेभिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

पुवस्तैः । त्वा । परि । अक्रीणुन् । दूर्शेभिः । अजिनैः । उत् ।

मुङ्क्रीः । स्रुसि । त्वम् । स्रोषधे । स्रुम्प्रिङ्खाते । न । रूरुपः ॥६॥

हे त्र्योषधे विषमूलिके त्वा त्वाम् पवस्तैः पवनाय अस्तैः संमा-र्जनीतृर्णैः पर्यक्रीणन् परिक्रीतवन्तो महर्षयः । पवस्तशब्दो दाश- तय्यां द्यावापृथिव्योवीचकत्वेन दृष्टः। "द्वे पवस्ते परि तं न भूतः" [ ऋ० १०. २७. ७ ] इति । तथा दूर्शीभिः दूर्शैः दुष्टऋश्यसं-वन्धिभिः अजिनैः त्विभिश्व पर्यक्रीणन् । उतशब्दः समुचये। ॐ दूर्शेभिरिति । "बहुलं छन्दिस" इति भिस ऐसभावः ॐ ॥ यत् एवम् अतो हेतोः त्वं प्रक्रीः प्रकर्पेण क्रीता असि भवसि । अतस्तैर्द्रच्येस्त्वं प्रक्रीता सती अस्मात् स्थानान्निर्गच्छेति भावः। 🕸 प्रपूर्वात् क्रीणातेः कर्मणि संपदादिलत्तणः क्विप् 🕸 ॥ श्रिभि-षाते इत्यादि व्याख्यातम् ॥

हे विषमुलिक त्र्योषधे ! पवित्र करनेके लिये फैलाये हुए सम्मार्जनीतृणोंसे महर्षियोंने तुभको खरीद लिया है तू दुष्ट मृगों के चमों से खरीदी हुई है, अतः खरीदी हुई तू इस स्थानसे निकल जा, हे खोद कर पाप्त की हुई त्रोपधे ! तू इस पुरुषको मोहमें न डाल ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अनां सा ये वंः प्रथमा यानि कर्माणि चिकरे। वीरान् नो अत्र मा दंभन् तद् वं एतत् पुरो दंघे ७ श्चनाप्ताः । ये । वः । प्रथमाः । यानि । कर्माणि । चक्रिरे । वीरान्। नः। अत्र। मा। दभन्। तत्। वः। एतत्। पुरः। द्धे ७

हे जनाः वः युष्माकम् अनाप्ताः अननुक्ला ये शत्रवः पथमा मथमानि मुख्यानि यानि योगादीनि कर्माणि चक्रिरे कृतवन्तः तैः कर्मभिस्ते शत्रवः नः अस्माकं वीरान् वीर्याज्जातान् पुत्रपौत्रादीन् अत्र अस्मिन् देशे यद्वा एषु कर्मसु निमित्तभूतेषु मा दभन् मा हिंसन्तु । 🛞 दन्भु दम्भे 🛞 । तद् एतद् क्रियमाणं भैषज्यरूपं कर्म वः युष्माकं पुरः पुरस्ताद् दधे रच्नणार्थं धारयामि ॥

इति ] द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे पुरुषों ! तुम्हारे अनुकूल न चलने वाले जिन शत्रुक्रोंने योग आदि मुख्य कर्मोंको किया है उन कर्मोंसे वे हमारे वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्र पौत्र आदिको इस देशमें न मारें। इस चिकित्सा-रूप कर्मको मैं तुम्हारे सामने रत्नाके लिये रखता हूँ॥ ७॥ चतुर्थकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय स्क समाप्त (१०९)॥

"भूतो भूतेषु" इति तृतीयस्क्रिन महित लघो वा राजाभिषेक-कर्मणि शान्त्युदककलशेन उदपात्रेण च अभिषेकं जपं च पुरोहितः कुर्यात् ॥

तथा संपातितस्थालीपाकपाशनम् अभिमन्त्रितम् अश्वम् आन् रोह्य अपराजितिदशं प्रति गमनं च कारयेत् । सूत्रितं हि । "भूतो भूतेष्विति राजानम् अभिषेच्यन् महा [ नदे ]शान्त्युदकं करोति" इत्यादि [ कौ० २. ⊏ ] ॥

तथा राजसूये आसन्धारोहणे राजाभिषेके च एतत् सूक्तम् । उक्तं वैताने । "राजसूयं" प्रक्रम्य "वैयाघ्रचर्मोपबर्हणायाम् आ-सन्धां भूतो भूतेष्वित्यारोहयति अभिपिश्चति च" इति [वै० ७.१]॥

'भूतो भूतेषु' इस तृतीयसूक्तसे छोटे वा बड़े राजाभिषेककर्म में शान्त्युदकके कलशसे और जलपूर्णपात्रसे भी पुरोहित जप और अभिषेक भी करे।।

तथा संपातित स्थालीपाकका प्राशन करावे ख्रौर स्रभिमन्त्रित घोड़े पर चढ़ाकर अपराजित दिशाकी ख्रोर गमन भी करावे इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"भूतो भूतेब्वित राजानं स्रभिषेच्यन महानदे शान्त्युदकं करोति०" (कौशिकसूत्र २। ८)।।

तथा राजस्यमें आसन पर बैठते समय और राजाभिषेक के समय भी यह सक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"राजस्यं" प्रक्रम्य "वैयाघ्रचर्मोपवर्हणायां आसन्द्यां भूतो भूतेष्वित्यारोहयति अभिषिश्चति च" (वैतानसूत्र ७।१)॥ तत्र प्रथमा ॥

भूतो भूतेषु पय आ दंधाति स भूतानामधिपतिर्वभूव। तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजां राज्यमनं मन्य-तामिदम् ॥ १ ॥

भूतः । भूतेषु । पर्यः । आ । दुधाति । सः । भूतानाम् । अधिऽ-पतिः । वुभूव ।

तस्य । मृत्युः । चरति । राज्ञ असूर्यम् । सः । राजा । राज्यम् ।

अनु । मन्यताम् । इदम् ॥ १ ॥

भूतः समृद्धः अभिषेकेण पातैश्वर्यः भूतेषु समृद्धे षु जनपदेषु स्वाम्यमात्यादिपकृतिजनेषु वा पयः। उपलक्षणम् एतत्। क्षीरो-पलक्षितं भोज्यं वस्तुजातम् आ दधाति स्थापयित । सर्वेषाम् अतुः जीविनाम् अन्नपदो भवतीत्यर्थः ॥ अत एव सः अभिषिक्तो राजा भूतानाम् पाणिनाम् अधिपतिः अधिष्ठाता स्वामी बभूव ॥ मृत्युः धर्मराजः धर्माधर्मप्रविभागेन दुष्टिनग्रहिष्ठष्टपरिपालने कारियुः तस्य राज्ञो राजसूयं चरित । राजा स्यते अनुज्ञायते जगद्रक्षणियौ येन कर्मणा तद्व राजस्यम् अभिषेकारूयम् इदं कर्म अनुतिष्ठतीत्यर्थः ॥ स कृताभिषेको राजा राज्यम् । राज्ञः कर्म दुष्टिनग्रहिष्ठष्टपरिपालनादिकं राज्यम् । तद्व अनु मन्यताम् अजीकरोतु । अ राज्यम् इति । "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" इति कर्मणि अभिधेये यक् मत्ययः। तत्र पुरोहितादिष्यो पक्" इति कर्मणि अभिधेये यक् मत्ययः। तत्र पुरोहितादिष्ट "राजाऽसे" इति पठितम् अ।

अभिषेकके द्वारा ऐश्वर्यको पाने वाला, स्वामी मन्त्री आदि

## (३४२) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

प्रकृतियों में दुग्ध आदि भोज्य वस्तुओं को देता है अर्थात् सव अनुजीवियों को अन्न देता है अतएव वह अभिषिक्त राजा सव पाणियों का स्वामी होता है, धर्मराज धर्म और अधर्मके विभाग से दुष्टों पर दण्ड और शिष्टों पर अनुग्रह कराने के लिये उस राजाके राजस्य यज्ञको करते हैं, अर्थात् जिस कर्मसे राजाको जगत्—रक्तण विधिकी अनुज्ञा दीजाती है, उस कर्मको करते हैं, अतः अभिषिक्त राजा दुष्टों को दण्ड देना और सज्जनों का पालन करना रूप राजाके कर्मको अंगीकार करे॥ १॥

द्वितीया ॥

अभि भेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता संपत्नहा । आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुम्यं देवा अधि बुवन् ॥२॥

श्रमि । म । इहि । मा । अप । वेनः । उग्रः । चेता । सपत्न ऽहा।

त्रा । तिष्ठ । मित्र अर्थन । तुभ्यम् । देवाः । अर्थि । ब्रुवन् ॥ २ ॥

हे राजन सिंहासनं हस्त्यश्वरथादियानं च अभि मेहि अभिलच्य प्रगच्छ । मा अप वेनः । अ वेनितः कान्तिकर्मा अ ।
अपकामम् अनिच्छां मा कार्पीः ॥ उग्रः उद्गूर्णवलः दुरासदः
चेत्ता चेतिता । कार्याकार्यविभागज्ञानशीलवान् इत्यर्थः । अ
चिती संज्ञाने इत्यस्मात् ताच्छीलिकस्तृन् अ । अत एव सपत्नहा
सपत्नानां शत्रूणां हन्ता । अ "बहुलं छन्दिस" इति हन्तेः विवप्
अ । राजसनादिसमीपं गत्वा च मित्रवर्धनः यानि राजमित्राणि
महामात्रादीनि सन्ति तेषां वर्धियता सन् आ तिष्ठ राजासनं हस्त्यश्वादियानं च आरोह । एवंभृताय तुभ्यं देवाः इन्द्रादयो लोकपालाः अधि बुवन् [ अधिबुवन्तु ] । अधिवचनं पत्त्रपातेन वचनम् । मदीयोयस् इति त्वाम् अनुगृह्णन्तु इत्यर्थः ॥

हे राजन्! आप सिंहासन और हाथी घोड़ा रथ आदि यान की ओर लच्य रख कर चिलये, इनकी अनिच्छा न करिये। प्रचएड बली, कार्य और अकार्यके विभागको जानने वाले शत्रु-संहारक आप राजासन आदि पर जाकर अपने मित्रोंको बढ़ाते हुए राजासन पर और हाथी आदि सवारी पर भी चढ़िये। ऐसे आपको इन्द्र आदि लोकपाल पत्तपातपूर्वक कहें, कि—यह तो हमारे हैं।। २।।

तृतीया ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वं अभ्यं छियं वसान अरित स्वरे चिः महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थो ॥ ३ ॥

आऽतिष्ठन्तम् । परि । विश्वे । अभूपन् । श्रियम् । वसानः । चरति । स्वऽरोचिः ।

महत् । तत् । वृष्णः । श्रमुरस्य । नाम । श्रा । त्रिश्वऽरूपः । श्रमृतानि । तस्थौ ॥ ३॥

श्रातिष्ठन्तम् सिंहासनादिकम् श्रारोहन्तं विश्वे सर्वे जनाः पर्यभूषन् परितः श्रलङ्कुर्वन्तु । अ भूष श्रलंकारे । भौवादिकः अ ।

[ यदा ] परितो भवन्तु वर्तन्ताम् । सेवन्ताम् इत्यर्थः । अ भवतेश्वान्दसे लुङि सिब्बहुलम्०" इति बहुलग्रहणात् सिप् अ ॥

श्रास्थानानन्तरं श्रियं वसानः राजलच्यीं धारयन् स्वरोचिः स्वायत्तदीप्तः चरति राज्यपरिपालने वर्तते । अ वसान इति । वस

श्राच्वादने । श्रस्मात् लटः शानच् । श्रनुदात्तेत्वात् "लसार्वधातुक०" [ इति ] श्रनुदात्तत्वे धातुस्वरः अ ॥ विष्णोः श्रभिषेक-

## (३४४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

जिनतराजितेजसा दशिदगन्तान् व्याप्तुत्रतः असुरस्य शत्रूणां निरिस्तुः । अ असु क्षेपणे । असेरुरन् [ उ० १. ४२ ] इति उरन् प्रत्ययः अ । यद्दा असून् पाणान् राति प्रयच्छित पादाक्रान्तानां दिषाम् इति असुरः । अ रा दाने इत्यस्माद्ध "आतोन्नुपसर्गे कः" इति कः अ । ईदृशस्य तस्याभिषिक्तस्य राज्ञः तन्नाम अभिषेकस्य कृतं सुन्दरपाण्डचादिकं नाम महः महत् अधिकं यन्नाम-अवणमात्राद् भीताः शत्रवः पलायन्ते [तादृशम्]। तादृ नामाङ्किता राजा विश्वरूपः शत्रुमित्रकलत्रादिषु नानाविधरूपः सन् अमृतानि अमृतत्वप्रापकानि दण्डयुद्धादीनि अध्ययनादीनि च कर्माण् आ तस्थौ आतिष्ठतु । आचरतु इत्यर्थः ॥

सिंहासन श्रादि पर श्रारूढ़ होते हुए राजाकी सब जने चारों श्रोरसे सेवा करें, श्रोर सिंहासन श्रादि पर बैठनेके श्रनन्तर राज्यलच्मीको धारण करने वाले यह राजा राज्यपरिपालनमें तत्पर रहें। श्रीभपेकके कारण उत्पन्न हुए राजतेजसे दशों दिशाश्रों में व्याप्त, श्रोर शत्रुश्रोंका संहार करने वाले श्रीभिषक्त राजाके श्रीभषेकके समय रक्ता हुआ सुन्दर पाण्डच श्रादि नाम वड़ा भारी हो, कि जिस नामके सुननेसे ही शत्रु भयभीत होकर भाग जावें। ऐसे नामसे श्रीकित राजा शत्रु मित्र स्त्री श्रादिमें श्रनेक रूपसे व्यवहार करता हुआ अमृतत्वको प्राप्त कराने वाले दण्ड युद्ध श्रादि श्रीर श्रध्ययन श्रादि कर्मोंको भी करे।। ३।। चतुर्थी।।

व्यात्रो अधि वैयांत्रे वि कमस्व दिशो महीः । विशंस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापोदिन्याः पर्यस्वतीः ४

च्यात्रः । अधि । वैयात्रे । वि । क्रमस्त्र । दिशः । महीः ।

विशः । त्वा । सर्वाः । वाञ्छन्तु । श्रापः । दिव्याः । पयस्वतीः ४

वैयाघ्रं व्याघ्रस्य विकारश्चर्म वैयाघ्रम् । अ"अवयवे च प्राएयोपथितृक्षेभ्यः" इति विकारार्थे अण् । "न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्०"
इति वृद्धिनिषेधः ऐजागमश्च अ । व्याघ्रचर्मणि अधि उपिर उपविष्टः सन् व्याघः । लुप्तोपमम् एतत् । व्याघ्रवद् दुष्पथर्षो भूत्वा
महीः महतीः पाच्याद्या दिशः वि क्रमस्व विजयस्व । विक्रमेण
शौर्येण व्याप्नुहीत्यर्थः । अ "वेः पाद्विहरणे" इति क्रमेरात्मनेपदम् अ ॥ हे राजन् एवं तेजस्विनं त्वा त्वां सर्वा विशः प्रजाः
वाञ्चन्तु स्वामित्वेन इच्चन्तु । अ वाच्चि इच्छायाम् अ । त्वदाज्ञावशे वर्तन्ताम् इत्यर्थः ॥ तथा दिव्याः दिवि भवाः पयस्वतीः
पयस्वत्यः सारवत्यः आपश्च त्वां वाञ्चन्तु । त्वद्विपये अनावृष्टिर्मा
भूद् इत्यर्थः ॥

आपन्याघ्रचर्म पर वैठ न्याघ्रकी समान दुष्पधर्ष होकर विशाल पूर्व आदि दिशाओंको जीतिये, हे राजन ! ऐसे तेजस्वी आपको सब प्रजायें स्वामी बनाना चाहें, आपकी आज्ञाके वशमें रहें तथा आकाशमें होने वाले सारमय जल भी आपकी इच्छा करें अर्थात् आपके राज्यमें अनादृष्टि न हो ॥ ४॥

पश्चमी ॥

या आपो दिन्याः पर्यसा मदन्त्यन्तरिक् उत वा पृथिन्याम् ।

तासां त्वा सर्वासाम्पाम्भि पिश्वामि वर्धसा ॥ ५ ॥

याः । त्रापः । दिव्याः । पर्यसा । मदन्ति । त्रान्तरिक्षे । उत ।

वा । पृथिव्याम् ।

तासाम्।त्वा । सर्वासाम्। अपाम्। अभि । सिञ्चामि। वर्चसा ५

दिव्याः दिवि भना या आपः पयसा स्वकीयेन सारभूतेन रसेन मदिन प्राणिनस्तर्पयिनत । अभि मद तृप्तियोगे । चुरादिरदन्तः । ''छन्दस्युभयथा'' इति शप आर्यधातुकत्वात् ''णेरिनिटि'' इति णिलोपः अ। याश्र अन्तरिक्षे वर्तमाना आपः उत वा अपि वा पृथिव्याम् भूम्याम् अवस्थिताः तासां सर्वासां लोकत्रयव्याप्तानाम् अपां वर्चसा बलकरेण सारेण हे राजन त्वा त्वाम् अभि पिश्वामि ॥

स्वर्गके जो जल अपने सारभूत रससे प्राणियोंको तप्त करते हैं, आर जो जल अन्तरिच और पृथिवीमें हैं उन तीनों लोकोंमें व्याप्त जलोंके वलपद सारसे हे राजन! मैं तेरा अभिषेक करता हूँ ५

षष्टी ॥

श्रमि त्वा वर्चसासिचन्नापे दिव्याः पर्यस्वतीः । यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सिवता कंरत् ॥ ६ ॥

अभि । त्वा । वर्षसा । असिचन् । आपः। दिव्याः । पयस्वतीः।

यथा । त्रासः । मित्र ऽवर्धनः। तथा । त्वा । सविता । करत् ॥६॥

हे राजन त्वा त्वां प्रागुक्ता दिव्याः [ पयस्वतीः ] पयस्वत्यः आपः स्वकीयेन वर्चसा अभ्यस्जन् आभिमुख्येन संस्जन्त । यथा त्वं मित्रवर्धनः मित्राणां वर्धियता असः भवेः । अ द्वेष्पर्यन्तात् नन्द्यादिलक्त्तणो ल्युपत्ययः । अस्तेर्लेटि अडागमः अ । सविता सर्वप्रेरको देवः त्वा त्वां तथा करत् करोतु ॥

हे राजन ! पूर्वोक्त दिव्य जल आपको अपने तेजसे अभिषिक्त करें और आप जिस प्रकार मित्रोंको बढ़ा सकें तिस प्रकारकी दशामें सर्वपेरक सूर्यदेव आपको करें।। ६।।

#### सप्तमी ॥

पुना व्याघं परिषम्बजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय ।

समुदं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्भुज्यन्ते द्वीपिनम्प्स्व १ न्तः एना । व्याधम् । परिऽसस्वजानाः । सिंहम् । हिन्वन्ति । महते । सौभगाय ।

समुद्रम् । न । सुऽभुवः । तस्थिऽवांसम् । मुमू ज्यन्ते । द्वीपिनम् । अप्ऽसु । अन्तः ॥ ७ ॥

''या त्रापो दिव्याः'' इति पाग् उक्ता त्रापः एना इति ऋन्वा-दिश्यन्ते । एना एता उक्ता आपः । अ "द्वितीयाटौःस्वेनः" इति एतच्छब्दस्य एनादेशः । ततः "सुपां सुलुक्०" इति जस श्राजादेशः । श्रत एव श्रन्तोदात्तत्वम् । इतरथा हि श्रमुदात्त इत्यनुष्टत्तरेनादेशोनुदात्तः । जसस्तु सुप्त्वाद् अनुदात्ततेति 🛞 । [ व्याघं व्याघवत् पराक्रमयुक्तं परिषस्वजानाः परितः अभितः अतिशयेन आलिङ्गन्त्यः । मातरो वत्सम् इव अत्यन्तं पीणयन्त्य इत्यर्थः । 🛞 परिपस्वजाना इति व्वञ्ज सङ्गे । त्र्यस्मात् लिट् । ] तस्य कानजादेशः 🕾 । सिंहम् सहनशीलम् यद्वा सिंहतुल्यपरा-क्रमं राजानं हिन्वन्ति वीर्यपदानेन पीएायन्ति । अ हिविः पीएा-नार्थः । इदित्त्वान्तुम् 🕸 । किमर्थम् । महते सौभगाय अधिकाय सौभाग्याय । 🛞 ''सुभग मन्त्रे'' इति उद्गात्रादिषु पाठाद्व भावे श्रञ् । "िञ्नत्यादिर्नित्यम् इति श्राद्युदात्तत्वम्" । "बृहन्महतो-रुपसंख्यानम्" इति महतो विभक्तिरुदात्ता 🕸 । तत्र दृष्टा तः । समुद्रं नेति। यथा नदीरूपा आपः समुद्रं पीणयन्ति तद्वइ अभिषेक-साधनभूता त्र्यापो राजानं शीणयन्तीत्यर्थः । यद्दा समुद्रशब्देन वरुण

उच्यते। समुद्रं न वरुणिमव । अप्सु उदकेषु परितो वर्तमानेषु अन्तः
मध्ये तिस्थवांसम् स्थितवन्तं द्वीपिनम् शार्द् लवद् अप्रधृष्यं राजानं
समुद्रा । सुप्ठु भवन्ति समृद्रा भवन्तीति समुद्राः सेवकजनाः । ते
ममृद्रियन्ते पुनःपुनः अङ्गपत्यङ्गानि अभिगेकेण शोधयन्ति । यद्वाः
पट्टवस्त्रकटकमुकुटादिभिरलंकुत्रेन्ति । अ मृज् शौचालंकारयोः ।
"०ममृद्रियागनीगन्तीति च" इति निपातनाद् अभ्यासस्य रुगागमः। अप्स्वति। "अडिदम् " इत्यादिना विभक्तेरुदात्त्वम् अ।।

इति चतुर्थकाएडे द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

"या आपो दिन्याः" इत्यादि पश्चम मन्त्रमें कहे हुए जल, न्यान्नकी समान पराक्रमी राजाको माताकी समान प्रसन्न करते हैं, सिंहकी समान पराक्रमी राजाको बड़ा भारी सौभाग्य पानेके लिये वीर्य पदान कर तृप्त करते हैं ( उसमें दृष्टान्त यह है, कि ) जैसे नदीरूप जल सम्रद्रको प्रसन्न करते हैं, तिसी प्रकार अभिषेकके साधन जल राजाको तृप्त करते हैं। जलोंके वीचमें स्थित सिंहकी समान अपपृष्य राजाको सेवक पृद्वस्त्र मुकुट आदिसे बारम्वार अलंकृत करते हैं। ७।।

चतुर्धकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें शीसरा सुक्त समाप्त (११०)॥

"एहि जीवम्" इति स्क्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामस्य माणवकस्य आञ्जनमणि संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि । ''एहि जीवम् इत्याञ्जनमणि वध्नाति" इति [ कौ० ७.६ ] ॥

''ऐरावतीं गजज्ञये'' [ न० क० १७ इति विहितायाम् ऐरावत्या-ख्यायां महाशान्तो ऋाञ्जनमिणवन्धनेपि एतत् सक्तम्। उक्तं नज्ञत्र-दृल्पे।''एहि जीवम् इत्याञ्जनमिणं ऐरावत्याम् इति[न०क० १८]॥

'एहि जीवम्' इस सूक्तसे उपनयनके अनन्तर आयु चाहने वाले वालकके लिये अञ्जनमणिको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके वाँघे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—''एहि जीवम् इत्याञ्जनमणि वध्नाति''( कौशिकसूत्र ७। ६ )।। "ऐरावतीम् गजन्नये-गजन्नयमें ऐरावती महाशान्तिको करे" इस नज्ञकल्प १७ से विहित ऐरावती नामकी महाशान्तिमें भी यह सुक्त आता है। इसी वातको नज्ञकल्पमें कहा है, कि-"एहि जीवम् इत्याञ्जनमिणम् ऐरावत्याम्" ( नज्ज्ञकल्प १६ )

तत्र प्रथमा ॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यच्यम् । विश्वेगिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

श्चा । इहि । जीवम् । त्रायमाणम् । पर्वतस्य । असि । अच्यम् ।

विश्वेभिः । देवैः । दुत्तम् । परिऽधिः । जीवनाय । कम् ॥ १ ॥

हे आञ्जन एहि आगच्छ । कुतो हेतोरिति तत्राह । जीवम् इति । जीवित प्राणं धारयतीति जीवः आत्मा । तं त्रायमाणम् पालयत् जीवात्मनः पालनाद्धे तोरित्यर्थः । अ त्रेङ् पालने इत्यस्मात् हेतो लटः शानच् अ । तथा पर्वतस्य त्रिककुन्नाङ्गो गिरेः अज्ञम् असि च कुर्भवसि ॥ विश्वेभिः सर्वेदे वैरिन्द्रादिभिरस्मभ्यं जीवनाय रोगा-दिराहित्येन चिरकालजीत्रनार्थं दत्तं सत् परिधिरसि । परितो धीयत इति परिधिः पाकारः । सृत्योरनागमनाय पाकारो भवसी-त्यर्थः । अ परिधिः । परिपूर्वाद्ध धाञः "उपसर्गे घोः किः" इति किमत्ययः अ । कम् इति पादपूरणः ॥

हे अञ्जनमणे ! पालोंको धारण करनेवाले जीवात्माकी रचा करती हुई यहाँ आ । तू त्रिककुद नामवाले पर्वतकी नेत्ररूप है। इन्द्र आदि सब देवताओंने रोगरहित जीवन वितानेके लिये तुम को हमैं परकोटेके रूपमें दिया है अर्थात् तूं मृत्युका आगमन रोकने के लिये परकोटारूप है।। १।। द्वितीया ॥ परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गर्वामसि ।

अश्वानामर्वतां परिवाणांय तस्थिवे ॥ २ ॥

परिऽपानम् । पुरुषाणाम् । परिऽपानम् । गवाम् । असि । अश्वानाम् । अर्वताम् । परिऽपानाय । तस्थिषे ॥ २ ॥

हे त्रिककुदाञ्चन त्वं पुरुषाणाम् मनुष्याणां परिपाणम् परि-रक्तणसाधनम् श्रसि । अपातेः करणे न्युट्। "वा भावकरणयोः" इति विकन्पेन णत्वम् अ। गवां च त्वं परिपाणम् परिरक्तणम् श्रसि । अगवाम् इति । "सावेकाचः०" इति प्राप्तस्य [ विभ-वत्युदात्तत्वस्य ] "न गोश्वन्साववर्ण०" इति प्रतिषेधः अ।। श्रश्वानाम् श्रवेताम् वडवानां च परिपाणाय परिरक्तणाय तस्थिषे तिष्ठसि । अ "वन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लिट्। क्रादिनियमाद् इट्। श्रवेताम् इति । "श्रवेणस्रसावनन्नः" इति नकारान्तस्य तकारातन्ता अ।।

हे त्रिककुदाञ्जन! तू पुरुषोंकी रत्ताका साधन होता है त्र्यौर तू गौत्रोंकी भी रत्ताका साधन है, तू घोड़े त्र्यौर घोड़ियोंकी रत्ता के लिये भी स्थित रहता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

उतासि परिषाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।

उतास्तरय त्वं वेत्थाथा आसि जीवभोजन्मथा

हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

उत । असि । परिऽपानम्। यातुऽजम्भनम् । आऽअञ्जन ।

उत । अमृतस्य । त्वम् । वृत्थ । अथो इति । असि । जीवऽभो-जनम् । अथो इति । हरितऽभेषजम् ॥ ३ ॥

या समन्तात् श्रनिक चत्तुपी श्रनेनेति श्राञ्जनम् । अ श्रव्जू व्यक्तिम्लचण[कान्ति]गतिषु । अस्माद् श्राङ्पूर्वात् करणे ल्युट् अ । हे श्राञ्जन त्वं यातुजम्भनम् । यातवो यातनाः रचः-पिशाचादिजनिताः पीडाः । तेषां नाशनं परिपाणम् परिरचणम् असि । उतशब्दः समुचये ।। ईटक् सामर्थ्यम् श्राञ्जनस्य कुत इत्यत श्राष्ट्र । उत्र श्रपि च त्वम् श्रमृतस्य श्रमृतत्वसाधनस्य युलोकस्थस्य पीयूषस्य सारं वेच्थ वेतिस जानासि । अ "विदो लटो वा" इति थल् श्रादेशः अ ।। श्रथो श्रपि च जीवभोजनम् जीवानां जीवतां प्राणिनान् श्रनिष्टनिवर्तने न पालकम् श्रसि । यद्दा भोगसाधनम् श्रसि ।। श्रथो श्रपि च हरितभेषजम । हरि-तस्य पाएड्वादिरोगजनितस्य श्यामलत्वस्य निवर्तकम् श्रसि ॥

जिससे समीपमें ही नेत्रोंको स्वच्छ किया जाता है, ऐसे हे आज्ञन ! तू राचस पिशाच आदिकी की हुई यातनाओं का नाशक परिपाण-रचक-रूप है (इसका कारण यह है, कि-) तू अमृतत्व के साधन द्युलोकमें स्थित पीयूपके सारको जानता है और जीवित माणियों के अनिष्टको हटा कर उनकी रचा करने वाला है और पाएडु आदि रोगसे उत्पन्न हुए श्यामलत्वका भी निवर्तक है ३

चतुर्थी ॥

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परः ।
ततो यद्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥
यस्य । त्राऽत्रञ्जन । मऽसर्पति । अङ्गम् अञ्चम् । पर्दः ऽपरः ।
ततः । यद्मम् । वि । बाधसे । उग्रः । मध्यमशीः ऽइव ॥ ४ ॥

हे आज्जन यस्य पुरुषशारीरस्य अङ्गमङ्गं सर्वाणि हस्तपादादीन्यङ्गानि परुष्यः सर्वाणि परुष्यं पर्वाणि अङ्गसंधीं प्रस्पेषि
प्रित्रय अन्तः सिरामुखें व्यक्ति । अ "नित्यवीष्सयोः" इति
अङ्गशब्दपरुः शब्दयो हिंदी चनम् अ । ततः तस्मात् पुरुषशारीराद्
यदमम् रोगं वि वाधते । पुरुषव्यत्ययः । विवाधसे । तत्र दृष्टान्तः ।
उग्रः उद्दर्यू र्णवत्तः मध्यमशीरिव । मध्यमे अन्तरिक्तस्थाने शेते संचरतीति मध्यमशीः वाद्यः । स यथा मेघजात्वादिकं क्रणमात्रेण
अपसारयति तद्वद् इत्यर्थः । यद्वा मध्यमशीः । "अश्वित्रम् अरेमित्रम्" इति नीतिशास्त्रोक्तराज्ञगण्डलमध्यवती राजा । स यथा
उद्दर्गण्वत्तः सन् पर्यन्तवर्तिनो रिपून् निगृह्णाति तद्वद् इत्यर्थः ।
अ मध्यमशीः । मध्ये भवं मध्यमस् । "मध्यान्मः" इति मप्रत्ययः ।
तत्र शेत इति मध्यमशीः । "विवष् च" इति शीङः विवष् अ ॥

हे आञ्जन ! तू जिस जिस पुरुपशारीरके हाथ पैर आदि पत्येक श्रंगोंमें और अंगसंधियोंमें मबेश करके व्याप्त हो जाता है उस पुरुपके गरीरसे यद्मारोगको, प्रचएड बल वाले वायुके येघको उड़ानेकी समान शीघ ही दूर कर देता है।। ४।।

पश्चमी ॥

नैनं प्राप्नोति शुपयो न कृत्या नाभिशोचनम् । नैनं विष्केन्धमश्नुते यस्त्वा विभत्यि अन् ॥ ५ ॥ न। एनम्। प। आमोति। शुपयः। न। कृत्या। न। अभिऽश्योचनम्। न। एनम्। विऽस्केन्धम् । अश्नुते। यः । त्वा। विभति।

णनम् । विऽस्कन्धम् । श्रश्तुते । यः । त्वा । विभर्ति । श्राऽत्रक्षत्रन् ॥ ४ ॥ हे आञ्जन [ आञ्जन ] द्रव्य त्वा त्वां यो जनो विभिर्त धार-यति । अ दुभूत्र धारणपोषणयोः । "भीह्यीभृहुमद्" इत्यादिना पितः प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् अ । एनम् तव धारकं पुरुषं शपथः परकृतः शापः न प्राप्तोति । तथा पराभिचारजनिता कृत्या च न प्राप्तोति । अ "कृत्रः श च" इति चकारात् संज्ञायां करोतेः क्यप् । "हस्वस्य पिति०" इति तुक् अ । अभिशोचन अभि-शोकः कृत्याजनितो न प्राप्तोति । विष्कन्धम् गतिप्रतिवन्धकं विष्न-जातमपि एनं नाश्नुते न व्यामोति ।।

हे आजन ! जो पुरुष तुमको धारण करता है उस पुरुषको दूसरेका किया हुआ शाप नहीं माप्त होता, दूसरेकी हुई आभि-चारिक कृत्या नहीं माप्त होती आर कृत्यासे होने वाला अभि-शोक और गतिको रोकने वाले विद्न भी माप्त नहीं होते ॥॥॥ षष्टी ॥

असन्मन्त्राद् दुष्वप्त्यांद् दुष्कृताच्छमेलादुत । दुर्हार्द्श्वज्ञंषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

असत्ऽमन्त्रात् । दुःऽस्वप्न्यात् । दुःऽकृतात् । शमलात् । उत । दुःऽहार्दः । चच्चपः । घोरात् । तस्मात् । नः । पाहि । आऽश्रज्जन ६

[ असन्मन्त्र्यात् । ] असन्तः अशोभना अभिचारार्था मन्त्रा असन्मन्त्राः । तत्र भवाद् दुःखात् दुष्वप्न्यात् दुःष्वप्रजनिताद्व दुःखात् दुष्कृतात् जन्मान्तरकृतात् पापात् [ उत ] शमलात् अन्यस्मादिष क्रियमाणात् पापात् दुर्होदः दौर्मनस्याद् घोरात् कर्रात् परकीयाच्च प्रथ तस्मात् अनुकान्तात् सर्वस्मात् हे आञ्जन नः अस्मान् पाहि रच्न ॥

हे अञ्जनमणे ! अगिचारोपयोगी असन्मन्त्रोंसे, उनसे होने

84

## ( ३५४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

माले दुःखसे, दुःस्वमसे होने वाले दुःखसे, जन्मान्तरमें बने हुए पापसे उत्पन्न हुए दुःखसे और भी बने हुए पापसे उत्पन्न हुए दुःखसे और भी बने हुए पापसे, दूषित मनसे और दूसरों के क्रूर चत्नुसे भी आप मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥ सप्तमी ॥

इदं विद्वानांञ्जन सत्यं वंच्यामि नानृतम्। सनेयमश्वं गामहमात्मानं तर्व पूरुव ॥ ७ ॥

इदम् । विद्वान् । आऽअञ्जन् । सत्यम् । बच्यामि । न । अनुतम् । सनेयम्। अश्वम् । गाम् । अहम्। आत्मानम् । तव । पुरुष ॥ ७॥

हे ब्राज्जन विद्वान् तव माहात्म्यं जानन् इदं सत्यम् यथार्थमेव वच्यामि न तु ब्राटतम् ब्रासत्यम् । ब्रातस्तव पूरुषः दासभूतोहम् ष्ठाश्वं गाम् ब्रात्मानम् जीवं सनेयम् संभजेयम् ॥

हे त्राञ्जन! मैं आपके माहात्म्यको जानता हूँ, अत एव मैंने यह सत्य बात ही कही है, मैं भूँठ नहीं कह रहा हूँ अत एव दासभूत मैं घोड़े गौ और जीवकी सेवा करूँ।। ७॥

श्रष्टमी ॥

त्रयो दासा आञ्जनस्य त्रमा ब्लास आदि । विष्ठः पर्वतानां त्रिक्कुन्नामं ते पिता ॥ = ॥ त्रयः। दासाः। आऽअञ्जनस्य। त्रमा । व्लासंः। आत् । अहिंः। विष्ठः । पर्वतानाम् । त्रिश्ककुत् । नामं । ते । पिता ॥ = ॥

श्राञ्जनस्य श्राञ्जनसाधनस्य द्रव्यस्य त्रयो रोगा दासाः दासवद् वशवर्तिनः । तान् श्रनुकामित। तक्मा । अ तिक कृच्छ- जीवने इति धातुः । तस्माद् श्रोणादिको मनिन् अ । कुच्छुजीवनहेतुर्ज्वरस्त्रमशब्दवाच्यः । वलासः शारीरं वलम् अस्यति
चिपतीति वलासः संनिपातादिः । आत् अनन्तरम् अहः सर्पः ।
तज्जन्यविषविकार इत्यर्थः । एते प्राणापहारिणो रोगाः आञ्जनप्रभावेन निवर्तन्त इत्यर्थः ॥ अपि च पर्वतानां मध्ये वर्षिष्टः
दृद्धतमः त्रिककुत् [ नाम ] त्रीणि ककुदानि शृङ्गाणि यस्य स
तथोक्तः । अ "त्रिककुत् पर्वते" इति अन्त्यलोपः समासान्तो
निपात्यते अ । एतत्संज्ञः पर्वतः हे आञ्जन ते तव पिता जनकः ।
अ वर्षिष्ट इति । दृद्धशब्दात् इष्टनि "पियस्थिरं " इत्यादिना
वर्षादेशः अ ॥

आक्राक्तन द्रव्यके तीन रोग दासकी समान वेशमें रहते हैं।
(१) कठिनतासे जीवनका निर्वाह कराने वाला ज्वर (२)
शारीरके वलको चीण करनेवाला सन्निपात आदि और (३) सर्प
आदिका विषविकार। तात्पर्य यह है, ।कि-ये पाणनाशक रोग
आक्रानके प्रभावसे हट जाते हैं। और पर्वतोंमें श्रेष्ठ त्रिककुद्द
नामका पर्वत हे आंजन! तुम्हारा पिता है।। ⊏।।

नवमी ॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि । यातृंश्च सर्वान् जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ६ ॥ यत् । आऽअञ्जनम् । त्रैककुदम् । जातम् । हिमऽवतः । परि । यात्न । च । सर्वान् । जम्भयत् । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ६

हिमवतस्परि हिमवत्पर्वतात् परि उपरिभागे । अ "पश्चम्याः परावध्यर्थे" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् अ । त्रैककुदम् । तत्रस्थः त्रिककुकाम पर्वतः तत्संबन्धि यद्ग आञ्चनं जातम् उत्पन्नं तद्

## ( ३५६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यात्न् यातुधानांश्र सर्वान् अशेषान् सर्वा यातुधान्यः यातुधानीः। श्रि " वा छन्दिसि" इति शिंस पूर्वसवर्णदीर्घाभावः श्रि । यातु-धानिस्त्रयश्र जम्भयत् नाशयद्भ वर्तते। श्रतः अस्मद्रोगादीन् नाश-यतु इत्यर्थः ॥

हिमालय पर्वतके ऊपरके भागमें स्थित त्रिककुद्ध पर्वतका आंजन यातुधान और यातुधानियोंका नाश करता रहता है, श्रतः वह हमारे रोग आदिका नाश करे।। ६॥

दशमी ॥

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।
उमे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥१०॥
यदि । वा । असि । त्रैककुदम् । यदि । यामुनम् । उच्यसे ।
उमे इति । ते । भद्रे इति । नाम्नी इति । ताभ्याम् । नः । पाहि ।
आऽअञ्जन ॥ १०॥

हे आञ्जन त्वं यदि वा त्रैककुदम् असि त्रिककुत्पर्वतसंबन्धि भवसि यदि वा याग्रनम् यग्रनायाः संबन्धि उच्यसे जनैः कथ्यसे ते उभे त्रैककुदं याग्रनम् इति नाम्त्री नामनी संज्ञे भद्रे कल्याएयौ। ताभ्यां नामभ्याम् हे आञ्जन नः अस्मान् पाहि रत्त ॥

[ इति ]चतुर्थं सुक्तम्।।

हे आजन ! तू यदि त्रैककुद्ध है अर्थात् त्रिककुद्ध पर्वतकी कही जाती है, वा याम्रुन है अर्थात् जमनाकी है, तो तेरे ये त्रैककुद्ध और याम्रुन दोनों नाम भी कल्याएकारक हैं, उन दोनों नामोंसे हे आञ्जन ! तू हमारी रक्षा कर ।। १० ॥

चतुर्थकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ स्क समाप्त (१११)॥

"वाताज्जातः" इति स्कोन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामस्य मारावकस्य शङ्घमिण संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । तद् उक्तं कौशिकेन । "उपनयनम्" [कौ० ७. ६] मक्रम्य "वाताज्जात इति कृशनम्" इति [कौ० ७. ६] ॥

"वारुणीं जलभये" [ न० क० १७ ] इति विहितायां वारु-एयाख्यायां महाशान्तौ शङ्कमिणवन्धनेषि एतत् सूक्तम् । उक्तं नच-त्रकल्पे । "वाताज्जात इति शङ्कं वारुएयाम्" इति [न०क०१६]॥

उपनयनके अनन्तर आयुष्काम बालकके "वाताज्जातः" इस सक्तसे शङ्कमिणको अभियन्त्रित करके वाँधे। इसी बातको कौशिक सूत्रमें कहा है, कि—"उपनयनम्" (कौशिकसूत्र ७।६) प्रक्रम्य "वाताज्जात इति कृशनम्" (कौशिकसूत्र ७।६)॥

"वारुणीं जलभये—जलका भय होनेपर वारुणी महाशान्तिको करे" इस नत्त्रकल्प १७ से विहित वारुणी महाशान्तिके शङ्ख-यिण वन्धनमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको नत्त्रत्र कल्प १६ में कहा है, कि—"वाताज्ञात इति शङ्खं वारुण्याम्"

तत्र प्रथमा ॥

वातांजजातो अन्तरिचाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि । स नो हिरगयुजाः शृङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥ वातात् । जातः । अन्तरिचात् । विऽद्युतः । ज्योतिषः । परि । सः। नः । हिरग्यऽजाः । शृङ्खः । कृशनः । पातु । अहंसः ॥१॥

वातात् वायोः जातः उत्पन्नः शङ्कः तथा अन्तरिक्षात् तद्धि-ष्ठिताद् अन्तरिक्षलोकाद् विद्युतः तिहतः । यद्वा विद्योतमानात् । ज्योतिषः ज्योतिर्मण्डलाच्च परि अधि उपरिभागे जातः । अ"पश्च म्याः परावध्यर्थे" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् अः । स तादृशो

## (३५८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

वातादिकारणकः हिरण्यजाः हिरण्यात् सुवर्णाद् उत्पन्नः क्रुशनः कर्शियता शत्रूणां तन्कर्ता एवं महानुभावः शङ्कः अंहसः पापात् नः अस्मान् पातु रत्ततु ॥

वायुसे उत्पन्न होनेवाला, अन्तिरिक्तलोकमें उत्पन्न होनेवाला प्रकाशित ज्योतिर्मण्डलसे भी ऊपरके भागमें उत्पन्न होने वाला और सुवर्णसे उत्पन्न होने वाला शत्रुओंको कुश करने वाला शङ्ख पापसे हमारी रन्ना करे ॥ १॥

द्वितीया ॥

यो अंग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जिन्ने ।

शक्केनं हत्वा रचांस्यत्त्रिणो वि पंहामहे॥ २ ॥

यः । अप्रतः । रोचनानाम् । समुद्रात् । अधि । जिज्ञिषे ।

शुह्वेन । हत्त्रा । रत्तांसि । श्रुन्त्रिणः । वि । सहामहे ॥ २ ॥

हे शह यस्त्वं रोचनानाम् रोचमानानां भास्वराणां नत्तत्रा-दीनाम् अग्रतः अग्रे प्रष्ठुत्वे वर्तमानः श्रेष्ठः समुद्राद्धि समुद्रस्योपरि जित्रषे जायसे । ॐ रुच दीप्तौ इत्यस्माद् ''अनुदात्तेतश्च हलादेः" इति युच् ॐ । तेन ज्योतिर्मयेन शङ्खेन त्वया रत्तांसि हत्वा अ-त्त्रिणः अदनशीलान् पिशाचादीन् वि सहामहे विशेषेण अभि-भवामः । ॐ अत्त्रिण इति । अदेखिनिश्च [ उ० ४, ६८ ] इति औणादिकस्त्रिनिमत्ययः ॐ ।।

हे शंख ! तू प्रकाशमय नदात्र आदिके सामने वर्तमान समुद्रमें उत्पन्न होता है, ऐसे तुभ ज्योतिर्मय शंखसे राचसोंको मारकर हम पिशाच आदिको प्रवत्ततासे द्वाते हैं ॥ २ ॥

राङ्किनामीवाममति राङ्केनात सदान्वाः ।

श्ङो नो विश्वभेषजः कृशेनः पात्वंहंसः ॥ ३ ॥

शृङ्गेन । अमीवाम् । अमितम् । शृङ्गेन । उत । सदान्वाः ।

शङ्कः । नः । विश्वऽभेषजः । कृशनः । पातु । अंहसः । ३ ॥

अमीवाम् रोगम् अमितम् सर्वानर्थम्लम् अज्ञानं च शह्वेन मिर्णिरूपापन्नेन । विषहामहे इत्यनुपङ्गः । उत अपि च शह्वेन सदान्वाः सदा नोनूयमानाः अलच्मीः अभिभवामः । एवं विश्व-भेषजः सर्वस्योपद्रवजातस्य निराकर्ता कृशनः । हिरण्यनायैतत् । विकारे प्रकृतिशब्दः । हिरण्याज्जातः शह्वः नः अस्मान् अंहसः पापात् पातु रत्नतु ॥

हम मिल्फिपको पाप्त हुए शंखसे रोगको और सकल अनथाँ के मूल अज्ञानको दवाते हैं और शंखके द्वारा सर्वदा दुःख देने वाली अलक्षीको भी तिरस्कृत करते हैं। ऐसा सव उपद्रवोंको दूर करने वाला सुवर्णसे उत्पन्न हुआ शंख पापोंसे हमारी रक्षा करे चतुर्थी।।

दिवि जातः संमुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः । स नो हिरएयजाः शङ्ख ऋायुष्पृतरंणो मणिः ४

दिवि । जातः । समुद्रऽजः । सिन्धुतः । परि । आऽभृतः ।

सः । नः । हिर्एयऽजाः । शृङ्खः । त्र्रायुः ऽपतरणः । मृणिः ॥ ४ ॥

दिवि द्युलोके अन्तिरक्षे पथमं जातः उत्पन्नः ततः समुद्रजः समुद्रे जातः। अ "सप्तम्यां जनेर्डः" इति डमत्ययः अ। सिन्धुतः सिन्धो समुद्रात् नदीमुखाद्भवा पर्याभृतः परित आहृतः स तादृशः

## ( ३६०।) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हिरएयजाः हिरएयाज्जातः शृह्वः शृह्वविकारो मिणः नः अस्माकम् आयुःमतरणः आयुषः प्रवर्थयिता भवतु ॥

पहिले चुलोकमें उत्पन्न हुआ फिर समुद्रमें उत्पन्न हुआ, नदीके मुहानेसे लाया हुआ सुवर्णसे उत्पन्न शंखका विकार मणि हमारी आयुका बढ़ाने वाली हो ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

समुद्राज्जातो मृणिवृत्राज्जातो दिवाकरः।

सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्याः देवासुरेभ्यः ॥५॥

समुद्रात् । जातः । मिणः । द्वत्रात् । जातः । दिवाऽकरः ।

सः । श्रस्मान् । सर्वतः । पातु । हेत्याः । देवऽत्रमुरुभ्यः ॥ ५ ॥

समुद्रात् अम्बुधेः । यद्दा । समुद्रम् इति अन्तरिक्तनाम । अन्त-रिक्तात् जातो मणिः मण्युपादानभूतः शङ्घः ष्टत्रात् लोकत्रयावर-काद् ष्टत्राम्धरशरीरात् । यद्दा आवरकस्वभावाद् मेघात् । जातः विनिम्नुको दिवाकरः सूर्यः । लुप्तोपमम् एतत् । तद्दत् प्रभातिशय-युक्तोयं शङ्घ इत्यर्थः । [स ] शङ्घविकारो मणिः हेत्या हननेन हेतुना देवासुरेभ्यः । उपलक्तणम् एतत् । देवासुरमभृतिभ्यो भय-हेतुभ्यः सर्वतः सर्वस्माद्व उपद्रवजाताद् अस्मान् पातु रक्ततु ।।

समुद्रसे वा अन्तिरित्तसे उत्पन्न हुआ मिणिका उपादानरूप शह, तीनों लोकोंको दकने वाले द्वत्रामुरके शरीरसे वा दकनेके स्वभाव वाले मेघसे उत्पन्न हुआ सूर्यकी समान प्रकाशित होता है, उस शंखकी विकाररूप यह मिण देवता और असुरोंके उप-द्रवोंसे हमारी रन्ना करे।। ५।।

. षष्टी ॥

हिरंगयानामेकोसि सोमात् त्वमधि जिन्ने।

स्थे त्वमंसि दर्शत इंखुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयंशि ्तारिपत् ॥ ६ ॥

हिरएयानाम् । एकः । असि । सोमात् । त्वम् । अधि । जिज्ञिषे । रथे । त्वम् । असि । दर्शतः । इषुऽधौ । रोचनः । त्वम् । म । नः । आर्थं पि । तारिषत् ॥ ६ ॥

हे शंख त्वं हिरएयानाम् सुवर्णरजतादिभासुरद्रव्याणां मध्ये एकोसि सुख्यो भवसि । यतः त्वं सोमात् अमृतमयात् सोममण्ड-लाद्व अधि जित्तपे जातोसि । अधिः पश्चम्यर्थानुवादी ॥ तथा संग्रामेषु त्वं रथे दर्शतोसि दर्शनीयो भवसि । अ दर्शरौणादिकः अतच् भत्ययः अ॥ तथा इष्ट्यो शराधारभूते निपङ्गे भ्रियमा-णस्त्वं रोचनः रोचमानः दीष्यमानो दृश्यसे ॥ एवं महानुभावः शंखः तिद्वकारो मणिः नः अस्माकम् आयूषि म तारिपत् मवर्ध-यतु । अ प्रपूर्वस्तिरितर्वर्धनार्थः । तस्मात् लेटि अडागमः । "सिब्बहुलस्०" इति सिप् । तस्य आर्धभातुकत्वेन इटि कृते "०स च णिद् वक्तव्यः" इति वचनाद्व दृद्धः अ॥

हे शंख ! तू सुवर्ण चाँदी आदि दमकते हुए द्रव्योंमें सुख्य है, क्योंकि-तू अमृतमय सोममण्डलसे उत्पन्न हुआ है और संग्रामके अवसरों पर रथोंमें तू दर्शनीय होता है और तू वाणोंके आधार भाथेमें रखने पर दमकता हुआ दीखता है। ऐसे शंखसे बनी हुई मिण हमारी आयुको बढ़ावे।। ६।।

सप्तमी ॥ देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वचरत्यप्स्वं १न्तः। तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वायं शत-

## ( ३६२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

# शांखाय कार्शनस्वाभि रंचतु ॥ ७ ॥

देवानाम् । अस्थि । कृशनम् । बभूव । तत् । आत्मन् ऽवत् । चरति । अप्ऽसु । अन्तः ।

तत् । ते । बःनामि । आयुषे । वर्चसे । वर्लाय । दीर्घायुऽत्वाय।

शतऽशारदाय । कार्शनः । त्वा । अभि । रत्ततु ॥ ७ ॥

देवानाम् इन्द्रादीनां संबन्धि यह रत्ताकरम् श्रस्ति तत् कृशनम् शंलस्य कारणभूतं सुवर्णं बभूव । तत् कृशनम् श्रात्मन्वत् शंलरूपशरीरयुक्तं सत् श्रप्स उदकेषु श्रन्तः चरित प्राण्यात्मना वर्तते । हे उपनीत तत् तथाविषं शंलरूपेण श्रवस्थितं कृशनं ते तव वध्नामि किमर्थम् । [श्रायुपे] श्रायुरादिफलसिद्धचर्थम् । श्रायुः चिरकालजीवनम् । वर्चः शरीरकान्तिः । वलं प्रसिद्धम् ॥ श्रायुपे इत्युक्तमेव श्रर्थं विद्यणोति दीर्घायुत्वायेति । दीर्घम् श्रायु-रस्य दीर्घायुः । तस्य भावस्तत्त्वम् । अ अन्दसीणः [उ० १. २] इति एतेरुण् प्रत्ययः अ । श्रायुपो देध्यमपि स्पष्टयित शतशार-दायेति । शरदा श्रयुना सह वर्तन्त इति शारदाः संवत्सराः । शत शारदाः परिमाणम् श्रस्य तत् शतशारदम् । तावत्कालव्या-पिजीवनायेत्यर्थः । स कार्शनः कृशनसंवन्धी मिणः हे माण-वक त्वा त्वाम् श्रमि रत्ततु सर्वतः पालयतु ॥

इत्यथर्ववेदार्थमकाशे चतुर्थे काएडे द्वितीयोनुवाकः॥

इन्द्र आदि देवताओं की रत्ता करने वाला शंखका कारणरूप जो सुवर्ण है, वह शंखरूपशरीरसे युक्त होकर जलके भीतर प्राणीरूपसे रहता है। हे यज्ञोपवीतिन ! ऐसे शंखरूपसे स्थित सुवर्णको आयु शरीरकी कान्ति और बलके लिये मैं तेरे बाँधता हूँ तेरी सौ वर्षकी आयुकरनेके लिये वाँधता हूँ, सुवर्णसे सम्वंध रखने वाली यह मिण तेरी रत्ता करे।। ७॥

चतुर्थकाण्डकं द्वितीय अनुवाकमे पञ्चम स्क समाप्त (११२)॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त.

"श्रनड्वान दाधार" इति श्राद्येन सक्तेन श्रनडुत्सवे निरुप्तहिंदि रिभमर्शनम् संपातम् दात्तवचनं च कुर्यात् । तद्ग श्राह कौशिकः। "श्रनड्वान् [ ४. ११ ] इत्यनड्वाहम् सूर्यस्य रश्मीन् [ ४. ३८. ४-७ ] इति कर्कीम्" [ कौ० ८. ७ ] इति ॥ श्रभिमर्शनादीनां सूत्रं तु "श्राशानाम्" [ १. ३१ ] इति सक्त एव उदाहृतम् ॥

"अनड्वान दाधार" इस प्रथम सक्तसे अनडुत्सवमें निरुप्तहिव का अभिमर्शन सम्पातन और दातृवाचन करे। इसी वातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"अनड्वान् (४। ७१) इत्यनड्वाहं सूर्यस्य रश्मीन् (४। ३८। ५८०) इति कर्कीम्" (कौशिक-सूत्र ८। ७)।। अभिमर्शन आदिकासूत्र तो "आशानाम्" इस प्रथमकाराडके ३१ वें सूक्तमें ही कह दिया है।।

तत्र प्रथमा ॥

अन्द्वान् दांधार पृथिवीमुत द्यामंन्द्वान् दांधा-रोवें १न्तरिचम् ।

अनुद्वान् दांधार प्रदिशः षडुवीरंनुद्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥

अनुड्वान् । दाधार् । पृथिवीम् । उत् । द्याम् । अनुड्वान् ।

दाधार। उरु। अन्तरिन्तम्।

अनुड्वान् । दाधार् । प्रऽदिशः । षट् । उर्वीः । अनुड्वान् ।

## विश्वम् । भुवनम् । त्रा । विवेश ॥ १ ॥

अनः शकटं वहतीति अनड्वान् शकटवहनसमर्थी छक्पः। सोयं कर्षणभारवहनादिना पृथिवीम् भूमि दाधार धारयति पोष-यति । 🛞 धृत्र् धारणे इत्यस्मात् छान्दसो वर्तमाने लिट् । तुजा-दित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम् 🕸 । यद्वा अनडुच्छब्देन वृपरूपो धर्मी-भिधीयते । धर्मो दृषमाकृतिर्भृत्वा पृथिव्यादिधारणं करोतीति योज्यम् । श्रूयते हि । "धर्मी विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" इति [ तै० आ० १०.६३]॥ उत द्याम् द्युलोकं स्वर्गलोकमपि स एव दाधार कर्पणादिनिष्पन्नेन चरुपुरोडाशादिहिवपा द्युलोकं पोषयतीत्यर्थः॥ तथा उरु विस्तीर्णम् अन्तरित्तलोकमि स धारयति । [ अनड्-वान् ] मदिशः माच्याचा महादिशश्च [ दाधार ] धारयति ॥ पदुर्वी: उर्वीशब्दवाच्या: "द्यौश्र पृथिवी च ऋहश्र रात्रिश्र आप-श्रोपधयश्रे [ स्राप्तव० १. २ ] इति पट्संख्याकाः सन्ति । ता अपि असौ धारयति । पृथिव्या द्योश्च पृथगुपादानाद् इतरचतुष्ट्या-पेत्तम् उर्वीग्रहणम् ॥ इत्थं ब्रह्मणा सृष्टः श्रनड्वान् विश्वम् सर्वे [ भुवनम् ] पृथिव्यादिभ्यः अन्यमपि लोकम् आ विवेश रत्ताणार्थ मविश्य वर्तते ॥

अनको अर्थात् गाड़ीको वहन करने ( खेंचने ) वाला वैल अनड्वान कहलाता है वह जोतना भार ढोना आदिरूपसे पृथिवी का पोषण करता है । अथवा-धर्म दृषभकी आकृतिको धारण कर पृथिवी आदिको धारण करता है † । और वही स्वर्गलोक को धारण किये हुए है अर्थात् जोतने आदिसे उत्पन्न हुए चरु

<sup>†</sup> तैत्तिरीय आरएयक १० । ६३ में भी कहा है, कि-"धर्मी विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ॥ धर्म सम्पूर्ण जगत्की स्थितिका कारण है" ॥

पुरोडाश आदि हिवसे स्वर्गका पोषण करता है। विस्तृत अन्त-रिक्त लोकको भी वही धारण करता है और वही पूर्व आदि महादिशाओंको भी धारण करता है और दिन रात्रि जल और औषधि इन उर्वियोंको भी वह धारण करता है। इसमकार ब्रह्मादि का रचा हुआ अनड्वान सब अवनोंमें पृथिवी आदिसे अतिरिक्त लोकोंमें भी उनकी रक्ता करनेके लिये प्रवेश करके रहता है।।१।। दितीया।।

अनद्वानिन्दः स पृद्धभ्यो वि चंष्ट त्रयां छुको वि मिमीते अध्वनः ।

भूतं भविष्यद् अवना दुहानः सवी देवानी चरति बतानि

अनुड्वान् । इन्द्रः। सः । पशुऽभ्यः। वि । चृष्टे। त्रयान् । शुक्रः ।

वि । मिमीते । अध्वनः ।

भूतम् । भृतिष्यत् । भुवना । दुहानः । सर्वा ।देवानाम् । चरति। त्रतानि ॥ २ ॥

सः प्रायुक्तः अनड्वान् पशुभ्यः पश्चो गोमहिषाद्याः । श्रिताद-ध्ये चतुर्थी श्रि । तेषाम् अर्थे इन्द्रः सन् वि चष्टे प्रकाशते । रिरं-सावशाद् इन्द्रवत् पश्नां दृष्टौ भासत इत्यर्थः । यद्वा । अयस् अनड्-

+ उर्वीशब्दसे "द्यौश्र पृथिती च अहश्र रात्रिश्र आपश्रौप धयश्र ॥-द्यौ पृथिती दिन रात्रि जल और औषि '' इस आरव-लायनसूत्र १ । २ में कपी हुई छः वस्तुएँ ग्रहणकी जाती हैं। इस मन्त्रमें आकाश और पृथितीका अलग वर्णन आया है अतः उर्वी शब्दसे चारका ही ग्रहण किया है ॥ वान् इन्द्र एव । इन्द्रो यथा दृष्टिजलसेकेन चराचरात्मकं सर्व जगद् उत्पादयति एवम् अनड्वानिप रेतःसेकेन पशून् उत्पादयन् तज्जन्यपयोदध्यादिद्रव्येण कृत्स्नं जगद्द उत्पादयतीति एककार्य-करत्वाद् अनयोरभेदः ॥ स च अन्येभ्यः पशुभ्यः सकाशात् वि चष्टे वीर्यवक्त्वेन प्रकाशते । 🕸 चष्टिः पश्यतिकर्मा 🍪 ।। स च शक्रः सर्वकर्मसु शक्तः इन्द्रात्मको वा स्तियान् । स्तिया आपो भवन्ति स्त्यायनात् [ नि०६. १७ ] इति यास्कवचनात् स्त्याय-तेरेतद् रूपम् । अत्र तु अयम् अर्थः । स्तियान् संस्त्यानप्रभवान् अध्वनः अध्ववद् अविच्छिन्नान् पशुसंतानान् वि मिमीते विशेषेण निर्मिमीते । 🛞 माङ् माने शब्दे च । शपः रलुः । "भृत्राम् इत्" इति अभ्यासस्य इन्वम् 🕸 ॥ एवं इन्द्रात्मकोनड्वान् भूतम् भूत-कालाविच्छन्नं वस्तु भविष्यत् आगामिकालाविच्छन्नं वस्तु अवना भुवनानि वर्तमानकालावच्छिन्नसद्भावानि च वस्तुनि दुहानः उत्पादयन् देवानाम् इन्द्राद्ध अन्येषामि व्रतानि कर्माणि सर्वा सर्वाणि चरति अनुतिष्ठति । 🕸 भ्रवना सर्वा इत्युभयत्र "शेरब-छन्दिस बहुलम्" इति शेर्लोपः 🕸 ॥

यह पहिले कहा हुआ रूपभ गो महिए आदिके लिये इन्द्ररूपमें मकाशित होता है अर्थात रमण करनेकी इच्छाके कारण पशुओं की दृष्टिमें इन्द्रकी समान प्रतीत होता है। अथवा-यह अनड्वान इन्द्र ही है। इन्द्र जैसे रृष्टिके जलको वरसा कर चर अचर सब जगत्को उत्पन्न करता है इसी प्रकार यह अनड्वान भी वीर्य वरसा कर पशुओंको उत्पन्न करता हुआ उनके द्वारा प्राप्त होने वाले दृध दही आदि द्रव्योंसे सब जगत्का पालन करता है। इस प्रकार एक कार्य करनेके कारण इनका अभेद है ऐसा अनड्वान और पशुओंकी पेत्ता अधिक वीर्यवान होनेसे प्रकाशित रहता है। यह सब कमोंमें समर्थ इन्द्रात्मक पशु रृष्टिसे होने वाले तथा

मार्गकी समान अविक्छिन्न पशुसन्तानोंको निर्मित करता है और यह इन्द्रात्मक अनड्वान् भूतकालकी तथा भविष्यत्कालकी और वर्तमानमें सद्दरूपसे वर्तमान वस्तुओंको भी उत्पन्न करता हुआ इन्द्रसे भी अन्य देवताओं के सव कर्मों को अनुष्ठित करता है।।२।। हतीया ॥

इन्द्री जातो मनुष्ये व्वन्तर्धर्मस्तप्तश्चरित शोशुंचानः।

सुम्जाः सन्त्स उंदारे न संषेदु यो नाश्रीयादंनहुहों विजानन् ॥ ३॥

इन्द्रः। जातः। मनुष्ये पु । अन्तः। घर्मः। तप्तः। चरति।

शोशुचानः।

सुऽपृजाः । सन् । सः । उत्ऽत्र्यारे । न । सर्पत् । यः । न ।

अश्रीयात् । अनडुहः । विऽजानन् ॥ ३ ॥

मनुष्येषु मनोरपत्येषु मनुष्यजातीयेषु अन्तः मध्ये तावत् अन-ड्वान् पागुक्तरीत्या इन्द्रो जातः!! तथा सोऽनड्वान् घर्मः दीप्तः सूर्यः सन् तप्तः । अ कर्तरि क्तः अ । कृत्स्नं जगत् तपन् संतापयुक्तं कुर्वन् शोशुचानः अत्यर्थे दीप्यमानः चरति वियति संचरति। यद्दा घर्मः प्रवर्गः तप्तः वैकङ्कतत्वादिरादिभिरिध्मैः संतप्तः शोशु-चानः अत्यर्थे शोचन् चरति वर्तते । ताद्यमिरूपः अनद्वान् जात इत्यर्थः सोपि हि कर्षणादिव्यापारजनितश्रमेण तप्तः संतप्तगात्रः अतिशयितशोकयुक्तश्र सन् चरति । अतस्तप्तत्वादिधर्मसामान्याद् अनुदुहो घर्मतादात्म्यम् ॥ इत्थं नः अस्माकं संबन्धिनः अनुदुहः दीयमानस्य माहात्म्यं विजानन् विशेषेण अवगच्छन् यः प्रति-ग्रहीता अश्रीयात् भुञ्जीत स सुप्रजाः शोभनप्रजोपेतः सन् ऋारे

दूरे देहावसानकाले उत् अस्माच्छरीरात् उत्क्रान्तः न सं सर्पत् न संसरित पुनः संसारधर्मान् न प्रामोति । किंतु सूर्यादिलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ अत एव सोययागिवशेषस्य अनुडुहां लोकः प्राप्यत्वेन आम्नायते । "अग्निष्टोमेन अनुडुहो लोकम् आप्नोति उयोतिष्मतो लोकान् जयित" इति ॥ अ सुप्रजा इति । "नित्यस् असिच् प्रजामेधयोः" इति असिच् समासान्तः । सर्पत् इति । स्र गतौ इत्यस्मात् लोट अडागमः । "सिब्बहुलस्०" इति सिप् अ॥

मनुकी मनुष्यजातीय सन्तानोंके मध्यमें अनड्वान् पूर्वोक्तरीतिसे इन्द्र हुआ है। इसी पकार वह अनड्वान् घर्म (दीप्त) सूर्यरूप से सम्पूर्ण जगत्को सन्तापयुक्त करता हुआ परमदीप्त होता हुआ आकाशमें विचरण करता है। अथवा-धर्म अर्थात् मवर्ग्य खदिर् यादिके ईंधनसे संतप्त वड़ी गरमी पाता हुया विचरता अर्थात् उस घर्मकी समान ही अनड्वान् होगया है। वह भी जोतना त्रादि व्यापारसे उत्पन्न हुए अमके कारण सन्तप्त शरीरवाला हो कर परमशोकयुक्त होता हुआ रहता है, अनः तप्तत्व अदि धर्मौकी समानताके कारण अनुदूह और घर्मका तादात्म्य है। इस पकार हमारे दिये हुए रूपभके माहात्म्यको जानता हुआ जो पतिग्रहीता उपभोग करता है वह सुन्दर प्रजा से संपन्न होकर देहान्तके समय इस शारीरसे निकल कर संसारके धर्मों को फिर पाप्त नहीं होता है, किंतु सूर्य आदि लोकों को पाप्त होता है। अत एव सोमयागविशेषके करने वालेको गोलोककी माप्ति सुनी जाती है कि-"अग्निष्टोमेन अनुदुहो लोकं आप्नोति ज्योतिष्मतो लोकान जयति"।। ३।।

अनुद्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐने प्याययति पर्व-

मानः पुरस्तात्।

पर्जन्यो धारां मुरुत ऊधेां अस्य युज्ञः पयो दिर्ज्ञणा दोहां अस्य ॥ ४ ॥

श्रनुड्वान् । दुहें। सुऽकृतस्य । लोके । श्रा । एनम् । प्याययित ।

पवमानः । पुरस्तात् ।

पुर्जन्यः। धाराः। मुरुतः। ऊर्धः। अस्यः यज्ञः। पर्यः। दिच्चिणा। दोद्रः। अस्य ॥ ४ ॥

सुकृतस्य यागादिजनितपुण्यस्य फलभूते लोके इन्द्रादिदेवतात्मकः अयम् अनड्वान् दुहे अपेक्तितम् अक्तयं फलं दुग्धे ।
क्षि "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः क्षि । तत्मकारमेव विभज्य
दर्शयति । पुरस्तात् पूर्व पवमानः पिवत्रेण शोध्यमानः अमृतमयः
सोमः एनम् अनड्वाहम् आ प्याययति आप्यायितं रसभितं
करोति ॥ ततश्च पर्जन्यः दृष्टिमेरको देवो धारा भवति ॥ मस्तः
एकोनपश्चाशात्संख्या देवगणाः अस्य अनड्हः उधो भवति ॥
योऽयं कृतः सवयज्ञः स एव पयः दोह्यं भवति ॥ येयं तिसमन्
यज्ञे दत्ता दिक्तिणा सा अस्य अनडुहो [ दोहः ] दोहिकिया संपधते ॥ इत्थम् इन्द्रादिदेवतात्मकस्य अनडुहो दोहोपि देवतात्मकः
संपन्न इति अज्ञयफलत्वम् ॥

याग आदिसे उत्पन्न होने वाले पुरुषके फलरूप लोकमें इन्द्र आदि देवतारूप यह अनड्वान अभिलिषत अन्नथ फलको देता है ( उसकी रीति यह है, कि-पहिले पिवत्रसे शोधा हुआ अमृत-मय सोम इस दृषभको रससे भरा हुआ करता है। किर दृष्टि-भरक देव धारारूप होता है, उडआस मरुद्रण इस अनड्वानके ऐन होते हैं और यह किया हुआ सवयज्ञ ही दुहने योग्य दूध

### ( ३७० ) ऋथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

होता है और इस यज्ञमें जो दिल्ला दीजाती है वही इस अन-ड्वानकी दोहकिया होती है। इस प्रकार इन्द्र आदि देवतारूप अनड्वानका दोह भी देवतारूप होनेसे अल्लयफलत्व हुआ।।।।।। पश्चमी।।

यस्य नेशं यज्ञपंतिन युज्ञा नास्यं दातेशे न प्रंतिग्रहीता। यो विश्वाजिद् विश्वभृद् विश्वकंमी घुमँ नो बृत्यत-

मश्चतुंब्पात् ॥ ५ ॥

यस्य।न। ईशे। यज्ञ ऽपंतिः। न। युज्ञः। न। श्रुस्य। द्वाता। ईशे। न। प्रतिऽग्रहीता।

यः। विश्वऽजित्। विश्वऽभृत्। विश्वकर्मा। घुर्मम्। नः। ब्रूत्। यत्मः।

चतुःऽपात् ॥ ५ ॥

यस्य देवतात्मकस्य अन्डुहः । अ "अधीगर्थद्येशाम्०" इति कर्मणि षष्टी अ । यम् इत्यथः । यज्ञपतिः यजमानः नेशे नेष्टे । अ "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः । यज्ञपतिः । "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदमकृतिस्वरत्वम् अ । यज्ञः यागिक्रया च नेशे नेष्टे । दाता प्रतिग्रहीता च अस्य अन्डुहो नेशे नेष्टे । सर्वत्र ईशितृत्वमेव अन्डुहः न ईशित्वय्त्वम् इत्युक्तम् अर्थं समर्थयते । य इन्द्रादिदेवतारूपः अन्ड्वान् विश्वजित् विश्वस्य सर्वस्य जेता विश्वभृत् विश्वस्य सर्वस्य वाय्वात्मना भर्ता यद्वा अन्नप्रदानेन पोषयिता । विश्वकर्मा । "प्रजापतिः परमेष्टी" [ ७ ] इत्यास्त्रास्यते तदिभयायेणेदम् । विश्वं सर्वे जगत् कर्म कर्तव्यं यस्य स विश्वकर्मा । तथा यत्मः यज्जातीयः चतुष्पात् पादचतुष्ट्योपेतः सन् नः अस्मभ्यं धर्मम् दीष्यमानम् आदित्यं ब्रूत ब्रूते कथयति । अ लटि टेरेत्वा-

भावरछान्दसः 🛞 । तत्त्रस्वरूपम् उपदिशतीत्यर्थः । नास्य दातेति संबन्धः । 🕸 यतम इति । "वा वहूनां जातिपरिप्रश्ले॰" इति यच्छव्दात् डतमच् 🕸 ॥

जिस देवतास्वरूप अनड्वान्का यजमान स्वामी नहीं है, यज्ञ-क्रिया भी इसकी स्वामी नहीं है, दाता और प्रतिग्रहीता भी इस के स्वामी नहीं हैं सर्वत्र यह ईशिता (स्वामी) ही है ईशितव्य (सेवक) नहीं है (इसका समर्थन करते हैं, कि-) यह इन्द्रादिरूप अनड्वान सम्पूर्ण जगत्का जेता है वायुरूपसे सब जगत्का भरण करने वाला है अन्न देकर पोषण करने वाला है, जगत्के संपूर्ण कर्म इसके ही हैं यह चतुष्पात् पशु हमें दीप्यमान आदित्य का उपदेश देता है।। ४।।

#### षष्टी ॥

येनं देवा स्व शिरुरुहुर्हित्वा शरीरम्मृतंस्य नाभिम् । तेनं गेष्म सुकृतस्यं लोकं घुर्मस्यं ब्रुतेन तपसा यशस्यवंः ॥ ६ ॥

येन । देवाः । स्व : । आऽरुरुहः । हित्वा । शरीरम् । अमृतस्य । नाभिम् ।

तेन । गेष्म । सुङकुतस्य । लोकम् । घर्मस्य । व्रतेन । तपसा ।

यशस्यवः ॥ ६ ॥

येन देवतात्मना अनुबुहा देवाः [स्वः ]स्वर्ग लोकम् [आह-रुहुः ] आरूढवन्तः । तत्प्रकार उच्यते । पार्थिवम् एतच्छरीरं हित्वा त्यक्त्वा । अ ओहाक् त्यागे इत्यस्मात् क्त्वाप्रत्यये "जहा-तेश्च क्तिव्यं इति हित्वम् अ। अमृतस्य अमरणस्य नाभिम्

## (३७२) अथर्वदेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

बन्धकम् । मोत्तद्वारभूतम् इत्यर्थः । तेन अनडुहा सुकृतस्य पुणयस्य फलभूतं लोकं जेष्म जयेम । अ जयतेर्लिङ "बहुलं छन्दिस" इति शपो लुक् । "सिब्बहुल्यम्०" इति सिप् अ । कथं भूताः सन्तः । धर्मस्य दीप्यमानस्य सूर्यस्य संबन्धिना व्रतेन कर्मणा तपसा दीत्तादिनियमजनितेन अनशनादिना च यशस्यवः । "न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद् यशः" [ ते० आ० १०. १. २ ] इति यशःशब्दस्य अद्वितीयब्रह्मपरत्वेन श्रुतत्वाद् अत्रापि यशः-शब्देन तद्व विवन्धते । अ यशःशब्दोपल्तितं निरितशयं मोत्त-सुल्यम् आत्मन इन्छन्तः ॥ अ यशःशब्दात् "सुप आत्मनः स्वय् ॥ "क्यान्छ दिस" इति उमत्ययः अ ॥

जिस देवरूप अनड्वान्के द्वारा देवता पार्थिवशरीरको छोड़ कर अमरणके बन्धक अर्थात् मोचके द्वाररूप स्वर्गलोकमें चढ़े हैं उस ही अनडवान्के द्वारा हम पदीप्त सूर्यदेवका अत कर और दीचा नियम आदिके उपवाससे यशको अर्थात् निरितशय मोच-सुखको चाहते हुए पुष्यके फलरूप लोकको जीतते हैं।। ६।।

सप्तमी ॥

इन्द्रां रूपेणाभिर्वहेन प्रजापितः परमेष्ठी विराट् । विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानुड्छकमत। सो, दृंहयत् सो, धारयत ॥ ७॥

इन्द्रः। रूपेण । अप्तिः । वहेन । मुजाऽपतिः । परमेऽस्थी । विऽराट् ।

विश्वानरे । अक्रमत । वैश्वानरे । अक्रमत । अनुदुहि । अक्रमत ।

सः । ऋदं हयत । सः । ऋधारयत ॥ ७॥

रूपेण आकृत्या अयम् अनड्वान् इन्द्रो भवति ॥ वहेन युगव-

वहेन प्रदेशेन स्कन्धेन अप्तिः अग्न्यात्मको भवति। "अप्रिद्ग्धमि वा ब्रास्य वहं भवति" इति ब्राह्मणम्। वहत्यनेनेति वहः। %''गोचरसंचर०'' इत्यादिना करणे घमत्ययान्तो निपातितः अ॥ शजापतिः प्रजानां पतिः प्रजासृष्टिकर्ता । परमेष्टी परमे सत्यलोके तिष्ठतीति परमेष्टी खादिबह्या। विराट् स्थूलभपश्चस्य कर्ता "तस्माइ विराट् अजायत" [तै० आ० २. १२, २] इति श्रुतिम-सिद्धः। एते त्रयः क्रमेण विश्वानरादिषु व्याप्य वर्तन्ते । तत्र विश्वा-नर इति सर्वनरात्मकस्य "विश्वानरस्य वस्पतिम् अनानतस्य शवसः" [ऋ॰ ८. ६८. ४]इति श्रुत्यन्तरमसिद्धस्य देवस्य संज्ञा। त्तस्मिन् प्रजापितः अक्रमत तादात्म्येन प्रविष्टः । वैश्वानर इति विश्वनरहितः द्याग्नः । तत्र परमेष्टी द्यक्रमत तदात्मना संक्रान्त-वान् । उक्तप्रभावे अनुबुहि विराड् अक्रमत तद्रपेण पाविशत् । ञ्चतः ञ्चयम् ञ्चनङ्वान् विराहात्मक इत्यर्थः ॥ यद्वा इन्द्रो देवः रूपेण स्वकीयेन विश्वानरे देवे अक्रमत । अग्निर्वहेन वहनसाम-थ्येंन वैश्वानरे अक्रमत । परमेष्टी परमे सत्यलोके स्थितः प्रजा-पतिः विराट् । 🕸 "सुपां सुलुक्०" इति तृतीयाया लुक् 🕸 । विराजा अन्नेन अनद्दि अक्रमत ॥ अतः प्रजापत्यात्मकोयम् अनड्वान् इति स्तुतिः ॥

अष्टमी ॥

मध्यमेतदंन इहो यंत्रेष वह आहिंतः।

एत।वंदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यक् समाहितः =

मध्यम् । एतत् । अनदुरः । यत्र । एषः। वहः । आऽहितः ।

एतावत् । अस्य । प्राचीनम् । यात्रान् । प्रत्यङ् । सम्ऽत्राहितः ८

सः अनडुच्छरीरे प्रविष्टः प्रजापितः तस्य अनडुहः एतत् मध्यम्

अङ्गम् अहं हयत हृद्धम् अकरोत् । तथा स प्रजापितः अधारयत तद्द मध्यं भारवहनसमर्थम् अकरोत् ॥ तद्द मध्यं विशिनष्टि । यत्र यस्मिन् मध्ये पृष्ठभागे एप वहः भारः आहितः स्थापितः । एतद् मध्यम् इति संबन्धः । भारवहनप्रदेशस्य मध्यत्वम् उपपादयति । एतावद्द इति । अस्य अनुदुत्संबन्धिनो मध्यदेशस्य प्राचीनम् प्राग्भागः एतावत् एतत्परिमाणयुक्तम् प्रत्यङ् प्रत्यग्भागो यावान् यत्परिमाणवान् समाहितः सम्यङ् निर्वर्तितः । एवं प्राक्ष्यत्यग्भागानुमाविप समानौ । तयोर्मध्यदेशेन भारं वहतीत्यर्थः ॥

श्राकृतिसे यह अनड्वान इन्द्र है और जुएको उठाने वाले देशसे यह अनड्वान अग्निरूप है ‡ स्रष्टिकर्ता प्रजापति, सत्यलोक में रहने वाले आदिब्रह्मा परमेष्ठी, और "तस्माद विराडजायत" इस तैत्तिरीय आरएयक ३ । १२ । २ की श्रुतिमें प्रसिद्ध स्थूल प्रश्चके कर्ता विराट ये तीनों क्रमशः विश्वानर आदिमें व्याप्त होकर रहते हैं । इनमें विश्वानर यह "विश्वानरस्य वस्पतिम् अनानतस्य शवसः" (ऋग्वेद ८ । ६८ । ४ ) इस अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध देवताका नाम है उस देवतामें प्रजापित तादात्म्यरूपसे प्रविष्ट होगए । सम्पूर्ण जगत्का हित करने वाले वैश्वानर अग्नि में परमेष्ठी तादात्म्यरूपसे प्रविष्ट होगए और पूर्वोक्त प्रभाव वाले दृष्यमें विराट् तादात्म्यभावसे प्रविष्ट होगए, इस कारण यह दृष्यमें विराट् तादात्म्यभावसे प्रविष्ट होगए, इस कारण यह दृष्यमें विराट् तादात्म्यभावसे प्रविष्ट होगए, इस कारण यह

अथवा-इन्द्रदेव अपने रूपसे विश्वानरमें आक्रान्त हुए, अग्नि अपनी वहनशक्तिसे वैश्वानरमें आक्रान्त हुए। और सत्यलोक में स्थित प्रजापति विराट् परमेष्टी अन्नरूपसे ट्रप्भमें आक्रान्त

<sup>‡ &</sup>quot;अग्निद्ग्धमिव वा अस्य वहं भवति॥ -इस वैलका कंधा अग्निसे जला हुआ सा (काला) होता है" ब्राह्मण !!

हुए । अतएव यह द्युप प्रजापितक्ष है ॥ उन द्युपके श्रारीरमें प्रविष्ठ प्रजापितने इस द्युपके अङ्गको दृढ़ किया और मध्यभाग को भार सहनेके योग्य किया उस मध्यभागमें अर्थात् पीठमें ही यह भार स्थापित होता है । इस द्युपके मध्यदेहका प्राग्भाग इतने परिमाण वाला है, कि—जितने परिमाण वाला उत्तरभाग वनाया हुआ है । तात्पर्य यह है, कि—इसके प्राग्भाग और प्रत्यग्भाग दोनों ही समान हैं, उनके मध्यवर्ती देशसे यह वोक्रेको ढोता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

नवमी ॥ यो वेदानु हो दोहान् सप्तानुपदस्वतः । प्रजां च लोकं चाप्तोति तथा सप्तऋषयो विदुः ६

यः । वेदं । अनुडुहः । दोहान् । सप्त । अनुपऽदस्वतः ।

प्रजाम् । च । लोकम् । च । त्रामोति। तथा । सप्तु उन्नरपरः । विदुः

यः पुरुषः अनडुदः वलीवर्दस्य [सप्त] सप्तसंख्याकान् अनुप-दस्वतः चयरिहतान् दोहान् बीह्यादिसप्तप्राम्योपधिरूपान् वेद जानाति । यद्वा अनडुदः मजापतिरूपत्यस्य उक्तत्वात् तत्सृष्टो लोक-समुद्रादयो ये सप्तसंख्याकाः सन्ति तान् सर्वान् सप्तधा विभक्तान् अन-डु होदोहान् [यो] जानाति स विद्वान् मजाम् पुत्रपौत्रादिकां मागा-दिभिः भाष्यं [ लोकम् ] स्वार्गादिलोकं च मामोति । तथैतद् उक्तम् तथा तेनैव मकारेण अनडुन्माहात्म्यं सप्तप्यो विदुः जानन्ति ॥ ते च आश्वलायनेन अनुक्रान्ताः ।

> विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोथ गौतमः । अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्तऋपयः ॥

इति [ श्राश्व० प० १२. १ ]। सप्तर्विभरूयानामेव इयम् अन-दुहि मजापतिविद्या नान्येषाम् इति विद्यास्तुतिः ॥

जो पुरुष दृषभके बीहि आदि ग्राम्यौषधिरूप सात स्वयरहित दोहों को जानता है। अथवा अनड्वानका प्रजापतिरूप कह दिया है अत एव उनकी सृष्टिमें लोक समुद्र आदि सात प्रकारसे विभक्त अन-द्वानके दोहोंको जो जानता है वह विद्वान पुत्र पौत्र आदि प्रजाकों और याग आदिसे प्राप्त होतेवाले स्वर्ग आदि लोकोंको भी प्राप्त होता है यह जिस प्रकार कहा है उसको यथार्थरूपसे सात ऋषि ही जानते हैं। (सप्त ऋषियोंका वर्णन आश्वलायन मुनिने किया है, कि—विश्वामित्रों जमदिश्वभरद्वाजोथ गौतमः। अत्रिविष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः॥ (आश्व प० १२ । १) इन सात ऋषियोंको ही यह अनड्वानमें आकान्त प्रजापित विद्या आती है औरोंको नहीं आती )॥ ६॥

दशमी ॥

पक्तिः सेदिमंबकामन्निरां जंघाभिरुत्विदन्।

श्रमणानुद्वान् कीलालं कीनाशंश्राभि गच्छतः १०

पत्ऽभिः । सेदिम् । अव्ऽकामत्। इराम्। जङ्गाभिः। उत्ऽिवदन्।

श्रमेण । अनुड्वान् । कीलालम् । कीनाशः। च। अभिः। गच्छतः

अयम् प्रजापत्यात्मकः अनड्वान् पद्धिः पादैश्वतुर्भिः सेदिम् अवसादकरीम् अलङ्गीम् अवकामन् अवाङ्मुखीम् अधिपिष्ठन् इराय् भूमिं जङ्घाभिः उत्खिद्न् कर्षणेन उद्धिन्दन् स्वकीयेन अमेण कर्षणादिव्यापारजनितदुःखेन अभिगच्छतः स्वाभिम्रखं गच्छतः कीनाशस्य कर्षकस्य कीलालम् अन्तम्। प्रयच्छतीत्यर्थः ॥

यह प्रजापितत्यात्मक अनड्यान् चारों पैरोंसे खिन्नता लाने

वाली अलक्षी पर नीचेकी स्रोर मुख करा कर स्थित होता हुआ स्रोर भूमिको जङ्घात्रोंसे उद्भिन्न करता हुआ स्रपने श्रमके द्वारा स्रपने स्रभिम्रख चलने वाले किसानको स्रन्न देता है ॥ १०॥

एकादशी ॥

द्वादंश वा एता रात्रीर्वत्यां आहुः प्रजापंतेः।

तत्रोप बह्य यो वेद तद् वा अनुडहां बृतम् ॥११॥

द्वादश । वै । एताः । रात्रीः । त्रत्याः । त्र्याहुः । मजाऽपतेः ।

तत्र । उप । ब्रह्म । यः । वेद । तत् । वै । अनुदुहः । व्रतम् ११

अनडुहि संक्रान्तस्य यज्ञात्मकस्य प्रजापतेः [द्वादश वा एता ] व्रत्याः व्रताही द्वादशसंख्याका रात्रीः आहुः कथयन्ति। वैशब्दः अत्यन्तरप्रसिद्धं द्योतयित । "द्वादश रात्रीर्दीक्तितः स्यात्। द्वादश मासाः संवत्सरः । संवत्सरो विराट् । विराजम् आमोति" इति [तै० सं० ५. ६. ७. १]। "तस्माद् दीक्तितो द्वादशाहं भृति वन्त्रीत" इति च ॥ तत्र तावित काले अनडुद्रूपम् उपगतं प्रजापत्यात्मकं ब्रह्म यो वेद विद्यात् स एव अस्मिन् अनडुत्सवे अधिक्रियत इत्यर्थः । तत् एतत् ज्ञानम् अनडुहः प्रजापत्यात्मकस्य व्रतम् अनुष्टेयं कर्म ॥

दृषभमें संक्रान्त यज्ञात्मक प्रजापतिके व्रतके योग्य वारह रात्रियों को विद्वान कहते हैं + उतने समयमें जो दृषभरूपमें आये हुए प्रजा-

+ तैत्तिरीयसंहिता ५।६।७।१ में कहा है, कि-"द्वाद-शरात्रीर्दीत्तितः स्यात्।द्वादशमासाः सम्वत्सरः। सम्वत्सरो विराट् विराजम् आमोति॥-बारह रात्रिकी दीन्ना लेय। बारह महीनोंका सम्वत्सर होता है। सम्वत्सर ही विराट् है। विराज (अन्न) को प्राप्त होता है।" पत्यात्मक ब्रह्मको जानता है वही इस अनडुत्सवका अधि-कारी है। यह ज्ञान प्रजापत्यात्मक अनडुहका अनुष्टेय कर्म है ११

द्वादशी ॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि ।

दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्यानुपदस्वतः ।१२।

दुहै । सायम् । दुहै । मातः । दुहै । मध्यंदिनम् । परि । दोहाः । ये। अस्य । सम्ऽयन्ति । तान् । विद्य । अनुपऽदस्वतः ॥

सायम् सायाह े उक्तलत्तरणम् अनड्वाहं दुहे। देवतारूपेण उपा-सीनस्तत्फलं प्रामोमीत्यर्थः । तथा प्रातःकालेपि दुहे। मध्यन्दिनं परि मध्याह पि दुहे। अ "लत्तरणेत्यंभूतारूयानभागवीप्सासु प्रति-पर्यनवः" इति लत्तरणे परेः कर्मप्रवचनीयत्वम् । तद्योगाद्ध मध्य-न्दिनम् इति द्वितीया अ । [यदा ] सायमादिकालत्रयेपि उक्त-रीत्या अनड्वान् दुहे। सवयज्ञानुष्ठातुः फलानि दुग्धे। अ "लोप-स्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः अ। एवम् अस्य अनडुहो दोहा ये संयन्ति फलेन संगच्छन्ते अनुपदस्वतः। उपदासः त्तयः। तद्र-हितांस्तान् दोहान् विद्य जानीमः॥ अ "विदो लटो वा" इति मसो मादेशः अ।।

[ इति ] तृतीयेनुवाके पथमं सूक्तम् ॥

में सायाहके समय पूर्वीक्त लक्तण वाले रूपभको दुहता हूँ, तथा प्रातःकालमें भी दुहता हूँ, मध्याहमें भी दुहता हूँ, सवयज्ञ का अनुष्ठान करने वालोंके फलोंको दुहता हूँ, इस प्रकार इस अनड्वान्के जो दोह फलसे युक्त होते हैं उन क्तयरहित दोहोंको हम जानते हैं।। १२।।

तीसरे अनुवाकर्म प्रथम स्क समाप्त (११३)॥

"रोहिएयसि" इति सुक्तेन शस्त्राद्यभिघातजनितरुधिरप्रवाहनि-वृत्तये अस्थ्यादिभङ्गनिवृत्तये च लाज्ञोदकं क्वथितम् अभिमन्त्रय उपःकाले चतप्रदेशम् अवसिञ्चेत् ॥

तथा अनेन सुक्तेन घृतदुग्धम् अभिमन्त्रय ज्ञताङ्गं पुरुषं पाययेत् ॥ तथा तेनैन द्रव्येण त्ततदेशम् अभ्यञ्ज्यात् ॥

सूत्रितं हि । "रोहिणीत्यवनज्ञत्रेत्रसिश्चति पृषातकं पाययत्य-भ्यनक्ति" इति [ कौ० ४. ४ ] ॥

"रोहिएयसि" इस स्क्तसे शस्त्र आदिके महारसे निलकते हुए रुधिरके पवाहको रोकनेके लिये और टूटी हुई हड्डीके टूटे-पनको मिटानेके लिये काइके रूपमें ख्रोटाये हुए लाखके जलको उपःकालके समय घावके स्थान पर छिड़के ।

तथा इस सक्तसे घृत दुग्धका अभिमन्त्रण करके चत अंगवाले प्ररुपको पिलावे।

अौर इसी सुक्तसे उसी द्रव्यसे ज्ञतस्थानको स्वच्छ करे।। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"रोहिणीत्यवनचत्रे-ऽवसिश्चति पृषातकं पाययत्यभ्यनक्ति" ( कौशिकसूत्र ४।४ )॥

तत्र प्रथमा ॥

रेहिंग्यसि रोहंग्यस्थ्नश्चिन्नस्य रेहिंणी ।

रेहियदमरुन्धति ॥ १ ॥

रोहिए। असि । रोहिए। । अस्थनः । विन्नस्य । रोहिए। ।

रोहय । इदम् । अरुन्धति ॥ १ ॥

हे रोहिणि लोहितवर्णे लाक्षे । 🕸 रोहितशब्दात् "वर्णाद् श्रनुदात्तात् तोपधात् तो नः" इति ङीप् तकारस्य च नकारः अ। त्वं [ रोहिणी ] रोहित्री परोहियत्री ऋसि भवसि । अतस्त्वं

खड्गादिधारया छिन्नस्य अङ्गस्य सकाशात् प्रवहतः अस्तः अस्तः। अक्षः 'पद्दन्ं' इत्यादिना अस्क्र्याब्दस्य असन् आदेशः अ। रुधि-रस्य रोहिणी रोधियत्री स्वस्थाने स्थापियत्री भव। हे अरुन्धित अन्यरनभिभूते अरोधनशीले वा देवि इदम् सुतरक्तम् अङ्गं रोहय परोहय। संपूर्णरुधिरम् अत्रणं कुर्वित्यर्थः।।

हे लोहित ( लाल ) वर्ण वाली रोहिणी लाख ! तू रोहिणी है अर्थात् वावके मांसको भरने वाली है अतः तू खड्ग आदिकी धारसे कटे हुए अंगके वहते हुए रुधिरको अपने ही स्थानमें रोकने वाली हो हे दूसरेसे कभी तिरस्कृत न हुई अरुन्धित इस टपकते हुए रुधिरको अंगमें ही चढ़ा ।। १ ।।

द्वितीया ॥

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मिनि । धाता तद् भद्रया पुनः सं दंधत् परुषा परुः॥ २॥

यत् । ते । रिष्टम्। यत् । ते । द्युतम् । अस्ति । पेष्ट्रम् । ते । आत्मनि । धाता । तत् । भद्रया । पुनः । सम् । दधत् । परुंषा । परुः २

हे शस्त्राद्यभिहत ते तव यद् अङ्गं रिष्टम् हिंसितम् यच ते त्व-दीयम् अङ्गं युत्तम् द्योतितं सस्त्रप्रहारादिजनितवेदनया प्रज्वलितः मित्र [ अस्ति ] भवति । तथा ते तव आत्मिन शरीरे पेष्टम् प्रिय-तमं यद् अन्यद् अङ्गं मुद्ररप्रहारादिभिभेग्नं भवति धाता सर्वस्य जगतो विधाता देवः तत् सर्वम् अङ्गं भद्रया कल्याएया लाचा-रूपया ओषध्या परुषा पर्वणा परुः अन्यत् पर्व भन्नं पुनः सं दधत् संदधातु संयुनकतु ।।

हे शस्त्र त्रादिसे घायल हुए पुरुष ! तेरा जो अङ्ग घायल किया गया है और तेरा जो अङ्ग शस्त्रके महारसे होने वाली वेदनासे जलसा रहा है और तेरे श्रीरमें जो श्रेष्ठ श्रङ्ग मुद्गर श्रादिके महारसे टूट गया है, सम्पूर्ण जगत्के देवता विधाता इन सब श्रंगोंको कल्याणमयी लाखरूप श्रोपिधसे जोड़ोंको जोड़से मिलाते हुए टूटे हुएको जोड़ दें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सं ते मुज्जा मृज्ज्ञा भवतु सम् ते परुंषा परुः । सं ते मांसस्य विस्नंस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥ ३ ॥ सम् । ते । मुज्जा । मुज्जा । भवतु । सम् । कुं इति । ते । परुंषा । परुंः ।

सम् । ते । मांसस्य । विऽस्नंस्तम् । सम्। श्रास्थ । श्रापि । रोहतु ३

हे शहत ते तब शरीरस्थो मज्जा एतत्सं इः षष्ठो धातुः महारेण विभक्तः मज्ज्ञा मज्जाख्यधातुना महारविभक्तेन शम् सुखं यथा भवति तथा भवतु संयुक्तो भवतु । यद्वा भवतु मामोतु । अ भू प्राप्तौ । व्यत्ययेन परस्मैपदम् अ॥ तथा तेत्वदीयशरीरस्य परुषा भग्नेन पर्वणा परुः भग्नं पर्व शम् सुखं यथा भवति तथा प्राप्नोतु । संधीयताम् इत्यर्थः ॥ ते तव शरीर्गतस्य मांसस्य महाराभि-घातेन यह विस्नस्तं तत् शम् सुखं यथा भवति तथा [ अपि रोहतु ] अपिरूढं मरूढं पुनरुत्पन्नं भवतु । तथा तव शरीर्गतं यद् अस्थि भग्नम् आसीत् तच्च [ शम् ] सुखेन मरूढं संहितं भवतु ॥

है घायल ! तेरे शरीरमें स्थित मज्जा नामकी छठी धातु प्रहार के कारण विभक्त होगई है वह मज्जा जिस प्रकार सुखको प्राप्त हो तैसा हो और तेरे शरीरकी टूटी हुई गाँठकी हड्डीसे गाँठकी हड्डी जिस प्रकार सुखी हो तैसा हो, अर्थात् वह जुड़ जावे तथा

# ( ३८२ ) अथर्वदेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तेरे शरीरका जो मांस प्रहारके कारण फट गया है, वह जिस प्रकार सुखको प्राप्त हो तैसा हो अर्थात् फिर आकर मिल जावेर चतुर्थी।

मुज्जा मुज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु। असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु॥४॥

मुज्जा । मुज्ज्ञा । सम् । धीयताम् । चर्मेशा । चर्म । रोहतु ।

अस्क् । ते । अस्थि । रोहतु । मांसम् । मांसेन । रोहतु ॥ ४ ॥

मज्जाख्यो धातुः मज्ज्ञा मज्जधातुना सं धीयताम् संहितः संयुक्तो भवतु । चर्मणा शस्त्रादिप्रहारभिन्नेन चर्म रोहतु प्रकृदं भवतु । संयुज्यताम् इत्यर्थः । अस्रक् रक्तं ते त्वच्छरीरगतं यद् अस्थनः सकाशात् विश्ठिष्टं पुनस्तद् अस्थि रोहतु प्रामोतु । मन्त्री-पधिसामध्येन संयुज्यताम् इत्यर्थः । यद्वा चर्मणा चर्मेति तृती-यान्तस्य तत्र दृष्टत्वात् अस्या अस्थना इति तृतीयान्तं पदम् अध्याहत्य योज्यम् । [अस्रजा] अस्यग् रोहतु अस्थना अस्थि रोहत्विति । शिष्टं निगदसिद्धम् ॥

मज्जा धातु मज्जा धातुसे मिल जावे, शस्त्रके प्रहारसे भिन्न हुआ चमड़ा चमड़ेसे मिल जावे तेरे शरीरका जो रक्त हड्डी पर से टपका है वह फिर हड्डीमें आवे॥ ४॥

पञ्चमी ॥

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् असुक् ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं घेह्योपधे प

लोम । लोम्ना । सम् । कल्पय । त्वचा । सम् । कल्पय । त्वचम् ।

अस्क्। ते । अस्थि । रोहतु । छिन्नम् । सम् । धेहि । ओषधे ५

हे लाज्ञात्मिके त्र्योपधे शरीरस्थं लोम लोम्ना महारिविश्लिष्टेन सं कल्पय संक्लृप्तं पुनः स्वस्थानगतं कुरु ॥ तथा त्वचमपि वि-श्चिष्टत्वचा सं कल्पय संक्लृप्तां कुरु ॥ असक् ते अस्थि रोहतु इति पूर्ववत् । एवम् अन्यद्पि छिन्नम् भगं यद्य अङ्गम् अस्ति तत् सर्वे सं धेहि संहितं संश्लिष्टं व्यापारत्तमं कुर्वित्यर्थः ॥

हे लाखनामक त्र्योषधे ! तू शरीरमें स्थित लोमको प्रहारसे अलग हुए लोमसे मिलाकर फिर अपने स्थान पर स्थापित कर श्रोर श्रलग हुई खालको भी खालसे मिलाकर ठीक कर तेरा रक्त इड्डियों पर दौड़ने लगे, इसी मकार और भी जो कोई टूटा **ब्राङ्ग** है उसको भी मिलाकर तू व्यापार करनेमें समर्थ कर ।। ५ ।।

षष्टी ॥

स उत् तिष्ठ प्रेहि प्रदेव रथः सुचकः संपिवः सुनाभिः प्रति तिष्ठोर्धः ॥ ६॥

सः । उत् । तिष्ठ । म । इहि । म । द्रव । रथः । सुऽचक्रः ।

सुऽपविः । सुऽनाभिः ।

मति । तिष्ठ । ऊर्ध्वः ॥ ६ ॥

हे शस्त्रमहारादिभिर्विश्लिष्टावयव पुरुष स तादृशः मन्त्रौषधि-सामर्थ्येन संहितगात्रः सन् उत् तिष्ठ शयनाद् उद्गच्छ। पेहि तस्मात् स्थानात् प्रगच्छ । प द्रव प्रधाव वेगेन गच्छ । उक्तम् अर्था दृष्टा-न्तेन द्रहयति रथ इत्यादिना । सचकः सद्दृश्यक्रैयु कः सपविः सद्दहः पविर्नेमिश्रक्रधारा यस्य सः तथोक्तः स्नुनाभिः सुदृढया नाभ्या अन्नच्छिद्रेण युक्तः एवं गुणविशिष्टो रथः यथा प्रगमनादिन्यापारं

# ( ३८४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

कुर्वन् मतिष्ठितो भवति एवं त्वमिष सुदृढाङ्गो भूत्वा ऊर्ध्वः उत्थितः सन् मति तिष्ठ मतिष्ठितो भव ॥

हे शस्त्रके प्रहार आदिसे भिन्न अंग वाले पुरुष ! तू मन्त्र और श्रोषधिकी सामर्थ्यसे अवयव आदिके जुड़ने पर शयन परसे उठ कर खड़ा हो और उस स्थानसे चल, वेगसे दौड़। सुन्दर चक्रोंसे हढ़, सुहढ़ नेमि वाला और हढ़ नाभि वाला रथ जैसे गमन आदि व्यापारको करता हुआ प्रतिष्ठित होता है, इसी प्रकार तू भी सुहढ़ अंगों वाला हो उठकर प्रतिष्ठित हो ।। ६ ।।

सप्तभी ।।

यदि कर्तं पतित्वा संशिष्ट्रे यदि वाश्मा प्रहंतो ज्ञ्ञानं ऋभू स्थस्येवाङ्गानि सं देधत् पर्रुवा पर्रुः ॥ ७ ॥ यदि । कर्तम् । पतित्वा । सम्इसश्रे। यदि । वा । अश्मा । पड-

ह्तः । जुघान ।

ऋशः । रथस्यऽइव । अङ्गानि । सम् । द्धत्। परुपा। परुः ॥७॥

यदि कर्तम् कर्तकं छेदकम् आयुयं पुरुषशारीरे पतित्वा संशिश्रे संश्रणाति संहिनस्ति । अ शृ हिंसायाम् इत्यस्मात् छान्दसो लिट् अ । यदि वा अपि वा अश्मा पाषाणः प्रहृतः परेण पुरुषशारीरे प्रक्षितः सन् ज्ञान् हन्ति पुरुषं हिनस्ति । तेन आयुधेन अश्मना [च] हिंसितं परुः पर्व परुषा पर्वान्तरेण सं दधत् मन्त्रौषधप्रभावः संदधातु । तत्र दृष्टान्तः । ऋभू रथस्येवेति । सु-धन्वन आंगिरसस्य त्रयः पुत्रा बभृवुऋ धुविभ्वा वाज इति [नि०११, १६] [इति ] यास्कवचनात् सुधन्वनः पुत्रा ऋभ्वाद्यो रथनिर्माणादिना देवत्वं प्राप्ताः । तथात्वं च दाशतय्याम्

"तत्तन् रथं सुवृतं विद्यनापसः" [ ऋ० १. १११. १ ] इत्याद्या-र्भवसुक्तेषु प्रसिद्धम् । ऋशुर्यथा रथस्य अङ्गानि अत्तचक्र षायुगा-दीनि निर्माय संद्धाति एवम् आथर्वणो मन्त्रो विश्लिष्टम् अङ्गं संद्धातीत्यर्थः ॥

[ इति ] द्वितीयं सुक्तम् ॥

यदि काटने वाला आयुध पुरुषके शरीर पर पड़ कर उसका संहार कर रहा है वा दूसरेका फैंका हुआ जो पाषाण इसके शरीर पर गिर कर इसको कष्ट देरहा है, उस आयुध वा पत्थर से टूटी हुई हड्डी मंत्रके प्रभावसे हड्डीसे मिल जावे । ऋधु ‡ जैसे रथके अंग अन्न चक्र ईषा युग आदिको बनाकर मिला देता है, इसी प्रकार अथर्ववेदका मंत्र भी अलग हुए अंगको मिला देता है% दिनीय सक्त समात (११४)॥

"उत देवाः" इति स्रक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामं माण-वकम् अभिमृश्य अनुमन्त्रयेत । स्रुत्रितं हि । "वि देवा जरसाः [ ३. ३१ ] उत देवाः [ ४. १३ ] आवतस्ते [ ५. ३० ]" इत्यादि "विषासिहम् [ १७. १ ] इत्यनुमन्त्रयते ब्राह्मणोक्तम्" इत्यन्तम् [ कौ० ७. ६ ] ॥

तथा ऋषिहस्ते माणवकशरीरानुमन्त्रणेषि एतत् सूक्तम्। सूत्रितं हि । "मुञ्जामि त्वा [ ३. ११ ] उत देवाः [ ४. १३ ] आवतस्ते [ ५. ३० ]" इत्यादि "विषासहिम् [ १७. १ ] इत्यन्त्रयेत" इत्यन्तम् [ कौ० ७. ६ ] ॥

तथा लघुगणे "हिरणयवर्णाः [ २. ३३ ] शंतायीयम् [ ४. १३ ] यद्यन्तिरक्षे [ ७. ६८ ]" [ कौ० १. ६ ] इति शंतातीय-पदेन शंतातिशब्दयुक्तस्य अस्य सक्तस्य विविद्यातित्वाद्व अस्य गणस्य यत्रयत्र विनियोगः तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगो दृष्ट्व्यः ॥

‡ "अंगिरागोत्री सुधन्वाके ऋधु विधु और वाज नाम वाले तीन पुत्र हुए" ( निरुक्त ११ । १६ ) ॥

### (३८६) अथर्धवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा अंहोतिङ्गगणेपि अस्य स्तास्य पाठात् तस्य गणस्य यत्र-यत्र भैषज्यादिषु विनियोगस्तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगो द्रष्टव्यः ॥ वशा कत्मध्ये व्याधितस्य यज्ञमानस्य भैषज्यकरणेपि एतत

तथा क्रतुमध्ये व्याधितस्य यजमानस्य भेषज्यकरणेपि एतत् सूक्तम् । सूत्रितं हि । "अथ भेषज्याय यजमानम् 'अक्तीभ्यां ते' [२, ३३] 'मुश्चामि त्वा' [३, ११] 'उत देवाः' [४, १३]" इति [वै० ७, ३] ॥

"उत देवाः" इस स्कासे उपनयनके अनन्तर आयु चाहने वाले बालकका अभिमर्शन करके अनुमंत्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"वि देवा जरसा (३।३१) उत देवाः (४।१३) आवतस्ते (४।३०)" इत्यादि "विषासिहम् (१७।१) इत्यनुमंत्रयते बाह्मणोक्तम्" इत्यंतं (कौशिकसूत्र ७।६)।।

तथा ऋषिके हाथसे बालकका अनुमन्त्रण कराने पर भी यह
सक्त पढ़ा जाता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—
सुआमि त्वा (३।११) उतदेवा (४।१३) आवतस्ते (५।३०)
इत्यादि "विषासहिम् (१७।१) इत्यनुमन्त्रयेत" इत्यन्तम्
(कौशिकसूत्र ७।६)॥

तथा लघुगणमें "हिरएयवर्णाः (१।३३) शन्तातीयम् (४। १३) यद्यन्तिरक्षे (७।६८)" (कौशिकसूत्र १।६) इनका पाठ है। यहाँ शन्तातीयपदसे शन्तातिशब्द वाला यह सक्त लिया जाता है। अतः जहाँ २ लघुगणका विनियोग हो तहाँ २ सर्वत्र इसका विनियोग होगा।

तथा अंहोतिङ्गगणमें भी इस सक्तका पाठ है अत एव इस गणका भैषज्य आदि जिन २ कर्भोंमें विनियोग हो तहाँ २ सर्वत्र इसका भी विनियोग होगा ॥

तथा यज्ञमें रुग्ण हुए यजमानकी चिकित्सामें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-''अथ भैषज्याय यजमानम् 'अन्तीभ्यां' ते (२।३३) मुश्चामि त्वा (३।११) उत देवा (४।१३)" वैतानसूत्र (७।३)॥

तत्र प्रथमा ॥

उत देवा अवंहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चकुषं देवा देवां जीवयंथा पुनः ॥ १ ॥

खत । देवाः । अवंऽहितम् । देवाः । उत् । नयथ । पुनः । खत । आगः । चक्रुपम् । देवाः । देवाः । जीवयथ । पुनः ॥१॥

उतशब्दः अप्यर्थे । हे देवाः इमम् उपनीतं धर्मविषये अवहितम् सावधानम् अपमत्तं कुरुत । यद्वा अवहितम् अवस्थापितं कुरुत । यथासौ चिरकालम् अविष्ठिते तथा कुरुतेत्यर्थः। 🏶 अवपूर्वोद्ध धात्रः कर्मिण निष्ठा। "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् %।। हे देशाः यूयं संभाविताद् अनवधानाद् एनं पुनः उन्नयथ उद्ग-मयथ । यद्वा अध्ययनतद्रथंज्ञानादिलत्त्रणं यद्व उत्कृष्टं फलं तद् उपनीतं प्रापयथ । 🕸 देवा इत्यस्य पादादित्वात् पाष्टिकम् आ्रा-मन्त्रिताद्युदात्तत्वम् 🛞 ।। उत अपि च हे देवाः आगः अपराधं विहितान नुष्ठानादिजनितं पापं चक्रुपम् चक्रवांसं कृतवन्तम्। ॐ करोतेर्लिटः क्वसुः । अमि भत्वाभावेषि छान्दसं वसोः संप-सारणम् 🛞 । अज्ञानात् पापं कृतवन्तमपि एनं तस्मात् पापाद्वः रत्ततेत्यर्थः ॥ एवं संभवदायुर्भङ्गनिमित्तापराधपरिहारेण हे देवाः यूयं पुनरिमं जीवयथ शतसंवत्सरपरिमितजीवनयुक्तं कुरुत ॥ इत्थम् आमन्त्रितभेदेन वाक्यचतुष्ट्यं साध्याध्याहारेण योजयित-व्यम् । यद्वा पूर्वीत्तरार्धे द्वे वाक्ये । तत्र एकैको देवशब्दो गौणः। अपरःसंज्ञा। हे दानादिगुणयुक्ता देवाः अवहितमपि एनं पुनरुक्ष-यथ । आगः कृतवन्तमपि एनं पुनर्जीवयथेति । अन्तरार्थस्तु स एव ॥

# ( ३८८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हे देवताओं ! इस उपनीत बालकको धर्मिवषयमें प्रमादरहित करो, हे देवताओं ! तुम प्रमादसे इसको फिर उठाओ । अध्ययन और उसके अर्थका ज्ञान आदि जो उत्कृष्ट फल है उससे इस उपनीतको संयुक्त करो । हे देवताओं ! विहित कर्मका अनुष्टान न करनेसे उत्पन्न होने वाले पापको करते हुए भी इसकी रचा करो अर्थात् अज्ञानवश हुए पापसे भी इसकी रचा करो । इस प्रकार कभी न कभी बन जाने वाले आयुर्भगके निमित्त अपराधोंको दूर कर तुम इसको सौ वर्ष तकके जीवनसे युक्त करो ॥ १ ॥

दाविमी वातीं वात आ सिन्धोरा पंरावर्तः । दत्तं ते अन्य आवातु व्यंशन्यो वांतु यद् रपः ॥२॥

द्वौ । इमौ । वातौ । वातः । त्रा । सिन्धोः । त्रा । पुरा अवतः ।

दत्तम् । ते। अन्यः। आऽवातु । वि । अन्यः। वातु । यत् । रपः।।र।।

इमौ दृशयमानौ द्वौ वातौ । "पश्चाद्वातं प्रति मीवति पुरोवात-मेव जनयित" [ तै॰ सं॰ २. ४. ६. १ ] इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धौ वायु श्चा सिन्धोः श्चा समुद्रात् । मर्यादायाम् श्चाकारः । समुद्र-पर्यन्तम् । तथा श्चा परावतः । परावत् इति दृरनाम । समुद्रादिप यो द्रदेशः तावत्पर्यन्तं वा वातः गच्छतः । श्च वा गतिगन्धनयोः । श्चादादिकः श्च । यद्वा इमौ प्राणापानात्मकौ द्वौ वातौ वातः शरी-रेषु संचरतः श्चा सिन्धोः । श्चत्र सिन्धुशब्देन स्यन्दनशीलानि स्वेदायनानि उच्यन्ते । तावत्पर्यन्तं श्चा परावतः । परावच्छव्देन शरीराद् बाह्यदेशो द्वादशांग्रलपरिमितो विवित्ततः । तावत्पर्यन्तं च प्राणापानयोः संचारस्थानम् ।

नाडीभ्याम् अस्तम् अभ्येति घाणतो द्विषडंगुलः

इति ।। तयोवीतयोः अन्यः पुरोवातः प्राणो वा हे उपनीत ते तव दत्तम् वलम् त्रावातु त्रागमयतु । श्रन्यः पश्चाद्वातः त्रपानवायुर्वा तव यह रपः पापम् अस्ति । अ रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः इति हि निरुक्तम् [ नि० ४, २१ ] 🕸 । तत् पापं वि वातु त्वत्सकाशाइ विगमयतु ॥

''पश्चाद्वातं पति मीवति पुरोवातमेव जनयति॥-पिछला चलता हुआ वायु अस्त होता हुआ ही अगले वायुको उत्पन्न कर देता हैं" इस तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । ६ । १ की श्रुतिमें जो दो प्रसिद्ध वायु हैं वह समुद्र तक श्र<mark>ौर स</mark>मुद्रसे भी अधिक दूर देश तक जार्वे अथवा यह पाण श्रोर अपानरूप दो वायु शरीरमें चलें यह स्वेदके स्थानों तक जावें और उससे भी दूरके देश अर्थात् श्रीरके वाहर बारह अंगुल तक जावें † इन वायुश्रोंमें जो माण वा पुरोवात है हे उपनीत ! वह तुभमें वल लावे श्रीर पश्चाद्वात वा अपानवायु तुभामें जो रित्र अर्थात् पाप ‡ है उसको तुभासे दूर करे॥ २॥

वृतीया ॥

ञ्चा वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद रपः। त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयंसे ॥ ३ ॥

<sup>†</sup> इसी वातको कहा भी है, कि-"नाड़ीभ्यां अस्तं अभ्येति प्राणतो द्विपडंगुलः ॥-इडापिंगला इन दो नाड़ियोंसे छोड़ा हुआ प्राण बारह अंग्रल तक जाता है॥"

<sup>‡ &</sup>quot;रपो रिमं इति पापनामनी भवतः इति हि निरुक्तम् ॥-रप और रिप्र पापके नाम हैं ऐसा निरुक्तमें कहा है" (निरुक्त ४। २१)॥

# ( ३६० ) ऋथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

आ। वात । वाहि । भेषजम् । वि। वात । वाहि । यत् । रपः।

त्वम् । हि । विश्वऽभेषज् । देवानाम् । दूतः । ईयसे ॥ ३ ॥

हे वात वायो भेषजम् सर्वव्याधिनिवर्तकम् श्रीषधम् श्रा वाहि श्रागमय । हे वात वायो यद् रपः पापं व्याधिनिदानम् श्रक्ति तद्घ वि वाहि विगमय श्रम्मत्तो विनाशय ।। हे विश्वभेषज सर्व-व्याधिनिवर्तक हि यस्मात् त्वं देवानाम् इन्द्रादीनां दृतः चारः सन् सर्वजगद्रत्तणाय ईयसे संचरित । अईङ् गतौ । दिवादित्वात् श्यन् अ।। यद्दा देवानाम् इन्द्रियाणां दृतः दृतवद् श्रासन्नवर्ती सन् तत्योषणाय ईयसे । कृत्स्नं शरीरं व्याप्य वर्तस इत्यर्थः ।।

हे वायो ! सव व्याधियोंको दूर करने वाली श्रोपिधको लाइये श्रोर हे बायो ! जो व्याधिका कारण पाप है उसको हमसे दूर करिये । हे सब व्याधियोंको दूर करने वाले ! श्राप इन्द्र श्रादि देवताश्रोंके दूत बन कर सब जगत्की रत्ता करनेके लिये घूमते हैं श्रीर इन्द्रियोंके दूतकी समान उनके पासमें रह कर उनका पोषण करनेके लिये रहते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ।।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मुरुती गणाः।

त्रायन्तां विश्वां भूतानि यथायमर्पा असंत् ॥ १॥

त्रायन्ताम् । इमम् । देवाः । त्रायन्ताम् । मरुताम् । गर्गाः ।

त्रायन्ताम्। विश्वा । भूतानि । यथा । अयम् । अरपाः। असत्॥४॥

देवाः इन्द्रादयः इमम् उपनीतं माणवकं त्रायन्तास् । यद्वा "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं पाविशत्" [ ऐ० त्र्या० २. ४. २ ] इत्या-दिश्रुतिपसिद्धा अग्न्याद्या इन्द्रियाधिष्ठातृदेवता देवाः । ते तत्तदि- न्द्रियपाटवप्रदानेन इमं रचन्तु इत्यर्थः ॥ तथा मरुताम् एकोनपश्वाशात्संख्याकानाम् "ईहङ् चान्याहङ् च" [ तै० सं० १. ८. १३. २ ] इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धसंज्ञकानां ये गणाः सप्तसंख्याकाः सिन्त तेपि इमं त्रायन्ताम् संरचन्तु । यद्वा मरुताम् पाणापानव्यानादीनां देहे अवस्थितानां गणाः । पूजार्थे वहुवचनम् ॥ तथा विश्वा विश्वानि सर्वाणि अन्यानि भूतानि भूतजातानि यथा येन प्रकारेण अयं पुरुषः अरपा असत् अपापो भवेत् तथा त्रायन्ताम् इमं पालयन्तु ॥ अत्रेङ् पालने । अरपा इति। न विद्यन्ते रपांसि पापानि यस्मिन्निति बहुत्रीहो "नञ्छभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोन्दात्त्वम् अ॥

इन्द्र आदि देवता इस उपनीत वालककी रक्ता करें । और 'अग्निवीग्भूत्वा मुखं माविशत् ॥—अग्निने वाणी वन कर मुखमें मवेश किया" इस ऐतरेय आरण्यककी २ । ४ । ३ श्रुतिके अनुसार जो अग्नि आदि इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता हैं वे उस २ इन्द्रियकी कुशलता देकर इस वालककी रक्ता करें । और उडआस महद्गणोंके जो सात गण हैं, वे भी इस वालककी रक्ता करें । और प्राण् अपान आदिके जो देहमें स्थित गण हैं वे सब ओर अन्य प्राणी भी जिस प्रकार यह पुरुष पापरहित हो तिस प्रकार इसकी रक्ता करें ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

आ त्वांगमं शंतातिभिरथे। अशिष्टतांतिभिः । दक्षं त उत्रमाभारिषं परा यद्वं सुवामि ते ॥ ५ ॥ आ। त्वा। अगमम्। शंतातिऽभिः। अथो इति । अरिष्टतांतिऽभिः।

दत्तम् । ते । उग्रम्। त्रा । त्रभारिषम् । परा । यत्त्रम् । सुवामि । ते ५

# (३६२) श्रथवंवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हे उपनीत त्वा त्वां शंतातिभिः शंकरैं: सुखकरैं मन्त्रैः अथो अपि च अरिष्ठतातिभिः अरिष्ठम् अहिंसा तत्करैः श्रेयोहेतुभिः कर्म-भिश्र आगमम् आगतवान् अस्मि । श्र गमेर्लु ङि लृदित्वात् च्लेः अङ् आदेशः । "शिवशमरिष्टस्य करे" इति उभयत्र करणेर्थे तातिल् प्रत्ययः । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् श्री। अपि च उग्रम् उद्दग्र्णं दत्तम् समृद्धिकरं वलं ते तव आमार्पम् । आहार्षम् श्री । "ह्यहोर्भः ०" इति भत्वम् श्री । "दत्तं ते अन्य आवातु" [ २ ] इति वायुपार्थनया तत्सकशाद् आनेषम् ॥ तथा यदमम् रोगं ते तव सकाशात् परा सुवामि पराङ्मुसं परयामि ॥ श्री प्रेरणे। तौदादिकः श्री।

हे उपनीत! मैं तुभको सुख देने वाले मन्त्रोंसे और अहिंसामय कल्याणकारी कर्मों के द्वारा पाप्त हुआ हूँ और प्रचएड वलको भी तुभक्षें ले आया हूँ तथा यद्या रोगको भी तुभक्षे पराङ्मुख करके भेजता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अयं में हस्तो भगवानयं में भगवत्तरः। अयं में विश्वभेषजोयं शिवाभिमर्शनः॥ ६॥

अयम् । मे । इस्तः । भगडवान् । अयम् । मे । भगवत् ऽतरः । अयम् । मे । विश्वऽभेषजः । अयम् । शिवऽअभिमर्शनः ॥ ६ ॥

मे मदीयः अयम् अभिमर्शनसाधनो हस्तः भगवान् भाग्यवान्। तथा मे मदीयोयम् ऋषिहस्तः भगवत्तरः अतिशयितभाग्ययुक्तः। मे मम अध्यं हस्तो विश्वभेषजः विश्वानि भेषजानि सर्वव्याधिनि-वर्तकानि औषधानि यस्मिन्ट्षिहस्ते स तथोक्तः। यस्माद् एवं-गुणिविशिष्टो पदीयो हस्तः तस्माद् अयं शिवाभिपर्शनः सुखकर-स्पर्शनयुक्तो भवतु॥ मेरा यह अभिमर्शनका साधन हाथ भाग्यवान है और मेरा, यह ऋषिहस्त परमभाग्यवान है, मेरे इस ऋषिहस्तमें संपूर्ण व्याधियोंको द्र करनेवालीं सब औपधियें (। का प्रभाव ) है। मेरा हाथ ऐसे गुणोंवाला है अतः यह सुखदायक स्पर्ध से युक्त हो ६ सप्तमी।।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्ना वाचः पुरोगवी । श्रानामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामि ७ हस्ताभ्याम् । दशंऽशाखाभ्याम् । जिह्ना । वाचः । पुरःऽगवी । श्रामयित्नुऽभ्याम् । हस्ताभ्याम् । ताभ्याम् । त्वा । श्रामि । मृशामिस ॥ ७ ॥

दशशाखाभ्याम् दश अंगुलयः शाखाभूता ययोः तादृशाभ्यां हस्ताभ्यां प्रजापितसंबिन्धभ्यां सृज्यमाना जिह्वा वागिन्द्रियाधिष्टान-भूता रसना वाचः शब्दस्य पुरोगवी पुरतो गन्त्री भवति । यत्र-यत्र शब्दः प्रयुज्यते तत्र सर्भत्र तस्य शब्दस्योच्चारणाय पुरतो व्याप्रियत इत्यर्थः ॥ अनामियत्तुभ्याम् अनामयशीलाभ्याम् आरो-ग्यहेतुभ्यां ताभ्यां प्रजापितसंबिन्धभ्यां हस्ताभ्याम् हे उपनीत त्वा त्वाम् अभि मृशामिस अभितः संस्पृशामः । अ "इदन्तो मिसः" अ॥

[ इति ] तृतीयं सुक्तम् ॥

अंगुलिरूप दश शाखा वाले प्रजापितके दोनों हाथोंसे रची हुई वागिन्द्रियकी अधिष्ठानभूत रसना शब्दके आगे चलने वाली होती है, तात्पर्य यह है, कि जहाँ २ शब्दका प्रयोग किया जाता है सर्वत्र उस शब्दोच्चारणसे पहिले ही पुर जाती है। आरोग्य के कारण उन प्रजापितके हाथोंसे हे उपनीव ! हम तेरा स्पर्श करते हैं।। ७।।

चतुर्ध काण्डके तृतीय अनुवाकमें तृतीय स्क समाप्त (११५)॥

"अजो ह्यप्तेः" इति सक्तेन अजौदनसवे हिनरिभमर्शनादिकं कुर्यात् । सूत्रितं हि । "तिस्मिन्नन्वारब्धं दातारं वाचयित तन्त्रं सक्तं पच्छस्नानेन यौ ते पत्तौ" इत्युपक्रम्य "क्रमध्वम् अग्निना नाकम् [२] पृष्ठात् पृथिव्या अहम् अन्तिरक्तम् आरुहम् [३]स्वर्यन्तो नापेक्तन्ते [४]" इति [कौ० ८. ६] ॥

"क्रमध्वम् अग्निना" इत्याद्यास्तिस्नः सर्वेषु सवयज्ञेषु वाचने विनियुक्ताः ॥

"अजो ह्यारें" इत्यनया ऋचा अग्निचयने उपधीयमानम् अजिशारोज्जमन्त्रयेत । "अजो हीत्यजशिरः" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ५.२] ॥

"अमे मेहि" इत्यनया सर्वेषु सवयज्ञेषु आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अमे मेहि [ ५ ] समाचिनुष्व [ ११. १. ३६ ] इत्याज्यं जुहुयात्" [ इति ] [ कौ० ८. ४ ] ॥

"अजम् अनिष्य" [६] इत्यन्या अजौदनसवे दर्भेषूद्धृतं पाशुकं हिवः आज्येनाभ्यञ्ज्यात् । सूत्रितं हि । "उद्द्धृतम् अजम् अनज्मीत्याज्येनानिक्त" इति [कौ० ८. ४]॥

"पश्चौदनम्" [ ७, ८ ] इति द्वाभ्यां सवयज्ञे पश्चधा विभक्तौ-दनसहितान् शिरःपार्श्वाद्यवयवान् प्राच्यादिदि चुस्थापयेत्। सूत्रितं हि । "पश्चौदनम् इति मन्त्रोक्तम् स्रोदनान् पृथक्पादेषु निद्धाति मध्ये पञ्चमम्" इति [ कौ० ८. ४ ] ॥

"शृतम् अजम्" [ ६ ] इत्यनया शिरःपादाद्यवयवोपेतं चर्म जुहुयात् । सूत्रितं हि । "शृतम् अजम् इत्यनुवद्धशिरःपादम् अज-स्य चर्म" इति [ कौ० ८. ४ ] ।।

वाजपेये "पृष्ठात् पृथिव्याः" [३] इत्येतां यूपम् त्रारुह्य यज-मानो जपेत् । उक्तं वैताने । वाजपेयं प्रक्रम्य "पृष्ठात् पृथिव्या श्रहम् इत्यारूढः" इति [वै० ४, ३] ॥ वरुणप्रधासारूये पर्वणि अग्निप्रणयनकाले "अग्ने पेहि" [४] इति ब्रह्मा जपन् गच्छेत् । तद्भ उक्तं वैताने । "आषाढ्यां वरुण-प्रधासेग्री प्रणीयमाने अग्ने पेहीति जपन्नेति" इति [वै० २.४]॥

सोमयागे उत्तरवेद्यग्निप्रणयनेषि एषा जप्या। उक्तं वैताने। ''अग्नौ प्रणीयमाने अग्ने प्रेहीति जिपत्वा वहिर्वेद्युपविशति'' इति। [ वै० ३. ४ ]।।

"अजो ह्यमें" इस सूक्तसे अजौदनसवमें हिवका अभिमर्शन आदि करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"तस्मिन्न-न्वारब्धं दातारं वाचयित तंत्रं सूक्तं पच्छस्तानेन यौते पद्मौं" इत्युपक्रम्य "क्रमध्वं अग्निना नाकं (२) पृष्टात् पृथिब्या अहम् अन्तरित्तं आरुहम् (३) स्वर्यन्तो नापेत्तन्तं (४)" इति कौशिकसूत्र (८। ६)॥

''क्रमध्वम् अग्निना'' इत्यादि तीन ऋचायोंका सब सवयज्ञोंके वाचनमें विनियोग है।।

"अजो ह्यग्ने" इस ऋचासे अग्निचयनमें उपधीयमान वकरेके शिरका अनुमन्त्रण करे। वैतानसूत्र ४। २ में कहा है, कि— "अजो हीत्यजशिरः" ॥

'अग्ने मेहि' इस ऋचासे सब सवयज्ञों में घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—''अग्ने मेहि'' इस पाँचवीं ऋचासे और 'समाचिनस्व' इस ग्यारह वें काण्डके प्रमथ अनुवाक की छत्तीसवें सूक्तसे घृतकी आहुति देय'' (कौशिकसूत्र ८।४)

"श्रजं अनिष्म" इस छठी ऋचासे अजीदनसवमें कुशाओं पर रक्खी हुई पशुसम्बन्धी हिवको घृतसे शुद्ध करे। इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"उद्ध्यतं अजं अनज्मीत्याज्येनानिक" (कौशिकसूत्र ८ । ५ )।।

'पञ्जीदनम्' इन सातत्रीं और आठवीं ऋचासे सवयज्ञमें पाँच

# ( ३८६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

स्थानमें विभक्त श्रोदनसहित सिर पसली श्रादि श्रवयवोंको पूर्व श्रादि दिशाश्रोंमें स्थापित करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"पश्रोदनम् इति मन्त्रोक्तं श्रोदनान् पृथक् पादेषु निद-धाति मध्ये पश्चमम्" (कौशिकसूत्र ८। ५)॥

"शृतम् अजम्" इस नौवीं ऋचासे शिर पैर आदि अवयवीं से युक्त चर्मकी आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"शृतं अजं इत्यनुवद्धशिरःपादं अजस्य चर्म" (कौशिक-सूत्र ८ । ४ )।।

वाजपेयमें 'पृष्ठात् पृथिव्याः' इस तीसरी ऋचाको यजमान यूप पर चढ़कर जपे । इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि ववाजपेयं प्रक्रम्य 'पृष्ठात् पृथिव्या ऋहं इत्यारूढः' वैतानसूत्र ( ४ । ३ )।।

ब्रह्मा वरुणप्रघास नाम वाले कर्ममें अग्निम्ख्यनके समय 'अग्ने प्रेहि' इस पाँचवी ऋचाको जपता हुआ जावे। इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—''आपाढचां वरुणप्रधा-सेऽग्नौ प्रणीयमाने अग्ने प्रेमेहीति जपन्नेति'' (वैतानसूत्र २।४)॥

सोमयागके उत्तरवेदिपणयनमें भी इस ऋचाका जप करना चाहिये। देशी बातको वैतानसूत्र ३। ४ में कहा है, कि— ''असी प्रणीयमाने असे पेहीति जिपत्वा वहिर्वेद्युपविशति''।।

#### तत्र प्रथमा ॥

अजो हां १ मेरजंनिष्ट शोकात् सो अंपश्यज्जनितारमंत्रे।
तेनं देवा देवतामग्रं आयन् तेन रोहांन् रुरुहुर्मे ध्यासः १
अजः । हि । अगेः । अजनिष्ट । शोकात् । सः । अपश्यत् ।
जनितारम् । अग्रे ।

तेन । देशः । देवताम् । अग्रे । आयन् । तेन । रोहान् । रुरुहुः ।

मेध्यासः ॥ १ ॥

अजः छागः अग्नेः शोकात् तापाद् अजनिष्ट उदपद्यत । हि-शब्दः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं द्योतयति । तथा चतैत्तिरीयके अजस्याप्रि-सकाशाद् उत्पत्तिरास्त्राता । "स आत्मनो वपाय् उदिक्खदत्। ताम् अग्नौ प्रायुक्तात् । ततोजस्तूपरः समभवत्'' इति [ तै० सं० २. १. १. ४ ] । सः जातोजः अग्रे सर्वप्रजापतिपशुसृष्टेः पाग् जनितारम् जनियतारं प्रजापितम् अप्रिं वा अपश्यत् दृष्टवान् । जनिवतुगौरवेण त्रात्मनो गौरवम् त्रज्ञासीद् इत्यर्थः । अ "जनिता मन्त्रे" इति णिलोपो निपात्यते 🛞 ॥ तेन मथमसृष्टेन अजेन देवाः इन्द्रादजः देवताम् देवत्वं देवभावम् त्र्रग्रे सृष्ट्यादौ त्रायन् तत्सा-ध्ययागद्वारा प्राप्तुवन् । 🕸 देवताम् इति । "तस्य भावस्त्वतत्तौ" इति तल् पत्ययः 🛞 ॥ तथा मेध्यासः मेधार्हाः । 🛞 "छन्दसि च" इति यमत्ययः। "आज्जसेरसुक्" 🕸 । यज्ञार्हा अन्येपि ऋषि-जनाः रोहान्। रोह्यन्ते प्राप्यन्त इति रोहाः स्वर्गादिलोकाः। अ रहे-एर्यन्तात् कर्मिणि घञ् अ। तान् तेन अजेन साधनेन यागद्वारा रुरुहुः त्रारूढवन्तः। तस्मात् ईटक्साधनकः स्रजौदनसवोदेवत्वादि-सर्वफलप्राप्तिसाधक इत्यर्थः ॥

वकरा अग्निके तापसे उत्पन्न हुआ है, यह वात दूसरी श्रुतिथोंमें भी प्रसिद्ध है † । वह उत्पन्न हुआ अज प्रजापतिकी सब पशुस्रष्टिसे पहिले उत्पादक प्रजापित वा अग्निको देखने लगा अर्थात उसने उत्पादकके गौरवसे अपना गौरव समका ॥ उस

† तैत्तिरीयसंहिता २।१।१। ४ में कहा है, कि-"स आत्मनो वपां उदक्खिद्त् । ताम् अप्नौ पायृह्वात् । ततोऽजस्तूपरः समभवत् ॥"

पथम रचे हुए अजके (यागके) द्वारा इन्द्र आदि सृष्टिके प्रारम्भमें देवभावको प्राप्त हुए तथा यज्ञके अधिकारी दूसरे ऋषि भी उस अजरूपी साधनके द्वारा यज्ञ करके स्वर्ग आदि लोकोंमें चढ़े हैं। इस कारण ऐसा अजीदनसब देवत्व आदि सकल फलोंकी प्राप्तिका साधक है।। १।।

द्वितीया ॥

क्रमंध्वम् भिना नाक्मुख्याच् हस्तेषु विश्वंतः। दिवस्पृष्ठं स्वर्गित्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥

क्रमध्वम् । अभिना । नाकम् । उख्यान् । इस्तेषु । विश्वतः ।

द्विः । पृष्ठम् । स्वीः । गृत्वा । मिश्राः । देवेभिः । आध्वम् २

हे जनाः अग्निना सवयहार्थम् उत्पादितेन तत्साध्यान् सवयज्ञान् अनुष्ठाय तत्फलभूतं नाकम् दुःखसंभेदरहितम् उत्तमं लोकं
क्रमध्वम् आरोहत । कथंभूताः सन्तः । अत्ञान् अत्तवत् प्रकाशकान् अनुष्ठितान् यज्ञान् हस्तेषु बिश्रदः धारयन्तः । यागादिजनितसुकृतविशेषान् अवलम्ब्य तत्फलभूतं लोकं प्राप्नुतेत्यर्थः ।
अक्ष क्रमध्वम् इति । "अनुषसर्गाद् वा" । इति क्रमेरात्मनेपदम् ।
बिश्रत इति । डुभृञ् धारणपोषणयोः । अस्मात् लटः शत्रादेशः ।
"भृञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्तम् । "अभ्यस्तानाम् आदिः"
इति आद्युदात्तः अ ॥ तदनन्तरं दिवः अन्तरित्तस्य पृष्ठम् पृष्ठवंशवद् उन्नतपदेशं स्वः स्वर्गाख्यं लोकं गत्वा प्राप्य देवेभिः देवैः
आजानशुद्धैः मिश्राः मिश्रिताः समानैश्वर्येण एकीभूताः आध्वम्
उपविशत । अ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति दिवो विसर्जनीयस्य
सत्वम् । देवेभिरिति । "बहुलं छन्दिस्" इति भिस ऐसभावः ।
ततो "बहुवचने फल्येत्" इति एत्त्वम् । आध्वम् इति । आस उप-

वेशने । अदादित्वात् शपो लुक् । "भलां जश् भशि" इति सका-रस्य जश्त्वम् । दकारः अः ॥

हे मनुष्यों ! तुम सब यज्ञोंके लिये उत्पन्न किये हुए अग्निके द्वारा सब यज्ञोंका अनुष्ठान करके अन्नकी समान प्रकाशक अनुष्ठित यज्ञोंको हाथमें रख कर दुःखरहित उत्तम स्वर्गलोकमें चढ़ो अर्थात् याग आदिसे उत्पन्न हुए पुएयका अवलम्ब लेकर उनके फलरूप स्वर्गलोकमें चढ़ो । तदनन्तर अन्तरित्तके पीठकी समान उन्नतस् वर्गमें पहुँचने पर देवताओं केसा ऐश्वर्य पाकर देवताओं के साथ बैठो ॥ २ ॥

#### तृतीया ॥

पृष्ठात् प्रांथिव्या अहम्नतिरं चुमारुंहम्नतिरं चाद् दिव्मा-रुहम् ।

दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वं १ ज्योंतिरगामहम् ॥ ३ ॥

पृष्टात् । पृथिन्याः । अहम् । अन्तरित्तम् । आ । अहहम् । अन्तरित्तात् । दिवम् । आ । अहहम् ।

द्विः । नाकस्य । पृष्ठात् । स्व ि । ज्योतिः । अगुम् । अहम् ॥३॥

पृथिव्याः पृष्ठात् भूलोकाद्ग् अहम् अन्तरित्तम् आरुहम् अन्तरित्तलोकम् आरोहामि । अ रुहेश्छान्दसो लुङ् । "कृमृद्दरिभ्य-श्वन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः अ । तस्माद्ग अन्तरित्तलो-काद् दिवम् ग्रुशब्दवाच्यं तृतीयं लोकम् आरुहम् आरोहामि ॥ नाकस्य नास्मिन् अकम् दुःखम् अस्तीति नाकः तादृशस्य दिवः ग्रुलोकस्य पृष्ठात् उपरिदेशात् स्वः । आदित्यनामैतत् । आदित्य-मण्डलस्थं हिरणमयपुरुषाख्यं ज्योतिः अहम् अगाम् प्राप्नोमि । अ

एतेश्छान्दसो लुङ् । ''इणो गा लुङि'' इति गादेशः 🕸 ।। इत्थं सोपानक्रमेण पृथिव्यादिलोकेषु नानाविधान् भोगान् अक्तवा अन्ते सूर्यसायुज्यं प्रामोतीत्यर्थः ॥

में भूलोकसे अन्तरिक्तलोकमें चढ़ता हूँ और उस अन्तरिक्त लोकसे स्वर्ग नामके तीसरे लोकमें चढ़ता हूँ और जिसमें दुःखका लेशमात्र नहीं है, उस स्वर्गलोकसे ऊपरके लोक आदित्यमण्डल में स्थित हिरणमय पुरुष नामक ज्योतिमें में चढ़ता हूँ (तात्पर्य यह है, कि—इस प्रकार सोपानक्रमसे पृथिवी आदि लोकोंमें अनेक प्रकारके भोगोंको भोगता हुआ पुरुष अन्तमें सूर्यसायुज्यको प्राप्त होता है ) ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

स्वंश्यन्तो नापेचन्त् आ द्यां रेहिन्ति रोदंसी । युज्ञं ये विश्वतिधारं सुविद्यांसो वितिनिरे ॥ १ ॥

स्वृः । यन्तः । न । अप । ईत्तन्ते । आ।द्याम् । रोहन्ति। रोदसी इति।

यज्ञम् । ये । विश्वतः ऽधारम् । सुऽविद्वांसः । विऽतेनिरे ॥ ४ ॥

स्वः स्वर्ण यज्ञफलभूतं यन्तः गच्छन्तः नापेन्नन्ते पुत्रपश्वादि-जनितम् ऐहिकसुखम् अल्पं नेच्छन्ति। किंतु द्याम् अन्तरिन्तं रोदसी द्यावापृथिव्यो चेति लोकत्रयं प्राग्रक्तरीत्या आ रोहन्ति। के पुन-स्ते। ये यजमानाः विश्वतोधारम् विश्वतः सर्वतो धारकम् यद्वा विश्वतः सर्वतो धारकाः अविच्छिचफलप्राप्त्युपाया यस्मिस्तादृशम् यज्ञं सुविद्वांसः सुष्टु जानन्तः वितेनिरे वितन्वन्ति विस्तारयन्ति।

अ छान्दसो वर्तमाने लिट् अ । ते स्वर्यन्त इति संबन्धः ।। यज्ञके फलरूप स्वर्गमें जानेवाले पुरुष पुत्र पशु आदिके इस लोक के थोड़ेसे सुखकी इच्छा नहीं करते हैं, किंतु अन्तरित्त स्वर्ग और पृथिवी इन तीनों लोकोंमें पूर्वोक्तरीतिसे जाते हैं। जो यजमान श्रविच्छिन्न फल प्राप्तिके उपाय यज्ञको भली प्रकार समभ कर उसको करते हैं वे ही इन तीनों लोकोंको जीतते हैं: 1 8 ॥

#### पश्चमी ॥

अप्ने प्राहे प्रथमो देवतानां च चंद्रवानां मृत मानुषाणाम् इयं चमाणा भृगुंभिः सजोषाः स्वर्धन्तु यर्जमानाः स्वस्ति अप्ने । प्र । इहि । प्रथमः । देवतानाम् । चर्चुः । देवानाम् । उत्त ।

# मानुषाणाम् ।

इयत्तमाणः। भृगुऽभिः। सुङ्जोषाः। स्वृः। यन्तु।यजमानाः।स्वस्ति

हे प्रणीयमान अग्ने त्वं मेहि प्रगच्छ आहवनीयदेशं प्राप्तुहि।
कीदृशस्त्वम्। देवतानाम् यष्ट्व्यानां प्रथमः मुख्यः। अत एव दर्शपूर्णमासयोस्तावइ अग्निः प्रथमम् इज्यते। चातुर्मास्येषु च पश्चसंचरेषु आग्नेयः प्रथमो यागः। सोमयागे चदीन्नणीयायाम् आग्नावैद्यावयागे अग्निः प्रथमभावी। अत एव मन्त्रवर्णः। "अग्निरग्ने
प्रथमो देवतानाम्" इति [ते० ब्रा०२. ४. ३. ३. ]। तथा देवानाम् इन्द्रादीनां हिवर्वहनेन अयम् अग्निः चन्नुः चन्नुरिन्द्रियवत्
वियः। उत अपि च मानुषाणाम् मनोरपत्यभूतानां मनुष्याणां
चन्नः आहवनीयादिरूपेण पुष्यलोकस्य दर्शयिता। अ "मनोर्जातावञ्यतौ पुक् च" इति अञ् पत्ययः षुगागमश्च । यस्माद्
एवम् अग्निर्देवानां मानुषाणां च चन्नुः तस्मात् तदीयप्रकाशेन इयन्माणां प्रथमं यष्टुम् इच्छन्तः पश्चाद् यजमानाः यागं कुर्वाणाश्च
जनाः भृगुभिः एतत्संज्ञैम हिषिभिः सजोषाः समानप्रीतयः सन्तः
स्वः स्वर्गं कर्म फल्नभूतं स्वस्ति क्षेमेण यन्तु प्राप्नुवन्तु। अ इय-

# ( ४०२ ) ऋथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

त्तमाणा इति । यजेः सन् । "स यतः" इति अभ्यासस्य इत्त्वे आदिवर्णलोपश्ळान्दसः । सजोषाः । जुषी प्रीतिसेवनयोः । भावे घञ् । ततो बहुत्रीहौ "समानस्य छन्दसि०" इति सभावः । परा-दिश्ळन्दिस बहुलम्" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । यद्वा समानं जोष-माणाः प्रीयमाणाः । असुनि "सुपां सुलुक्०" इति जसः सुः । कृदुत्तरपदमकृतिस्वरत्वम् ※ ॥

हे प्रणीयमान अग्ने ! आप आहवनीयस्थानमें आइये । आप पूजनीय देवताओं में मुख्य हैं (अतः दर्श और पूर्णमासमें अग्नि की पहिले पूजा होती हैं, पश्चसश्चर चातुर्मास्य यागों में भी आग्नेय प्रथम याग हैं । सोमयागमें भी दीचणीयाके आग्ना-वैष्णवयागमें अग्नि प्रथम होता हैं । इसी लिये मन्त्रमें प्रसिद्ध हैं, कि—"अग्निरग्रे प्रथमों देवानाम् ॥—देवताओं में अग्रणी अग्नि प्रथमपूजनीय हैं" तैचिरीय बाह्मण २ । ४ । ३३ ) तथा यह अग्नि इन्द्र आदि देवताओं को हिव पहुँचाते हैं अतः उनको नेत्रकी समान प्रिय हैं और मनुकी अपत्यरूप मनुष्यों के लिये भी आह-वनीय आदिरूपसे पुण्यलोकके दिखाने वाले नेत्ररूप हैं । अग्नि-देव इस प्रकार मनुष्यों के और देवताओं के नेत्र हैं अत एव उनके प्रकाशसे पहिले पूजन करनेकी इच्छा वाले और फिर यज्ञ करते हुए पुरुष भृगु आदि महर्षियों से प्रेम करते हुए कर्मफलरूप स्वर्ग को क्षेमपूर्वक प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

षष्टी ॥

अजमनिष्म प्रयंसा घृतेनं दिव्यं सुपूर्णं प्यसं बृहन्तम् तेनं गेष्म सुकृतस्य लोकं स्व रारोहन्तो अभिनाकं मुत्त-

मम्।। ६॥

अजम् । अनिजम् । पयसा । घृतेन । दिन्यम् । सुऽपूर्णम् । पय-सम् । बृहन्तम् ।

तेन । गेष्म । सुङकुतस्य । लोकम् । स्वर् । त्र्याङरोहन्तः । अभि । नाकम् । उत्दुरुतमम् ॥ ६ ॥

हवीरूपम् आपन्नम् अनं पयसा पयोविकारेण पयोवद् रसवता वा घृतेन आज्येन अनिज्ञ अभिघारयामि । अ अञ्जू व्यक्ति-म्लन्नणगतिषु । रुधादित्वात् अम् । श्लान्नलोपः" अ । कीदृशम् अजम् । दिव्यम् दिवि भवं द्युलोकाई वा सुपर्णम् शोभनपन्नसुन्तं पयसम् । अ छान्दसो वर्णविकारः अ । वयसं पन्निरूपम् आपन्नं बृहन्तम् महान्तं यजमानं स्वर्गं प्रापयितुं शक्तम् ॥ तेन ईदृक्पभावेन अजेन सुकृतस्य पुण्यस्य फलभूतं लोकं गेष्म वयं गच्छेम। ततश्च उत्तमम् उत्कृष्टं नाकम् दुःखसंस्पर्शशून्यं स्वः स्वर्गं सूर्यात्मकं वा परमं ज्योतिः अभि आरोहन्तः अभिगच्छन्तः भवेमेत्यर्थः ॥

हिवरूपको प्राप्त हुए अजको मैं दुग्धकी समान रस वाले घृत से मिलाता हूँ। यह अज घुलोकके योग्य और पिलरूपको प्राप्त होकर महानुभाव यजमानको स्वर्ग पहुँचानेमें समर्थ हैं। ऐसे प्रभाव वाले अजके द्वारा हम पुएयके फलरूप लोकमें जाते हैं। तदनन्तर हम उत्कृष्ट सूर्यात्मक परमज्योतिमें प्राप्त होवें।। ६।।

सप्तमी ॥

पत्रीदनं पत्रभिरङ्गुलिभिर्दन्योद्धरं पत्रधितमादनम् । प्रान्यां दिशि शिरो अजस्यं धेहि दिन्णायां दिशि दिन्णां धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

# ( ४०४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

पञ्च ऽत्रोदनम् । पञ्च ऽभिः । द्र्यां । उत् । हर् । पञ्च ऽधा । एतम् । त्रोदनम् ।

माच्याम्। दिशि। शिरः। अजस्य। धेहि। दिन्तणायाम्। दिशि। दिने-णम् । धेहि। पार्श्वम् ॥ ७॥

हे पाचक पश्चौदनम् पश्चधा विभक्तम् श्रोदनम् । % "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः % । पश्चभिरंगुलिभिः करणैः दर्व्या साधनेन उद्धर । स्थाल्याः सकाशाद्ध उद्ग्रधृत्य विहेषि स्थापये-त्यर्थः । एतम् उद्ग्रधृतम् श्रोदनं पश्चधा विभज्य तत्र एकं भागम् श्रजस्य पक्वं [शिरः] शिरोगतमांसं च प्राच्यां दिशि धेहि स्था-पय । पुनः एकम् श्रोदनभागम् श्रजस्य [दिज्ञिणम् पार्श्वम्]दिनि-णपार्श्वस्थं मांसं च दिन्निणायाम् दिन्निणस्यां दिशि [धेहि] स्थाप्य।।

हे पाचक! पाँच प्रकारसे विभक्त होने वाले श्रोदनको पाँच श्राँग-लियोंके द्वारा दर्वीसे स्थालीमेंसे निकाल कर कुशाश्रों पर स्थापित कर श्रीर इस निकाले हुए श्रोदनको पाँच भागोंमें बाँट कर एक भागको श्रीर बकरेके पके हुए शिरोमांसको पूर्वदिशामें स्थापन कर फिर एक श्रोदनके भागको श्रीर वकरेकी पसलीके दाहिने भागके मांसको भी दिल्लाण दिशामें स्थापित कर ॥ ७॥

#### अष्टमी।।

प्रतीच्यां दिशि भूसदमस्य धृह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम् ।

ज्ञां दिश्यं १ जस्यानूकं धेहि दि शि धुवायां धेहि पाजस्य मन्तरिचे मध्यतो मध्यमस्य ॥ = ॥

प्रतीच्याम्। द्विशि । भुसद्म् । श्रस्य । धेहि । उत्तरस्याम् । दिशि। उत्तरम् । धेहि । पार्श्वम् ।

क्ष्वीयाम् । दिशि । अजस्य । अन्तम् । धेहि । दिशि । धुनायाम् । धेहि । पाजस्य प्र । अन्तिरिक्षे । मध्यतः । मध्यम् । अस्य द्र
अतीच्याम् पश्चिमायां दिशि अस्य अजस्य भसदम् । भसत्
कटिमदेशः । तत्रत्यं मांसम् अोदनभागसहितं धेहि स्थापय ॥
उत्तरस्याम् उदीच्यां दिशि ओदनभागसहितम् [ उत्तरं पार्श्वम् ]
उत्तरपार्श्वसंबन्धि मांसं धेहि ॥ तथा ऊर्ध्वायां दिशि अस्य
[ अजस्य ] अनूकम् पृष्ठयंशस्यं मांसम् ओदनभागसहितं धेहि
स्थापय ॥ धुनायाम् स्थिरायां भूम्यात्मिकायाम् अथस्ताद् दिशि
पाजस्य । पाज इति वत्तनाम । तत्र हितम् उदरगतम् ऊत्रध्यं धेहि
स्थापय । निखनेत्यर्थः । मध्यतः मध्यभागे अन्तरिक्षे आकाशे
अस्य अजस्य [मध्यम] शरीरमध्यवर्ति आकाशम संयोजयेत्यर्थः॥

पश्चिम दिशामें वकरेकी कमरके मांसको श्रोदनसहित स्थापित कर और उत्तरदिशामें ओदनभागसहित उत्तरपार्श्वके मांसको रख श्रीर ऊपरकी दिशामें पीटके मांसको श्रोदनसहितस्थापित कर श्रीर ध्रुव भूमिरूप नीचेकी दिशामें उदरके मांसको स्थापित कर श्रीर मध्यभागमें अर्थात् आकाशमें अजके मध्यभागको स्थापित कर्द्र नवमी॥

शृतम्जं शृतया प्रोणिहित्वचा सर्वेरङ्गेः संभृतं विश्व-रूपम् ।

स उत् तिष्ठेतो अभि नाकं मुत्तमं पृष्टिश्चतुर्भैः प्रति

# ( ४०६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

शृतम् । अजम् । शृतयां । प्र । ऊर्णु हि । त्वचा । सर्वैः । अङ्गैः । सम् अर्थतम् । विश्व अरूपम् ।

सः । उत् । तिष्ठु । इतः। अभि । नाकम्। उत्ऽतमम् । पत्ऽभिः।

चतुःऽभिः । प्रति । तिष्ठं । दिन्नु ॥ ६ ॥

हे शिमतः शृतम् पक्वम् अजं अथया विशसनेन विभक्तया त्वचा तदीयेन चर्म णा सपादवालशीर्षेण मोणु हि मकर्षेण च्छा-दय । अ उर्णु व छादने अ । कीदृशम् अजम् । सर्वेः अशेषेः अङ्गेः हस्तपादाद्यवयवैः संभृतम् संयुक्तं विश्वरूपम् सर्वाकारम् ॥ हे अज स तादृशः सर्वाङ्गसहितस्त्वम् उत्तमम् उत्कृष्टं नाकम् स्वर्गम् अभिल्दय इतः अस्माद्ध भूलोकाद् उत् तिष्ठ उद्गच्छ । अ उर्ध्व कर्मत्वाद् आत्मनेपदाभावः अ ॥ तथा चतुर्भिः पद्धिः पादैः दिचु माच्यादिषु चतस्रषु प्रांत तिष्ठ पतिष्ठितो भव । अ पद्धिरिति । "पद्दन् व इत्यादिना पाद्शब्दस्य पद्ध आदेशः । "उद्धिप्ति । "पद्दन् व इति विभक्तच्युदात्तत्वम् । चतुर्भिरिति । "कल्युपोत्तमम्" इति उकार उदात्तः । दिच्चिति । "सावेकाचः " इति विभक्तोरु-दात्त्वम् अ॥

# [ इति ]चतुर्थं सूक्तम्।।

हे शिमतः ! पके हुए अजको विभक्त त्वचा और पैर वाल तथा शिर सहित इक । यह अज हाथ पैर आदि सम्पूर्ण अङ्गों से युक्त है सर्वाकार है । ऐसे हे सर्वागसम्पन्न अज ! तू श्रेष्ठ स्वर्गलोककी ओर लच्य कर इस भूलोकसे उपरको जा तथा चारों पैरोंसे पूर्व आदि चारों दिशाओं में प्रतिष्ठित हो ॥ ६ ॥

चतुर्णकाण्डके तृतीय अगुवाक्षमें चतुर्थ स्क समाप्त (११६)॥

"समुत्पतन्तु" इति सूक्तेन दृष्टिकामः मरुद्धचो मान्त्रविणिकीभ्यो वा देवताभ्य आज्यहोमः । काशदिविधुवक्रवेतसाख्या ओषधीः एकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोम्रुखं निन्यनम् । तासामेवकाशादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु सावनम् । रविश्वरसो मेपशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु पक्षेपणम् । मानुषकेशजरदुपानहां वंशाग्रे वन्धनम् तुषसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संपोच्य त्रिपादे शिक्ये निधाय अप्सु पक्षेपणं च इत्येतानि अभिवर्षणकर्माणि कुर्यात् । सूत्रितं हि । "सम्रत्यतन्तु [ ४. १५ ] म नभस्व [ ७. १६ ] इति वर्षकामो द्वादश-रात्रम्" इत्यादि "त्रिपादेऽश्मानम् अवधाय अप्सु निद्धाति" इत्यन्तम् [ काँ० ५. ४ ] ॥

तथा उपतारकाद्भुतशान्तौ अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतद् उपतारकम्" इति प्रक्रम्य "समुत्पतन्तु प्र नभस्वेति वार्पीर्जुहुयात् । सा तत्र प्रायथित्तिः" इत्यन्तम् क्रि॰ १३. ११-] ॥

चातुर्मीस्यान्वारम्भणीयेष्टौ "अभि क्रन्द" [६] इति पर्जन्य-चरुयागाथिमन्त्रणम् । उक्तं वैताने। "पूर्वेद्युर्वेश्वानरपार्जन्येष्टिर्वा अप्रे वैश्वानर [२. १६.४] अभि क्रन्द स्तनय [६]" इति

[बै॰ २. ४]॥

धूमकेतृत्पातदर्शने पञ्चपशुयागमध्ये प्राजापत्यपशुपुरोडाशस्थाने "त्राग्नेयस्य प्राजापत्यस्य चीरौदनान्" इति विहितं चीरौदनं "प्रजापितः सिल्लात्" [ ११ ] इत्यृचा जुहुयात् । सूत्रितं हि । [ "त्रथ यत्रैतद धूमकेतुः" इति प्रक्रम्य ] "प्रजापितः सिल्लात् [ ११ ] इति प्राजापत्यस्य" इति [ कौ० १३, ३५ ] ।।

''प्राजापत्यां प्रजापश्वन्नकामस्य प्रजात्तये च'' इति [ न०क० १७] विहितायां महाशान्तौ ''प्रजापितः सिलालात्'' इत्येषा आव-

# ( ४०८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

पनीया । उक्तं नज्ञत्रकल्पे । "प्रजापितः सिल्लाह् इति प्राजाप-त्यायाम्" इति [ न० क० १८ ] ॥

ष्टिष्टिको चाहने वाला 'समुत्पतन्तु' इस सुक्तसे महतीं के लिये वा मन्त्रोंसे पहिचानमें आने वाले देवताओं के लिये घृतका होम करें। और काश दिविधुवक और वेतस नामवाली औपिघयों को एक पात्रमें करके सम्पातन और अभिमन्त्रण कर जलमें नीचे को मुख करके ले जावे तथा इस सुक्तसे संपातित और अभिमन्त्रत उन ही काश आदिको जलमें डुवावे, अभिमन्त्रित कुत्ते के शिरको और मेट्टेके शिरको इस सूक्तसे जलमें फेंके। मनुष्यके केश और प्राने जूतों को वाँसके अग्राभागमें वाँ घे और भूसी सहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जलसे मोत्तरण करके, तीन लट वाले छीके पर रख कर जलमें डाले। इतने अभिवर्षण के काम इस सूक्तसे करे। इस विषयमें सूत्रका मामण भी है, कि—''समुत्पतन्तु (४।१५) म नभस्व (७।१६) इति वर्षकामो द्वादशरात्रि'' इत्यादि ''त्रिपादेऽश्मानं अवधाय अप्सु निद्धाति'' इत्यन्तं (कोशिकसूत्र ५।५)।।

तथा उपतारकाद्धृतशान्तिमें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—''अथ यत्रैतद् उपतारकं'' इति प्रक्रम्य ''समुत्पतन्तु प्र नभस्त्रेति वार्षीजु हुयात्। सा तत्र प्रायश्चित्तः'' इत्यन्तं (कौशिकसूत्र १३। ११)॥

चातुर्मास्यकी अन्वारंभणीयेष्टिमें "अभि क्रन्द" इस छठी ऋचासे पर्जन्यचरुयागका अभिमन्त्रण करे। इसी वातको वैतान-सूत्रमें कहा है, कि—"पूर्वेद्युवैंश्वानर पार्जन्येष्टिर्बा अग्ने वैश्वानर (२। १६। ४) अभिक्रन्द स्तनय (६)" वैतानसूत्र २। ४॥

धूमकेतुरूप उत्पात दीखने पर पश्चपशुयागके पाजापत्यपशु-पुरोडाशस्थानमें "आग्नेयस्य पाजापत्यस्य त्तीरौदनान्" से विहित

चीरौदनकी ''प्रजापितः सिल्लात्" इस ग्यारहवीं ऋचासे आहुति देय । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—[ 'अथ यत्रैतद्व धूमकेतुः' इसका आरंभ करके कहा है, कि-] "प्रजापतिः सिल-लात् (११) इति प्राजापत्यस्य" इति (कौशिकसूत्र १३ । ३५)।।

''प्राजापत्यां प्रजापश्वन्नकामस्य प्रजान्त्रये च ॥—प्रजा-त्तयमें तथा पजा पशु और अन्न चाहने वालेको भी पाजा-पत्या महाशान्तिको करावे" इस नत्तत्रकल्प १७ से विहित महाशांतिमें ''प्रजापतिः सलिलात्'' ऋचा पढ़नी चाहिये। इसी बातको नत्तत्रकल्पमें कहा है, कि-"प्रजापतिः सलिखाइ इति प्राजापत्यायाम्" ( नत्तत्रकल्प १८ ) ।।

तत्र मथमा ॥

समुत्पंतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वार्त-

जूतानि यन्तु ।

महऋषभस्य नदंतो नमंस्वतो वाश्रा आपंः पृथित्रीं तंर्षयन्तुः।। १ ।।

सम् अद्यातन्तु । प्रअदिशः । नभस्वतीः । सम् । अभ्राणि । वातऽज्तानि । यन्तु ।

महाऽऋषभस्य । नदतः । नभस्त्रतः । वाश्राः । स्त्रापः 🕩 पृथिवीम् । तर्पयन्तु ।। १ ।।

पदिशः प्रकृष्टाः पाच्याचा दिशः नभस्वतीः नभस्वता वायुना युक्ताः सत्यः सम्रत्पतन्तु मेघैः संहता उद्गच्छन्तु । 🕸 नभस्वती-रिति । एकस्य मतुपो लोपो द्रष्टव्यः । "वा छन्दसि" इति पूर्व-

सवर्णदीर्घः श्रि। अभ्राणि । अपो विभ्रति दृष्ट्चर्थम् उदकं धार-यन्तीति उदकपूर्णा मेघा अभ्रशब्देनोच्यन्ते । तानि च वातज्तानि वातेन वायुना मेरितानि भूत्वा सं यन्तु संगच्छन्तां संहतानि भवन्तु ॥ महर्षभस्य महांश्रासौ ऋषभश्र महर्षभः । श्रि "आन्म-हतः" इति आन्वम् श्रि। नदतः ध्वनि कुर्वतः यथा लोके महान् ऋषभः सेचनसमर्थः पुंगवो दप्तः सन् गर्जति तादृगाकारयुक्तस्य गर्जतो नभस्त्रतः वायुपेरितस्य मेघस्य संवन्धिन्य आपः वाश्राः शब्दायमानाः पृथित्रीम् भूमि तर्पयन्तु त्राम् ओषधिमरोहणसमर्थां कुर्वन्तु । श्रि वाश्रा इति । वाश्र शब्दे । स्फायितश्रीत्यादिना [ उ० २, १३ ] रक् प्रत्ययः श्रि ॥

पूर्व आदि श्रेष्ठ दिशायें वायुसे युक्त होती हुई मेघोंके साथ उदित होवें। दृष्टिके लिये जलको धारण करने वाले मेघ वायुसे मेरित होकर एकत्रित होवें, गर्जना करने वाला महादृषभ जैसे गर्जना करता है इस प्रकार गर्जना करते हुए वायुसे पेरित मेघ के जल शब्द करतेहुए भूमिको तृप्त करें, अर्थात् ओषधिके उत्पन्न

करनेमें समर्थ करें ॥ १॥

द्वितीया ॥

समीचयन्तु तिवाः सुदानवेषां रसा अभिधीिनः

संचन्ताम् ।

वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथंग् जायन्तामोषंघयो

विश्वरूपाः॥ २॥

सम् । ईत्तयन्तु । तविषाः । सुऽदानवः । अपाम् । रसाः ।

श्रोषधीभिः । सचन्ताम् ।

वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम् । पृथक् । जायन्ताम् ।

श्रोपधयः । विश्वऽरूपाः ॥ ३ ॥

तविषाः । महन्नामैतत् । महान्तः सुदानवः शोभनदाना मरुतः समीत्तयन्तु दृष्टिं संदर्शयन्तु । यथा दृष्टिर्भवति तथा अस्मान् अनु-युद्धन्तु इत्यर्थः ॥ अपाम् रृष्ट्युदकानां रसाः श्रोषधीभिः वीहिय-वादिभिः पृथिन्याम् उत्तैर्वीजैः सचन्ताम् समवयन्तु । 🏶 पच सम-वाये 🍪 !! उक्त एवार्थी वित्रियते वर्षस्यति । वर्षस्य दृष्ट्युद्कस्य सर्गाः सुज्यन्त इति सर्गा धाराः । 🕸 कर्मणि घत्र् 🍪 । सूमिम् पृथ्वीं महयन्तु पूजयन्तु । 🕸 मह पूजायाम् 🕸 । वर्षधाराभिरत्तं-कृताइ भूमदेशाद विश्वरूपाः नानाविधा स्रोषधयः त्रीहियवाद्याः पृथक् अवान्तरजातिभेदेन जायन्ताम् उत्पद्यन्ताम् ॥

महान् शोभन दान करने वाले मरुत देवता दृष्टिको दिखावें, तात्पर्य यह है, कि-जिस प्रकार दृष्टि हो तिस प्रकार हमें अनुगृ-हीत करें । दृष्टिके जलोंके रस पृथिवीमें वोयेहुए जौं धान श्रादि के वीजों से मिलें। वर्षाकी धारायें पृथ्वीकी पूजा करें। वर्षाकी धारासे अलंकत भूपदेशसे अनेक प्रकारकी धान जौ आदि औपधें दूसरे अनेक रूपोंको धारण कर उत्पन्न होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

समीचयस्व गायंतो नभीस्यपां वेगीसः पृथगुद् विंजन्ताम् । वर्षस्य सगी महयन्तु भूमिं पृथंग् जायन्तां वीरुधी विश्वरूपाः ॥ ३॥

# ( ४१२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सम् । ईत्तयस्व । गायतः । नभांसि । अपाम् । वेगासः । पृथक् । उत् । विजन्ताम् ।

वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम् । पृथक् । जायन्ताम् । वीरुधंः ।

विश्वऽरूपाः ॥ ३ ॥

हे मरुद्रण त्वं गायतः स्तुवतः श्रस्मान् नभांसि अभ्राणि समी-त्तयस्व दर्शय ॥ अपां वेगासः वेगाः वेगयुक्ताः प्रवाहाः पृथक् भेदेन उद्ग विजन्ताम् उच्चलन्तु। अश्रोविजी भयचलनयोः अश्र ॥ उत्तरार्धर्चः पूर्ववत् । अरेपधीनां स्थाने वीरुध इति विशेषः । वीरुधः विरोहणशीला अर्एया अरेषधिवनस्पतयः ॥

हे मरुत देवताओं ! हम आपकी स्तुति कर रहे हैं अतः आप जलपूर्ण मेघोंका हमें दर्शन कराइये । जलोंके प्रवाहवाले वेग अलग अलग चलें । वर्षाके प्रवाह भूमिकी पूजा करें, और वर्षाकी धारोंसे अलंकृत पृथिवीसे औषधियें अनेक रूप धारण कर उत्पन्न होवें३

चतुर्थी ॥

गणास्त्वोपं गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणुः पृथंक्। सगी वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनुं ॥ ४ ॥

गुणाः । त्वा । उप । गायन्तु । मारुताः । पूर्जन्य । घोषिणः । पृथक् । सर्गाः । वर्षस्य । वर्षतः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अर्नु ।। ४ ॥

हे पर्जन्य दृष्ट्यभिमानिन् देव त्वा त्वां घोषिणः गर्जनघोषयुक्ता मारुताः मरुत्संबन्धिनो गणाः उप गायन्तु उपश्लोकयन्तु ॥ वर्ष-स्य दृष्टिजलस्य पृथक् नानात्वेन सर्गाः सञ्यमानाः वर्षन्तः सिश्चन्तो विन्दवः पृथिवीम् अनु वर्षन्तु अनुगतम् त्रार्द्रीकुर्वन्तु ॥ हे दृष्टिके अभिमानी पर्जन्यदेव ! गर्जना करने वाले परुद्रण आपकी स्तुति करें । वर्षाके अनेकरूपके वरसते हुए जलविन्दु पृथिवीको गीली करें ॥ ४ ॥

पश्चमी

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अकी नभ् उत् पातयाथ महऋषभस्य नदंतो नभस्वता वाश्रा आपः पृथिवीं

त्तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

उत्। ईरयत । मरुतः । समुद्रतः । त्वेषः । अर्कः । नभः । उत्। पात्याथ।

महाऽऋषभस्य। नद्तः। नभस्यतः। बाश्राः। स्रापः। पृथिवीम्।

तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

हे मरुतः समुद्रमध्याद् उदीरयत दृष्टिजलम् उद्धे पेर-यत ।। त्वेषः दीप्तिमत् अर्कः अर्चनसाधनम् उदकम् तद्युक्तं नभः अश्वम् उत् पातयाथ उद्गमयत ।। महर्षभस्येत्यादि ज्याख्यातम्।।

हे मस्त् देवतात्रों ! तुम समुद्रमेंसे दृष्टिके जलको जपरको मेरित करो, दीप्तिमय पूजाके साधन जलसे युक्त मेघको जपरको मेरित करो, महादृषभकी समान गर्जना करते हुए जलके प्रवाह भूमिको तृप्त करें ।। ४ ।।

षष्टी ॥

अभि कन्द स्तुनयादियोद्धिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्कि ।

त्वयां सृष्टंबहुलमेतु वृषमाशारेषी कृशगुरेत्वस्तम् । ६।

### ( ४१४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

श्रमि । क्रन्द् । स्तनय । श्रद्यं । उद्विधम् । श्र्मिम् । पर्जन्य । पर्यसा । सम् । श्रिङ्घ ।

त्वयो । सृष्टम् । बहुलम् । आ । एतु । वर्षम् । आशारऽएषी । कृशऽग्रः । एतु । अस्तम् ॥ ६ ॥

हे पर्जन्य अभि क्रन्द अभितः शब्दं कुरु । स्तनय मेघान् गवि-रय घोषय । उद्धिम् जलिधम् अर्दय उदकादानेन पीडय । पयसा रष्टेन उदकेन भूमिं समङ्धि समक्तां सिसक्तां कुरु ॥ त्वया स्रष्टम् मेरितं बहुलम् सान्द्रं वर्षम् वर्षणसमर्थम् अश्रम् ऐतु आगच्छतु ॥ आसारैषी । आसारो धारासंपातः तिमच्छतीति आसारैषी सूर्यः कृशगुः कृशाः तन्कृता गावो रश्मयो यस्य तथाविधः सन् अस्तम् एतु अदर्शनं मामोतु । "दिवा चित् तमः कृण्यन्ति पर्जन्येनोदवा-हेन" [ ऋ० १.३८. ६ ] इति हि मन्त्रान्तरम् ॥

हे पर्जन्य ! आप चारों श्रोरसे शब्द करिये । मेघोंमें प्रवेश कर घोषणा करिये, जलको लेनेसे समुद्रको पीड़ित करिये । आप से प्रेरित दृष्टि जलपूर्ण बादलको लावे । धारासम्पातको चाहने वाले सूर्यदेव सूच्म किरणोंवाले होतेहुए अदर्शनको प्राप्त होजावें सप्तमी ।।

सं वेविन्तु सुदानेव उत्सो अजगरा उत । मुरुद्धिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनुं ॥ ७ ॥

सम् । वः । अवन्तु । सुऽदानवः । उत्साः । अजगराः । उत् । मस्त्ऽभिः । मऽच्युताः । मेघाः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥७॥

सुदानवः शोभनदाना मकतः हे जना वः युष्मान् सम् अवन्तु

संतर्पयन्तु । श्रजगरा उत । उतशब्दोत्र वितर्के । श्रजगरात्मना वित-वर्षमानाः स्थूला उत्साः वारिप्रवाहाः । उत्पद्यन्ताम् इत्यर्थः । यद्वा हे सुदानवः वः युष्माकं संवन्धिनः उक्तलक्षणा उत्साः समवन्तु संतर्पयन्तु इति एकवाक्यता ।। ईदृशानाम् उत्सानाम् उत्पत्तिः कथं सेत्स्यतीत्यत्राह महद्धिरिति । महद्भिः वायुविशेषैः प्रच्युताः स्व-स्थानात् पेरिता मेघाः पृथियीम् श्रनु वर्षन्तु ।।

हे मनुष्यों ! शोभनदानसम्पन्न मक्त्देवता आपको तप्त करें, अजगरसे स्थूल जलके प्रवाह प्रकट हों वायुके द्वारा अपने स्थानसे प्रेरित सेघ पृथिवी पर वरसें ॥ ७॥

ऋष्टमी ॥

आशामाशां वि द्याततां वातां वानत दिशोदिशः। मरुक्तिः प्रच्युंता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनुं ॥=॥

आशाम्ऽत्राशाम्। वि। द्योतताम्। वाताः। वान्तु। दिशःऽदिशः।

मरुत्ऽभिः । प्रऽच्युताः । मेघाः । सम् । यन्तु । पृथिवीम् । अनु दः

त्राशामाशाम् दिशंदिशम् त्राश्रित्य विद्युद्ध वि द्योततां स्फुरतु ॥ दिशोदिशः सर्वस्या त्र्रपि दिशो वाता वान्तु मेघस्य उद्गमयितारो वायवः संचरन्तु । यद्वा दिशोदिश इति द्वितीया । सर्वा त्र्रपि दिशः प्राप्य वायवो वान्तु ॥ तदनन्तरं [ मरुद्धिः प्रच्युताः ] वायुपेरिता मेघाः पृथिवीम् भूमिम् त्र्रमुत्तद्य सं यन्तु संगता भवन्तु । दृष्टचर्थं संहन्यन्ताम् इत्यर्थः ॥

प्रत्येक दिशामें विजली चमके, प्रत्येक दिशामें मेघको लाने वाली वायु चले, तदनन्तर वायुसे प्रेरित मेघ पृथिवीकी आर लच्य कर एकत्रित होवें।। ८॥

#### नवमी।।

आपो विद्युद्धं वर्षं सं वीवन्तु सुदानव उत्सा अज-गरा उत ।

मुरुद्धिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनुं ॥ ६ ॥

श्चापः । विऽधुत् । अभ्रम् । वर्षम् । सम् । वः । अवन्तु ।

सुऽदानवः । उत्साः । अजगुराः । उत् ।

मुरुत्ऽभिः । प्रडच्युता । मेघाः । प । अवन्तु । पृथिवीम् । अनु ह

हे सुदानवः शोभनदाना महतः वः युष्माकं संबंधिनः अवादि-पदार्थाः समवन्तु जगत् संतर्पयन्तु । आपो मेघस्थानि उदकानि । विद्युत् सौदामिनी । अश्वम् उदकपूर्णो मेघः । वर्षम् दृष्टिजलम् ॥ अजगरसमानाकाराः उत्साः वारिपवाहाश्च युष्मत्संवन्धिनः संतर्प-यन्तु । लोकम् इत्यर्थः । तदर्थं महद्भिः प्रच्युताः प्रेरिता मेघाः पृथिवीम् अनु सावन्तु पावन्तु । अ "उपसर्गस्यायतौ" इति विधीय-मानं लत्वं व्यत्ययेन अत्रापि भवति अ ॥

हे सुन्दर दान देने वाले मरुतदेवताओं ! मेघोंमें स्थित जल, विजली, जलपूर्ण मेघ, वर्षाका जल, और अजगरकी समान आकार वाले तुम्हारे जल प्रवाह जगतको तृप्त करें । इस कार्यके लिये महतोंसे पेरित मेघ पृथिवीको सावित करें । ६ ॥ दशमी।।

अपामिस्तन् भिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बस्व स नो वर्ष वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो असृतं

दिवस्पीरं ॥ १० ॥

अपाम् । अप्रिः । तुन्भिः । सम् अविदानः । यः । अरोपधीनाम् ।

श्रिधिऽपाः । बभूव ।

सः । नः । वर्षम् । वद्धताम् । जातऽवेदाः । प्राणम् । प्रऽजाभ्यः ।

अमृतम् । दिवः । परि ॥ १० ॥

श्रपाम् मेघस्थानां तन्भाः शरीरः संविदानः ऐकमत्यं गतो यो वैद्युताग्निः श्रोपधीनाम् उत्पत्स्यमानाम् श्रिष्पा बभूव श्रिष्ठ-पतिः ईश्वरो भवति । जातवेदाः जातानां वेदिता सः श्राग्नः नः श्रम्मभ्यं वर्षे वनुताम् प्रयच्छतु । कीदृशं वर्षम् । प्रजाभ्यः । श्रिष्ठचर्थे चतुर्थी श्रि । प्रजानां प्राणम् जीवनपदं [ दिवस्पिर ] दिवः संबन्धि श्रमृतम् श्रमृतत्वप्रापकम् । यद्वा दिवः द्युलोकाद्वः श्रम्तिरत्ताद्व वनुताम् इति संबन्धः ।।

मेघोंके शरीररूप जलोंसे एकमत हुए वैद्युताग्नि उत्पन्न होने वाली ख्रोषिथयोंके स्वामी होते हैं, उत्पन्न होने वालोंको जानने वाले वह अग्नि हमें प्राणियोंमें जीवन लानेवाली ख्रोर स्वर्गके अमृतको प्राप्त कराने वाली वर्षा दें ॥ १०॥

#### एकादशी ॥

प्रजापितः सिल्लादा संसुदादाप ईरयन्नुद्धिमर्दयाति प्र प्यायता वृष्णो अश्वस्य रेतोर्वाङ्तेन स्तनायत्नु-नेहि ॥ ११ ॥

मुजाऽपतिः । सृत्तितात् । स्रा । समुद्रात् । स्रापः । ईरयन् । उद्-ऽधिम् । श्रद्रयाति ।

# ( ४१८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

म। प्यायताम्। रूष्णः। अश्वस्य। रेतः। अर्वाङ्। एतेन । स्तुन्यित्तुना । आ। इहि ॥ ११॥

प्रजापितः प्रजानां पालियता दृष्टिपदः संवत्सरात्मकः सूर्यः सिलिलात् । अ पल गतौ इत्यस्माद्ध इलच् प्रत्ययः अ । व्यापन्त्रीलात् समुद्राद्ध आपः । अ व्यत्ययेन जस् अ । आपः उद्वन्त्रानि आ समन्तात् ईरयन् दृष्ट्यर्थं प्ररेयन् उद्धिम् जलिधम् आर्द्र-याति आर्द्रयतु रिश्मिभरादानेन पीडयतु । अ आर्द्रयतेर्लेटि आडान्ग्रासः अ । विष्णोः व्यापनशीलस्य अश्वस्य अश्ववद्ध वेगवतो मेघस्य रेतः दृष्ट्यपादानभूतं वीर्यं प प्यायताम् प्रवर्धताम् । एतेन प्रद्रद्वीर्येण स्तनियत्नुना मेघेन हे पर्जन्य त्वम् आर्वाङ् अस्मदिभ-मुखः सन् एहि आगच्छ ॥

प्रजाओं का पालन करने वाले दृष्टिदायक सम्बत्सरात्मक सूर्य-देव व्यापनशील समुद्ररूप जलसे जलों को दृष्टिके लिये पेरित करें अर्थात् अपनी किरणों से जल लेकर समुद्रको पीड़ित करें। व्यापनशील, अश्वकी समान वेगवान मेघका दृष्टिसंबंधी उपा-दानरूप वीर्य बढ़े। इस बढ़े हुए वीर्य वाले गरजते हुए मेघके साथ हे पर्जन्य! आप हमारे अभिमुख होकर आइये।। ११।।

द्वादशी ॥

अयो निष्टिश्वन्नसुरः पिता नः स्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज ।

वदंन्तु पृक्षिबाहवो मृग्डूका इरिणानुं ॥ १२ ॥

अपः । निऽसिश्चन् । असुरः । पिता । नः । श्वसन्तु । गर्गराः ।

श्रपाम् । वरुण । श्रव । नीचीः । श्रपः । सृज ।

वदन्तु । पृक्षिऽवाहवः । मएडूकाः । इरिएगा । अनु ॥ १२ ॥

असुरः मेघानां क्षेप्ता । यद्दा असवः प्राणाः । तान् रातीत्य-सुरः । वृष्टिजलेन प्राणपद इत्यर्थः । "श्रापोमयः प्राणः" इति हि ब्राह्मणम् [ छा० ६. ५. ४ ]। एवं भूतो नः अस्माकं पिता उत्पादियता सूर्यः अपः निषिश्चन् दृष्ट्युदकानि न्यग्भावेन सिश्चन्। वर्तताम् इत्यर्थः । श्रयते हि । "यदा खलु [ वा ] असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" इति [तै०सं०२.४. १० .२] ॥ ततश्च श्रपाम् उदकानां गर्गराः । श्रतुकरणशब्दोयम् । ईद्दम्ध्वनि-युक्ताः प्रवाहाः श्वसन्तु उच्छ्वसिता भवन्तु ॥ हे वरुण त्वमपि अवनीचीः अवनि भूमिम् अञ्चन्ति गच्छन्तीत्यवनीच्य आपः। ॐ श्रवनिशब्दोपपदाद् श्रश्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना विवन् । "अनिदिताम्॰" इति नलोपः। "अञ्चतेश्रोपसंख्यानम्" इति ङीप्। "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् 🛞। भूमिं पाप्नुवतीरपः अप सज मेघेभ्यः अपगमय।। अनन्तरं पृक्षि-बाहवः श्वेतवाहवो मण्डूकाः इरिणातु । इरिणशब्दो निस्तृणभूव-चनः । अ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः अ । इरिणानि अनुपाप्य दृष्टिजलोन लब्धपाणाः सन्तः वदन्तु शब्दं कुर्वन्तु ॥

असुआंको अर्थात प्राणोंको दृष्टिका जल देकर देने वाले असुर हमारे उत्पादक सूर्यदेव वर्षाके जलोंको तिरछे भावसे वरसावें । उस समय जलोंके गरगर करते हुए प्रवाह चलें । हे वरुणदेव ! आप भी भूमि पर आने वाले जलोंको मेघोंसे अलग करिये । तदनन्तर श्वेत अजा वाले मणडूक तृणरहित भूमिमें दृष्टि-के जलसे जीवन पाकर शब्द करें ।। १२ ।।

त्रयोदशी ॥

संवत्सरं शंशयाना बाह्यणा व्रतचारिणः।

### ( ४२० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

वाचं पूर्जन्यजिन्वितां प्र म्यदूकां अवादिषुः ॥१३॥

सम्ऽवत्सरम् । शशयानाः । ब्राह्मणाः । व्रतऽचारिणः ।

वाचम् । पर्जन्यं अनिवताम् । म । मएडूकाः । अवादिषुः ॥१३॥

वर्तं नियमिवशेषं चरित अनुतिष्ठन्तीति वर्तचारिणः। लुप्तो-पमम् एतत्। वर्तचारिणो व्राह्मणा इव संवत्सरं शशयानाः संवत्सरकालपर्यन्तं वातातपाभ्यां शुष्काः श्यानाः संवत्सरान्ते दृष्टिजलोन लब्धसंज्ञा मण्डूकाः पर्जन्यजिन्विताम् पर्जन्यपीतां वाचम् अवादिषुः अवोचन् । पर्जन्यपीतिकरं घोषं कृतवन्त इत्यर्थः। अ वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तृष्टाव । तं मण्डूका अन्व-मोदन्त । स मण्डूकान् अनुमोदमानान् दृष्टा तृष्टाव [नि० ६. ६] इत्यादि निरुक्तम् अत्र अनुसंधेयम् अ ॥

नियमोंका पालन करने वाले व्रतचारी ब्राह्मणोंकी समान वर्ष भर तक वायु और धूपसे फुलस कर सोते हुए और सम्वत्सर के अन्तमें दृष्टिके जलसे चैतन्य पाने वाले मण्डूक मेघोंसे प्रसन्नता भरी वाणी वोलें + ॥ १३॥

चतुर्दशी ॥

उपप्रवंद मगदूिक वृषमा वंद तादुरि । मध्ये हृदस्यं अवस्व विगृह्यं चतुरंः पदः ॥ १४ ॥

+ इस विषयमें "विसष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव । तंमएड्का अन्वमोदन्त । स मएड्कान् अनुमोदमानान् दृष्टा तुष्टाव ॥ अर्थात् वर्षा चाहने वाले विसष्टजीने पर्जन्यकी स्तुतिकी । मएड्कोंने उस का अनुमोदन किया वह मएड्कोंको अनुमोदन करते देख सन्तुष्ट हुआ" ( निरुक्त ६ । ६ ) का यहाँ अनुसंधान करना चाहिये ॥

उप अपवद । मुराडूकि । वर्षम् । आ । वद् । तादुरि ।

मध्ये । हदस्य । स्रवस्व । विऽगृह्य । चतुरः । पदः ॥ १४ ॥

हे मण्डूिक त्वं हर्षम् उपेत्य प्रवद प्रकृष्टं घोषं कुरु । हे तादुरि । तदुरस्य अपत्यं स्त्री तादुरी । हे तादिशा वर्षम् दृष्टिम् आ वद आभाषय । यादृशेन त्वद्घोषेण दृष्टिजीयते तादृशं शब्दं कुर्वि-त्यर्थः ।। दृष्टिजलेन हृदे पूर्णे सित तस्य हृदस्य मध्ये चतुरः पदः आत्मीयान् चतुःसंख्याकान् पादान् विगृह्य स्वनानुगुणं प्रसार्य स्वस्व प्रतर् । स्वनेन यथेच्छं विहरेत्यर्थः ॥

हे मण्डूिक ! तू हर्षमें भर कर वेगसे शब्द कर, हे तादुरि! तू वर्षासे भाषण कर अर्थात् तेरे जैसे घोषसे वर्षा होती है तैसा शब्द कर । दृष्टिके जलसे सरोवरके पूर्ण होने पर उस सरोवरमें अपने चारों पेरोंको फैला कर तैरु ॥ १४ ॥

पश्चदशी ॥

ख्यव्या ३इ खेम्खा ३इ मध्ये तद्रि ।

वर्ष वंतुष्वं पितरो मरुतां मनं इच्छत ॥ १५ ॥

खरव्या ३ई। वैमुखा ३ई। मध्ये। तुदुरि।

वर्षम् । वनुध्वम् । पितरः । मरुताम् । मनः । इच्छत् ॥ १५ ॥

खणवला पैमला तदुरी इति मण्डूकस्त्रीजातेः संज्ञाविशेषाः ।
हे लणवले [हे] पैमले हे तदुरि इति तिस्नः संबोध्यन्ते ।
क्षि "एचोप्रगृह्यस्यादूराद्धृते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ" इति
विगृह्य अवर्णस्य प्लुतः क्षि । हे तत्संज्ञा हे मण्डूक्यः हृदस्य मध्ये
वर्तमाना यूयं युष्मदीयेन घोषेण वर्षम् दृष्टिं वनुभवम् प्रयच्छत ।
हे पितरः पालियतारो मण्डूकाः [मारुतम्] महत्संबिन्ध दृष्ट्यभिम्नुखं मनः इच्छत घोषेण वशीकुरुत ।।

# ( ४२२ ) अथर्ववेदसंहितासभाष्य-भाषानुवादसहित

ख्यव्या पैमला श्रीर तदुरी यह मेंडकोंकी स्त्रीजातिके नाम-विशेष हैं। उन तीनोंको सम्बोधित करके कहते हैं, कि-हे ख्यव्ये ! हे पैमले श्रीर हे तदुरि ! तुम सरोवरमें जाकर अपने घोपसे दृष्टि को दो। हे पालन करने वाले मण्डूकों! तुम मरुत्देवताश्रोंके दृष्टि करनेको उद्यत मनको घोषसे वशमें करो।। १४।। षोडशी।।

महान्तं कोश्मुदंचाभि विश्व सविद्युतं भेवतु वातु वातः। तन्वती यज्ञं बंहुधा विसृष्टा आन्निद्नीरोषधयो भवन्तु॥

महान्तम् । कोशम् । उत् । अच । अभि । सिश्च । सऽविद्युतम् । भवतु । वातु । वातः ।

तन्वताम्।यज्ञम्।बहुऽधा।विऽस्रष्टाः।त्राऽनन्दिनीः।त्रोषधयः। भवन्तु ॥ १६॥

महान्तम् अधिकं कोशम् । मेघनामैतत् । मेघम् हे पर्जन्य त्वम् उदच समुद्राइ उदकपूर्णम् उद्धरः । अ अञ्च गतौ इत्यस्य एतद्ध रूपम् अ । तेन मेघेन अभि पिश्च सर्वो भूमिम् अभितः सिक्तां कुरु । तदर्थं तं मेघं सिवद्युतम् विद्युत्सिहितं कुरु । ततो दृष्टिर्भवतु । यद्धा सिवद्युतम् । अ लुगभावश्कान्दसः अ । सिवद्युत् विद्युत्सिहितम् अन्तिरत्तं भवतु । वातः वायुः दृष्ट्यमुक्त्लं वातु संचरतु । बहुधा बहुपकारं विसृष्टाः दृष्ट्या मेरिता आपः यद्गं तन्वताम् विस्तारयन्तु । यद्गादिक्रियाहेतवो भवन्तु इत्यर्थः । ओषधयः व्रीहियाद्या ग्राम्याः आरएयास्तरुण्याद्याः आनिन्दनीः दृष्टिजलोन हर्षयुक्ता भवन्तु ॥

[ इति ] पश्चमं सक्तम् ॥ इति अथर्ववेदार्थमकाशे चतुर्थकारुडे तृतीयोनुवाकः ॥

हे पर्जन्य ! तुम समुद्रसे जलपूर्ण वड़े भारी मेघको लात्रो और उस मेघके द्वारा सारी भूमिको चारों श्रोरसे सींचो । श्रन्तरिच विजलीसे संयुक्त होवे, वायु दृष्टिके अनुकूल होकर चले। अनेक पकारसे पेरित जल यज्ञक्रियाको विस्तृत करने वाले हों। धान जौ त्रादि ग्रामकी औषधियें तथा दृत्त लता त्रादि वनकी औष-धियें दृष्टिके जल हर्षमें भर जावें ॥ १६ ॥

चतुर्धं काण्डके तृतीय अनुवाकमं पश्चम स्क समाप्त (११७)॥ तीसरा अनुवाक समाप्त

चतुर्थेनुवाके पश्च सूक्तानि । तत्र "बृहन्नेषाम्" इति आद्येन स्रुक्तेन अभिचारकर्पणि शत्रुं क्रोशन्तम् अनुत्रूयात् [को०६. २ ] ।। भूमकेतृत्पातशान्तौ वारुणपशुपयोगे "उतेयं भूमिः" [३] इत्येषा [ कौ० १३. ३५ ] ।।

चौथे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें 'बृहन्नेषां' इस प्रथम स्क्रिसे अभिचारकर्ममें बुरा चाहने वाले शत्रुसे भाषण करें (कौशिक-सूत्र ६ । २ ) ।। धूमकेतुरूप उत्पातकी शान्तिके वारुणपशुप्रयोगमें उतेयं भूमिः इस तीसरी ऋचाका विनियोग होता है (कौशिक-सूत्र १३। ३४)।।

तत्र प्रथमा ॥

बृहन्नेषामिष्ठाता अनितकादिव पश्यति । यस्तायन्मन्यते चरन्त्सवै देवा इदं विदुः ॥ १ ॥ बृहन् । एषाम् । अधिऽस्थाता । अन्तिकात्ऽइव । पश्यति ।

यः । तायत् । मन्यते । चरन् । सर्वम् । देवाः । इदम् । विदुः १

बृहन् महान् परिवृढो वा वरुणः एषाम् दुरात्मनां शत्रूणाम्

## ( ४२४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

श्रिषष्ठाता नियन्ता सन् तैः कृतं सर्वम् श्रन्याय्यम् श्रन्तिकादित्र पश्यित समीपदेशादित्र जानाति । न तस्य व्यवधायकं किंचिद्व श्रम्तीत्यर्थः । यो वरुणः तायत् सांतत्येन वर्तमानं स्थिरवस्तु चरत् चरणशीलं नश्वरं च वस्तु मन्यते । स्थावरजङ्गमात्मकं सर्वं जगज्जानातीत्यर्थः । स बृहन् इति संबन्धः । क्ष तायत् इति । तायृ संतानपालनयोः श्रम्मात् लटः शत्रादेशः क्ष । ईदृश्विधज्ञानसद्भातं वरुणस्य उपपादयित सर्वम् इति । व्यवहितं विषकृष्टं स्थिरं नश्वरं स्थूलं सूचमम् इति एतादृग् इदं सर्वम् श्रितरोहितज्ञानत्वाद् देवाः विदुः जानन्ति । क्ष विद ज्ञाने । "विदो लटो वा" इति भेः उस् श्रादेशः क्ष ॥

जो वरुणदेव सर्वदा वर्तमान स्थिर वस्तुत्रोंको और चरण्याल विनाशवान वस्तुत्रोंको जानते हैं अर्थात् स्थावरजंगमरूप सव वस्तुत्रोंको जानते हैं, वह महत्त्वमय वरुणदेव इन दुरात्मा शत्रुत्रोंके नियन्ता है अतः उनके किये हुए अन्यायको समीपकी समानसे ही देखते हैं अर्थात् उनसे कुछ छिपा हुआ नहीं रहता रहता है। (इसका कारण यह है, कि—) दूरके भी स्थूल सूचम सब दृत्तान्तोंको देवता अतीन्द्रिय ज्ञान वाले होनेसे जानते हैं।।१।।

द्वितीया ॥

यस्तिष्ठति चराति यश्च वर्षाति यो निलायं चरति यः प्रतिक्षेम् ।

द्धौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद् वरुणस्तृतीयः २ यः । तिष्ठति । चरति । यः । च । वञ्चति । यः । निऽलायन् ।

चरति । यः । प्रतङ्कम् ।

द्दौ । सम्अनिपद्य । यत् । मन्त्रयेते इति । राजा । तत् । वेद ।

वरुणः । तृतीयः ॥ २ ॥

पूर्वस्याम् ऋचि एषाम् इत्युक्तम् । तत्र इदमा के पुनः प्रति-निर्दिश्यनत इति तान् निर्दिशति यस्तिष्ठतीति पूर्वार्येन । यः शत्रु-स्तिष्ठति अभिमुखम् अवितष्ठते यश्चरति गच्छति यश्च वश्चति कौटि-ल्येन प्रतारयति यः शत्रुः निलायम् निलयनेन अनिर्गमनेन चरति। यद्दा निलीनः अदृश्यः सन् चरति । अ अयतेर्निस्पूर्वात् एमुल् । निपूर्वात् लीयतेर्वा । उभयथापि समानोर्थः । "उपसर्गस्यायतौं" इति लत्वम् 🛞 । यः शत्रुः पतङ्कम् पकर्षेण कुच्छ्रजीवनं पाष्य चरति वर्तते । अ तिक कुच्छ्रजीवने । अस्मात् प्रपूर्वात् एम्रल् अ। एषां शत्रुणाम् इति पूर्वेण संबन्धः ॥ श्रन्तिकादिव पश्यतीति यद् उक्तं तद्ि समर्थयते द्वी संनिषद्येत्युत्तरार्धेन । द्वी पुरुषी रहिस संनिषद्य उपित्रय यत् कार्यं मन्त्रयेते गुप्तं भाषेते । 🛞 मित्र गुप्त-भाषणे इति धातुः 🛞 । तयोगु प्तं भाषमाणयोः तृतीयः त्रित्त्र-संख्यापूरकः सन्राजा ईश्वरो वरुणः स्वसार्वद्रयेन तत् सर्वे वेद । जानातीत्यर्थः । ततश्च अकार्यचिन्तावसर एव तान् निप्रहीतुं वरुणः शक्रोतीत्यर्थः । 🕸 ''त्रेः संप्रसारणं च'' इति . पूरणार्थे तीयप्रत्ययः संप्रसारणं च 🕸 ॥

जो शत्रु हमारे सामने घूमता है, जो छलसे हमें ठगता है, जो शत्रु अदृश्यभावसे घूमता है और जो शत्रु कठिनतासे जीवन विताता हुआ घूमता है उनको और जो दो पुरुष एकान्तमें बैठकर गुप्त भाषण करते हैं उनमें तीन संख्या पूर्ण करते हुए राजा वरुणदेव उनको सर्वज्ञ होनेसे जानते हैं अत एव अकार्यकी चिन्ता करनेके अवसर पर ही वरुणदेव उनको दगड देसकते हैं।। २!। तृतीया ॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञं उतासी द्योर्बृहती दूरेश्रन्ता। उतो संमुदी वरुणस्य कुची उतास्मिन्नल्पं उद्के

निलीनः ॥ ३ ॥

उत । इयम् । भूमिः । वर्रणस्य । राज्ञः । उत । असौ । चौः ।

बृहती । दूरेऽश्रन्ता ।

उतो इति। समुद्रौ । वरुणस्य । कुत्ती इति । उत। ऋस्मिन् । अल्पे। उद्के।

निऽलीनः ॥ ३ ॥

उत्तराब्दः अप्यर्थे । इयं सर्वाधिष्ठानत्वेन निहिता भूमिरिप राज्ञः ईश्वरस्य दुष्टनिग्रहे अधिकृतस्य वरुणस्य वशे वर्तते ॥ उत अपि च असौ विभक्ठष्टा बृहती महती दूरेअन्ता दूरे विभक्ठष्टे देशे अन्ते अन्तिके च भनतीति दूरेअन्ता । यत एवं व्याप्य वर्तते अतो बृहती तीति भावः । एवं रूपा द्यौभ वरुणस्य राज्ञो वशे वर्तते । बृहती दूरेअन्तेति विशेषणद्वयं भूम्या अपि योज्यम् । अत एव दूरेअन्ते इति द्यावापृथिव्योन्शिस पठितम् [ निघ० ३. ३० ] ॥ उतो अपि च समुद्रौ पूर्वपश्चिमौ वरुणस्य राज्ञः कुत्ती दिन्नणोत्तरपार्श्वभेदेन अवस्थिते द्वे उदरे । एवं भूम्यादिकं कृतस्तं जगद्ग व्याप्य वर्तमानोपि अस्मन अल्पेपि उदके तटाकह्दादिगते निलीनः अन्तिहितो भवति

यह सबके अधिष्ठानरूपसे स्थापित पृथ्वी भी दुर्होंको दएड देनेके काम पर नियुक्त राजा वरुएके वशमें रहती है और यह दूरके तथा पासके देशमें भी मिलने वाली बृहत् यो राजा वरुए के वशमें है और पूर्व तथा पश्चिमके दोनों समुद्र भी राजा वरुए के दित्तिए और उत्तरके पार्श्वरूपसे स्थित हैं। इसमकार भूमि आदि सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर वर्तमान वरुणदेव इस तालाव आदिके थोड़ेसे जलमें भी हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत यो द्यामंतिसपीत् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञेः ।

दिवः स्पशः प्र चंरन्तीदमंस्य सहस्राचा अति पश्य-िन्त भूमिम् ॥ ४ ॥

उत । यः । द्याम् । अतिऽसर्पात् । परस्तात् । न । सः । मुच्याते । वरुणस्य । राज्ञः ।

दिवः । स्पशः । म । चरन्ति । इदम् । अस्य । सहस्रऽश्रदाः । श्चिति । पश्यन्ति । भूमिम् ॥ ४ ॥

उत अपि च यः शतुः अनर्थकारी अस्माकं पुरस्तात् द्याम् अन्तरित्तपदेशम् अतिसर्पोद् अतिक्रम्य सर्पेद् गच्छेत् । यदा सुकृत-माप्यं द्यां स्वर्गम् अतिक्रम्य अपथे पवर्तेतेत्यर्थः।स शत्रः वरुणस्य राज्ञः पाशेभ्यो न मुच्यातै न मुच्येत । तैर्बद्ध एव वर्तताम् इत्यर्थः। 🛞 मुचेः कर्मणि लेटि आडागमः। "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः 🕸 ॥ कथं द्युलोकस्थो वरुणः मनुष्यकृतम् अपराधं जानातीति तत्राह दिवः स्पश इति । दिवं द्युलोन्निर्गताः अस्य वरुणस्य स्पशः चारा इदं पार्थिवं स्थानं म चरन्ति माप्य संचरन्ति । तेच सहस्राचाः सहस्र-संख्याकैर्दर्शनोपायैयु काः सन्तः भूमिम् अति पश्यन्ति । भूलोक-वृत्तान्तं सर्वम् अतिशयेन सान्नात्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ जो अनर्थकारी शत्रु पुरुयोंसे प्राप्त होने वाले स्वर्गके नियमों

### ( ४२८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

का उल्लिङ्घन कर कुमार्गमें चलता है, वह शत्रु राजा वरुएके पाशों से न छूटे, उनसे बँधा हुआ ही रहे ( द्युलोकमें स्थित वरुएदेव मनुष्योंके किये हुए अपराधोंको कैसे जानसकते हैं, इस शंकाका समाधान यह है, कि—) द्युलोकसे वाहर निकलने वाले वरुएके दृत इस पार्श्विवस्थानमें छूमते हैं, और वे देखनेके सहस्रों उपायों से भूमिके दृत्तान्तको सूच्म रीतिसे देखते हैं ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

सर्वं तद् राजा वरुंणो वि चंष्टे यदंन्त्रा रोदंसी यत् पुरस्तांत् ।

संख्यांता अस्य निमिषो जनांनामुचानिव श्वृधी नि मिनोति तानि ॥ ॥

सर्वम् । तत् । राजां । वरुणः । वि । चृष्टे । यत् । अन्तरा । रोदसी इति । यत् । पुरस्तात् ।

सम् अल्याताः । अस्य । नि अमिषः । जनानाम् । अञ्चान् अर्चान् अर्चनित् अर्चान् अर्चान् अर्चनित् अर्चान् अर्चान् अर्चान् अर्चान् अर्चान् अर्चान् अर्चनित्

रवश्ची । नि । मिनोति । तानि ॥ ४ ॥

रोदसी अन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये यत् प्राणिजातं वर्तते तथा
पुरस्तात् स्वस्य पुरोभागे तत् प्राणिजातम् अस्ति तत् सर्वं वरुणो
राजा वि चष्टे विशेषेण पश्यति ॥ तस्मात् तेषां जनानाम् प्राणिनां
निमिषः निमेषणव्यापारस्य । उपलक्षणम् एतत् । अक्षिपरिस्पन्दोपलक्षितस्य अस्य साध्वसाधुकर्मणः संख्याता परिमाणियता वरुणः
तानि पापिनां शिक्षाकर्माणि तत्तत्पापानुसारेण नि मिनोतिनिक्षिः
पति । अ द्विष्य पक्षेपणे अ। तत्र दृष्टान्तः । अक्षानिवेति ।

स्वध्नी स्वम् आत्मानं स्वकीयं धनं च हन्तीति कितवः स्वघ्नी। **ॐ तथा च यास्कः। श्विध्नी कितवो भवति स्वं हन्ति** [ नि० २२ ] इति अः । यथा कितवः अत्तान् आत्मनो जयार्थं नित्ति-पति तद्दद्ध इत्यर्थः ॥

द्यावापृथियीके मध्यमें जो पाणी रहते हैं खीर जो खपने सामने माणी रहते हैं, उन सबको राजा वरुण विशेषरूपसे देखते हैं अत एव उन जनोंके नियेपमात्रमें वनने वाले भी सद् असद् कर्मोंकी संख्या करने वाले वरुणदेव उन पापियोंको उनके पापोंके अनु-सार (इस प्रकार ) फेंकते हैं (जिस प्रकार ) अपने धनका नाश करने वाला स्वध्नी † अर्थात् जुआरी फाँसोंको अपनी विजयके लिये फैंकता है ॥ ४ ॥

षष्टी ॥

ये ते पाशां वरुण सप्तसंप्त त्रेधा तिष्ठंनित विषिता रुशंन्तः ।

छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः संत्यवाद्यति तं सृजन्तु ६

ये । ते । पाशाः । वरुण । सप्तऽसप्त । त्रेया । तिष्ठन्ति । विऽसिताः ।

रुशन्तः ।

छिनन्तु । सर्वे । अनृतम् । वदन्तम् । यः । सत्यऽवादी । ऋति । तम् । सृजन्तु ॥ ६ ॥

†निरुक्त ५। २२ में कहा है, कि-"श्वध्नी कितवो भवति स्वं इन्ति ॥-श्वध्नी जुआरी होता है, वह अपने ही धनका नाश करता है":1

हे वरुण ये त्वदीयाः पाशाः सप्तसप्त उत्तममध्यमाधमभेदेन प्रत्येकं सप्तसंख्याकाः त्रेधा त्रिप्रकारं विसिताः तत्रतत्र पापिनां निग्रहाय जालवद्द बद्धाः। एतच त्रैविध्यम् "उदुत्तमं वरुण" [ ऋ० १. २४. १५ ] इति मन्त्रान्तराद्प्यवसितम् । रुपन्तः तत्तत्पापानु-सारेण पापिष्ठान् हिंसन्तस्तिष्ठन्ति सर्वे ते पाशाः अनृतं वदन्तम् पापकृतम् अस्मदीयं शत्रुं छिनन्तु छिन्दन्तु । यस्तु सत्यवादी सत्य-वदनशीलः पुण्यकृत् तम् अति सजन्तु विसुश्चन्तु ॥

हे वरुणदेव! आप जो उत्तम मध्यम और अधम इस प्रकार तीन भेदसे विभक्त सात सात पाश पापियोंका निग्रह करनेके लिये जहाँ तहाँ जालकी समान फैले हुए हैं, ने पापियोंका पापके अलु-सार हिंसन करनेवाले सब पाश हमारे शत्रु ऋँ ठ बोलनेवाले पापी को छेदें और जो सत्यभाषी पुण्यात्मा हो उसको छोड़दें॥ ६॥

सप्तमी ॥

शतेन पाशैर्मि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृत्वाङ् नंचचः ।

आस्तां जालम उद्दं श्रंशियत्वा कोशं इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७॥

श्रातेन । पाशैः । अभि । धेहि । वहण । एनम् । मा । ते । मोचि । अनुत्रवाक् । नुष्टचत्तः ।

श्चास्ताम् । जाल्मः । उदरम् । श्रृंशयित्वा । कोशःऽइव । श्रवन्धः ।

परिऽकृत्यगानः ॥ ७ ॥

हे वरुण शतेन शतसंख्याकैस्त्वदीयैः पाशैः एनम् अनृतवादिनं

( ४३१ )

शत्रुम् अभि धेहि वधान । वद्ध्वा निग्रहाणेत्यर्थः । अभिपूर्वी दधातिर्वन्धने वर्तते यथा "अश्वाभिधानीम् आ दत्ते" [ तै० सं० ५. १. २. १ ] इति । हे तृचत्तः तृणां मनुष्याणां साध्वसाधुच-रित्राणां विवेकेन द्रष्टः । अ चित्रङः असुन्ति "असनयोश्र" इति इति ख्याबादेशाभावः अ । ईदृश हे वहण अतृतवाक् अतृतं व्रुवन् पुरुषः ते त्वत्तः [मा] मोचि विस्रुक्तो विस्रुष्टो मा भूत् । किं तु जाल्मः असमीच्यकारी स्वकीयम् उदरं संस्थित्वा जलोदर्रोगेण सस्तं कृत्वा अवन्धः वन्धरहितः मान्तेषु अकृतवन्धनः असेः कोश इव परिकृत्यमानः आस्ताम् त्वत्पाशवद् एव वर्तनाम् । अत एव अन्यत्राम्नातम् । "अतृते खलु वे क्रियमाणे वहणो गृह्णाति" [ तै० ब्रा० १. ७. २. ६ ] इति । अ परिकृत्यमान इति । कृती छेदने । अस्मात् कर्मणि यक् अ।

है वहण ! अपने सैंकड़ों पाशोंसे आप इस ऋँ ठ बोलने वाले शात्रको बाँधिये और बाँधनेके पीछे दएड दीजिये। हे मनुष्योंके सद् असद् चित्रोंको विवेकदृष्टिसे देखने वाले नृचन्नः वहणदेव! क्रूँठ बोलने वाला पुरुष आपसे न छूटे, किन्तु विना विचारे कामको करने वाला वह जाल्म, अपने उदरको जलोदररोगसे ध्वंस कर पान्तोंमें न वँधी हुई तल्वारकी म्यानकी समान कटता हुआ ही रहे अर्थात् आपके पाशमें वँधा हुआ ही रहे † ॥७॥

अष्टमी ॥

यः संमाम्योर्ड वरुणो यो व्याम्योर्ड यः संदेश्योर्ड वरुणो यो विदेश्योः ।

† इसी कारण अन्यत्र कहा है, कि—"अनृते खलु वै क्रिय-माणे वरुणो गृह्णाति ॥—भूँ ठ बोलने पर वरुण दगड देते हैं" (तैत्तिरीयब्राह्मण १।७।२।६)॥

## ( ४३२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ = ॥

यः । सम्ङ्ग्रास्य ीः । वरुणः । यः । विङ्ग्रास्य ीः । यः । सम् इदे-श्याः । वरुणः । यः । विङ्देश्याः ।

यः । दैवः । वरुणः । यः । च । मानुषः ॥ = ॥

समानम् त्रामयित न्याधितो भवति [ पुरुषोनेनेति ] समाम्यः। ईदृशो यो वरुणः। ॐ लुप्ततिद्धतोयं निर्देशः ॐ। वारुणः। पाश इत्यर्थः। विगमनेन विविधं वा ज्ञामयित पुरुषोनेनेति न्याम्यो [ यः ]पाशः। तथा यो वरुणः वरुणः वरुणसम्बंधी पाशः संदेश्यः समानदेशे भवः यश्च विदेश्यः विदेशे भवः यश्च वरुणः वरुणसं-वन्धी पाशो दैवः देवेषु भवः यश्च वरुणपाशो मानुषः मनुष्येषु प्रयुक्तः। तैस्त्वा सर्वेरिति वच्यमाणेन संबन्धः।।

समानरूपसे पुरुष जिससे रुग्ण होता है, वह वरुणदेवका समाम्य नामक पाश है, अनेक रूपोंसे पुरुष जिसके द्वारा रुग्ण होता है वह वरुणका व्याम्य नामका पाश है। और जो समान देशमें होने वाला वरुणका पाश संदेश्य नामक है, जो विदेशमें होनेवाला वरुणका पाश विदेश्य कहलाता है और जो देवताओं पर प्रभाव दिखाने वाला वरुणका पाश दैव कहलाता है और मनुष्योंमें प्रयुक्त होनेसे मानुष पाश कहलाता है।। =।।

नवमी॥ तैस्त्रा सर्वेर्भिष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्या पुत्र तानुं ते सर्वाननुसंदिशामि॥ ६॥

तैः । त्या । सर्वैः । अभि । स्यामि । पाशैः । असौ । आमुख्यायण ।

अपुष्याः । पुत्र ।

तान् । ऊं इति । ते । सर्वान् । अनु ऽसंदिशामि ॥ ६ ॥

असावित्यस्य स्थाने संबुद्ध्या शत्रुनामग्रहणम् । आमुष्यायणेति गोत्रतो निर्देशः। अमुष्याः पुत्रेति अदःशब्दस्थाने मातृनामनिर्देशः। तद् अयम् अर्थः। हे देवदत्तायाः पुत्र गार्ग्य यज्ञशर्मन् त्वा त्वां तैः पूर्वस्याम् ऋचि उत्तैः सर्वैः पाशैः अभिष्यामि अभिद्धामि। वध्नामीत्यर्थः॥ तथा हे शत्रो ते तुभ्यं तान् सर्वीन् पाशान् अनु-लज्ञीकृत्य संदिशामि संप्रयच्छामि॥

इति चतुर्थ काएडे [ चतुर्थ नुवाके ] पथमं स्कम् ॥
हे त्रमुक नाम वाले ! हे त्रमुक गोत्र वाले हे त्रमुक माताके
पुत्र ! मैं तुक्तको पूर्व ऋचामें कहे हुए वरुण देवके सब पाशोंसे
बाँधता हूँ और हे शत्रो ! तुक्तको उन सब पाशोंकी और लच्य
रख कर उनके त्रधीन करता हूँ ÷ ॥ ६ ॥

चनुर्धकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम स्क समाप्त (१९७)॥

स्त्रीशूद्रकापालादिकृताभिचारदोषिनदृत्त्यर्थं दर्भाषामार्गसह-देव्याद्या मन्त्रोक्ता त्र्रोषधीःशान्त्युद्ककलशेमिचप्य तदनुषन्त्रण-विनियुक्ते महाशान्तिगर्णे "ईशानां त्वा" इत्यादिस्क्तत्रयम् त्राव-पनीयम् । सूत्रितं हि । "दृष्या दृषिरिस [ २. ११ ] ये पुरस्तात् [ ४. ४० ] ईशानां त्वा [ ४. १७ ] समं ज्योतिः [ ४. १८ ] उतो अस्य बन्धुकृत् [ ४. १६ ] सुपर्णस्त्वा [ ४. १४ ] यां ते चक्रुः [ ४. ३१ ] अयं मितसरः [ ८. ४ ] यां कल्पयन्ति [१०. १ ] इति महाशान्तिम् आवपते" इति [ कौ० ४. ३ ] ॥

÷ त्रमुक नामके स्थानमें शत्रुका नाम लेना चाहिये, त्रमुक गोत्रके स्थानमें शत्रुके गोत्रका उच्चारण करना चाहिये त्रौर त्रमुक माताके स्थानमें शत्रुकी माताका नाम लेना चाहिये। यथा-हे देवदत्तायाःपुत्र गार्ग्य यज्ञशर्मन्।"

# ( ४३४ ) ऋथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

एतत्म्रक्तसंघरयं कृत्यापतिहरणगणत्वाद् अस्य गणस्य यत्र यत्र विनियोगस्तत्र सर्वत्र अस्य मुक्तत्रयस्यापि विनियोगो द्रष्टव्यः।

स्ती शूद्र कापाल आदिके किये हुए अभिचारके दोपको दूर करनेके लिये कुशा चिरचिटा और सहेदेवी इन मन्त्रमें कही हुई आपिथियों को शान्त्युदककलशमें डाल कर इनका अनुमन्त्रण करने में विनियोग किये जाने वाले महाशान्तिगणके 'ईशानां त्वा' आदि तीन सक्तों को पढ़ना चाहिये। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"दृष्या दृषिरिस (२। ११) ये पुरस्तात (४। ४०) ईशानां त्वा (४। १७) समं ज्योतिः (४। १८) खतो अस्य वन्धुकृत् (४। १६) सुपर्णस्त्वा (४। १४) यां ते चक्रुः (४। ३१) अयं प्रतिसरः (८। ४) यां कल्पयन्ति (१०।१) इति महाशान्ति आवपते" (कौशिकसूत्र ४। ३)।।

यह सूक्तोंका समूह कृत्यापितहरणगण है, अत एव कृत्या-प्रतिहरणगणका जहाँ २ विनियोग होगा, तहाँ २ सर्वत्र ही इन तीनों सूक्तोंका विनियोग होगा ॥

तत्र प्रथमा ॥

इशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रंभामहे । चके सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषघे त्वा ॥ १॥ ईशानाम् । त्वा । भेषजानाम् । उत्रज्जेषे । आ । रुभामहे ।

चक्रो । सहस्र ऽवीर्यम् । सर्वस्मै । त्र्योषधे । त्वा ॥ १ ॥

हे सहदेव्याख्ये श्रोषधे भेषजानाम् तत्तद्रोगशान्तये भेषजत्वेन प्रयुज्यमानानाम् अन्यासाम् श्रोषधीनाम् ईशानाम् ईश्वरां त्वा त्वाम् उज्जेषे शत्रुकृताभिचारदोषम् उज्जेतुं निवर्तियतुम् श्रा रभामहे संस्पृशामः । अ ईशानाम् इति । ईश ऐश्वर्ये अस्मात् लटः शानच् । अदादित्वात् शपो लुक् । अनुदात्तेन्वात् लसार्वधातुका-नुदात्तत्वे धातुस्वरः । उज्जेष इति । "तुमर्थे सेसेन्०" इति सेपत्ययः 🕸 ॥ ईश्वरत्त्रमेवास्या उपपादयति । हे त्र्योपधे सहदेवि त्या त्वां सर्वस्मे अभिचारजनितज्वरादिसर्वदोषनिष्टत्तये सहस्रवीर्यं चक्रे अपरिमितसायध्येयुक्तां करोमि । यस्माइ एवं तस्मात् त्वम् त्रोपधीनाम् ऋधिवतिरसीत्यर्थः ॥

हे सहदेवी नामक अोपधे ! रोगोंकी शान्तिके लिये अोपधि-रूपसे प्रयोग की जाने वाली अन्य औपिधयोंकी स्वामिनी तुम को हम शत्रके किये हुए अभिचारदोषको दूर करनेके लिये छूते हैं। हे सहदेवी नाम वाली खोषधे ! मैं ख्रिभिचारसे उत्पन्न हुए सब दोषोंको हटानेके लिये तुभक्तो अपरिमित शक्ति वाली करता हूँ । क्योंकि—तू सब ऋोषधोंकी स्वामिनी है ।। १ ।।

द्वितीया ॥

सत्याजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् । सर्वाः समह्वयोषंधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

सत्यऽजितम् । शपथऽयावनीम् । सहमानाम् । पुनःऽसराम् । सर्वाः । सम् । अहि । अोषधीः । इतः । नः । पारयात् । इति २

सत्यजितम् सत्येन याथार्थ्येन अभिचारादिदोषं जयति निवर्त-यतीति सत्यजित् । तां शपथयोपनीम् शपथस्य परकृतस्य आको-शस्य पृथकत्रीं नाशियत्रीं वा सहमानाम् अभिभवनशीलां पुनः-सराम् पुनःपुनः आभीच्एयेन बहुतरव्याधिनिवृत्तये सरति पवर्तत इति पुनःसरा ताम् ईदशीम् त्रोपिम् अन्याः सर्वा त्रोषधीः श्रोषध्यः इतः श्रस्माद् श्रभिचारदोषशमनाद्धे तोः न श्रस्मान् पार-यात् । अ पार तीर कर्मसमाप्तौ अ । अस्मत्कर्तव्यं समापयेत् इति

## ( ४३६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

श्चनेन श्रभिमायेण समिभ । गच्छन्तीति उपसर्गश्रुतेयोग्यिकया-ध्याहारः ॥

यथार्थरीतिसे अभिचार आदि दोषोंको दूर करने वाली सत्य-जित्, दूसरेके आक्रोशको नष्ट करने वाली शपथयावनी, अभि-चारोंको सहने वाली सहमाना और पुनःपुनः अनेक रोगोंकी निष्टित्तिके लिये प्रवृत्त होने वाली पुनःसरा ओषधिको अन्य सब ओषियें इस अभिमायसे प्राप्त होती हैं, कि-अभिचारजनित दोषको दूर कर यह हमारे कर्तव्यको समाप्त कर देय ॥ २ ॥ ततीया ॥

या शशाप शपंनेन याघं मूरंमादधे।

या रसंस्य हरंणाय जातमारेमे तोकर्मन सा ॥३॥

या । शुशाप । शपनेन । या । अधम् । मूरम् । आऽद्धे ।

या । रसंस्य । हरणाय ः जातम् । आऽरेभे । तोकम् । अनु । सा ॥ ३ ॥

एषा मथमकाएडे व्याख्याता [१.२८.३]। अन्तरार्थस्तु या पिशाची शपनेन आक्रोशेन शशाप या च मूरम् मूर्छामदम् अधम् पापम् आददे। या च शरीरगतासगादिरसस्य हरणाय जातम् पुत्रादिम् [आरभे] आलिङ्गति सा सर्वा मद्विषये अभिचरतः शत्रोः तोकम् पुत्रं भन्नयतु इति ।।

जो पिशाची श्राक्रोश मचा कर शाप देती है और मूर्छित करने वाला पाप करती है और जो शरीरके रक्त श्रादि रसका हरण करनेके लिये पुत्रको-श्रालिंगन करती है, ये सब राचिसयें मेरे लिये श्रभिचार करने वाले शत्रुके पुत्रको खावें॥ ३॥

चतुर्थी ॥

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रनींललोहिते।

आमे मांसे कृत्यां यां चकस्तयां कृत्याकृतां जिह थ थायु। ते। चक्रुः। आमे। पात्रे। याम्। चक्रुः। नीलंऽलोहिते। व्यामे । मांसे । कृत्याम् । याम् । चक्रुः । तथा । कृत्याऽकृतः । जहिष्ठ

हे कृत्ये ते त्वां यास् आमे अपस्वे मृत्पात्रे चक्रः कृतवन्तः अभिचारकाः । यद्वा नीललोहिते । धूमोद्गमेन नीलः ज्वालया च लोहितः अग्निः नीललोहितः। तादशे अग्नौ अग्न्यायतने यां चकुः कुतवन्तः। आमे अपक्वे मां ते कुकुटादिपाणिशरीरे यां कृत्यां चकुः कृतवन्तः । आमपात्रम् अग्न्यायतनं कुक्कुटादिमाणिशरीरं सभास्थलम् इत्येवमादीनि हि कृत्यानिधानस्थानानि । एवं कृत्या-कृतः कृत्यायाः प्रयोक्तृन् हे कृत्ये त्वया। अविभक्तिव्यत्ययः अ। त्वं जहि नाशय। यद्वा त्रोपिधः संबोध्यते । हे त्रोषधे त्वया कृत्या-भयोक्तारो इन्तव्या इन्यर्थः । 🛞 कर्मिण कर्तृप्रत्ययः 🛞 ।।

हे कृत्ये ! तुभको अपक्व मृत्पात्रमें अभिचार करने वालींने किया है अथवा जिस तुभको धूम निकलनेसे नील और ज्वाला से लोहित (लाल) अप्रिके स्थानमें अभिचारकोंने किया है अथवा तुभाको अपक्व मांसमें अर्थात् कुक्कुट आदिके शरीरमें किया है, इस प्रकार कृत्याका प्रयोग करने वालोंको हे कृत्ये! त् नष्ट कर ॥ ४ ॥

पञ्जमी दौष्वंप्यं दौजीं वित्यं रची अभव मराय्यः। दुर्णाम्नीः सर्वी दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामिस ॥५॥ दौःऽस्वप्न्यम् । दौःऽजीवित्यम् । रत्तः । अभव म् । अराय्युः ।

दुःऽनाम्त्रीः । सर्वाः । दुःऽवाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ५

# ( ४३८ ) अथर्ववेद संहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

दुष्टः स्वमो दुःस्वमः तत्र भवम् श्रिष्टं दर्शनं दौष्वप्न्यम् । दौर्जीवत्यं दुष्टा जीवता जीवभावो यस्य दुर्जीवतः तस्य भावो दौर्जीवत्यम् । श्रि ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् ष्यञ् श्रि । रत्तः रात्तसजातिः अभ्वम् । महन्नामैतत् । यच्च श्रिभचारिकयाजिनतम् अन्यद् महद् भयकारणम् अस्तीत्यर्थः । यद्वा अभ्वम् महद्भ रत्तो व्रह्मरात्तसादिः इति रत्तोविशेषणत्वेन योज्यम् । श्रत एव "द्यावा रत्ततं पृथिवी नो अभ्वात्" [ ऋ० १. १८५. २ ] इति अभ्वस्य भयहेतुता श्रुता । अराय्यः असमृद्धिहेतवः पापत्तचम्यः तथा दुर्णाम्नीः छेदिका भेदिका इत्येवं दुष्टनाम्नोपेता याः पिशाच्यः दुर्वाचः नाशयामि छेदयामि भन्तयामि इत्येवं दुष्टाः शब्दा याभिः सततं प्रयुज्यन्ते तास्तथोक्ताः । इत्थं याइमाः कृत्या श्रनुक्रान्ताः ताः सर्वाः अस्मिन् श्रिभचर्यमाणपुरुषविषये नाशयामिस नाशयामः ॥

दुःस्वप्रमें होने वाले अरिष्टदर्शनरूपी दौःस्वप्न्यको, कठिनता से जीवन वितानेकी स्थितिको, रात्तस जातिको, अभिचारिकया से उत्पन्न हुए बड़े भारी भयको, असमृद्धि करने वाली पाप-लिच्मयोंको, छेदिका भेदिका आदि बुरे नाम वाली पिशाचियों को और काट डालूँ खा लूँ आदि दुर्भचनोंका नित्य उच्चारण करने वाली पिशाचियोंको हम इस अभिचरित पुरुषसे दूर करते हैं

षष्टी ॥

चुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् । अपामार्गं त्वयां वयं सर्वे तदपं मृज्महे ॥ ६ ॥ चुधाऽमारम् । तृष्णाऽमारम् । अगोताम् । अनपऽत्यताम् । अपामार्ग । त्वयां । वयम् । सर्वम् । तत् । अपं । मृज्महे ॥ ६ ॥

चुधामारम् चुधा चुत्वीडया पुरुषस्य मारणम् तृष्णामारम्

तृष्णया पिपासातिशयेन पुरुषस्य मारणम् । यद्वा ज्ञुत्पिपासयोः पुरुषे स्वरूपतो नाशनम् अत्र विवक्तितम् । तद्विरहे पुरुषस्य स्वत एव मरणसंभवात् । अगोताम् गोराहित्यम् अनपत्यताम् अपत्य-राहित्यं च । तत् एतत् सर्वं हे अपामार्ग त्वया वयम् अप मृष्महे अपमार्जयामः विनाशयामः ॥

भूँ खकी पीड़ासे पुरुषका मरण होना, श्रिषक प्यास लगनेसे पुरुषका मरण होना अथवा भूँख प्यासके नष्ट होनेसे पुरुषका मरण होना, गौओंसे रहित होना और सन्तानहीनता, हे अपा-मार्ग (चिरचिटे) इन सबको हम तुक्तसे नष्ट करते हैं॥ ६॥

सप्तमी ॥

तृष्णामारं चुंधामारमथे। अचयराज्यम् । अपामार्गे त्वयां वयं सर्वे तदपं मृज्महे ॥ ७ ॥

तृष्णाऽमारम् । च्रधाऽमारम् । अथो इति । अच्राऽपराजयम् ।

अयामार्ग । त्यया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥ ७ ॥

ज्ञुत्तृष्णानाशयोरत्र विपर्यास एव विशेषः । अथो अपि च अज्ञपराजयम् अज्ञैर्यूतसाधनैः द्यूतिक्रयानिमित्तः पराजयः । तत् एतत् सर्वे हे अपभार्गेत्यादि पूर्वेवत् ॥

तृषासे मरना, भूखसे मरना और जुएमें हारना, इन सबको हे अपामार्ग ! हम तुम्हारे द्वारा नष्ट करते हैं ॥ ७ ॥

ऋष्टमी ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी । तेनं ते मुज्म आस्थितमथ त्वमंगदश्चर ॥ ८॥

# ( ४४० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अपामार्गः । श्रोषधीनाम् । सर्वासाम् । एकः । इत् । वृशी ।

तेन । ते । मृज्मः । त्राऽस्थितम् । त्रथ । त्वम् । त्रगदः । चरः ८

सर्वासाम् अन्यासाम् श्रोपधीनम् अपामार्गः एक एव वशी वशियता । सर्वा अस्य वशे वर्तन्त इत्यर्थः । हे अभिचारदोष-पृहीत ते तव श्रास्थितम् कृत्यादिभिरापिततं रोगादिकं तेन अपा-मार्गेण मृज्मः मार्जयामः अपगमयामः ॥ अथ अनन्तरं त्वम् अगदः •याधिरहितः चर चिरकालं वर्तस्व ॥

[ इति ] द्वितीयं स्क्रम् ॥

अन्य सब ओषधियोंको एक अपामार्ग ही वशमें करने वाला है अर्थात् सब ओषधियें इसके वशमें चलती हैं, हे अभिचारग्रस्त पुरुष! कृत्या आदिके द्वारा तुभ्भमें स्थापित रोग आदिको उस अपामार्गके द्वारा हम दूर करते हैं। तदनन्तर तू व्याधिरहित होकर चिरकाल तक रह !! = !।

चतुर्धकाण्डके चतुर्ध अनुवाकमं द्वितीय स्क समाप्त (११९)॥ "समं ज्योतिः" इति स्क्कस्य पूर्वस्कोन सह उक्तो विनियोगः । सूत्रं तु तत्रैव उदाहतम् ॥

"समं ज्योतिः" इस सुक्तका पहिले सुक्तके साथ विनियोग कह दिया है। सूत्र भी तहाँ ही कह दिया है।।

तत्र पथमा ॥

सुमं ज्योतिः सुर्येणाह्या रात्री समावती ।

कृणोमिं सत्यमूतयेर्साः संन्तु कृत्वंशः ॥ १ ॥

समम् । ज्योतिः । सूर्येण । अहा । रात्री । समऽत्रती ।

कुणोमि । सत्यम् । ऊतये । अरसाः । सन्तु । कृत्वरीः ॥ १॥

सूर्येण आदित्येन तदीयं ज्योतिः मभामएडलं समम् समानमेव भवति न कदाचित् तेन वियुज्यते । रात्री । 🛞 ''रात्रेधाजसौं" इति ङीप् 🛞 । रात्रिश्च अहा संपावती समानायामा । 🛞 सम-शब्दात् त्र्यावतुपत्ययः स्वार्थिकः 🕾 । यथैवं प्रभाप्रभावतोर्दिवा-रात्रयोश्च समानत्वं यथार्थम् तथा सत्यम् यथार्थं कर्म कुणोमि करोमि । किमर्थम् । ऊतये अभिचर्यमाणस्य पुरुषस्य रत्ताणार्थम् । तस्मात् कृत्वरीः कर्तनशीलाः कृत्याः अरसाः शुष्काः कार्या-समर्थाः सन्तु भवन्तु ॥

मभागएडल आदित्यके साथ ही रहता है कभी आदित्यसे पृथक् नहीं होता है, रात्रि भी दिनके समान ही आयाम वाली होती है। जैसे मभा प्रभावान्का श्रौर दिन तथा रात्रिका समानत्व यथार्थ है, इसी प्रकार मैं भी जिसके ऊपर अधिचार किया गया है उस पुरुषकी रत्नाके लिये यथार्थ कर्मको ही करता हूँ, इस कारण काटनेके स्वभाव वाली कृत्याएँ अरस अर्थात् कार्य करने में असमर्थ शुष्क होजावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो देवाः कृत्या कृत्वा हरादविदुषो गृहम्। वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुपं पद्यताम् ॥ २ ॥ यः । देवाः । कृत्याम् । कृत्वा । हरात् । अविदुषः । गृहम् ।

वत्सः। धारुः ऽइव । मातरम् । तम् । प्रत्यक् । उप । पद्यताम् २

हे देवाः यः शत्रुः कृत्याम् मन्त्रौषधादिभिः शत्रोः पीडाकरीं कृत्यां कृत्वा अविदुषः अजानानस्य तस्य गृहम् अरात् ऋच्छेत् कृत्यानिखननार्थं गच्छेत्। अ ऋ गतौ इत्यस्मात् लेटि आडा-गमः । छान्दसः शपो लुक् अ । तम् अभिचरन्तं सा कृत्या प्रत्यक् श्रिभिष्ठाखं प्रतिनिष्ठत्य उप पद्यताम् उपगच्छत् । तत्र दृष्टान्तः । वत्स इति । [धारुः ] । अधेट् पाने । "दाधेट्सिशद्सदो रुः" इति रु-प्रत्ययः अ। यथा धारुः स्तनपानं कुर्वन् वत्सः स्वमातरमेव श्रानु-धात्रति एवं कृत्यापि स्त्रोत्पादकमेत्र प्रतिनिष्ठत्य गच्छत् इत्यर्थः ॥

हे देवताओं! जो शत्रु मन्त्र श्रौषि श्रादिसे शत्रुको पीड़ित करने वाली कृत्याको करके अनजान शत्रुके घरमें कृत्याको गाढ़नेके लिये आता है, उस अभिचार करने वालेको कृत्या श्रिभमुख होकर इस प्रकार लिपटे जिस प्रकार दुग्धपान करने वाला बद्ध अपनी मातासे लिपटता है।। २।।

तृतीया ॥

श्चमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति । श्चरमान्स्तस्यां दुग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति ।२। श्चमा । कृत्वा । पाप्मानम् । यः । तेनं । श्चन्यम् । जिघांसति । श्चरमानः । तस्याम् । दुग्धायाम् । बहुलाः । फट् । करिक्रति ३

यः शत्रुः अनुक्त इत अमा सह स्थितः सन् पाप्मानम् कृत्या-निलननलत्तरणं कृत्वा तेन पाप्मना अन्यम् द्वेष्यं जिघांसित हन्तुम् इच्छति । अ "अष्मनगमां सिन" इति दीर्घः अ । तस्याम् तेन शत्रुणा कृतायां कृत्यायां दुग्धायाम् प्रतीकारेण रिक्तीकृतायां स्वकार्यकरणासमर्थायां सत्याम् अश्मानः पाषाणाः मन्त्रसामध्यीं-त्पादिता बहुलाः सन्तः फट् हिंसनं करिकृति पुनःपुनः कुर्वन्तु । कृत्याकृतं शत्रुं हिंसन्तु इत्यर्थः । अ करोतेर्यङ् लुगन्तात् पश्चमलकारे "कृत्याकृतं शत्रुं हिंसन्तु इत्यर्थः । अ करोतेर्यङ् लुगन्तात् पश्चमलकारे "कृत्याकृतं च लुकि" इति अभ्यासस्य रिगागमः अ ।।

जो शत्रु साथमें रह अनुक्तसा वन कर कृत्याको गाहना आदि पाप करके उस पापसे शत्रुको मारना चाहता है, उस शत्रु की कीहुई कृत्याके पतीकारके कारण अपने कार्यको करनेमें असमर्थ होने पर, मन्त्रशक्तिसे उत्पन्न किये हुए बहुतसे पापाए उसको मारें।। ३।।

#### चतुर्थीं ॥

सहंस्रधामन् विशिखान् विश्रीवां छायया त्वम् । प्रति स्म चक्रेषं कृत्यां प्रियां प्रियावंते हर ॥ ४ ॥

सहस्रऽधामन् । विऽशिखान् । विऽग्रीवान् । शायय । त्वम् ।

मति । रम । चक्रुपे । कृत्याम् । मियाम् । मियऽवते । हर ॥४॥

हे सहस्रधामन् । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति [ नि० ६. २८ ] [ इति ] यास्कवचनाद्व धामशब्देन स्थानादिकम् उच्यते । सहस्रं धामानि स्थानादीनि यस्याः सा सहस्रधामा ज्योपिधः। 🕸 "मनः" इति ङीपः प्रतिषेधः 🕸 । हे सहस्रधामन् सहदेव्याख्ये खोषधे त्वम् अस्मदीयान् शत्रून् विशि-खान् विच्छिन्नकेशान् विग्रीवान् विच्छिन्नग्रीवान् छिन्नशिरसः क़त्वा चायय चयं प्रापय । 🕸 चै जै षै चये इति धातुः 🕸 ॥ मियाम् शत्रूणां हितकारित्वेन अनुक्तां कृत्याम् पिशाचीं चक्रुषे कृतवते उत्पादित वते मियावते मियया कृत्यया तद्वते मित हर सम तां कृत्यां प्रतिनिष्टत्य प्रापय । 🍪 चक्रुषे । करोतेर्लिटः क्वसुः । चतुर्थ्येकवचने भसंज्ञायां ''बसोः संप्रसारणम्'' 🕸 ॥

हे सहस्रों स्थानोंमें होने वाली सहदेवी . श्रोषधे ! तू हमारे शतुं श्रोंको कटे हुए केश वाले, जिन्न ग्रीवावाले करके नष्ट कर, शत्रुओं की हितकारिणी होनेसे प्रिय अनुक्ल कत्या पिशाचीको करनेवाले पिया कृत्यासे युक्त शत्रु पर तू कृत्याको लौटाला। ४:।

पश्चमी ॥

अन्याहमोनंध्या सर्वाः कृत्या अंदूदुपम् । या चित्रं चुकुर्या गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५॥

अनया । अहम् । अविध्या । सर्वाः । कृत्याः । अद्दुपम् ।

याम् । क्षेत्रे । चक्रुः । याम् । गोषुः । याम् । वा । ते । पुरुषेषु ५

श्रनया सह देव्याख्यया श्रोषध्या श्रहं सर्वाः कृत्याः वच्यमाण-प्रदेशेषु खाताः श्रदृदुषम् दृषितवान् श्रस्मि । कार्यासमर्थाः करो-मीत्यर्थः । अ दुषेएर्यन्तात् लुङि चङि रूपम् अ । ताः कृत्या दर्शयति । यां कृत्यां क्षेत्रे बीजावापाई भूभदेशे चक्रुः कृतवन्तः निखातवन्तः यां कृत्यां गोषु मध्ये निखातवन्तः वाते वातसंचार-प्रदेशे यां कृत्यां कृतवन्तः । कृत्यासंस्पृष्टवाय्वभिघातेनापि श्रभि-चारदोषो जायत इत्येवम् उक्तम् । तथा पुरुषेषु मनुष्येषु तत्संचार-देशे यां कृत्यां निखातवन्तः ताः सर्वाः कृत्या श्रद्दुषम् इत्यन्वयः ॥

जिस कृत्याको वीज वोनेके योग्य स्थानमें गाढ़ा गया है और जिस कृत्याको गौओंके वीचमें गाढ़ा गया है और जिस कृत्याको शत्रुओंने वायुप्रवाहके स्थानमें किया है (इससे यह बात सिद्ध होती है, कि—कृत्यासे छुए वायुके अभिघातसे भी अभिचारदोप उत्पन्न होता है ) और शत्रुओंने पुरुषोंके चलनेके स्थानमें जिस कृत्याको गाढ़ दिया है उन सब कृत्याओंको मैं इस सहदेवी नामकी औषधिसे दृषित करता हूँ ॥ ५ ॥

षष्टी ॥

यश्वकार न शशाक कर्तुं शश्चे पादमङ्ग्रीरंस् । चकारं भद्रमस्यभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६॥ यः । चकारं । न । शशाक । कतु<sup>९</sup>म् । शश्रे । पादम् । त्राङ्ग रिम् । चकार । भद्रम् । अस्मभ्यम् । आत्मने । तपनम् । तु । सः ॥६॥

यः शत्रुः चकार कृत्यां प्रयुङ्क्ते तया कृत्यया एकं पादम् एकाम् अङ्गुलि वा राश्रे हिनस्ति । अ शृ हिंसायाम् इत्यस्मात् छान्द्सो लिट् 🕾 । स शत्रुः कर्तुं तथा हिंसितं न शशाक न शक्नोतु । 🕸 छान्दको लिट् 🥸 ।कृत्याप्रयोगेण मारणम् अव-यवहानि वा कर्तुं म् असमर्थी भवतु इत्यर्थः। तत्कृतम् अभिचारकर्म अस्मभ्यं भद्रम् मङ्गलं चकार । प्रतीकारमन्त्रौपधिषभावेन श्रेयः करोतु इत्यर्थः । ऋषि तु आत्मने स्वस्मैकृत्याप्रयोक्त्रे सः तत्कृतो-भिचारः तपनम् दहनं करोतु ॥

जो शत्रु कृत्याको करके उस कृत्यासे एक पैरको वा एक श्चंगुलिको मारना चाहता है वह शतु तैसा करनेको समर्थ न हो तात्पर्य यह है, कि कृत्याके प्रयोगसे वह मारण वा अवयवहानि करनेमें असमर्थ रहे। उसका किया हुआ अभिचारकर्म प्रतीकार के लिये उपयोगमें लाईहुई ऋौपिध और मन्त्रोंके प्रभावसे हमारा कल्याण करे और प्रयोग करने वालेको ही उसका किया हुआ अभिचारकर्म पीड़ित करे।। ६।।

सप्तमी ॥

अपामार्गीपं मार्द्ध चेत्रियं शपथंश्र यः। अपाह याउँघानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७॥ त्रपामार्गः । अप । माष्टु<sup>°</sup> । क्षेत्रियम् । शपथः । च । यः । अप । अह । यातुऽधानीः । अप । सर्वाः । अराय्यः ॥ ७ ॥ अवामार्गाख्या ओषिः क्षेत्रियम् क्षेत्रं मातापितृश्ररीरम् तत्स-काशाइ आगतं सांकामिकं त्रयकुष्टापस्मारादिकं रोगम् अप माष्टु

श्रमत्तोपगमयत । अ मृजूष् शुद्धौ । श्रपमृज्यतं रोगादिनिराकर-गोन पुरुषः शोध्यते श्रमेनेति श्रपामार्गः । करणे घन् । "चजोः कुः घिएएयतोः" इति कुत्वम् । "उपसर्गरय घञ्यमद्रुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः । श्रम मार्ष्ट । श्रदादित्वात् शपो लुक् । "मृजेर्रेद्धः" इति दुद्धः । क्षेत्रियम् इति । "क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः" इति निपात्यते अ । यश्र शत्रुकृतः शपथः शापः तमपि श्रप मार्ष्ट्ट । तथा यातुधानीः पिशाचीः श्रप मार्ष्ट्ट । श्रह इति विनिग्रहे । तथा श्ररायाः श्ररायीः श्रलच्मीः सर्वा श्रपामार्गः श्रप मार्ष्ट्ट । अ श्ररायीशब्दात् शिस द्यान्दसः पूर्वसवर्णदीर्घाभावः अ ॥

अपामार्ग नाम वाली औषधी माता पिताके शरीरसे आये हुए संक्रामक त्त्रय कुछ अपस्मार आदि रोगको हमसे दूर करे। शत्रुके किये हुए आक्रोशको भी हमसे दूर करे। पिशाचियोंको दूर करे और सम्पूर्ण अलिच्मयोंको वन्धनमें डाल कर दूर करे॥ ७॥ अष्टमी।।

अपमुज्यं यातुधानानपु सर्वी अराय्याः। अपोमार्गः त्वयां वयं सर्वे तदपं मृज्मेहे ॥ = ॥

अप्रमुज्य । यातुऽधानान् । अप । सर्वाः । अर्गय्यः ।

अपामार्ग । त्वया । व्यम् सर्वम् । तत् । अप । मुडमहे ॥ द्र ॥ दे अपामार्ग त्वं याद्धानान् यत्तरत्तः प्रभृतीन् अपमृडप अपमृडि । अ व्यत्ययेन श्यन् अ । तथा सर्वा अराय्यः अल्ह्मीक्रीः पापदेवताः अप गमय। यद्वा । अ अपमृडि ते व्यवन्तः अ । हे अपामार्ग त्वया प्रथमं यातुधानादीन् अपमृडय तैः कृतं सर्वे तद् दुःखजातं त्वयेव साधनेन वयम् अप मृडमहे निराक्रुमः ॥ [इति ] तृतीयं स्कम् ॥

हे अपमार्ग (चिरचिटे)! तू यत्त रात्तस आदि यातुधानोंको

दुरकर तथा सम्पूर्ण अलच्मी करने वाली पापदेवताओं को इमसे दूर रख ॥ ⊏ ॥

चतुर्यकाण्डके चतुर्थ अनुवाक्षमें तृतीय स्क समाप्त (१२०)॥

"उतो श्रासि" इति सुक्तस्य पूर्वत्रद्ध विनियोगः ॥ 'उतो असि' इस सुक्तका पहिले सुक्तकी समान विनियोग है।। तत्र प्रथमा ॥

उतो अस्यवन्धुकृदुतो असि नु जांमिकृत्। उतो कृत्याकृतः प्रजां नडिमवा चिंछन्धि वार्षिकम् १ उतो इति । असि । अवन्धु अकृत् । उतो इति । असि । नु । जामिऽकृत् ।

उतो इति । क्रत्याऽकृतः । मऽजाम् । नडम्ऽइव । आ । छिन्धि ।

वार्षिकम् ॥ १ ॥

सहदेव्यपामार्गयोरन्यतरः संबीध्यः। उतो श्रापि च हे सहदेवि अपामार्ग वा अवन्धुकृत् अवन्धूनां शत्रूणां कर्तकश्चेदकोसि । 🕸 कृती छेदने इत्यस्मात् विवर् 🏶 ॥ उतो अपि च तु त्तिप्रं जाभिकृत् जागयः सहजाः शत्रवः तेषामपि कर्तियता [ असि ] भवसि । इत्थं सहजासहजभेदेन शत्रुहैविध्यम् अन्यत्रापि श्रुतम् । "जामिम् अजामिं म मृणीहि शत्रून्" [ ऋ० ४. ४. ५ ] इति ॥ उतो अपि च कृत्याकृतः कृत्यायाः मयोक्तुः मजाम् पुत्रपौत्रादिकां वार्षिकम् वर्षासु भवं नडम् एतत्सं इं सुच्छेदं तृराविशेषिव आ छिन्धि त्रासमन्तात् छिन्नां वियुक्तां कुरु। अ छिदिर् द्वैधीकरणे। "हुभलभ्यो हेर्घिः" इति हेर्घिरादेशः । "श्रसोरल्लोपः" इति त्रकारलोपः । वार्षिकम् इति । "वर्षाभ्यष्ठक्" "छन्दसि ठल्" इति उञ् प्रत्ययः 🛞 ॥

## ( ४४= ) अधर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हे सहदेवी वा अपामार्ग ! तू शत्रुओं को काटने वाली है, तू स्वाभाविक शत्रुओं को भी काटने वाली है ‡ । तू कृत्याका प्रयोग करने वाले शत्रुकी पुत्र पौत्र आदि प्रजाकी वर्षाऋतुमें होनेवाली नड नामक घासकी समान काट डाल ।। १ ।।

द्वितीया ॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि करवेन नार्षदेन ।
सेनेवीप त्विपीमती न तत्रं भयमस्ति यत्रं प्राप्तीद्यापधे ॥ २ ॥
ब्राह्मणेन । परिऽउक्ता । श्रसि । करवेन । नार्पदेन ।
सेनाऽइव । एपि । त्विपिऽमती । न । तत्रं । भयम् । श्रस्ति ।

यत्र । प्रऽत्रामोषि । त्रोषधे ॥ २ ॥

नार्षदेन तृपदस्य पुत्रेण करवेन एतत्संज्ञेन ब्राह्मणेन मन्त्रदृशा हे श्रोपधे सहदेवि पर्युक्तासि परितो विनियुक्तासि । श्रतः त्विषी-मते दीप्तिमते यजमानाय परिरक्ताणार्थं सेनेव एषि गच्छसि । तादृशी त्वं यत्र यस्मिन् देशे प्रामोषि तत्र भयम् श्रिभचारादिजनितभीति-नीस्ति । श्रतो भयनिवारकत्वात् सेनया उपमीयस इत्यर्थः ॥

‡ इस पकार स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेदसे दो प्रकार के शत्रुओंका वर्णन अन्यत्र भी मिलता है। यथा—ऋग्वेदसंहिता ४। ४। ५ में कहा है, कि—"जामिं अजामिं प्रमृणीहि शत्रुत् ॥-स्वाभाविक और अस्वाभाविक दोनों प्रकारके शत्रुओंका नाश करिये"॥

नृषदके पुत्र कएव नामक मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मणने हे सहदेवि ! तेरा विनियोग किया है । अतः तू कान्तिमान् यजमानकी रत्ताके लिये सेनाकी समान जाती है, ऐसी तू जहाँ आती है तहाँ अभिचारसे होने वाली भीति नहीं होती है । ( अत एव भयनिवारक होनेसे तुभे सेनाकी उपमा दीजाती है ) ।। २ ।।

तृतीया ॥

अश्रमेष्योषंधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयंत् । उत त्रातासि पाकस्याथेां हुन्तासिं रत्नसः ॥ ३ ॥ अश्रम् । एषि । अशेषंधीनाम् । ज्योतिषाऽइव । अभिऽदीपयंत् ।

उत । त्राता । असि । पार्कस्य । अथो इति । हन्ता । असि । रुक्तसः ३

हे सहदेवि ख्रोषधीनाम् सर्वासां वीरुधाम् ख्रग्रम् पथमम् एषि ।
सर्वोषधिपतिनिधित्वेन ग्रुख्या भन्नसीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः ज्योतिषेवेति । ज्योतिषा पकाशेन द्यभितः सर्वतो दीपयन् पकाशयन्नादित्यः यथा सर्वज्योतिषाम् ख्रग्रगण्यो भवति तथेत्यर्थः ॥
यद्वा ज्योतिषा द्यात्मीयेन तेजसैव स्वसामध्येन द्यभिदीपयन्
कृत्यादोषान् संदहन् हे द्यपामार्गत्वं पाकस्य पक्तव्यमद्वस्य दुर्वलस्य त्रातासि रचिता भवसि । तद्वाधकस्य च रच्नसः राच्नसस्य
हन्तासि नाशियता भवसि ॥

प्रकाशके द्वारा सब ख्रोर दमकाते हुए सूर्य जिस प्रकार सब ज्योतियों में उत्तम हैं, हे सहदेवि! इसी प्रकार तू भी सब ख्रोप-धियों में उत्तम है। ख्रथवा हे ख्रपामार्ग! तू अपनी शक्तिसे कृत्याके दोषों को दूर करता हुआ दुर्वलकी रक्ता करने वाला होता है ख्रीर उसके बाधक राक्तसका नाश कर डालता है।। ३।।

चतुर्थी ॥ यददो देवा असुगंस्त्वयात्रं निस्कुर्वत । ततस्त्वमध्योषधेपामार्गो अनायथाः ॥ ४ ॥

यत् । अदः । देवाः । असुरान् । त्वर्या । अग्रे । निःऽअर्कुर्वत । ततः । त्वम् । अधि । त्रोषधे । अपामार्गः । अजायथाः ॥ ४ ॥

हे त्र्योषधे यत् यस्माइ अदः अमुिष्मन् विपकृष्टे अग्रे पुरा त्वया साधनेन देवाः इन्द्रादयः त्रप्तरान् [ निरकुर्वत ] निराकृत-वन्तः ततः तस्मात् कारणात् हे श्रोषधे त्वम् अन्यासाम् श्रोपधी-नाम् अधि उपरि वर्तमानः श्रेष्टः सन् अपामार्गो अजायथाः अपा-मार्गात्मना उत्पन्ना भवसि । अपमार्जनादु अपामार्ग इति संज्ञां लब्धवतीत्यर्थः ॥

हे स्रोपधे ! क्योंकि-पहिले तेरे साधनसे इन्द्र स्रादि देवतास्रों ने असुरोंको तिरस्कृत किया था, इस कारण हे ओषधे ! तू अन्य श्रोषधियोंके ऊपर वर्तमान रह कर अपामार्गरूपसे उत्पन्न होती है, अपामार्जनसे तेरा नाम अपामार्ग है ॥ ४ ॥ पश्चमी ॥

विभिन्दती शतशांखा विभिन्दन् नामं ते पिता । प्रत्यम् वि भिनिध त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ५ विऽभिन्दती । शतऽशाखा । विऽभिन्दन् । नाम । ते । पिता । मत्यक् । वि । भिन्धि । त्वम् । तम् । यः । अस्मान् । अभिऽदासति ।

हे अपामार्गारूये अोषधे शतशाखा अपरिमितशाखा सती विभिन्दती विभेदनशीला एतत्संज्ञा भवसि । विभेदनशक्तिश्र कारणगुणायातत्वाद् दुःसहेत्याह विभिन्दिन्नित । हे अपामार्ग ते तव पिता उत्पादकः विभिन्दन् [ नाम ] विभेदकः एतत्संको भवति । अतः त्वं तम् अरमदीयं शत्रुं प्रत्यम् भिन्धि प्रतीपगमनेन विदार्य यः शत्रुः अरमान् अभिदासति उपन्नपयति । अद्यु उपन्तये । अस्मात् एयन्तात् लटि शपः "अन्दस्युभयथा" इति आर्थधातुकत्वात् "णेरिनिटि" इति णिलोपः अधि ॥

हे अपामार्ग नाम वाली ओषधे ! तू अपरिमित शाखाओंको धारण कर विभिन्दती नाम पाती है, हे अपामार्ग ! तेरा उत्पादक विभिदन ( विभेदक ) नामक है अतः तू जो हमको चीण करना चाहते हैं उन हमारे शत्रुओंके सामने जाकर उनको विदीर्ण करम

षष्टी ॥

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामिति महद् व्यचः । तद् वै तते। विधूपायंत् प्रत्यक् कर्तारमुच्छतु ॥ ६॥ असत्। भूम्याः। सम्। अभवत्। तत्। याम्। एति। महत्। व्यचः।

तत् । वै । ततः । विऽधूपायत् । मृत्यक् । कर्तारम् । ऋच्छतु ६

हे श्रोषधे त्वत् सकाशाइ महत् श्रधिकं व्यचः व्याप्तं तेजो निष्क्रम्य यां भूमिम् एति प्रामोति तस्यां भूम्यां निखातम् [ असत् सम् अभवत् ] । बाधितुं न शक्रोतीत्यर्थः । तद्घ [ वे ] श्रसत्कर्णं कृत्यारूपं ततः तस्माइ देशात् निर्गत्य विधूपायत् विशेषेण धूपितं प्रज्वितं सत् कर्तारम् कृत्याकृतमेव पत्यग् ऋच्छतु प्रतिनिष्टत्य पीडयतु । यद्वा असत् अशोभनं कृत्यारूपं समभवत् परपीडार्थं समजायत । तत्र कृत्यायुक्तां यां भूमि त्वदीयं महद्घ व्यचः प्रामोतीत्यादि पूर्ववत् । अविधूपायत् । धूप संतापे । "गुपूधूपविच्छि०" इति आयमत्ययः अ।।

## ( ४५२ ) अथर्धवेद संहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हे त्रोषधे ! तेरे पाससे जो व्याप्त तेज निकलकर जिस भूमिको माप्त होता है, उस भूमिमें गाढ़ी हुई कृत्या असत् होकर वाधित नहीं कर सकती, यह असत् कृत्या इस स्थानसे निकल प्रज्वित होता हुआ लौट कर कृत्याका प्रयोग करने वालेको ही नष्ट करें

प्रत्यक् हि संबुभूविथ प्रतीचीनंफल्रस्वम् ।

सर्वान् मन्छपथाँ अधि वरीयो यावया व्धम्।।७॥

प्रत्यङ् । हि । सम्ऽवभूविथ । प्रतीचीनंऽफलः । त्वस् ।

सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवय । वधम् ॥७॥

हे प्रतीचीनफल। प्रतीचीनानि आत्माभिमुखानि फलानि यस्य सः अपामार्गः प्रतीचीनफलः। हे तादृश त्वं प्रत्यङ् हि प्रत्यञ्चनः प्रतिनिष्टत्तमुख एव खलु संवभूविथ उद्पद्यथाः। हि शब्दो हेतौ। हि यस्माद् एवं तस्मात् सर्वान् शत्रुकृतान् शपथान् आक्रोशान् मत्-सकाशाद्व यवय पृथक् कुरु। अधिः पञ्चम्यर्थानुत्रादी। पृथक्कृत्य च शप्तारमेव प्रतीचीनं प्रापयेत्यर्थः। तथा वरीयः उरुतरं विस्तीर्णतरं वधम् तदीयं हननसाधनम् आयुवं कृत्यारूपं वा अस्मत्तः पृथक् कुरु।।

हे अभिमुख फल वाले अपामार्ग! तू प्रतिनिष्टत्त मुख वाला ही उत्पन्न हुआ है, इस कारण शत्रुके किये हुए सब आक्रोशों को मुक्तसे पृथक कर और अलग करके मेरे शत्रुके ऊपर ही भेज और शत्रुके विस्तृत हननसाधन कृत्या वा आयुधोंको हमसे अलग कर ॥ ७॥

अष्टमी ॥

शतेनं मा परि पाहि सहस्रंणाभि रंच मा । इन्द्रंस्ते वीरुधां पत उग्र झोज्मानमा दंधत् ॥ = ॥ शतेन । मा । परि । पाहि । सहस्रेण । अभि । रुन्त । मा ।

इन्द्रः । ते । वीरुधाम् । पते । उग्रः । ऋोज्मानम् । आ । द्धत्॥ ८ ॥

हे ओपधे सहदेवि अपामार्ग वा शतेन शतसंख्याकेन रत्तणो-पायेन मा मां पिर पाहि ॥ तथा सहस्रेण सहस्रसंख्याकेन मा माम् अभि रत्त कृत्याकृताइ दोषाद सर्वतः पालय ॥ हे वीक्धां पते लतारूपाणाम् ओपधीनाय् अधिपते ते तव उग्नः उद्गूर्णबलः इन्द्रो देवः ओज्मानम् ओजस्वित्वम् आ दधत् आस्थापयतु । सदातु इत्यर्थः ॥

[इति] चतुर्थं सुक्तम्॥

हे औषधे ! रच्चणके सेंकड़ों उपायोंसे तू मेरी रचा कर और सहस्रों उपायोंसे कृत्याके दोषसे बचा हे लतापति ओषधे ! प्रचणड बली इन्द्र सुक्तमें ओजस्वित्वको स्थापित करे ॥ ८ ॥

चतुर्थ काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ स्क समाप्त (१०१)॥

"आ पश्यति" इति सक्तेन ब्रह्मग्रहादिजनितभयनिवृत्तये त्रि-संध्यामणि संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । स्त्रितं हि । "आप्रय-तीति सदंपुष्पामणि बध्नाति" इति [ कौ॰ ४. ४ ] ॥

तथा चातनगणेषि एतत् सक्तम् । [तद् उक्तं] कौशिकेन । "शं नो देवी पृक्षिपणी [२, २५] आ पश्यति [४, २०] तान्त्स-स्यौजाः [४, ३६]" इति [कौ०१. ८] । अतोस्य सक्कस्य "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्" [कौ०४. १] इत्याद्य-क्तकर्मस्र विनियोगः ॥

"त्रा पश्यति" इस सक्तसे ब्रह्मग्रह त्रादिसे उत्पन्न हुए भयको हटानेके लिये त्रिसंध्या ( दुपहरियाकी ) मिणका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, "ब्राप् पश्यतीति सदंपुष्पामणि बध्नाति" ( कौशिकसूत्र ४ । ४ ) ॥ तथा चातनगणमें भी इस सक्तका पाठ है। इसी बातको कोशिकसूत्र १। दमें कहा है, कि-"शंनो देवी पृश्निपणीं (२।२५) स्त्रा पश्यति (४।२०) तान्त्सत्योजाः (४।३६)॥" स्त्रतः इस सक्तका "चातनानां स्रपनोदनेन व्याख्यातम्" (कोशिक-सूत्र ४।१) स्त्रादि कमोंमें विनियोग होता है॥

तत्र प्रथमा ॥

आ पश्यित प्रति पश्यिति परा पश्यिति पश्यिति । दिवमन्तरिचुमाद् भूमिं सर्वं तद् देवि पश्यित॥१॥

आ । प्रयति । पति । प्रयति । परा । प्रयति । पर्यति । दिवम् । अन्तरिक्तम् । आत् । भूमिम् । सर्वम् । तत् । देवि । प्रयति १

हे देवि देवतारूपे सदंपुष्पारूपे श्रोपधे त्विद्वकारमणिधारकोयं जनस्त्वत्मसादात् श्रापश्यित श्रागामिभयकारणं परिहर्तुं जानाति। तथा परिवासितं स्थतं वर्तमानमिप भयकारणं निरिसतं जानाति।। तथा परा पश्यित परागतं द्रस्थमिप भयकारणम् श्रवलोकयित।। किं बहुना। श्रिवशेषेण सर्वमिप भयकारणम् श्रवलोकयित।। किं बहुना। श्रिवशेषेण सर्वमिप भयकारणम् श्रसौ पश्यित साज्ञात्करोति।। ये खलु ब्रह्मग्रहादयो भयहेतवः ते सर्वे पृथिव्यादिलोकत्रयं व्याप्य वर्तन्ते श्रतस्तदपरिज्ञाने तदा-श्रया ब्रह्मग्रहादयो दुष्परिज्ञाना इत्यभिमत्याह दिवम् श्रन्तरित्तम् इति। दिवम् स्वर्गम् श्रन्तरित्तम् श्रन्तरा ज्ञान्तं मध्यमं लोकम् श्रात् श्रनन्तरं भूमिम् पृथिवीम् एतल्लोकत्रयोपलित्ततं तत् तत्रत्यं सर्वम् माणिजातं त्रसंध्यामिणधारणमाहात्मयेन पश्यित साज्ञान्तरोति। एवं सर्वज्ञतया जागरूकं तं ब्रह्मग्रहादिनं स्पृश्वतीर्त्थः।।

हे देवस्वरूप सदंपुष्पा नाम वाली त्रोषधे ! तेरी मिश्यको धारण करनेवाला यह पुरुष तेरे प्रसादमे त्राने वाले भयको देखता है अर्थात् उसके हटानेके उपायको जान जाता है और वर्तमान भयके कारणके हटानेके उपायको भी जान जाता है। दूरस्थित भयके कारणको भी देखता है अर्थात् उसके हटानेके उपायको जान जाता है, अधिक क्या, भयके सब कारणोंका यह साचात् करता है (अब शंका होती है, कि-ब्रह्मग्रह आदि भयके कारण तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर रहते हैं अतः उनके आश्रित ब्रह्मग्रह आदिका ज्ञान होना किउन है, इसका समाधान करनेके लिये कहा है, कि-) स्वर्ग अन्तरिच्च और पृथिवी इन तीनोंके सब प्राणियोंको त्रिसंध्यामणिके धारणसे साधक देखता है। तात्पर्य यह है, कि-इस प्रकार सर्वज्ञ होनेसे सावधान रहने वाले उस साधकको ब्रह्मग्रह आदि स्पर्श नहीं करते।। १:।

### द्वितीया ॥

तिस्रो दिवास्तिसः पृथिवीः पद चेमाः प्रदिशः पृथक् । त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यांनि देव्योषधे ॥ २ ॥

तिसः। दिवः । तिसः । पृथिवीः। पट्। च । इमाः। मुऽदिशः। पृथेक् । त्वया । श्राहम् । सर्वा । भूतानि । पश्यानि । देवि। श्रोषधे ॥२॥

"तिस्रो भूमीर्घारयन् त्रींकत चून्" [ऋ०२.२७. ८] इत्यादि-मन्त्रवर्णात् "त्रयो वा इमे त्रिष्टतो लोकाः" [ ऐ० ब्रा०२.१७ ] इत्यादिबाह्मणवचनाच्च पृथिव्यादिलोकानां प्रत्येकं त्र्यात्मकत्वम् अवसीयते । तद्व इदम् उच्यते तिस्रो दिव इत्यादिना । तिस्रः त्रिसंख्याका दिवः द्युलोकान् [ तिस्रः ] त्रिसंख्याकाः पृथिवीश्र इमा परिदृश्यमानाः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः पाच्याचा उद्ध्वाधो-दिग्भ्यां सह पट्संख्याकाश्र तथा तत्रस्थानि सर्वा सर्वाणि भूतानि भूतजातानि हे देवि देवतारूपे त्रोषधे त्वया मिणक्षेण धार्यमाणया अहं [ पृथक् ] पश्यानि साचात्करवाणि ॥

("तिस्रो भूमीर्घारयन् त्रींकत यून्।।—तीन भूमि श्रीर तीन स्वर्गोंको धारण करता हुआ" इस ऋग्वेदके २। २७। द वें मन्त्रसे और "त्रयो वा इमे त्रिष्टतो लोकाः" इस ऐतरेय ब्राह्मण २। १७ की श्रुतिसे पृथिवी आदि तीनों लोकोंका ज्यात्मकत्व निश्चित होता है। इसी बातको इस मन्त्रमें कहते हैं, कि—तीन स्वर्ग, तीन पृथिवी तथा ऊपरकी और नीचेकी दिशासहित छः दिशा तथा तथा इनमें रहने वाले सब माणियोंको भी हे देवता-रूप श्रोषधे! तेरी धारर की हुई मणिके प्रभावसे में देखता हूँ २

तृतीया ॥

दिव्यस्य सुपूर्णस्य तस्यं हासि कुनीनिका । सा भूमिमा रुराहिथ वृद्धं श्रान्ता वृध्रुरिव ॥३॥

द्वियस्य । सुऽपूर्णस्य । तस्य । हु । असि । कनीनिका ।

सा । भूमिम् । आ । रुरोहिथ । वहाम् । आन्ता । वधूः ऽइव ३ हे सदंपुष्पोषधे दिव्यस्य दिवि भवस्य देवतारूपस्य सुपर्णस्य शोभनपत्तयुक्तस्य तस्य प्रसिद्धस्य गरुत्मतः चत्नुषोर्वर्तमाना कनीनिका दर्शनसाधनं कृष्णमण्डलम् असि । हशव्दः प्रसिद्धो । तदीयस्य पुष्पस्य कनीनिकासाधम्यति ताद्रूप्येण त्रोषध्या स्तुतिः ।
सा तादृशी त्वं सौपर्णचत्नुर्भण्डलाइ भूमिम् आ रुरोहिथ । जगद्रत्तणार्थम् त्रोषधिरूपेण भूमौ अवतीर्णासीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः वह्यम् इति । आन्ता अध्वश्रमिवन्ना गन्तुम् असमर्था [ वधूः ] स्त्री
यथा वह्यम् वहनसाधनम् अश्वान्दोलिकादि यानम् आरोहित तद्दइ
इत्यर्थः । अ "वहां करणम्" इति वहतेर्यत् प्रत्ययो निपात्यते ।

श्रान्तेति । श्रम्र तपसि खेदे च । "यस्य विभाषा" इति निष्ठायाम् इडभावः । "श्रमुनासिकस्य क्विभलोः०" इति दीर्घत्वम् 🛞 ॥

हे सदम्पुष्पीषधे ! स्त्रगमें होने वाले देवतारूप शोभन पत्त वाले गरुड़की तू नेत्रोंमें वर्तमान कनीनिका है। (सदम्पुष्पाका पुष्प कनीनिकाकी समान होता है, अत एव ताद्रूप्यसे ओषधिकी स्तुति की है) ऐसी तू थकी हुई स्त्री जैसे पालकी आदि पर चढ़ती है तिस प्रकार गरुड़के नेत्रमण्डलसे भूमि पर उत्पन्न हुई है, अर्थात् जगत्की रक्ता करनेके लिये औषधिरूपसे भूमिमें अव तीर्ण हुई है। ३।।

चतुर्थी ॥

तां में सहस्राचो देवो दिचेणे हस्त आ देवत् । तयाहं सर्व पश्यामि यश्च श्रूद उतार्थः ॥ ४ ॥

ताम् । मे । संहस्रऽश्रद्धाः । देवः । दिवाणे । हस्ते । त्रा । द्धत् । तया । त्रहम् । सर्वम् । पश्यामि । यः । च । श्रूदः । उत । श्रार्यः ४

ताम् उक्तमभावां सदंपुष्पाख्याम् श्रोपधि देवः दानादिगुणयुक्तः सहस्राचः इन्द्रो मे मम दिन्तणे हस्ते श्रा दधत् श्रधारयत् ।
हे तादृशि श्रोपधे त्वया दिन्तणहस्ते मिणिरूपेण धृतया श्रहं सर्वम्
द्रष्ट्रच्यं विषयं पश्यामि सान्नात्करोमि । द्रष्ट्रच्यं विषयं निर्दिशति
पश्चेति । श्रद्रोपलिन्ततो यस्त्रवर्णिकच्यतिरिक्तो जनः श्रायो विद्वान्
ब्राह्मणः । त्रवर्णिकोपलन्नणम् एतत् । ये च ब्राह्मणन्नत्रियवैश्या
ये च तद्वचितिरिक्ताः श्रद्रादयः तान् सर्वान् वशीकृत्य तत्कृतं
रन्नःपिशाचादिकं निरसितुं पश्यामीत्यर्थः ॥

उक्तमभाव वाली सदम्पुष्पा श्रौषधिको सहस्राच दानादिगुण युक्त इन्द्रने मेरे दाहिने हाथमें धारण कराया है। हेदाहिने हाथमें

### ( ४५८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मिण्रारूपसे धारण कीहुई श्रीषधे! तेरे द्वारा मैं ब्राह्मण चित्रय वैश्य श्रीर शूद्र सबको वशमें करके उनसे प्रयुक्त राचस पिशाच श्रादि को देखता हूँ श्रर्थात् उनको दवानेका उपाय कर लेता हूँ ॥४॥ पश्चमी ॥

अशिविष्कृषुष्व रूपाणि मात्मानमपं गृहथाः । अशो सहस्रचे हो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥५॥ अशिवः । कृणुष्व । रूपाणि । मा । आत्मानम् । अपं । गृहथाः। अशो इति । सहस्रचनो इति सहस्र उचनो । त्वम् । प्रति । पश्याः।

किमीदिनः ॥ ४ ॥

हे श्रोषधे त्वदीयानि रत्तः पिशाचादिनिवर्तकानि रूपाणि श्रा-विष्कृणुष्व प्रकाशय । श्रात्मानम् तव स्वरूपं माप गृहथाः संदृतं मा कार्षाः । अ गृहू संवरणे अ ।। श्रथो श्रपि च हे सहस्रचत्तो सहस्रसंख्याकानि चत्तंषि दर्शनसाधनानि इन्द्रियाणि यस्याः सा सहस्रचत्तः हे तथाविधे श्रोषि त्वं किमीदिनः किम् इदानीं किम् इदानीम् इति गूढं संचरतो रात्तसान् प्रतिपथ्याः । श्रस्मद्रत्तणार्थं प्रतीत्तस्व । अ प्रतिपश्या इति । प्रतिपूर्वाद्व दशेर्लेटि श्रडागमः अ ।।

हे श्रोपधे ! तू राचस पिशाच श्रादिको हटानेवाले श्रपने रूपों को प्रकाशित कर, श्रपने स्वरूपको न छिपा श्रीर हे सहस्रों दर्शन-साधनोंसे देखने वाली श्रोपधे ! गूढ़ रूपसे फिरनेवाले राचसोंको हमारी रचा करनेके लिये देख ॥ ४ ॥

षष्टी ॥

द्शियं मा यातुधानान् द्शियं यातुधान्य । पिशाचान्तसवीन् दर्शयेति त्वा रंभ श्रोषधे ॥ ६॥ दर्शय । मा । यातुऽधानान् । दर्शय । यातुऽधान्य :।

पिशाचान्। सर्वान्। दर्शय । इति । त्वा । त्रा । रभे । त्रोपघे ६

हे सदंपुष्पौपधे यातुधानान् राज्ञसान् मा मां दर्शय । गूढं यथा न वाधनते तथा कुरु इत्यर्थः ॥ यातुधान्यः यातुधानीः राच-सीश्र दर्शय ॥ तथा विशाचान् विशिताशान् यातुधानव्यतिरिक्तान् सर्वान् रत्तोविशेपान् दर्शय इति एवमर्थम् हे त्र्योपधे त्वा त्वाम् आ रभे धारयामि ॥

हे सदम्पुष्पा श्रोपधे ! तू राचसों को मुभे दिखा अर्थात वे जिस पकार गुप्तरूपमें रहकर मुक्ते पीड़ा न देसकें तैसा कर और यातुधानियोंको तथा सब प्रकारकी पिशाचियोंको भी मुक्ते दिखा इसी कारण हे स्रोपधे ! मैं तुभको धारण करता हूँ ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

कश्यपंस्य चच्चरसि श्रुन्याश्च चतुरदयाः ।

वीध्रे सूर्यमिव स्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७॥

कश्यपस्य । चत्तुः । असि । शुन्याः । च । चतुःऽग्रच्याः ।

वीध्रे । सूर्यम् ऽइव । सर्पन्तम् । मा । पिशाचम् । तिरः । करः ७

हे श्रोपधे त्रं कश्यपस्य महर्षेः चत्तुरसि । तादृशपुष्पोपेतत्वात् तादात्म्येन स्तुतिः । तथा चतुरच्याः चत्वारि अन्तीणि यस्याः सा चतुरत्ती तादृश्याः शुन्याः देवानां संविन्धन्याः सरमाख्यायाः। चच्चरसीत्यनुपद्गः । एतेन अप्रधृष्यत्वम् उक्तम् । वीध्रे । विविधम् इन्धतेदीप्यन्तेस्मिन् ग्रहनचत्रादीनीति वीध्रम् अन्तरिच्नम् । अवा-विन्धे: [ उ० २, २६ ] इति औणादिको रक् मत्ययः 🕸 । तुत्र सर्पन्तम् गच्छन्तं सूर्यमित्र इतस्ततः सर्पणशीलं पिशाचं मा तिर-

## ( ४६० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

स्करः अन्तर्हितं मा कार्षाः । अ कर इति । करोतेर्माङ लुङ "कुमृद्दरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ् आदेशः 🕸 ॥

हे ओपधे ! तू महर्षि कश्यपकी चत्तु है ( सदम्युष्पाका युष्प तैसा ही होता है अत एव तादात्म्यसे स्तुति की है ) तथा चार नेत्र वाली देवतार्थोकी कुकुरी सरमाकी भी तू चत्तु है ( इससे श्रीपधिका अप्रधृष्यत्व सूचित किया है ) जिसमें अनेक प्रकारसे ग्रह नक्तत्र आदि दिपते हैं उस वीध नामक अन्तरिक्तमें सूर्यकी समान इधर उधर घूमते हुए पिशाचको अन्तर्हित न कर ॥७॥

अष्टमी ॥

उदंग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम् । तेनाहं सर्वं पश्याम्युत श्र्दमुतार्यम् ॥ = ॥

उत् । अग्रभम् । परिऽपानात् । यातुऽधानम् । किमीदिनम् ।

तेन । श्रहम् । सर्वम् । पश्यामि । उत । श्रुद्रम् । उत । श्रार्यम् 二

परिपानात् परिरत्तरणात् हेतोः किमीदिनम् किम् इदानीं किम् इदानीम् इति चरन्तं यातुधानम् राचसम् उत् अग्रभम् उद्-गृहीतवान् अस्म । वशीकृतवान् अस्मीत्यर्थः । तेन यातुधानेन अहं सर्व ग्रहं पश्यामि । उत श्रूइम् । श्रूइजातियुक्तम् आर्यम् ब्राह्मणजातियुक्तं च । सर्वे ग्रहं पश्यामीत्यर्थः ॥

परिरचणके कारण मैंने राचसको वशमें कर लिया है, उसके द्वारा मैं शुद्रजातियुक्त वा बाह्मणजातियुक्त सब ही प्रहोंको देखता हूँ

नवमी ।।

यो अन्तरिचेण पतंति दिवं यश्चांतिसपिति । भूनिं यो मन्यंते नाथं तं विशाचं प्र देशिय ॥ ६ ॥ यः । अन्तरिक्षेण । पतित । दिवम् । यः । च । अतिऽसर्पति ।

स्मिम् । यः । मन्यते । नाथम् । तम् । पिशाचम् । म। दर्शय ॥ ।।।।

यः पिशाचः अन्तिरक्षेण द्यावाषृथिन्योर्मध्यवर्तिना लोकेन पतित संचरित यश्च दित्रम् अधिसपित द्युलोकस्योपिर गच्छिति यश्च स्थिग् पृथिवीम् आत्मनो नाथम् स्वामिनं मन्यते तं सर्वं त्रै-लोक्यवर्तिनं पिशाचम् म दर्शय चच्चगोंचरं कुरु । त्रिसंध्यामणिधारणेन ब्रह्मग्रहादीन् साचात्कृत्य मन्त्रसामध्येन तान् निराकरोग्यीत्यर्थः ॥

पश्चमं सक्तम् ॥ इति सायणात्रार्यविरचिते श्रथर्ववेदार्थप्रकाशे चतुर्थकाएडे चतुर्थोत्तुवाकः॥

जो पिशाच द्यावापृथिवीके वीचके अन्तरित्तालोकमें घूमता है आरे जो स्वर्गमें विचरता है और जो पृथिवीको अपने अधीन समभता है, उस त्रैलोक्यवर्ती पिशाचको मुभे दिखा। तात्पर्य यह है, कि नित्रसंध्यामणिको धारण करनेके प्रभावसे मैं ब्रह्मग्रह आदिका सात्तात्कार कर मंत्रकी शक्तिसे उनका उपाय करता हूँ है च प्रश्री काण्डके च प्रश्री अनुवाकमें पञ्चम स्क समाप्त (१२२)॥

चतुर्थ अदुवाक समाप्त

पश्चमेनुवाके पश्च स्नुक्तानि । तत्र "आ गावः" इत्यादिस्क्त-दशकस्य मृगारसंज्ञकत्वात् "मृगारेमु ज्वेत्यासावयित" [कौ॰ ४. ३] इत्यादिस्त्रविहिते सर्वभेषज्यकर्मणि होमसंपातावसेका-दिषु विनियोगः । तत्र "आ गावः" इति प्रथमेन स्क्तेन गवां रोगोपशमनपुष्टिमजननकर्मसु सलवणं केवलं वा उदकम् अभि-मन्त्र्य गाः पाययेत् । स्त्रितं हि । "ब्रह्म जज्ञानम् [४. १] आ गावः [४. २१] एका च मे [५. १५] इति गा लवणं पाय- यत्युपतापिनीः प्रजननकामाः प्रपाम् अवरुणिद्धः इति [कौ०३.२]।। तथा गोपुष्टिकर्मणि अनेनैव सक्तेन गोष्टं प्रत्यागच्छन्तीर्गाः प्रत्युद्धच्छेत् ।।

तथा तिस्मन्नेव कर्मणि अनेनैव सक्तेन इन्द्राय चर्ह त्रिर्जुहुयात् ॥ तथा "प्रजावतीः" [ ७ ] इत्यनया अरुएयं प्रति गच्छन्तीर्गाः

अनुमन्त्रयेत ॥

स्नुत्रितं हि ।। "आ गाव इति गा आयतीः प्रत्युत्तिष्ठति । [ प्राष्ट्रिष प्रथमधारस्य ] इन्द्राय त्रिर्जुहोति । प्रजावतीरिति प्रतिष्ठ-माना अनुमन्त्रयते" इति [ कौ० ३, ४ ] ।।

तथा तत्रैव कर्मिण "प्रजावतीः" [ ७, ८ ] इति द्वाभ्याम् अभि-नवं पयो वत्सलालामिश्रितं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्रीयात् ॥

तथा [ अनेनैव ] द्वचृचेन गा अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥ तथा उदपात्रम् अभिमन्त्र्य गोष्ठमध्ये निनयेत् ॥

एवं सारूपवरसोदने गुग्गुलुलबणशकृत्पिणडान् प्रिचय पश्चा-दग्नेस्तिरात्रं निखाय चतुर्थेहिन उद्धृत्य अनेन द्वचृचेन संपात्य अभिमन्त्र्य अश्रीयात् ॥

सूत्रितं हि । "प्रजावतीः [ ७, ⊏ ] प्रजापतिः [ ६. ७ ] इति गोष्टकर्माणि गृष्टेः पीयूपं श्लेष्ममिश्रम् ऋशाति" [ कौ० ३.२ ] इति

सोमयागे माध्यंदिनसवने दित्ताणार्थम् आगता गा हिरएयहस्तो यजमानः अनेन सक्तेन पत्युत्तिष्ठेत् । उक्तं वैताने । "हिरएयहस्तो यजमानो बहिर्वेदि दित्तिणा आयतीरा गाव इति प्रत्युत्तिष्ठति" इति [ वै० ३. ११ ] ॥

पश्चम श्रमुवाकमें पाँच सक्त हैं। उनमें "श्रा गावः" श्रादि दश सक्त मृगारसक्त कहलाते हैं। श्रतः "मृगारैमु श्रेत्यासावयति" (कौशिकसूत्र ४। ३) इत्यादि सूत्रोंसे विहित सर्वभैषज्यकर्ममें श्रीर होम सम्पात श्रवसेक श्रादिमें इनका विनियोग है। उनमें 'आ गावः' इस मथमसे गौओं की शान्ति, गौओं की पृष्टि और मजननकर्ममें लवणसहित वा केवल जलका अभिमंत्रण कर गौओं को पिलावे। इस विषयमें सूत्रका ममाण भी है, कि—''ब्रह्म जज्ञानम् (४।१) आ गावः (४।२१) एका च मे (४।१५) इति गा लवणं पाययत्युपतापिनीः मजननकामाः मपां अवरु-णिद्धि'' (कौशिकसूत्र ३।२)॥

तथा गोषुष्टिकर्ममें इसी सक्तसे गोष्टमें आतीहुई गौओंके सामने खड़ा होवे ॥

श्रीर इसी कर्ममें इस सक्तसे इन्द्रदेवको चरुकी तीन श्राहुति देय तथा ''मनावतीः'' इस सातवीं ऋचासे जङ्गलको जाती हुई गौश्रोंका श्रमुमन्त्रण करे।।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"आ गाव इति आयतीः यत्युत्तिष्ठति । [ पाष्टिष प्रथमधारस्य ] इन्द्राय त्रिर्जुहोति । प्रजा-वतीरिति प्रतिष्ठमाना अनुमन्त्रयते" (कोशिकसूत्र ३ । ४ ) ॥

तथा इसी कर्ममें "प्रजावतीः" इन सातवीं आठवीं ऋचासे वछड़ेकी लारसे मिश्रित नवीन दुग्धका संपातन और अभिमंत्रण करके प्राशन करे।

तथा इन्हीं दो ऋचाओं से गौश्रोंको श्रभिमंत्रित करके दान देय।।
तथा जलपूर्ण पात्रका श्रभिमंत्रण करके गोठके मध्यमें लेजावे।
इसी प्रकार सारूपवत्सौदनमें गूगल लवण और शकृत्पिएडों
को डाल कर श्रिग्नमें तीन रात्रि तक दवा रहने दे फिर चौथे
दिन निकाल कर इन दो ऋचाश्रोंसे सम्पातन और श्रभिमन्त्रण
करके खावे।।

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-'प्रजावतीः (७, ८) प्रजापतिः (६।७) इति गोष्टकर्माणि गृष्टे पीयूषं श्लेष्मिश्रं अश्नाति'' (कौशिकसूत्र ३।२)॥ सोमयागर्के माध्यन्दिनसवनमें दिन्निणार्के लिथे आई हुई गौओं के प्रति यजमान हाथमें सुवर्णको लेकर इस सूक्तको पढ़ता हुआ उठे। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'हिरएयहस्तो यज-मानो बहिर्वेदि दिन्निणा आयतीरा गाव इति पत्युत्तिष्ठतीति" (वैतान-सूत्र ३। ११)।।

तत्र प्रथमा ॥

श्रा गावें। श्रग्मन्तुत भद्रमंक्रन्त्सीदेन्तु गोष्ठे रणयंन्त्वसमे प्रजावंतीः पुरुरूपां इह स्युरिन्द्रांय पूर्वीरुपसो दुहांनाः १ श्रा । गावः । श्रम्मन् । उत । भद्रम् । श्रक्तन् । सीदंन्तु । गोऽस्थे। रणयंन्तु । श्रस्मे इति ।

पुजाऽवतीः । पुरुऽरूपाः । इह । रयुः । इन्द्राय । पूर्वीः । उपसः । इहानाः ॥ १ ॥

गावः [त्रा] अगमन् अस्मान् अभिलच्य आगच्छन्तु । अ"छन्दिस लुङ्लङ्लिटः" इति लोडर्थे लुङ् । "मन्त्रे घस॰" इति च्लेर्लुक् । "गमहन॰" इति उपधालोपः अ ॥ उत अपि च भद्रम् कल्या-णम् अकन् कुर्वन्तु । अ पूर्ववल्लुङ् ॥ गावस्तिष्ठन्त्यत्रेति गोष्ठम् । तस्मिन्नस्मदीये गोष्ठे सीदन्तु उपविशन्तु ॥ अस्मे अस्मान् रण-यन्तु चीरादिभदानेन रमयन्तु । यद्वा अस्मे अस्मासु रमन्ताम् ॥ मजात्रतीः मजावत्यः बह्वपत्याः पुरुष्ट्वाः बहुष्ट्वाः श्तेतकृष्णारु-णाद्यनेकवर्णाः इह अस्मिन् यजमानगृहे स्युः समृद्धा भवेयुः ॥ पूर्वाः बह्वीः उपसः उपःकालोपलित्ततान् । अ "० अत्यन्तसंयोगे" द्वितीया अ । सर्वकालम् इन्द्राय इन्द्रार्थं सांनाय्यार्थम् आशिरार्थं च पयो दुहानाः । भवन्तु इति शेषः ॥ गौएँ हमको लच्य करके आवें, और कल्याण करें, गोठमें वैठें, हमें चीर आदि देकर आनन्दित करें। प्रजा वाली खेत कृष्ण आदि अनेक रूप वाली गौएँ इस यजमानके घरमें वहें। अनेक उपःकालों तक इन्द्रको बुलानेके लिये दुग्धको दुहाती रहें? दितीया।।

इन्द्रो यज्वने गृण्ते च शिक्तंत उपेद् दंदाति न स्वं मुंगायति ।

भूयोभूयो रियमिदंस्य वर्धयंन्नभिन्ने खिल्ये नि दंधाति देवयुम् ॥ २ ॥

इन्द्रः । यज्वने । यृणुते । च । शिच्तते । उप । इत । दुदाति । न । स्वम् । सुषायति ।

भूयःऽभूयः। रुविम् । इत् । अस्य । वर्षयन् । अभिन्ने । खिल्ये । नि । दुधाति । देवऽसुम् ॥ २ ॥

यज्वने यागं कुर्वते गृणते स्तुवते च जनाय इन्द्रो देवः शिचते । दानकर्मायम् । गाः प्रयच्छति । यद्वा यज्वने स्तोत्रे च शिचते गवां लाभोपायम् उपदिशति । अश्व शिच्च विद्योपादाने अश्व । शिच्चानन्तरं स्वयम् उपत्य । इच्छब्दः अवधारणे । बहीस्ता गाः ददात्येव । तस्य च यज्वनः स्तोतुश्च स्वम् धनं न ग्रुषायित न ग्रुष्णाति नापहरति । अपि तु भूयोभूयः बहुतरम् अस्य यज्वनः स्तोतुश्च रियम् धनं वर्धयिन्नत् समृद्धं कुर्वन्नेव वर्तते ॥ एवम् ऐहिकफलिविषयम् उक्तम् । आग्रुष्मिकिविषयेप्याह । तं देवयुम् देवान् आत्मन इच्छन्तं यज्वानं स्तोतारं च अभिन्ने दुःखेन असं-भिन्ने खिल्ये खिल्यम् अपहतं स्थानम् तत्र भवं खिल्यम्

## ( ४६६ ) अथर्ववेद संहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

[ तस्मिन् ] अयज्विभः अग्रणिद्धिश्च अनाक्रान्ते नाकस्य पृष्ठे नि द्धाति स्थापयति । क्ष देवयुम् इति । देवशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्"। "न च्छन्दस्यपुत्रस्य" इति ईत्वदीर्घयोः मतिपेधः। "क्या-च्छन्दिस्त" इति उपत्ययः क्ष ॥

याग करने वाले और स्तुति करनेवाले पुरुषको इन्द्रदेव गोप्राप्तिके उपायका उपदेश देते हैं। उपदेश देनेके अनन्तर वही
बहुतसी गौओंको देते हैं और उस यजमानके तथा स्तोताके भी
धनका अपहरण नहीं करते हैं, किन्तु इस यजमान स्तोताकी धनसमृद्धिको बढ़ाते ही रहते हैं (इस प्रकार इस लोकमें मिलने
वाला फल कह दिया अब परलोकमें मिलने वाला फल कहते हैं,
कि—) उस देवभक्त यजमान और स्तोताको सूर्यदेव दुःखसे रहित
अपहत स्थान स्वर्गमें स्थापित करते हैं, उसमें यज्ञ न करने वाले
नहीं पहुँचते हैं।। २।।

तृतीया ।।

न ता नंशन्ति न दंभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दंधभीते ।

देवांश्च याभिर्यजंते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपंतिः सह ॥ ३ ॥

न । ताः । नशन्ति । न । द्रभाति । तस्करः । न । आसाम् । स्रामित्रः । व्यथिः । आ । दधर्षति ।

देवान्। च । याभिः । यजतं । ददाति । च । ज्योक् । इत् ।

ताभिः। सचते । गोऽपतिः। सह ॥ ३॥

ताः इन्द्रेण दत्ता गावः न नशन्ति न नश्यन्तु ॥ तस्करः चोरश्च न दभाति न हिनस्तु । 🕸 नश अदर्शने । दन्धु दम्भे । श्राभ्यां लेटि यथाक्रमम् अडागम आडागमश्र। छान्दसो विकरणस्य लुक् 🛞 ।। आसां गवाम् आमित्रः अमित्राः शत्रवः तत्संवन्धी तत्कृतो व्यथिः व्यथाजनकम् स्रायुधं ना द्यपित स्राधर्षणं पीडां मा करोतु ।। याभिर्गोभिः देवान् यजते चीरादिहविर्द्वारा याश्र गास्तत्र यज्ञे दिचाणात्वेन ददाति ताभिगोंभिः सह गोपतिः गोस्वामी यजमानः ज्योगित् चिरकालमेव सचते सम्वैति सेवते वा। न कदाचिद् वियुज्यत इत्यवधारणाभिपायः ॥

इन्द्रकी दी हुईं वे गौएँ नष्ट न हों, चोर भी उनका संहार न कर सके, इन गौत्रोंके शत्रुत्रोंका व्यथा करने वाला त्रायुध भी इनको पीड़ित न कर सके। जिन गौत्रोंके दुग्ध त्रादिके द्वारा यजमान देवतात्रोंकी पूजा करता है ऋीर जिन गौ श्रोंको दिल्ला-रूपमें देता है । उन गौर्क्रोंके साथ गोस्वामी यजमान चिरकाल तक रहे, कभी वियुक्त न होवे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

न ता अर्वा रेणुककाटोश्चते न संस्कृतत्रमुपं यन्ति ता श्रीभ।

उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरनित यज्वनः ॥ ४ ॥

न । ताः । श्रर्वा । रेगुऽककाटः । श्रश्चुते । न संस्कृतत्रम् । उप । यन्ति । ताः । श्रभि ।

# ( ४६८ ) ऋथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

उरुऽगायम्। अभयम्। तस्य। ताः। अनु । गावः। मर्तस्य। वि ।

चरन्ति । यज्यनः ॥ ४॥

अर्वा हिंसको व्याघादिः रेणुककाटः पादाघातेन रेणोः पार्थि-वस्य रजस उद्भेदकः। अक्ष किर्टिभेदनकर्मा अ। एवं क्रूरो व्याघा-दिर्दुष्टमृगः ता गाः नाश्चते न पामोतु ।। तथा ता गावः संस्कृत-अम्। संस्कृतं विशसितं त्रायते पालयतीति संस्कृतत्रो मांसपाचकः। उक्तं हि।

संस्कृतः स्याद् विशसितः संस्कृतत्रश्च पाचकः । इति । तम् अभिलद्य नोप यन्ति नोपगच्छन्तु ॥ तस्य यज्वनो मर्तस्य मनुष्पस्य उरुगायम् विस्तीर्णगमनम् अभयं भयरहितं देशम् अनुलद्य ता गावो वि चरन्ति विविधं चरन्तु ॥

हिंसक और पैरोंसे धूलको उड़ाने वाला ब्याघ्र आदि दुष्ट पशु इन गौओंको प्राप्त न हो और गौएँ संस्कृतत्रकी अर्थात् कटे हुए मांसको पकाने वालेकी † ओर न जावें, इस मनुष्य यजमानके विस्तृत गमन वाले भयरहित देशकी ओर अनेक प्रकारसे विच-रण करें।। ४।।

पश्चमी ॥

गावो भगो गाव इन्द्रों म इच्छाद् गावः सोमंस्य प्रथमस्य भृत्तः।

इमा या गावः स जनास इन्द्रं इच्छामि हुदा मनसा चिदिन्द्रंम् ॥ ५ ॥

† कहा भी हैं, कि—"संस्कृतः स्याद् विशसितः संस्कृतत्रश्च पाचकः ॥–काटी हुई वस्तु संस्कृत कहलाती है और उसका पाचक संस्कृतत्र कहलाता है ॥" गावः । भगः । गावः । इन्द्रः । मे । इच्छात् । गावः । सोमस्य । प्रथमस्य । भत्तः ।

इमाः । याः । गावः । सः । जनासः । इन्द्रः । इच्छामि । हृदा । मनसा । चित् । इन्द्रम् ॥ ५ ॥

गाव एव भगः धनं पुरुषस्य सौभाग्यं वा । ततश्च मे महां गावः यथा भवन्ति तथा इन्द्र इच्छात् इच्छेत्। 🕸 इषु इच्छायाम्। अस्यात् लेटि आडागमः । "इषुगिमयमां छः" 🛞 । प्रथमस्य मुख्यस्य हिवर्षां मध्ये श्रेष्ठस्य सोमस्य गावः भन्तो भवन्ति । श्रिभ-षुतो हि सोमो गव्येन पयसा दध्ना च श्रीयते ॥ इमा या गावो दृश्यन्ते हे जनासः जनाः स एवेन्द्रः । प्रतिनिर्दिश्यमानापेत्तं स इत्येकवचनम् । ता एव गावः इन्द्र इति उपजीव्योपजीवकभावेन इन्द्रात्मना गवां स्तुतिः । अतस्तदीयेन पयःप्रभृतिना हविषा इन्द्रे थष्टुं हृदा हृदयेन मनसा तदन्तर्वितना ज्ञानकर्णेन च इच्छामि कामये । चिच्छब्दः ऋष्यर्थे ॥

गौएँ ही पुरुषका धन वा सौभाग्यरूप हैं, इस कारण जिस पकार मेरे गोएँ हों, तैसे इन्द्र इच्छा करें । हवियोंमें श्रेष्ठ श्रौर मुख्य सोमकी गौएँ भन्न होती हैं अर्थात् अभिषुत सोम गौके द्ध वा दहीमें पकाया जाता है। हे मनुष्यों ! यह जो गौएँ दीख रही हैं यही इन्द्र (रूप) हैं। अतः इनके दूध आदिकी बनी हुई हिवसे मैं हृदयके द्वारा और उसके भीतर रहने वाले ज्ञानके द्वारा इन्द्रकी पूजा करना चाहता हूँ।। ५ ।।

यूयं गांवो मेदयथा कृशं चिंदश्रीरं चिंत् कृणुथा सुप्रतीकम् ।

## ( ४७० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

भूदं गृहं कृंणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वयं उच्यते सभासं ॥ ६ ॥

युयम् । गावः । मेद्यथ् । कृशम् । चित् । श्रश्रीरम् । चित् । कृष्ण्थ् । सुऽमतीकम् ।

भद्रभ् । गृहम् । कृषुथ् । भद्रऽवाचः । बृहत् । वः । वयः ।

उच्यते । सभास्र ॥ ६ ॥

हे गावः यूयं कुशं चित् कुशमि शरीरिणं मेदयथ स्नेहयथ पयोदध्यादिना आप्याययथ ॥ अश्रीरं चित् अश्रीकम् अशोभ-नाङ्गमि पुरुषं सुमतीकम् शोभनावयः कृत्युथ कुरुथ ॥ हे भद्र-वाचः भद्राः कल्याण्यः हम्भारवलच्णा वाचो यासां तास्तथोक्ताः ईदृश्यो हे गावः अस्मदीयं गृहम् भद्रम् कल्याणम् श्रलंकृतं कृत्युत कुरुत । गोसमृद्धं हि गृहं कल्याणं भवति ॥ वः युष्माकं सवन्धि वयः अन्नं चीरद्ध्यादिलद्यां सभास्र जनसमृहेषु बृहत् महद्ग अधिकम् उच्यते मशस्यते श्रहो गवां चीरं द्ध्याज्यम् इति ॥

हे गौओं! तुम दुर्वल पाणीको भी दुग्ध दही आदिसे पुष्ट करो, अशोभन अङ्ग वाले पुरुषको भी शोभन अंग वाला करो, हे कल्याणमय हंभा शब्द करने वाली गौओं! तुम हमारे घरको अलंकृत करो। तुम्हारा चीर दिध आदिरूप अन्न जनसमूहमें प्रशं-सित होता है, कि-गौओंका दूध दही परम श्रेष्ट है।। ६।।

सप्तमी ॥

प्रजावंतीः सुयवंसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे विवन्तीः । मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुदस्य हेतिर्वणक्तु

पजाऽवृतीः । सुऽयवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । स्रपः । सुऽप्रपाने ।

पिबन्तीः ।

मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । ऋघऽशंसः । परि । वः । रुद्रस्य । े हेतिः । दृणक्तु ॥ ७॥

गावः प्रजावतीः प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिरुपेताः सूयवसे शोभन-व्णयुक्ते देशे रुशन्तीः वृणं भन्नयन्तीः शुद्धाः कालुष्यरहिता अयः सुप्रपाणे सुखेन पातव्ये शोभनावतरणमार्गयुक्ते तटाकादौ पिवन्तीः ईदृशीर्वः युष्मान् स्तेनः तस्करः मा ईशत अपहतु म् ईरवरो मा भूत्। अघशंसः। अधम् पापं वधलत्तरणं शंसति अभि-लपतीति अधशंसो व्याघादिर्दुष्टमृगः । सोपि मा ईशत ईश्वरो मा भूत् । रुद्रस्य ज्वरागिमानिदेवस्य हेति आयुधं वः युष्मान् परि दृणक्तु परिवर्जयतु । युष्मान् परिहृत्य अन्यत्र वर्तताम् इत्यर्थः ॥

[ इति पश्चमेनुवाके ] मथमं सूक्तम् ॥

पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न, शोभन तृण वाले देशमें तृणोंको भत्तरण करती हुई त्र्यौर सुखसे उतरने योग्य मार्ग वाले जलाशयमें निर्मल जलको पीती हुईं तुमको चोर न हर सके श्रोर तुमको मारना चाहने वाला व्याघ आदि भी तुम्हारा हरण करनेको समर्थ न हो। ज्वरके श्रभिमानी देवता रुद्रका आयुध तुमको छोड़देय

पञ्चम अनुवाकमें प्रधान सूक समाप्त (१०३)॥

"इमम् इन्द्र" इति सूक्तेन संग्रायजयार्थम् त्राज्यहोमम् सक्तु होमम् धनुरिव्माधानम् इषुसिमदाधानम् राज्ञे अभिमन्त्रितधनुः-मदानं च कुर्यात ।

## ( ४७२ ) अथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सूत्रितं हि । "इमम् इन्द्रेति युक्तयोः पदानान्तानि" इति [कौ॰ २, ४]॥

तथा "इमम् इन्द्र" इति सूक्तेन श्रिभिषक्तस्य राज्ञः पातःपात-रिभमन्त्रणम् उदपात्रसमासेचनं [ च ] कुर्यात् । तद्भ उक्तं कौशि-केन । [ "इमम् इन्द्र वर्धय चित्रयं म इति चित्रयं पातःपातरिभ-मन्त्रयत उक्तं समासेचनम्" इति । कौ० २. ८ ॥

तथा क्रव्याच्छमनकर्मणि अनेन सूक्तेन वृषभम् अनड्वाहं वा अभिमन्त्रयते। तद्ग उक्तं कोशिकेन ]। ''वैश्वदेवीम् इति वत्सतरीम् आलम्भयति इमम् इन्द्रेति वृषम् अनड्वाहम्'' इति [कौ० ६. ४]॥

'इमं इन्द्र' इस सक्तसे संग्राममें विजय पानेके लिये घृतहोम सक्तुहोम, धनुषरूपी ईधनका आधान और वाणरूपी समिधाका रखना और राजाको अभिमन्त्रित धनुष देना आदि भी करें। इस विषयमें सूत्रका प्रमाणभी है, कि—''इमं इन्द्रेति युक्तयोः प्रदान्नान्तानि" (कौशिकसूत्र २ । ५ )।

तथा 'इमं इन्द्र' इस स्क्तिसे अभिषिक्त राजाका प्रतिदिन अभि-मन्त्रण करे और जलपूर्ण पात्रसे जल भी छिड़के । इसी बातको कौशिक सूत्रमें कहा है, कि—'इमं इन्द्र वर्षेय चित्रयं म इति चित्रयं पातः पातरिभमन्त्रयत उक्तं समासेचनम्'' (कौशिकसूत्र २। ८)।।

तथा क्रव्याच्छमनकर्ममें इस सक्तसे दृषभका अभिमन्त्रण करे इसी जातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"वैश्वदेवीं इति वत्सतरीं आलम्भयति इमं इन्द्रेति दृषं अनड्वाहम्" (कौशिकसूत्र ६।४)

तत्र मथमा ॥

इमिन्द्र वर्धय चुत्रियं म इमं विशामंकरृषं कृंणु त्वम्।

# निरमित्रांनदणुद्यस्य सर्वास्तान् रंन्धयास्मा अहम्-त्तरेषुं ॥ १ ॥

इमम्। इन्द्र । वर्धय । चत्रियम् । मे । इमम् । विशाम् । एक उरुपम्। कृणु । त्वम् ।

निः । अमित्रान् । अच्छाहि । अस्य । सर्वान् । तान् । रन्धय । अस्मै ।

अहम्ऽउत्तरेषु ॥ १ ॥

हे इन्द्र त्वं मे मदीय इमं ज्ञत्रियम् राजानं वर्धय पुत्रपौत्रादि-भिवस्तुवाहनादिभिश्व समृद्धं कुरु । दृषाम् सेचनसमर्थानां वीर्य-वतां पुरुषाणां मध्ये इमं राजानम् एकरुषम् मुख्यसेक्तारम् अस-हायशूरं कुणु कुरु । अस्य राज्ञः सर्वीन् अभित्रान् शत्रून् निरच्णुहि निर्गतव्याप्तिकान् कुरु । संकुचितमभावान् कुरु इत्यर्थः । 🍪 श्रन् व्याप्तौ । स्वादित्यात् श्रुः 🕸 । तान् तथाविधान् शत्रुन् अस्मे राज्ञे रन्थय वशीकुरु । कर्मकरान् कुरु इत्यर्थः । त्र्यहमपि मनत्र-सामर्थ्येन उत्तरेषु उत्कृष्टतरेषु इन्द्रादिलोकपालेषु मध्ये इमम् एकं करोमीत्यर्थः ॥

हे इन्द्र ! श्राप मेरे इस ज्ञत्रिय राजाको पुत्र पौत्र श्रादि तथा वस्तु वाहन त्रादिसे समृद्ध करिये । श्रीर वीर्यवान् पुरुषोंमें इस राजाको ग्रुख्यसेका करिये अर्थात् किसीकी सहायताकी अपेना न रखने वाला शूर करिये। श्रीर इस राजाके सब शतुर्श्रोंको प्रभावहीन करिये फिर उन राजात्र्योंको इसके वशर्में लाइये। श्रौर मैं भी मन्त्रकी शक्तिसे इस राजाको उत्कृष्ट इन्द्र त्रादि लोक-पालोंमें एक बनाता हूँ ॥ १ ॥

## ( ४७४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

द्वितीया ॥

एमं भज्ञामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज्ञ यो अमित्रो अस्य वर्षमं ज्ञाणांमयमस्तु राजेन्द्र शहुं रन्धय सर्वेमस्मे आ। इमम्। भज्ञात्रामे । अश्वेषु । गोषु । निः।तम्। भुज्ञायः।

अमित्रः । अस्य ।

वर्षा । चत्राणाम् । अयम् । अस्तु । राजा । इन्द्र । शत्रुम् । रन्धय ।

सर्वम् । अस्मै ॥ २ ॥

हे इन्द्र इमं राजानं ग्रामे जनसमूहे अश्वेषु गोषु च विषये आ भज आभक्तम् आसमन्तात् संश्लिष्टं कुरु ॥ अस्य राज्ञो यः अमित्रः शत्रुरस्ति तं निर्भज ग्रामादिभ्यो निर्भक्तं वियुक्तं कुरु ॥ तथा ज्ञा-णाम् अन्येषां ज्ञियाणां वर्ष्मन् वर्ष्मिण देहे प्रशस्ते शरीरा-वयवे शिरसि अयम् अभिषिक्तो राजा वर्तमानोस्तु ॥ सर्वान् [शत्रुन् ] सर्वे च राष्ट्रं अस्मै अभिषिक्ताय राज्ञे रन्धय वशी-कुरु । अ रध हिंसासंराद्धयोः । "रिधजभोरिच" इति नुमागमः । रन्धयतिर्वशगमने इति निरुक्तम् [नि०१०, ४०] अ॥

हे इन्द्र! इस राजाको जनसमूह घोड़े और गीओं में हिला मिला रहने वाला करो और इस राजाका जो शत्रु है उसको घोड़े गी और मनुष्योंसे अलग रक्लो तथा अन्य ज्ञियोंके शिर पर यह राजा वर्तमान रहे। सब शत्रुओंको और सब राष्ट्रोंको इस अभिषिक्त राजाके वशमें करो।। २।।

वृतीया ॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानाम्यं विशां विश्वपतिरस्तु राजा । अस्मिन्निन्द्र महि वचीसि धेह्यवर्चसं कृण्हि रात्रं मस्य

अयम् । अस्तु । धनऽपतिः । धनानाम् । अयम् । विशाम् । विश्पतिः । अस्तु । राजां ।

अस्मिन् । इन्द्र ! महि । वर्गिसि । धेहि । अवर्चसम्। कृणुहि ।

गत्रुम् । अस्य ॥ ३ ॥

श्रयं राजाधनानाम् सुत्रण्रेरजतमिण्सुक्ताप्रवालादीनां धनपितः स्वामी [श्रस्तु] भवतु । धनानां पितर्धनपितिरित्येव धनाढ्यत्वे सिद्धे पुनर्धनानाम् इति व्यस्तिनिर्देशः ईशितव्यस्य धनस्य बहुत्वख्यापनार्थः। न हि राजपुरुष इत्युक्ते राज्ञो पुरुषः राज्ञां पुरुषः इति संख्याविशोषपतीतिरस्ति किं तु राजसंबन्धमात्रं प्रतीयते एवम् श्रत्रापि धनपितिरिति धनसंवन्धमात्रे श्रवगते तद्धहुत्वप्रतिपादनाय व्यस्तिनिर्देश इति न पौनरुक्त्यम् । श्रतो दृत्त्यदृत्तिभ्यां स्वामित्वं बहुत्वं च प्रतिपाद्यते ॥ तथा श्रयं राजा विशाम् प्रजानां विश्वतिरस्तु स्वामी भवतु । विशां विश्वपितिरिति पूर्ववद् व्याससमासयोरिम्पायः ॥ हे इन्द्र श्रस्मिन् राजिन [मिहि] महान्ति वर्चासि तेजांसि पराभिभवनसमर्थानि वीर्याणि धेहि स्थापय ॥ श्रस्य राज्ञः शत्रुम् श्रवर्चसं कृणुहि श्रतेजस्कं दुरु ॥

यह राजा सुवर्ण चाँदी मिण मोती मूँगे आदिका स्वामी हो, श्रीर यह राजा प्रजाओंका स्वामी हो, हे इन्द्र! इस राजामें शत्रुओंको तिरस्कृत करने वाले तेजोंको स्थापित करो ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

असमे द्यावाप्रथिवी भूरिवामं दुंहाथां घर्षदुचे इव धेनू।

# ( ४७६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अयं राजां त्रिय इन्द्रंस्य भूयात् त्रियो गवामोषंधीनां पश्चनाम् ॥ ४ ॥

अस्मे । द्यावापृथिवी इति । भूरि । वामम् । दुहाथाम् । धर्मदुघे इवेति धर्मदुघेऽइव । धेन् इति ।

श्रयम् । राजा । श्रियः । इन्द्रस्य । भ्रूयात् । त्रियः । गवाम् ।

श्रोषधीनाम् । पश्रूनाम् ॥ ४॥

हे द्यावाष्ट्रिथिवी द्यावाष्ट्रिथिव्यो असमे पुरोवर्तिने मदीयाय राज्ञे भूरि प्रभूतं वामम् वननीयं धनं दुहाथाम् प्रयच्छतम्। ॐ दुहेर्लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ॐ । तत्र दृष्टान्तः। धर्मदुघे इवेति । धर्मः प्रवर्णः । तदर्थं पयो या गौदोंग्धि सा धर्मदुघा । ॐ "दुहः कव् धश्र" इति कव्धत्वे ॐ । यथा धर्मदुघे धेन् बहुलं ज्ञीरं दुहाते तद्द वात्सल्येन बहुलं धनं द्यावाष्ट्रिथ्व्यो प्रयच्छताम् इत्यर्थः ॥ एवं धनसमृद्धौ सत्यां यागाद्यनुष्टानेन अयं राजा इन्द्रस्य यज्ञभाजो देवस्य प्रयः इष्टतरो भूयात् ॥ तत्मियत्वाद्ध दृष्टो सत्यां गवाम् अोषधीनाम् बीहियवादिसस्यानाम् अन्येषां पश्चनाम् द्विपाच्चतुष्टानां प्राचान् ।। तिमयत्वाद्ध दृष्टो सत्यां चतुष्टानां प्राचान् ।। तिमयत्वाद्ध दृष्टो सत्यां चतुष्टानां क्राव्यां पश्चनाम् द्विपाः चतुष्टां स्वाव्याद्वाद्याः ।।

हे चावापृथिवी ! इस सामने विद्यमान हमारे राजाके लिये च्याप बहुतसा धन दीजिये, जैसे प्रवर्ग्यके लिये द्ध दुहने वाले को गौ बहुतसा द्ध देती है इसी प्रकार हे चावापृथिवी ! आप इसको बहुतसा धन दीजिये । इस प्रकार धनकी दृद्धि होने पर यह राजा याग आदिका अनुष्टान कर यज्ञभाक इन्द्रदेवका प्रिय होजावे । और इन्द्रका प्रिय होनेसे दृष्टि होने पर गौओंका बीहि यव आदि औषधियोंका तथा दो पैर और चार पैर वाले अन्य

पशुत्रोंका भी यह राजा पिय होजाय ॥ ४ ॥

### पश्चमी ॥

युनिकम त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते यस्वा करंदेकरूषं जनानामुत राज्ञांमुत्तमं मानवानाम् युनिज्म । ते । उत्तरऽवन्तम् । इन्द्रम् । येन । जयन्ति । न । पराऽजयन्ते।

यः । त्वा । करत् । एकऽरुषम् । जनानाम् । उत्। राज्ञाम् । उत्ऽ-

तयषु । यानवानाम् ॥ ५ ॥

हे राजन् ते तव उत्तरावन्तम् ऋतिशयितोत्कर्षवन्तम् इन्द्रं युनज्मि थोजयामि सिखत्वापादनेन समानकार्यं करोमि । येन इन्द्रेण पेरि-तास्त्वदीया भटाः शत्रुसेनां जयन्तिन पराजयन्ते पराजयं न प्राप्तु-वन्ति । 🕸 "विपराभ्यां जेः" इति स्रात्मनेपदम् 🕸 । स्रापि च त्वा त्वां य इन्द्रः जनानाम् अन्येषां शूरजनानाम् एकदृपम् गोयुथे मधानभूतोयं हुष एकदृषः तद्भद् मुख्यं सर्वोत्कृष्टं करत् करोति । जतशब्दः अप्यर्थे । राज्ञाम् अन्येषामपि एकष्टपम् एकष्टपबद्ध अभि-भवितारं करोति । मानवानाम् मनोस्पत्यानां मनुष्यजातीयानाम् उत्तमम् उत्कृष्टं करोति । यद्दा मानवानाम् मनुवंश्यानाम् इलपुरू-रवःप्रभृतीनां राज्ञां मध्ये उत्तमम् प्रजापरिपालनशौर्यादिगुर्णेक्तकृष्टं करोति । तथाविधम् इन्द्रं युनिज्मीति संबन्धः ॥

हे राजन ! मैं परम उत्कर्ष वाले इन्द्रको तेरा मित्र बनाता हूँ, उस इन्द्रके मेरित तेरे मित्र शत्रुसेनाको जीतें पराजय न पार्वे, जो इन्द्रदेव शूरोंमें तुभाको रूपभकी समान बनाते हैं ख्रौर राजाखों में भी द्रषभकी समान मुख्य करते हैं तथा जो इन्द्र तुभको मनु के वंशमें उत्पन्न हुए इन पुरूरवा आदि राजाओं में प्रजापालन तथा शूरता आदि गुणोंसे उत्कृष्ट करते हैं, ऐसे इन्द्रसे तेरी

मित्रता कराता हूँ ॥ ५ ॥

### षष्टी ॥

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्नाये के च राजेन् प्रतिशत्रवस्ते एक्वृष इन्द्रंसखा जिगीवां छ्रेत्र्यतामा भरा भोजनानि उत्तरः। त्वम् । अधरे। ते। सञ्ज्याः। ये। के। च। राजन्।

प्रतिऽशत्रवः । ते ।

एकऽदृषः । इन्द्रेऽसखा । जिगीवान् । शुत्रुऽयताम् । आ । भर्।

भोजनानि ॥ ६ ॥

हे राजन त्वम् उत्तरः सर्वोत्कृष्टतरो भव । ते त्वदीयाः सपत्नाः अधरे निकृष्टा भवन्तु । तान् विशिनष्टि । ते । अदितीयार्थे पष्टी अ। त्वां मित ये के च जनाः शत्रवः शत्रुभावेन मितकूलम् आचरन्ति ते सर्वे अधरे भवन्तु इत्यर्थः ॥ अपि च एकष्टपः मधानभूतः इन्द्र-सखा इन्द्रेण सख्या युक्तः जिगीवान् शत्रून् जयन् शत्रूयताम् शत्रुत्वम् आत्मन इच्छतां शत्रुवद्ध आचरतां वा भोजनानि भोग-साधनानि धनानि आ भर् आहर् । सर्वान् शत्रून् विजित्य तदीयं सर्वे धनम् अपहरेत्यर्थः । अजिगीवान् इति । जि जये । अस्मा-च्छान्दसो वर्तमाने लिट् । तस्य च लिटः वनसुरादेशः । "सन्लिटोर्जेः" इति अभ्यासाद् उत्तरस्य कृत्वम्। शत्रूयताम् इति । "सुप आत्मनः क्यच्" । "उपमानाद् आचारे" इति वा क्यच् । तदन्तात् लटः शत्रादेशे "शतुरतुमः०" इति विभक्त्युदात्तत्वम् अ ॥

हे राजन् ! आप सबसे श्रेष्ठ हूजिये, आपके शत्रु नीचे हों, जो आपसे पतिकूल भावसे वर्ताव करते हैं, वे शत्रु नीचे हों और इन्द्र की मित्रतासे आप दृषभकी समान प्रधान बनकर शत्रुकी समान आचरण करने वाले पुरुषोंसे भोगके साधन धनोंको लाइये ॥६॥

#### सप्तमी ॥

सिंहपंतीको विशो आद्धि सर्वा व्याघपंतीको बांधस्व शत्रूंच्।

एकवृष इन्द्रेस ला जिगीवां छंत्र्यतामा खिंदा भाजनानि

सिंहऽमतीकः । विशः । अद्धि । सर्वाः । च्याघऽमतीकः । अव।

बाधस्य । शत्रून् ।

एकऽद्रुषः । इन्द्रऽसखा । जिगीवान् । शत्रूऽयताम्। आ । खिद् ।

भोजनानि ॥ ७ ॥

सिंहपतीकः सिंहशरीरः सिंहतुल्यपराक्रमः सन् त्राज्ञामात्रेण सर्वा विशः स्वराष्ट्रस्थाः प्रजाः अद्धि अङ्क्व । अ अद भक्तणे । "हुक्कलभ्यो हेधिः" इति धित्वम् अ ॥ व्याघ्रपतीकः व्याघ्रशरीरः व्याघ्रवह त्राक्रम्य पर्यन्तस्थान् शत्रून् अप वाधस्व । अन्यद् व्याख्यातम् । एतावांस्तु विशेषः । शत्रुसंबन्धीनि धनानि आ खिद आच्छिन्ध । अपहरेत्यर्थः । अ आङ्पूर्वः खिदिः आच्छेदने वर्तते यथा "आक्खिदते च प्रविखदते च" [ तै० सं० ४. ५. ६. २ ] इति अ ॥

[ इति ] द्वितीयं सुक्तम् ॥

सिंहकी समान पराक्रमी आप, अपनी आज्ञासे ही अपने राज्यमें स्थित प्रजाओं को भोगिये। व्याघ्रकी समान आक्रमण करके शत्रुओं को पीड़ा दीजिये। आप इन्द्रकी मित्रतासे वैलों में ग्रुख्य दृषभकी सगान वन कर शत्रुभावसे आचरण करने वालों के धनों को नष्ट करिये।। ७।।

चतुर्ध काण्डके पञ्चम अनुंबोकमें द्वितीय स्क समाप्त (१२४)॥

## ( ४८० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

"अग्नेम न्वे" इति स्कासमासस्य बृहद्गणे पाठात् शान्त्युदकादौ विनियोगः। तथा च कौशिकं सूत्रस् । "उत देवाः [ ४. १३ ] मृगारस्कानि [ ४. २१–३० ] उत्तर्षं वर्जियत्वा" इति [ कौ० १. ६ ]। अत्र उत्तमशब्देन आ गावः [ २१ ] इमम् इन्द्र [ २२ ] इति आदिमे द्वे आहं रुद्रेभिः [ ३० ] इति अन्तिमं चेति स्कात्रयं विवित्ततम् ॥

तथा श्रंहोलिङ्गगणे अग्नेम न्वे [२३-२६] इत्यादीनां सप्तानां स्वकानां पाठात् सर्वरोगभैषज्यादिषु विनियोगो द्रष्ट्रच्यः । स्त्रितं हि । "श्रोषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् श्रंहोलिङ्गाभिः" इत्यादि [कौ० ४. ८] ॥

''श्रग्नेम न्वे" इति सामिधेन्यनुमन्त्रणं कुर्यात् । तद्भ उक्तं वैताने । ''श्रग्नेम न्व इति सामिधेनीरनुमन्त्रयते'' इति [ वै० १, २ ] ॥

'अग्नेम न्वे' इन सात सक्तोंका बृहद्गणमें पाठ है अतः शान्त्यु-दक आदिमें इनका विनियोग है। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—''उत देवाः (४। १३) मृगार—सूक्तानि (४। २१–३०) उत्तमं वर्जियत्वा ॥—उत देवाः इस चतुर्धकाण्डके इक्तीसवें सक्तसे तीसवें सूक्त तक उत्तमको छोड़ कर मृगारसूक्त हैं।'' (कौशिकसूत्र १। ६)॥ इनमें उत्तम शब्दसे 'आ गावः' यह इक्तीसवाँ, 'इमं इन्द्र' यह बाईसवाँ इस प्रकार आदिके दो और 'अई रुद्रेभिः' यह तीसवाँ अन्तका सूक्त लिया गया है।

तथा अंहोलिंगगणमें 'अग्नेम न्वे इस तेईसवें सूक्तसे उन्तीसवें सूक्त तक सात सूक्तोंका पाठ है अतः सर्व रोगोंकी चिकित्सामें इनका विनियोग होता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'ओषिवनस्पतीनां अनुक्तान्यमतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहो-लिंगाभिः" (कौशिकसूत्र ४। ८)॥ 'अन्नेर्मन्वे' इस सूक्तसे सामिधेनीका अनुमन्त्रण करे। इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-अग्नेर्मन्य इति सामिधेनीरनु-मन्त्रयते" (वैतानसूत्र १।२)॥

तत्र प्रथमा ॥

अक्षेमेन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पार्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते ।

विशोविशः प्रविशिवांसंमीमहे स नो मुत्र्वंहंसः १

त्र्रयः । मुन्वे । प्रथमस्य । प्रऽचेतसः । पाञ्चऽजनयस्य । बहुऽधा।

यम् । इन्धते ।

विशःऽविशः। मृविशिऽवांसम् । ईमहे। सः। नः। मुख्रतु । ऋंहसः १

प्रथमस्य मुख्यस्य प्रचेतसः प्रकृष्टज्ञानस्य पाश्चयज्ञस्य । देवयज्ञः पितृयज्ञः भूतयज्ञः मनुष्ययज्ञः ब्रह्मयज्ञः इत्येते नित्यकर्तव्याः प्रसिद्धाः पश्चयज्ञाः । तैराराधनीयः पाश्चयज्ञः । यद्वा पश्चधा यज्ञा विभक्ता श्चिम्चोमाद्यः पश्चयज्ञाः । "धानाः करम्भः परिवापः पुरोडाशः प्रस्या तेन पङ्क्तिराप्यते तद्भ यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्" इति तैक्तिरीयश्चतेः [ते० सं० ६. ५. ११. ४] "यो ह वै यज्ञं हविष्पङ्क्ति वेद" [ ऐ० ब्रा० २. २४ ] इत्याद्यैतरेयकश्चतेश्च यज्ञस्य पश्चात्मकता । ताद्याप्रष्टोमादिनिर्वर्तकः पाश्चयज्ञः । यद्वा यज्ञशब्देन तिन्वष्याद्या जना विविद्याः । ते च निषादपश्चमाश्चत्वारो वर्धाः । गन्धर्वाप्सरसो देवा श्रम्भरा रक्षांसीत्येके । तेषु भवः पाश्चयज्ञः । तथा च तैक्तिरीयकम् "यं पाश्चजन्यं वहवः समिन्धते" [ते० सं० ४. ७. १५. १ ] इति । तस्य एवंग्रणविशिष्टस्य श्चरनेर्माहात्स्यं मन्वे जानामि । अ मनु श्चवबोधने । तनादित्वाद्भ उपत्ययः अ ।

## ( ४८२ ) अथर्ववेद संहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तदेव माहात्म्यं प्रतिपादयति बहुधा यम् इत्यादिना । बहुधा बहुप्रकारं यम् अग्निम् इन्धते गाईपत्यादिरूपेण संदीपयन्ति । विशोविशः सर्वाः प्रजाः प्रविशिवांसम् जाठरादिरूपेण प्रविष्टवन्तं तम्
अग्निम् ईमहे याचामहे । अईमहे यामि मन्महे इति याश्चाकर्मेषु
पिठतम् [ निघ० ३.१६ ] अ। यद्वा । अईङ् गतौ । दैवादिकः अ। ईमहे ईयामहे स्तुतिनमस्कारादिना प्राप्नुमः । "विश्वस्यां विशि प्रविविशिवांसम् ईमहे" इति तैत्तिरीयकम् [ तै० सं०
४.७.१५.१] । स तादृशोग्नः नः अस्मान् अंहसः सर्वानर्थनिदानभूतात् पापात् मुश्चतु मोचयतु । अस्मत्तः पापं विश्लेषयतु
इत्यर्थः ॥

प्रधान, श्रेष्ठ ज्ञान वाले अग्नि जिनकी देवयज्ञ पितृयज्ञ भूतयज्ञ मनुष्ययज्ञ और ब्रह्मयज्ञ-इन नित्यकर्तृक यज्ञोंसे आराधना की जाती है और जिन अग्निकी तैतिरीयसंहिता में प्रसिद्ध पाँच प्रकार से विभक्त अग्निष्ठोम आदि यज्ञोंको पूर्ण करने वाले पाश्चयज्ञसे उपासना कीजाती है और निषाद जिनमें पाँचवाँ है उन वर्णोंसे तथा गन्धर्व अप्सरा देवता असुर और राक्तस इन पाँचसे होने वाले यज्ञके द्वारा जिन अग्निकी उपासना कीजाती है उन अग्निके माहात्म्यको मैं जानता हूँ। इस प्रकार गाईपत्य आदि

† तैत्तिरीयसंहिता ६ । ५ । ११ । ४ में कहा है, कि-"धाना करम्भः परिवापः पुरोडाशः पयस्या तेन पंक्तिराप्यते तद्ध यज्ञस्य पांक्तत्वम् ॥—धाना अर्थात् अने हुए जौ, करंभ अर्थात् दही मिले हुए सन् और परिवाप, पुरोडाश तथा पयस्या इनसे यज्ञकी पंक्ति होती है, यही यज्ञका पांक्तत्व है ।' और ऐतरेय ब्राह्मण २ । २४ में कहा है, कि—'यो ह वै यज्ञं हिवष्पंक्तिं वेद ॥—जो हिवष्पंक्ति वाले यज्ञको जानता है ।" इस प्रकार यज्ञकी पश्चा-त्मकता प्रसिद्ध है । अनेक रूपोंसे जिस अग्निको पदीप्त करते हैं और जो सब प्रजाओं में जठराग्निके रूपसे प्रविष्ठ हैं उन अग्निसे हम प्रार्थना करते हैं ‡ ऐसे अग्नि हमको सब अनर्थों के मूज पापसे बचावें ÷ ॥ १॥

द्वितीया ॥

यथां हृब्यं वहांसि जातवेदो यथां युज्ञं कुल्पयांसि प्रजानन् ।

एवा देवेभ्यः सुमृतिं नु आ वह स नो सुञ्चत्वंहंसः २ यथा । हुव्यम् । वहंसि । जातुऽवेदः । यथा । युज्ञम् । कुल्पयंसि । पृऽजानन् ।

एव । देवेभ्यः । सुऽमतिम् । नः । आ । वृह् । सः । नः । मुश्चतु ।

श्रंहसः !! २ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरण्ने यथा येन प्रकारेण हव्यम् चरुपुरोडाशादि होतव्यं हिवः वहसि तत्तद्यष्टव्यदेवतां प्रापयसि यथा येन च प्रकारेण यज्ञं पाकयज्ञहिवर्यज्ञसोमयागभेदेन एकाहा-हीनसन्त्रात्मना च कल्पयसि विरचयसि प्रजानन् तत्तद्भिदां प्रक-र्षेण अवगच्छन् । एव एवं देवेभ्यः देवानाम् अर्थे नः अस्माकं

<sup>‡</sup> तैत्तिरीयसंहिता ४। ७। १५। १ में कहा है, कि-यं पाश्च-जन्यं बहवः समिन्धते ॥ जिस पाँच जनोंसे सिद्ध होने वाले यज्ञ की बहुतसे उपासना करते हैं॥

<sup>ं</sup> तैत्तिरीयसंहिता ४। ७। १५। १ में कहा है, कि-"विश्वस्यां दिशि प्रविविशिवांसं ईमहे। ।—सम्पूर्ण प्रजाओं में प्रवेश करने वाले अग्निकी हम स्तुति नमस्कार आदिसे प्रार्थना करते हैं"

## ( ४८४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सुमितम् शोभनां बुद्धिम् त्रा वह प्रापय । यद्वा देवेभ्यः सकाशात् सुमितम् अनुग्रहात्मिकां बुद्धिं नः त्रस्मान् प्रापय ।। गतम् अन्यत् ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने ! आप चरु पुरोडाश आदि हविको उससे पूजनीय देवताके पास जिस प्रकार पहुँचाते हैं और जिस प्रकार पाकयज्ञ हिवर्यज्ञ सोमयाग एकाह और अहीनसत्रभेदसे उन यज्ञोंके भेदोंको जानते हुए रचते हो, इसी प्रकार देवताओंके पाससे हमको अनुग्रहरूपा शोभन बुद्धि पास कराइये और हे ऐसे अग्निदेव! आप हमको सब अनथोंके मूल पापसे छुड़ाइये।। २।।

#### तृतीया ॥

यामन्यामन्तुपयुक्तं वहिष्टं कर्मन्कर्मन्नाभगम्। अक्षिमी हे रच्चोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स ने। मुञ्चत्वंहंसः ॥ ३॥ यामन्ऽयामन्। उपंऽयुक्तम्। वहिष्ठम्। कर्मन्ऽकर्मन्। आऽभगम्। अग्निम्। ईहे।

र्ज्ञः ऽहनम् । युज्ञ ऽष्टर्थम् । घृतऽत्र्योहुतम् । सः । नः । मुश्चतु ।

अंहसः ॥ ३ ॥

यामन्यामन् यामनियामनि । अ सप्तम्या लुक् अ । तत्तत्कि-लप्तापणे निमित्तभूते सित उपयुक्तम् तत्तद्धोमाधारत्वेन विनियुक्तं विहष्टम् वोदृत्तमम् । अ वोदृशब्दात् "तुश्छन्दिस" इति इष्टन् पत्ययः "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः अ । कर्मन्कर्मन् । अ पूर्व-वत् सप्तम्या लुक् अ । तत्तत्फलसाधने सर्वस्मिन् कर्माण आभगम् आभक्तव्यम् आसेव्यम् एवंगुणिविशिष्टम् अप्तिम् अहम् ईले स्तौिम । पुनर्विशेष्यते । रत्नोहणम् रत्तसां हन्तारं यज्ञष्ट्यम् यज्ञस्य अप्ति- ष्टोमादेर्वर्धियतारं घृताहुतम् आज्येन आहुतम् आहुतिभिः संदी-पितम् ॥ स न इत्यादि पूर्ववत् ॥

पत्येक यागमें होमके आधार होनेसे विनियुक्त हिन पहुँचाने बाले और अमुक २ फलके साधन सब कमोंमें सेवन करने योग्य अभिकी में स्तुति करता हूँ। वह अभि राक्तसोंका संहार करने वाले हैं, अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको वढ़ाने वाले हैं और घृत की आहुतियोंसे उनको प्रदीप्त किया जाता है ऐसे अग्निदेव हमको पापसे मुक्त करें।। ३।।

चतुर्थी ॥

सुजातं जातवेदसम्भि वैश्वानरं विश्वम् । हन्यवाहं हवामहे स ने। मुब्बतंहंसः ॥ ४ ॥

सुडजातम् । जातऽवेदसम् । ऋग्निम् । वैश्वान्रम् । विडसुम् ।

ह्व्यऽवाहम् । ह्वामहे । सः । नः । मुश्चतु । घ्रंहसः ॥ ४ ॥

सुजातम् शोभनजन्मानम् । मन्त्रैर्निर्मध्य त्राहितत्वात् । जात-वेदसम् जातानां जिनमतां वेदितारम् । यद्वा । जातानि भूतजातानि एनं विदन्तीति जातवेदाः । त्रथ वा जातमात्र एव वेदः धनं पशु-लच्चणम् अलभतेति जातवेदाः । "यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् इति हि ब्राह्मणम्" [नि० ७. १६] । वैश्वानरम् विश्वनरात्मकं विश्वनरहितं वा अत एव विश्वम् व्यापकं हव्यवाहम् हव्यस्य हविषा अस्माभिर्दत्तस्य वोदारम् एवंगुण-विशिष्टम् अग्नि हवामहे आह्वयामः । क्ष "बहुलं बन्दांस" इति हः संप्रसारणम् क्ष ॥ अन्यद्व गतम् ॥

मंत्रोंके निर्मथन होनेसे शोभन जन्म वाले, उत्पन्न होने वालीं को जानने वाले, और उत्पन्न हुए प्राणिमात्र जिनको जानते हैं

#### ( ४८६ ) ऋथवेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अथवा जिन्होंने उत्पन्न होते ही पशुरूपी धनको पाप्त किया है ‡ ऐसे जातवेदा और सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करने वाले वैश्वानर व्यापक और हमारी दी हुई हिनको पहुँचाने वाले अग्निदेवका हम आहान करते हैं, वह हमको सकल अनथोंकी मूल पापसे छुड़ावें ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

येन ऋषयो ब्लमद्यातयन् युजा येनासुराणामयुवनत मायाः।

येनामिनां पणीनिन्द्रां जिगाय सनो मुञ्ज्वंहसः ५ येन । ऋषयः । बुलम् । अद्योतयन् । युजा । येन । असुराणाम् ।

त्रयुवन्त । मायाः ।

येन । अग्निना । पणीन् । इन्द्रंः । जिगाय । सः । नः । गुश्चतु । अहंसः

ऋषयः अतीन्द्रियार्थदिशानः अङ्गिरः प्रभृतयः येन अग्निना युजा सख्या बलम् आत्मीयं सामर्थ्यम् उद्योतयन् उद्दीतं पराभिभवन-ज्ञमम् अकुर्वन् येन अग्निना असुराणाम् सुरिवरोधिनां मायाः व्यामोहकशक्तीः अयुवन्त देवाः पृथक् कृतवन्तः तथा येन अग्निना इन्द्रो देवाधिपतिः पणीन् एतत्संज्ञान् असुरान् जिगाय जितवान्। अज्ञ जि जये। अस्मात् लिटि "सन् लिटोर्जेः" इति अभ्यासाद्व उत्त-रस्य कुत्वम् अ।

‡ निरुक्तमें कहा है, कि-"यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति तज्जातबेदसो जातवेदस्त्वम् ॥—उन्होंने उत्पन्न होते ही पशुओं को पाया यही अग्निका जातवेदस्त्व है"। (निरुक्त ७। १६)॥

अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखने वाले अंगिरा आदि ऋपियोंने जिन अग्रिके साथ मित्रता कर पराभिभवनरूप आत्मशक्तिको जगाया है और जिन अग्निदेवके प्रभावसे देवताओंने असुरोंकी मोहने वाली मायाओंको देवताओंसे अलग किया है और जिन अग्निदेवके द्वारा इन्द्रदेवने पिणनामक असुरोंको जीता है, वह अग्निदेव हमें सब अनथोंकी मूल पापसे छुड़ा देवें।। ५।।

#### पष्टी ॥

येन देवा असृतंमन्वविन्दत् येनोपंधीर्भधंमतीरक्रंगवन् येनं देवाः स्वं १राभरन्तस नो सुत्रत्वंहसः ॥ ५ ॥

येन । देवाः । ऋमृतम् । ऋतुऽऋविन्दन् । येन अर्थिः।

मधुं अमतीः । अकृएवन् ।

येन । देवाः। स्वृः । आऽत्रभरन्।सः। नः। गुञ्चतु । अहंसः६

येन अग्निना सहायेन देवाः इन्द्रादयः अमृतम् अमरणसाधनं पीयूषम् अन्वविन्दन् अलभन्त येन अग्निना जगदनुपविष्टेन अोषधीः ब्रीहियवाद्यास्तरुगुल्माद्याश्चामधुमतीः मधुररसयुक्ताः अकृ-एवन् अकुर्वन् येन अग्निना यज्ञसाधनभूतेन देवाः देवत्वकामा यज्ञमानाः स्तोतारो वा स्वः स्वर्गम् आभरन् आहरन् । अलभन्तेत्यर्थः ॥

जिन अग्निकी सहायतासे इन्द्र आदि देवताओंने अमरणके साधन अग्नतको प्राप्त किया था, और जगत्के भीतरप्रविष्ट जिन अग्निके द्वारा देवताओंने ब्रीहि यव तरु गुल्म आदि औपधियों को मधुर रस युक्त किया है और जिन यज्ञके साधनभूत अग्निके द्वारा देवत्व चाहने वाले यजमान वा स्तोता स्वर्गको प्राप्त करते हैं, वह अग्निदेव हमें पापसे युक्त करें ॥ ६ ॥

## ( ४८८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सप्तमी ॥

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जनितव्यं च

केवलम् ।
स्तोम्यप्तिं नाथितो जोहवीमि स नो मुझ्त्वंहंसः ७
यस्य । इदम् । प्रश्रदिशि । यत् । विऽरोचते । यत् । जातम् ।
जनितन्यम् । च । केवलम् ।

स्तौषि। अग्निम् । नाथितः । जोह्वीषि । सः । नः । मुञ्चतु । अहसः ७ यस्य अग्नेः पदिशि पदेशने प्रशासने इदम् सर्वे जगद्भ वर्तते ।

यस्य अग्नः भादारा भदरान भरासन इदम् सन गास्त्र वर्ता ।
इदम् इत्येतद् विशिनष्टि । यद्व इदम् अन्तिरिक्षे प्रहनत्तन्नादिकं विरोचते विविधं दीप्यते यच प्राणिजातं पृथिव्यां [जातम्] उत्पन्नं
जनितव्यम् जनियतव्यं जनिष्यमाणं कृत्स्नं कार्यं जगद्व यद्व अस्ति
तत् सर्वं केवलम् अनन्यसाधारणं यस्य प्रदिशि 'वर्तते तथाविधम्
अग्निम् अहं स्तौमि । नाथितः । अ नाथृ याश्चायाम् । अस्मात्
कर्तरि निष्ठा अ । नाथमानः फलं कामयमानः । यद्वा नाथः स्वामी
संजातोस्य नाथितः । तेनामिना नाथवान् भविष्यामीति जोहवीमि
पुनःपुनराह्वयामि । अ "अभ्यस्तस्य च" इति ह्वयतेः संपसारणम् । "गुणो यङ्जुकोः" इति अभ्यासस्य गुणः अ ।।

[ इति ] तृतीयं सुक्तम् ॥

जिन अग्निदेवके शासनमें यह सम्पूर्ण जगत् वर्तमान है। अन्तिरिक्तमें जो ग्रह नक्तत्र आदि अनेक प्रकारसे दिपते हैं. पृथिवी में उत्पन्न पाणिपात्र और आगेको उत्पन्न होने वाले पाणी जिन अग्निदेवके वशीभूत हैं उन अग्निदेवकी मैं स्तुति करता हूँ, उनका वारंबार आहान करता हूँ।। ७।।

तीसरा स्क समाप्त (१२५)॥

"अग्नयेंहोमुचेष्टाकपालः" [ तै० सं० ७. ५. २१. १ ] इत्या-दिना दशहविष्कामगारेष्टिराध्वर्यवे विहिता । तत्र अमेरंहोम्रचः स्तात्रकम् "अग्नेर्मन्वे" [ २३ ] इति सुक्तंच्याख्यातम् । इन्द्रस्यां-होमुचः स्तावकम् "इन्द्रस्य गन्महे" इति सुक्तम् । तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

''अप्रयेंहोमुचेष्टाकपालः'' इस तैत्तिरीयसंहिता ७ । ५ । २१ । १ के मन्त्रसे दशहविष्का मृगारेष्टिका अध्वयुके लिये विधान किया गया है। तहाँ के अग्निका स्तात्रक पापमोचन करने वाला "अभे-र्मन्वे" यह तेईसवाँ सक्त लिया गया है। श्रीर इन्द्रकी स्तुति करने वाला पापमोचक 'इन्द्रस्य मन्महे' सूक्त लिया गया है। इसका पूर्वस्कके साथ विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रंस्य मन्महे शश्वदिद्रंस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उपं मेम आगुः।

यो दाशुकः सुकृतो हव्मेति स नो मुत्रत्वंहंसः॥१॥

इन्द्रस्य । मन्महे । शरवत् । इत् । अस्य । मन्महे । वृत्रऽघ्नः । स्तोमाः ।

उप । मा । इमे । आ । अगुः ।

यः । दाशुषः । सुङकृतः । इवम् । एति । सः । नः । सुञ्चतु ।

्रञ्चंहसः ॥ १ ॥

इन्द्रस्य परमैशवर्ययुक्तस्य मन्महे महत्त्वं जानीमः । अ मनु अव-बोधने । तनादित्वाद् उपत्ययः । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोःः" इति उकारलोपः 🛞 । त्रासाधारएयं दर्शयितुम् त्राह शश्वदिति ।

इदिति श्रवधारणे । शश्वत् पुनःपुनः श्रक्ष्येवेन्द्रस्य तद् माहात्म्यं मन्महे श्रवबुध्यामहे । नान्यस्य ताहङ्माहात्म्यं दृश्यतं इत्यर्थः । हृत्रग्नः हृत्रम् श्रम् श्रम् हृत्रवतस्तस्य इन्द्रस्य इमे पुरतो वृद्यमाणाः स्तोमाः स्तोत्राणि मा माम् उपाग्रः उपयन्ति उपगच्छन्ति । इन्द्रमाहात्म्यविषयाणि स्तोत्राणि उपागत्य मांस्तोतारं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ यः प्रसिद्ध इन्द्रो दाशुषः चरुपुरोडाशादिह्वीषि दृत्तवतः सुकृतः शोभनक्षमणो यजमानस्य हृवम् श्राह्वानम् एति प्राप्नोति नोदास्ते । अ दाशुषः । दाश्य दाने । "दाश्यान् साह्वान् मीद्वाश्र" इति क्यसौ निपात्यते । "वसोः संप्रसारणम्" । इति संप्रसारणम् । हृवम् इति । "भावेन्यपर्मरस्य" इति हृयतेरप् संप्रसारणं च अ ॥ स न इत्यादि गतम् ॥

परमैश्वर्ययुक्त इन्द्रदेवके महत्वको हमजानते हैं (इन्द्रका असा-धारणत्व दिखानेके लिये कहते हैं, कि-) हम वारम्वार इन इन्द्र-देवके ही माहात्म्यको जानते हैं अर्थात् ऐसा और किसीका माहात्म्य नहीं दीखता। ष्ट्रतासुरका हनन करने वाले इन्द्रके आगे कहे जाने वाले स्तोत्र सुक्तको पाप्त होरहे हैं अर्थात् इन्द्रके माहात्म्य विषयक स्तोत्र सामने आकर सुक्ते स्तुति करने वाला बना रहे हैं। जो प्रसिद्ध इन्द्रदेव शोधन कर्म वाले यजमानके आहानकी अपेक्षा नहीं करते हैं, वह इन्द्र हमको सब अनथोंके मूल पापसे

छुड़ावें ॥ १ ॥

द्वितीया 🚻

य उत्रीणां मुत्रबां हुर्युयों दानवानां बलेमारुरोजं । येनं जिताः सिन्धवो येन गावः सः नेर्षं मुञ्जत्वं हंसः यः। उत्रीणांष् । उत्रऽबांहः। ययः। यः। दानवानांष्। बलंष्।

ऋाऽरुरोज ।

येन । जिताः। सिन्धवः । येन । गावः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः २

य इन्द्रः उग्रवाहुः उद्यूर्णहस्तः उग्रीणाम् उद्गुर्णानां शत्र-सेनानां युगुः यावयिता पृथकता । 🕸 यौतेर्द्वे च इति डुपत्ययः 🕸 । य इन्द्रो दानवानाम् दनोरपत्यानाम् ऋसुराणां वलम् सामर्थ्यम् त्राहरोज सर्वतो वभञ्ज । 🕸 रुजो भङ्गे 🕸 । येन इन्द्रेण सिंधवः स्यन्दनशीला मेघस्था आपः जिताः मेघं भिन्त्रा जयेन प्राप्ताः। यद्वा सिन्धवो नद्यः समुद्रा वा द्वत्रवधेन जिताः। श्रूयते हि । "वजेण खान्यतृणन्नदीनाम्" [ऋ०२.१५.३] "अहन्नहिं परि-शयानम् ऋर्णोवास्रजो अपो अच्छा समुद्रम्'' [ ऋ०६. ३०. ४ ] इत्यादि । येन इन्द्रेण पणिनामकासुरवधेन तदपहता गावो जिता लब्धाः ॥ गृतस् अन्यत् ॥

जो उग्र हाथवाले इन्द्रदेव प्रचएड शत्रुसेनात्रोंमें भेद करानेवाले हैं और जिन इन्द्रदेवने दनुकी सन्तान दानवींकी शक्तिको तोड़ दिया है और जिन इन्द्रदेवने सरकने वाले जलोंको मेघोंको फाड़ कर जीता है अर्थात् पाप्त किया है और जिन इन्द्रदेवने दनको मार कर नदियोंको और समुद्रोंको जीता है † और जिन इन्द्र-देवने पिण नामक अमुरोंको मार कर उनकी हरी हुई गौओंको जीता है, वह इन्द्रदेव सव अनर्थों के मूल पापसे हमें मुक्त करें २ त्तीया ॥

यश्चर्षिणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै श्रावांणः प्रवदंन्ति नुम्एम् ।

यस्यांध्वर सप्तहांता मदिष्ठः स नो मुझत्वंहसः ॥३॥

† "बज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम् ॥-इन्द्रने बज्रके द्वारा नदियों के आकाशोंको हिंसित किया" (ऋ०२।१४।३)

#### ( ४६२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यः । चर्षिण्डमः । दृष्भः । स्वः ऽवित् । यस्मै । ग्रावाणः । मुज्व-दन्ति । नृम्णम् ।

यस्य । अध्वरः । सप्तऽहोता।मदिष्ठः । सः । नः । मुञ्चतु । ऋहसः

य इन्द्रः चर्षणितः। चर्षणयो सनुष्याः तान् अभिलिषितफलेन प्राति पूरयतीति चर्षणितः। अ पा पूरणे। "आतोनुपसर्गे कः" इति [कः] अ। इषभः वर्षिता। यदा द्रष्पभवत् प्रसह्यकारी स्विति स्वर्गस्य लम्भियता। यस्मा इन्द्राय प्रावाणः अभिषवार्थाः पाषाणा तृम्णम् सोमरसल्र्यणं धनं प्रवदन्ति अभिषवकालीने-ध्विनिभः प्रकथयन्ति। "देवा प्रावाण इन्दुरिन्द्र इत्यवादिषुः" [ते० बा० ३. ७. ६. २] "प्रते वदन्तु प्र वयं वदाम" [ऋ०१०. ६४. १] इत्यादिमन्त्रवर्णाद् प्राव्णां प्रविद्तृत्वम्। यस्य इन्द्रस्य अध्वरः सोमयम्गः सप्तहोता सप्तभिहीत्भिर्वषद्कर्तृभिर्युक्तः मदिष्टः मादियत्तमो भवति। अ होता मत्रावरुणः बाह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा अच्छावाकः आत्रीध्रश्चेति सप्त होतारो वपट्कर्तारो यस्मिन्निति बहुत्रीहौ " नद्यृतश्च" इति प्रातस्य कपः "ऋतश्छन्दिस" इति प्रतिषेधः। मदिष्ठ इति। मदी हर्षे इत्यस्मात् तृच्। तदन्तात् "तुश्छन्दिस" इति इष्ट्रम्। "तुरिष्टेमेयस्सु" इति तृलोपः अ॥ गतम् अन्यत्॥

जो इन्द्रदेश मनुष्योंको अभिलिषित फल देकर उनकी काम-नाओंको पूर्ण करते हैं और जो इन्द्रदेव रूपभकी समान हर्द्रपूर्वक स्वर्गकी पाप्ति कराने वाले हैं और जिन इन्द्रदेवके लिये अभि-पबके कार्यके पाषाण अभिषवके समयकी ध्वनियोंसे सोमरस-रूपी धनको कहते हैं †। और जिन इन्द्रदेवका सोमयाग सात

देवा ग्रावाण इन्दुरिन्द्र इत्यवादिषुः॥—दमकते हुए पाषाणोंने इन्दु इन्द्र कहा" (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ७। ६। २।) स्रौर

वपट्कर्ता होतात्र्योंके द्वारा भद करने वाला होता है ‡ वह इन्द्र-देव हमको सब अनथींके मृल पापसे छुड़ावें ॥ ३ ॥ चतुर्थी ॥

यस्य वशास ऋपभासं उच्चा यस्मै भीयन्ते स्वरंवः स्वर्विदं ।

यसमें शुक्रः पवंते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुझत्वंहंसः ४ यस्य । वशासः । ऋषभासः । उत्तर्णः । यस्मै । मीयन्ते । स्वर्वः । स्वःऽविदे ।

र्बस्मै । शुक्रः । पर्वते । ब्रह्मऽशुम्भितः । सः । नः । सुञ्चतु । ्रश्रंहसः ॥ ४ ॥

वशासः वशा वन्ध्या गावः ऋषभासः ऋषभाः उत्तणः उत्ताणः सेचनसमर्थाः । अ "वा षपूर्वस्य निगमे" इति उपघादीर्घाभावः अ। एवं वशादिरूपाः पशवः यस्य इन्द्रस्य यागार्थम् त्र्रालभ्यन्ते यस्मा इन्द्राय स्वर्विदे स्वर्गस्य लम्भियत्रे स्वरवः । यूपावतत्तराशकतः स्वरुः । तेन तद्वन्त उपलच्यन्ते । स्वरवः स्वरुपन्तो यूपा मीयन्ते श्रवटेषु स्थाप्यन्ते । 🕸 डुमिञ् प्रक्षेपणे 🅸 । यस्मा इन्द्राय शुक्रः निर्मलो रसवोन् सोमः ब्रह्मशुम्भितः ब्रह्मभिर्मन्त्रैः अभिषवसाध-नैरलंकृतः सन् पवते दशापवित्रधारया स्रवति ॥ स न इत्यादि पूर्ववत् ॥

"प्रते वदन्तु प वयं वदामः ॥ -ये कहें त्रीर हम कहते हैं" (ऋग्वेद १० । ६४ । १) इत्यादि मंत्रवर्णों में पाषाणोंका प्रवदितृत्व सिद्ध है ‡ होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक

श्रीर अग्नीध्र वे सात वषट्कर्ता होता है !!

जिन इन्द्रदेवके यागके लिये वंध्या गौ सेचनसमर्थ ऋषभका आलभन किया जाता है और जिन स्वर्गप्रापक इन्द्रदेवके लिये स्वरु वाले यूप अवटोंमें स्थापित किये जाते हैं और जिन इंद्रदेव के लिये निर्माल रस वाला सोम मन्त्रोंसे अलंकृत होता हुआ दशापवित्रकी धारासे टपकता है, वह इन्द्रदेव हमको सब अनथों के मूलपापसे छुड़ावें ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

यस्य जिष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इष्रुमन्तं गविष्टी ।

यस्मिन्नकः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो सुब्रत्वंहंसः प्र यस्य । जुष्टिष् । सोमिनः । कामयन्ते । यम् । इवन्ते । इर्षुऽमन्तम् ।

गोऽइंष्टी ।

यस्मिन् । अर्कः । शिश्रिये । यस्मिन् । अर्जः । सः । नः । मुश्चतु ।

ऋंहसः ॥ ५ ॥

यस्य इन्द्रस्य जिष्टिम् भीति सोमिनः सोमवन्तो यजमानाः काम-यन्ते अभिलवन्ति । इषुमन्तम् बाणवन्तं प्रशस्तायुधसहितं यम् इन्द्रं गविष्टौ गवां पिणिभिरपहतानां पुनरन्वेपणे अभिगमने वा हवन्ते आहयन्ति । यस्मिन्निन्द्रे अर्कः अर्चनसाधनभूतो मन्त्रः स्तुतशस्त्रादिलक्तिणः शिश्रिये आश्रितो भवति । तथा यस्मिन्निन्द्रे अर्जानः वलम् अनन्यसाधारणं दृश्यते ॥ स न इत्यादि पूर्ववत् ॥

सोम वाले यजमान जिन इन्द्रदेवकी प्रीतिको चाहते हैं और पिणयोंके द्वारा गौओंका हरण होने पर जिन मशस्त आयुधवाले इन्द्रदेवको बुलाया जाता है और जिन इन्द्रदेवमें पूजाका साधन मंत्र आश्रय पाता है और जिन इन्द्रदेवमें असाधारण वल दीखता है, वह इन्द्रदेव हमको पापसे छुड़ावें ॥ ५ ॥

षष्टी ॥

यः प्रथमः कंर्मकृत्याय जज्ञे यस्यं वीर्यं प्रथमस्यानुं बुद्धम्। येनोद्यंतो वज्रोभ्यायताहिं स ने। मुञ्जत्वंहंसः ॥ ६॥

यः । प्रथमः । कर्मे अकृत्याय । जज्ञे । यस्य । वीर्यम् । प्रथमस्य ।

अनुऽबुद्धम् ।

येन । उत्ऽयंतः । वज्रः । श्वभिऽत्रायंत । श्रहिस् । सः । नः ।

मुश्रतु । ग्रंहसः ॥ ६ ॥

य इन्द्रः प्रथमः मुख्यः कर्मकृत्याय कर्मणां ज्योतिष्टोमादीनां करणाय श्रनुष्ठानाय जज्ञे जातवान् । यस्य इन्द्रस्य प्रथमस्य मुख्यस्य हि । "इन्द्रस्य नु वीर्याणि म बोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री । श्रहन्नहिस् अन्वपंस्ततर्दे प वच्चणा अभिनत् पर्वतानाम्" इत्यादि [ ऋ॰ १. ३२. १]। येन इन्द्रेण उद्यतः उद्धृतो वज्रः अहिस् वृत्रम् अभ्यायत अभितः सर्वतः अहिंसीत् । अ आङ्पूर्वाद्व यमे-र्जुङि च्लेः सिच्। "यमो गन्यते" इति तस्य किच्वाद् "अनुदा-त्तोपदेश॰" इत्यादिना अनुनासिकलोपः। "हस्वाद अङ्गात्" इति सिज्लोपः 🕸 ॥ स न इत्यादिगतम् ॥

जो इन्द्रदेव ज्योतिष्टोम आदि कर्म करनेके लिये मुख्यरूपसे जाने जाते हैं ख्रीर जिन इन्द्रदेवका व्रत्रहनन ख्रादि मुख्य कर्म परस्पर पुरा हुत्रा सुना जाता है ‡ श्रीर जिन इन्द्रदेवके उठाये

<sup>‡ &</sup>quot;इंद्रस्य नु वीर्याणि प वोचं यानि चकार पथमानि वजी।

#### ( ४८६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हुए वज्रने हत्रासुरका सब श्रोरसे संहार कर डाला वह इन्द्रदेव हमको सब श्रनथाँके मूल पापसे सुक्त करें ॥ ६ ॥ सप्तमी ॥

य संग्रामान् नयंति सं युवे वृशी यः पुष्टानि संसुजति । द्यानि ।

स्तौमीन्द्रं नाथिनो जोविभि स नो मुञ्जत्वंहँस ॥७॥ यः। सम्ब्र्यामान् । नयति । सम् । युधे । वृशी । यः । पुष्टानि । सम्बर्धजति । द्वयानि ।

स्तौमि । इन्द्रम् । नाथितः । जोहवीमि । सः । नः । मुश्चतु ।

अंहसः ॥ ७ ॥

वशी स्वतन्त्रो य इन्द्रः युधे योधनाय संप्रहाराय संप्रामम् युद्धं सं नयित सम्यक् प्रापयित । यद्वा युधे योधनाय वशी स्वतन्त्रः । योधियतुं कुशल इत्यर्थः । तथा य इन्द्रः पुष्टानि समृद्धानि द्वयानि स्त्रीपुंसात्मकानि मिथुनानि संस्रजिति परस्परं संस्रष्टानि पजनन-समर्थानि करोति । तम् इन्द्रं स्तौमि । नाथितो जोहवीमि इत्यादि व्याख्यातम् ॥

[ इति ] चतुर्थं सक्तम् ॥ जो स्वतन्त्र इन्द्रदेव स्वतन्त्र प्रहार करनेके युद्धमें भली प्रकार

अहन्नहिं अन्वपस्ततर्द प्रवत्ताणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥— वज्रधारी इन्द्रने जिन सुख्य २ कमोंको किया है उन वीर्यमय कमोंको मैं कहता हूँ कि—इन्द्रदेवने द्वत्रको मारा फिर जलोंको ताड़ित किया स्त्रीर पर्वतोंके वन्नणोंको तोड़ डाला" ० (ऋग्वेद १ । ३२ । १)॥ पहुँचाते हैं श्रीर जो इंद्रदेव पुष्ट जोड़ोंको परस्पर संख्छ करते हैं उन इंद्रदेवकी मैं पार्थी स्तुति करता हूँ मैं उनको वारम्वार बुलाता हूँ, वह इंद्रदेव पापसे मेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

चतुर्थकाण्डके पंचम अनुवाकमें चतुर्थ सुक्त समाप्त (१२६)॥
"वायोः सवितुः" इत्यस्य सुक्तस्य "अग्नेर्यन्वे" इत्यनेन सुक्तेन
सह उक्तो विनियोगः॥

तथा "वायव्यां वातवात्यायाम्" [ न० क० १७ ] इत्यादि-विहितायां शान्तौ "वायोः सवितुः" इत्येतत् सक्तम् त्रावपनीयम् । तद् उक्तं नत्तत्रकल्पे । "वायोः सवितुरिति वायव्यायाम्" इति [ न० क० १८ ] ॥

तत्र मृगारेष्टो "वायो सावित्र आगोम्रग्भ्यां चरुः" [ तै० सं० ७. ५. २२. १ ] इति विहितस्य हविषो वायुसवितारौ देवता। तयोः स्तावकम् "वायोः सवितुः" इति सक्तम् ॥

"वायोः सवितुः" इस स्क्तका "अग्नेर्पन्वे स्क्रके साथ विनि-योग कह दिया है।।

तथा "वायव्यां वातवात्यायाम् — आँधी चलने पर वायव्या शांतिको करे" इस नत्तत्रकल्प १७ से विहित शान्तिमें "वायोः सिवतुः" यह स्रूक्त पढ़ना चाहिये। इसी बातको नत्तत्रकल्पमें कहा कि—"वायोः सिवतुरिति वायव्यायाम्" (नत्तत्रकल्प १८)।

तहाँ मृगारेष्टिमें ''वायो सावित्र आगो सुरभ्यां चरुः" (तैत्ति-रीयसंहिता ७ । ४ । २२ । १ ) से विहित हविके वायु और सविता देवता हैं । उनकी स्तुति करनेवाला ''वायो सवितु" यह सूक्त है ।।

तत्र प्रथमा ॥

वायोः संवितुर्विद्थानि मन्महे यावात्मन्वद् विशशो यौ च रच्चंथः।

### ( ४६८ ) अथदेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यौ विश्वंस्य परिभू बंभूवशुस्तौ नो मुञ्चत्मं हंसः॥१॥

वायौः । स्वितः । विद्यानि । मन्महे । यौ । आत्मन्ऽवत् । विशयः । यौ । च । रत्त्रेथः ।

यौ। विश्वस्य। परिभू इति परिऽभू। वभूवथुः। तौ। नः। मुञ्जतम्।

श्रंहंसः ॥ १॥

वायोः जगदाधारभूतस्य वातस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य च देवस्य विद्यानि वेदनानि स्तुत्या गुणविषयज्ञानानि । यद्वा विद्य इति यज्ञनाम । विद्यानि वेदितव्यानि श्रुतिविहितकर्माणि मन्महे जानी-महे । अ विद ज्ञाने इत्यस्माद् ऋौणादिकः अथमत्ययः अ। हे वायुसवितारौ यो युवाम् आत्मन्वत् सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगद् विशयः प्रविशयः । वायोस्तावत् प्राणात्मना प्रवेशः श्रुति-सिद्धः। "वायुः पाणो भूत्वा नासिके पाविशत्" [ ऐ० आ० २. ४. २ ] इति । सविताच प्रेरकत्वेन अन्तर्यामितया सर्वे जगद् त्र**तुप्रविष्टः । ''यः पृथिव्यां** तिष्ठन् पृथिव्या श्रन्तरः''[ बृ० श्रा० ३. ७. ७ ]। इत्याद्यन्तर्यामित्राह्मणात्। 🕸 त्र्यात्मन्वत् इति। **ब्रात्मन्शब्दाद्व मतुप्। "मादुपधायाः**०" इति वत्वम्। "ब्रानो नुट्" इति नुडागमः 🛞 । प्रवेशानन्तरं यौ च युवां रत्तथः तज्ज-गत् पालयथः । तथा यौ युवां विश्वस्य कृतस्त्रस्य जगतः परिभू । परिपूर्वी भवतिः परिग्रहार्थे वर्तते । परिग्रहीतारौ वभूवशुः भवशः। अध्यिष्ट्रिवीद् भवतेः विवप् प्रत्ययः । "सुपां सुलुक्" इति पूर्व-सवर्णदीर्घः 🕸 । हे वायुसवितारौ तौ युवां नः अस्मान् अंहसः पापाद् मुञ्चतम् । 🕸 मुच्लू मोत्तणे ।। "शे मुचादीनाम्" इति नुम् 🛞 ॥

जगत्के आधारभूत वायुके और सर्वपरिक सूर्यदेवके श्रुति-

विहित कर्मोंको हम जानते हैं। हे वायु और सूर्य देवताओं! जो तुम आत्मा वाले स्थावर और जंगम प्राणियोंमें प्रवेश करते हो ‡। प्रवेशके अनन्तर जो तुम उस जगत्की रक्ता करते हो तथा जो तुम सब जगत्को धारण करने वाले हो, वह तुम हमको सब अनथोंके मृल पापसे मुक्त करो।। १।।

द्वितीया ॥

ययोः संख्यांता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजे। युपितमन्तरिचे ।

ययोः । सम् ऽ रूपाता । वरिमा । पार्थिवानि । याभ्योम् । रजः । युपितम् । अन्तरिक्षे ।

ययोः। मृऽस्रयम्। न। स्रनुऽस्रान्शे। कः। चन। तौ। नः। मुश्चतम्। स्रहंसः॥ २॥

ययोर्देवयोः पार्थिवानि पृथिव्यां भवानि वरिमा उरुत्वानि मह-त्वानि संख्याता संख्यातानि जनैः सम्यक् परिगणितानि प्रख्या-तानि दृश्यन्ते । अ पार्थिवानि "पृथिव्या वान्नौ" इति प्राग्दीव्य-तीयः अव्पत्ययः । वरिमेति। उरुशब्दाद् इमनिचि "प्रियस्थिर्०"

† वायुका प्राणक्ष्यसे प्रवेश करना श्रुतिमें प्रसिद्ध है, कि "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥ वायुने प्राण होकर नासिकामें प्रवेश किया" (ऐतरेय आरण्यक २।४।२) और 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः' (बृहदारण्यक ३।७।७) आदि अन्तर्यामि-ब्राह्मणके अनुसार सर्वप्रेरक सविता सब जगत्के भीतर प्रविष्ट हैं॥

#### ( ५०० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

इत्यादिना वर् आदेशः। "शेरछन्दसि वहुलम्" इति शेलोंपः शिष्टिम्याम् अन्तिरक्षे आकाशे रजः। उदकनामैतत्। शिक्ष उक्तं हि यास्केन। रजो रजतेः। ज्योती रज उच्यते। उदकं रज उच्यते इति [नि० ४. १६] शि। तद्ध रजःशब्दवाच्यं दृष्टि-कारणम् उदकं युपितम् मूर्ञितं सत् धार्यते। सिवत् किरणैर्वायुना च खलु वर्षतौं विमोक्तुम् आकाशे बहलतरम् उदकं ध्रियत इति श्रुतिस्मृतिमसिद्धिः। शियुपितम् इति। युपु विमोहने। अस्मात् कर्मणि निष्टा शि। कश्चन कोपि अन्यो देवः ययोर्वायुसवित्रोः पायम् पकृष्टगमनं नान्वानशे नानुपाभोति। अनुगन्तुं समर्थो न भवतीत्यर्थः। शि अश्चर् व्याप्तौ। छान्दसो लिट्। "अश्वोतेश्व" इति नुडागमः शि। तौ नो मुश्चतम् इत्यादि पूर्ववत्।।

जिन वायु और सूर्य देवताओं के पृथिवी परके महत्वमय कर्म मनुष्यों में भली प्रकार प्रसिद्ध हैं। और जिन वायु और सविता देवताओं के द्वारा आकाशमें मूर्जित रज † अर्थात् जल धारण किया जाता है और कोई देवता जिन वायु और सूर्यदेवके श्रेष्ठ गमनको नहीं कर सकता वे वायुदेव और सूर्यदेव हमको सब अनर्थों के मूल पापसे बचावें।। २।। तृतीया।।

तवं ब्रते नि विशन्ते जनांसस्वय्युदिते प्रेरंते चित्रभानो

† निरुक्त ४। १६ में कहा है, कि-'रजो रजते: । ज्योती रज उच्यते । उदकं रज उच्यते ।।—रज धातुसे रजस् शब्द बना है । ज्योति रज कहलाता है और जल रज कहलाता है" ।। श्रीर श्रुति तथा स्मृतियोंसे भी है, कि—वर्ष ऋतुमें बहुतसा जल वरसानेके लिये सूर्यकी किरणोंके द्वारा और वायुके द्वारा श्राकाश मेंजल धारण किया जाता है । युवं वांयो सविता च भुवनानि रचयस्तौ नेां मुश्च-तमंहंसः ॥ ३ ॥

तव । ब्रते । नि । बिशन्ते । जनासः । त्विय । उत्ऽइते । प्र । ईरते । चित्रभानो इति चित्रऽभानो ।

युवम् । वायो इति । स्विता । च । अर्थनानि । रच्चथः । तौ । नः । मुञ्च-तम् । अर्हसः ॥ ३ ॥

हे सिवतः तत्र व्रते त्वत्संबिन्धिन कर्मणि परिचरणलात्तणे जनासः जनाः प्राणिनः नि विशन्ते नियमेन वर्तन्ते । अ"नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् अ । हे चित्रभानो विचित्रदीप्ते त्विय उदिते उद्यं प्राप्ते सित परेते सर्वे जनाः स्वस्वकार्यकरणाय प्रवर्तन्ते । अईर गतो । अदादित्वात् शपो लुक् अ । हे वायो त्वं सिवता च युवम् युवां अवनानि भूतजातानि रत्ततः पालयथः ।। तो नो मुञ्चतम् इत्यादि गतम् ।।

हे सूर्यदेव ! आपकी सेवारूप कर्म करनेके लिये मनुष्य नियमानुसार वर्ताव करते हैं और चित्रधानो ! आपका उदय होने पर
सब मनुष्य अपने २ कामको करनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। और
हे वायुदेव तथा सूर्यदेव ! आप दोनों ही सब प्राणियोंकी रक्ता
करते हैं ऐसे दोनों आप हमें पापसे छुड़ाइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अपेतो वायो सिवता चं दुष्कृतमपु रच्चांसि शिमिदां च सेधतम् ।

### ( ५०२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सं ह्यू रेजियां सृज्यः सं बलेन तो ने सुञ्चतमंहंसः ४ अप । इतः । वायो इति । सिवता । च । दुःऽकृतस् । अप । रत्तांसि । शिमिदाम् । च । सेधतम् ।

सम् । हि । ऊर्जया । सृजथः । सम् । वर्जेन । तौ । नः । मुश्चतम् । अंहंसः ॥ ४ ॥

हे वायो त्वं च सविता च दुष्कृतम् अस्मदीयं पापम् अपेतः अपगमयथः ॥ तथा रक्तांसि उपद्रवकारिणो राक्तसान् समिधास् संदीप्तां कृत्यां च अप सेधतम् अपगमयतम् ॥ अपि च ऊर्जया ऊर्जयति बलयतीति ऊर्जा अन्नरसजनिता पुष्टिः । ॐ ऊर्ज वल-माणनयोः । अस्मात् पचाद्यच् ॐ । तया अस्मान् सं स्रजथः बलेन तज्जनितेन संस्रजथः ॥ गृतम् अन्यत् ॥

हेवायो ! त्राप और सूर्यदेवे हमारे पापको हमसे अलग करिये। तथा उपत्वकारी रम्लसोंको और प्रदीप्त कृत्याको भी हमसे दूर करिये। और अन्तके रससे उत्पन्न हुई पुष्टिसे हमको युक्त करिये और हमको पापसे छुड़ाइये।। ४॥

पश्चमी ॥

र्यि मे पोषं सिवतोत वायुस्तन् द चमा स्वतां खुशवंस्। अयुद्रमतातिं महं इह धं चं तो नो सुञ्चत्महंसः॥५॥ रियम्। मे । पोषंस्। सिवता । उत । वायुः। तन् इति । दच्चम्। आ। सुवताम्। सुवताम्। सुवताम्। सुवताम्।

अयच्मतातिम् । महः। इह । धत्तम् । तौ । नः। मुश्चतम् । अंहसः ५

उतशब्दः चार्थे । सविता वायुश्र मे महां रियम् धनं पोषम् पुष्टिं समृद्धिं च आ सुवताम् परियताम् । प्रयच्छताम् इत्यर्थः । 🕸 पू मेरेेेेेे । तुदादित्वात् शः 🕸 । तथा तन् तन्वास् । 🍪 "सुपां सुलुक्॰" इति सप्तम्या लुक्। "ईद्तौ च सप्तम्यर्थे" इति मगृह्य-संज्ञा 🕸 । तन्वाम् अस्मदीये शरीरे सुशेवम् सुसुखं दत्तम् बलम् त्रा सुनताम् त्रासमन्तात् प्रेरयताम् । तथा हे वायुसवितारौ । अय-चमशब्दात् स्वार्थिकस्तातिल् पत्ययः 🕸 । अयच्मम् अरोगं महः तंजः इह अस्मिन् यजमाने धत्तम् धारयतम् ॥

सविता देवता और सूर्यदेवता सुभे धन समृद्धि दें तथा हमारे शारीरमें सुख और वल दें तथा हे वायु और सविता देवताओं ! आरोग्यता और वड़े भारी तेजको इस यजमानमें स्थापित करियेध

षष्री ॥

प्र सुमितिं संवितवीय ऊतये महंस्वन्तं मत्सरं मादयाथः! अवीग् वामस्यं प्रवतो नि यंच्छतं तौ नो सुञ्चतमंहंसः६

म । सुऽमतिम् । सवितः । वायो इति । ऊतये । महस्वन्तम् मत्सरम् । मादयाथः ।

अर्वोक् । वामस्य । प्रज्यतः । नि । यच्छतम् ।तौ । नः । मुञ्चतम् ।

अंहसः ॥ ६ ॥

हे सवितः हे वायो ऊतये रत्तार्थं सुमितम् शोभनाम् अनुग्रहा-त्मिकां बुद्धं युवां म यच्छतम् । 🕸 "ऊतियूति०" इत्यादिना अवतेः विवन्नन्त उदात्तो निपातितः अः । महस्वन्तम् दीप्तिमन्तं मत्सरम् मदकरं सोमं मादयाथः पीत्वा माद्यथः। अमत्सरम् इति। मदेरौणादिकः सरप्रत्ययः 🕸 । वामस्य वननीयस्य प्रवतः प्रकर्प-

#### ( ५०४ ) अथवंबेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

वतो धनस्य अर्वोक् अस्मदिभिग्नुखं नि यच्छतम् नियमयतम्। अ वामस्येति । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वा-चतुर्थ्यर्थे षष्ठी । पत्रत इति । "उपसर्गाच्छन्दिस धात्वर्थे" इति वितः अ ॥

हे सिततः ! हे वायो ! आप रत्ताके लिये मुक्ते सुमित दीजिये आप दीप्तिमान मदकारी सोमको पीकर आनिन्दत हूजिये सेव-नीय बड़े भारी धनको हमको दीजिये और हमें सब अनथों के मूल पापसे बचाइये ॥ ६॥

सप्तमी ॥

उप श्रेष्ठां न आशिषों देवयोधीमन्नस्थिरन् । स्तौमि देवं संवितारं च वायुं तौ नो मुत्रतमंहसः

उप । श्रेष्ठाः । नः । आऽशिषः । देवयोः । धामन । अस्थिरन ।

स्तौमि । देवम् । सवितारम्। च । वायुम् । तौ । नः । मुश्चतम् । ऋंहसः

देवयोः वायुसिवत्रोः धामन् धामिन तेजिस स्थाने वा नः श्रम्माकं श्रेष्ठाः मशस्ता श्राशिषः फलपार्थना उपस्थिरन् उपस्थिता वर्तन्ते । अश्रम्थरिननित । तिष्ठतेलु कि "अक्रमेकाच्च" इति श्रात्म-नेपदम् । "स्थाघ्वोरिच" इति इत्विकत्त्वे । व्यत्ययेन अस्य रन् श्रादेशः अ। तथावियं देवम् दानादिगुणयुक्तं सवितारं वायुं च स्तौमि प्रशंसामि । अ "उतो दृद्धिलु कि हिल्" इति दृद्धिः अ।। श्रम्यद्द व्याख्यातम् ।।

पश्चमं सक्तम् ॥

[ इति ] चतुर्थकाएडे पश्चमोनुवाकः ॥

वायुदेव और सूर्यदेवके स्थानमें हमारी श्रेष्ठ फलपार्थनायें उप-स्थित हैं उन दानादिगुण युक्त वायुदेवता और सविता देवता की मैं स्तुति करता हूँ, वे दोनों मुफ्तको सकल अनथोंके मूल पापसे छुड़ावें ॥ ७ ॥

चतुर्थं काण्डके पञ्चम अनुवाकमें पंचम स्क समाप्त (१२७)॥ पञ्चम अनुभक्त समाप्त॥

पष्टेनुवाके पश्च सुक्तानि । तत्र ''मन्वे वाम्" इति श्रायस्य सुक्तस्य पूर्ववद् विनियोगः ॥

तथा सोमयागे ''मन्त्रे वाम्'' इति ख्रौढुम्बर्या ख्राज्यहोमस्य ख्रमुमन्त्रणं क्रुयीत् । उक्तं वैताने । ''मन्वे वां द्यावापृथित्री इत्यौ-दुम्बर्या ख्राज्यहोमम्'' इति [ वै० ३. ५ ] ॥

छठे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें 'मन्वे वां' इस प्रथम सूक्त का पहिजेकी समान विनियोग है।।

तथा सोमयागमें 'मन्वे वाम्' इस स्क्तसे औदुम्वर्याके घृतहोम का अनुमन्त्रण करे । इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि-"मन्वे वां द्यावापृथिवी इत्यौदुम्बर्या आज्यहोमम्" (वैतानसूत्र ३ । ५)।।

तत्र प्रथमा ॥

मृन्वे वं द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्र-थेथामिता योजनानि ।

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते ने। मुञ्जतमंहसः ॥ १॥

मन्वे । बाम् । द्यावापृथिवी इति । सुऽभोनसौ । सऽचेतसौ । ये

इति । अप्रथेथाम् । अमिता । योजनानि ।

मतिस्थे इति मात्रैऽस्थे । हि । अभवतम् । वस्नाम् । ते इति ।

नः । मुश्चतम् । अंहंसः ॥ १ ॥

हे बावापृथिवी बावापृथिवयौ सुभोजसौ सुष्ठु भोज्यवत्यौ

#### ( ५०६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

शोभनभोगे वा सचेतसौ समानिचत्ते वाम् युवां मन्वे स्तौमि।
यद्दा वां युवयोर्माहात्म्यं मन्वे अहं जानामि। किं पुनस्तद्द इत्याह
ये अप्रथेताम् इत्यादिना। ये द्यावापृथिव्यौ अमिता अमितानि
अपितानि योजनानिः। [योजन]शब्दः अध्वपित्माणवाची।
अपितानि योजनानिः। [योजन]शब्दः अध्वपित्माणवाची।
अपितानि अध्वनः अप्रथेताम् प्रथिते विस्तीर्णो अभवताम्।
कृतस्त्रदेशव्याप्त्या सर्वगते भवत इत्यर्थः। हि यस्माद्द युवां वस्नाम्
निवसतां देवमनुष्यादीनाम् निवासहेत्नां धनानां वा प्रतिष्टे पक्तष्टावस्थित्यधिकरणे अभवतम् भवथः। तस्मात् सर्वाधारत्वेन युवयोः
सर्वगतत्वम्। अप्रतिपूर्वात् तिष्ठतेः ''आतश्रोपसर्गे' इति अधिकरणे अङ्। ''अपसर्गात् सुनोति०'' इति पत्वम् अ। नः अस्मान्
अंहसः पापाद्द सुश्चतम्।।

हे द्यावापृथिवी! सुन्दर भोग वाले ख्रौर समान चित्त वाले तुम दोनोंकी मैं स्तुति करता हूँ, तुम दोनोंके माहात्म्यको मैं जानता हूँ कि—तुम दोनों अपरिमित मार्गोंमें विस्तृत हो अर्थात् सम्पूर्ण देशोंमें व्याप्त होनेसे सर्वगत हो। ख्रौर तुम दोनों देवता ख्रौर मनुष्य ख्रादिकोंके धनोंके प्रकृष्टरूपसे स्थितिके कारण हो ख्रतः सर्वधार होनेसे सर्वगत हो, ऐसे तुम हमको पापसे छुड़ाख्रो।।१॥ दितीया।।

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वस्तूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो सुञ्चतमंहसः ५

प्रतिस्थे इति प्रतिऽस्थे। हि। ग्रभवतम्। वस्त्राम्। प्रदेखे इति

पऽद्येखे। देवी इति । सुभगे इति सुऽभगे। उरूची इति ।

द्यावापृथिवी । इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः ।

सुञ्चतम । अंहसः ॥ २ ॥

मितिष्टे ह्यभवतं वस्तनाम् इति पूर्ववत् । यस्मात् सर्वपाणिनाम् अधिष्टानभूते द्यावापृथिवयौ तस्मात् प्रविद्धे प्रकर्षेण मिणिसूत्र-न्यायेन सूत्रवत् सर्वजगदनुप्रविद्धे । अनुपितिष्टे इत्यर्थः । देवी देवयौ दानादिगुण्युक्ते सुभगे शोभनधने सौभाग्ययुक्ते वा । ॐ "आद्युदान्तं द्व्यच् छन्दसि" इति उत्तरपदाद्यदात्तत्वम् ॐ । उरूची उरु वहुलम् अञ्चन्त्यौ वयाप्नुवत्यौ । ॐ उरुशाब्दोपपदाद्ध अञ्चतेः "ऋत्विग् " इत्यादिना विवन् । "अनिदिताम् " इति नलोपः । "अच्यः" इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् । "अञ्चतेश्चोप-संख्यानम्" इति छीप् । "स्रुपां स्रुलुक् "इति पूर्वसवर्णदीर्घः छ । हे द्यावापृथिवी द्यावापृथिवयो इत्थं महानुभावे युवां मे मम स्योने । स्युवनामैतत् । सुखहेत् भवतम् । अन्यद्ग गतम् ॥

तुम धनों भी पितिष्टों हो । द्यावाथिवी सब पोणियों के अधिष्ठान हैं अतएव मिणिसूत्रन्यायकी समान सब जगत्में पिवष्ट हैं, और ये दानादिगुणयुक्त हैं, सौभाग्यसम्पन्न हैं और अधिकतासे व्याप्त हैं । ऐसे महानुभाव द्यावादृथिवी मेरे सुखके कारण हों और वे द्यावापृथिवी हमें सब अनधीं के मूल पापसे छुड़ावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

असंतापे सुतपंसी हुवेहसुवीं गम्भीरे क्विभिनेमस्ये। द्यावापृथिवी भवंत मे स्योने ते नो सुअतमंहंसः ३

असंतापे इत्यसम्ऽतापे । सुऽतपसौ । हुवे । अहम् । जुर्वी इति ।

गम्भीरे इति । कविऽभिः । नमस्ये ३ इति ।

द्यावापृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः ।

मुश्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

### ( ५०= ) अथर्ववेद संहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

असंतापे संतापरहिते सर्वपाणिनां संतापस्य हर्ग्यो सुतपसौ उर्वी उन्यों विस्तीर्णे गम्भीरे गाम्भीर्ययुक्ते इदम् ईदग् इति परि-च्छेदरहिते कविभिः क्रान्तदर्शिभिमेहपिभिः नमस्ये नमस्कार्ये इद-श्यो युवाम् अहं हुवे रक्तणार्थम् आह्वयामि। अ "वहुलं छन्दसि" इति ह्वयतेः संमुसारणम् श्रि।। उत्तरोर्थर्चो व्याख्यातः।।

सब प्राणियों के सन्तापको हरने वाले, स्वयं सन्तापरिहत, विस्तृत और गम्भीरतायुक्त, परिच्छेदरिहत तथा क्रान्तदर्शी मह-पियों के द्वारा नमस्कार करने योग्य तुम दोनों को में रचा करने के लिये ब्राह्वान करता हूँ, ऐसे महानुभाव द्यावापृथिवी मेरे लिये सुखके हेतु हों और वे दोनों हमको सब अनथों के मूल पापसे मुक्त करें।। ३।।

चतुर्थी ॥

ये अमृतं विभृथो ये ह्वींषि ये ह्योत्या विभृथो ये मनुष्यान्।

द्यावांपृथिवी भवंतं मे स्योने ते ने। मुञ्जतमहंसः ॥४॥

ये इति । अमृतम् । विभ्रथः । ये इति । हुवींषि । ये इति ।

स्रोत्याः । विभ्यः । ये इति । मनुष्यान् ।

द्यावापृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः ।

मुश्चतम् । अंहसः ॥ ४ ॥

[ हे ] द्यावापृथिवयौ ये युवास् अमृतस् अमरणं सर्वपाणिनास् अमृतत्वं विभृथः धारयथः । ॐ "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । विभृथ इति । "भृञाम् इत्" इति अभ्या-सस्य इत्त्वम् ॐ । ये च युवां हवींषि चरुपुरोडाशादीनि धारयथः

ये च स्रोत्याः स्रोतस्विनीर्नदीः विभृथः धारयथः । 🕸 ''स्रोतसो विभाषा डचड्डचौ" इति डचगत्ययः 🕸 । ये च सुवां मनुष्यान धारयथः ॥ गतम् अन्यत् ॥

हे द्यावापृथिवी ! जो तुम दोनों सब प्राणियोंके अमृतत्व ( अमरण ) को धारण करते हो, और जो तुम चरु पुरोडाश अवि हिनयोंको धारण करते हो और जो तुम सोतों वालीं नदियोंको धारण करते हो और जो तुम मनुष्योंको धारण करते हो, ऐसे बहानुभाव चावापृथिवी मेरे लिये मुखके हेतु हों और वे दोनों हमको सब अनथों के सूल पापसे मुक्त करें ॥ ४ ॥

ये उद्मियां विभूथो ये वनस्पतीन् ययांवां विश्वा भुवनान्यन्तः।

द्यावांपृथिवी भवंतं मे स्योने ते ने। मुञ्जतमंहंसः ॥५॥ ये इति । उस्त्रियाः । विभृथः । ये इति । वनस्पतीन् । ययोः ।

वाम् । थिश्या । भुवनानि । अन्तः ।

द्यावापथित्री इति । भवतम् । मे। स्योने इति । ते। नः । मुश्चतम् ।

ग्रंहसः ॥ ४ ॥

हे द्यावापृथिवयौ ये युवाम् उस्त्रियाः । गोनाभैतत् । गाः सर्वा विभृथः धार्यथः । ये च युवां वनस्पतीन् दृत्तान् सर्वान् बिभृथः । अ वनस्पतिशब्दः पारस्करादिः । "उभे वनस्पत्यादिषु०" इति उभयपदमकृतिस्वरत्वम् 🛞 । ययोर्वाम् युवयोः अन्तः मध्ये विश्वा विश्वानि उक्तानुक्तानि सर्वाणि अवगानि भूतजातानि ते युवां स्योने में भवतम इति संबन्धः ॥

हे द्यावापृथिवी ! जो तुम सब गौओं को भरण करते हो और जो तुम सब वनस्पतियों को भरण करते हो और जिन तुम्हारे मध्यमें कहे हुए और न कहे हुए सब प्राणी रहते हैं, वे तुम दोनों सुखके हेतु हो ओ और हमको सब अनथों के मूल पापसे सुक्त करो ५

ये कीलालेन तर्पयंथो ये घृतेन याभ्यांमृते न किं चन शंक्नुवन्ति ।

द्यावांपृथिकी सर्वतं में स्योने ते नो मुञ्जतुमंहंसः ॥६॥ ये इति । कीलालेन । तर्पयथः । ये इति । घृतेन । याभ्याम् । अस्ते । न । किम् । चन । शक्तुवन्ति ।

द्यावापृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति।नः । मुञ्चतम् ।

श्रंहसः ॥ ६ ॥

हे द्यावापृथिव्यो ये युवां कीलालेन अन्नेन तर्पयथः कृत्स्तं जगत् पोषयथः। ये च युवां घृतेन त्तरणशीलेन उदकेन तर्पयथः। याभ्यां द्यावापृथिवीभ्याम् ऋते विना किं चन किमपि कार्यं कर्तुं न शक्तुवन्ति सर्वे जनाः। अन्यत् पूर्ववत्। अ याभ्याम् ऋत इति। "अन्यारादितरर्ते॰" इति पश्चमी अ।।

हे द्यावापृथिती! जो तुम अन्नसे सव जगत्का पोषण करते हो और जो तुम त्तरणशील जलसे तृप करते हो और जिन द्यावा-पृथिवीके विना मनुष्य किसी भी कार्यको करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। वे द्यावापृथिवी सुखके हेनु हों और वे दोनों हमको सब अनथींके मृल पापसे अलग करें।। ६।।

#### सप्तमी ॥

यन्मेदमंभिशोचंति येनंयेन वा कृतं पौरुंपेयान्न दैवात्। स्तौमि द्यादांपृथिवी नांथितो जोहवीमि ते नों सुबतमहंसः॥ ७॥

यत् । मा । इदम् । ऋभिऽशोचिति । येनऽयेन । बा । कृतम् । पौरुषेयात् । न । दैवात् ।

स्तौमि । द्यावापृथित्री इति । नाथितः । जोह्वीमि ।ते इति । नः ।

मुञ्चतम् । श्रंहंसः ॥ ७ ॥

यद्धः इदम् पापं तत्फलं दुःखं वा मा माम् [ अभिशोचित ] अभितः सर्वतो दहति । येनयेन वा पापेन निमित्तभूतेन पुनरन्यत् पापं कृतम् । येनयेनेत्युक्तम् अर्थं विष्टणोति पौरुषेयान्नेति । नशब्द उपमार्थः । पौरुषेयात् पुरुषभेरितात् पापादिव दैवात् देवकृतानि-मित्तात् यत् पापं दुःखं वा उत्पन्नं माम् अभिशोचतीति संबन्धः । अ पौरुषेयात् इति । "पुरुषाद्ध वधविकारं वधविकारं इति ढन् प्रत्ययः । दैवात् इति । "देवाद् यञ्जो" इति अञ् अ । तस्य सर्वस्य पापस्य तत्फलभूतदुःखस्य च अपनोदनार्थं द्यावापृथिवी द्यावापृथिवयौ स्तौमि पशंसामि ।। नाथित इत्यादि व्याख्यातम् ।।

#### [ इति ] मथमं स्रुक्तम् ॥

जो पुरुष मेरित वा दैवकृत पाप वा उसका फल दुःख मुक्तको चारों ओरसे मुलसा रहा है और जिसर निमित्तभूत पापसे मैंने दूसरे पाप किये हैं। उन सब पापोंको और उनके फलकृप दुःख को दूर करनेके लिये मैं द्यावापृथिवीकी स्तुति करता हूँ, मैं पार्थी

## ( ५१२ ) अथर्वदेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

उनके लिये आहुति देता हूँ वे मुभे सब अनथों के मूल पापसे मुक्त करें।। ७॥

चतुर्थक.ण्डके छठे अनुवाकमे प्रथम स्क समाप्त (१२८)॥
"मस्तां मन्वे" इति सक्तस्य पूर्ववद् गणप्रयुक्तो विनियोगः॥
"मारुद्रणीं वलकामस्य" इति [न०क०१७] विहितायां
शान्तो "मस्ताम्" इत्येतत् स्क्तम् आवपनीयम्। तद् उक्तं नस्तत्रकल्पे। "मस्तां मन्वे [४.२७] प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः
[७, ८५.३] इति मारुद्रएयाय्र्" इति [न०क०१८]॥

अत्र "तिग्मम् अनीकम्" [७] इत्यनया साकमेधपर्वणि गृह-मेधयागम् अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "सायं गृहमेधिनां तिग्मम्

श्रनीकम्<sup>''</sup> इति [ वै०२.४ ] ॥

'महतां मन्वे' इस सुक्तका पहिलेकी समान गणपयुक्त विनियोग है।।
'मारुद्रणीं वलकामस्य ॥—वलकी कामना वालेके लिये मारुद्रणी शांतिको करें" इस नज्ञकल्प १७ से विहित शान्तिमें 'मरुताम्' यह सुक्त कहना चाहिये। इसी बातको नज्ञकल्पमें कहा,
है, कि—'महतां मन्वे (४। २७) प्रजापते न त्वद् एतान्यन्यः
(७। ८४। ३) इति मारुद्रएयाम्'' (नज्ञकल्प १८)

यहाँ 'तिग्मम् अनीकम्" इस सातवीं ऋचासे साकमेधपर्वमें गृहमेधयागका अनुमंत्रण करे। इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, है, कि—"सायंग्रहमेधिनां तिग्मं अनीकम्" (वैतानसूत्र २। ५)॥

तत्र प्रथमा ॥

म्रुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजंसाते अवन्तु आश्रीनेव सुयमानह ऊत्ये ते नो सुञ्चन्त्वं हंसः ॥१॥ म्रुताम् । मन्वे । अधि । मे । ब्रुवन्तु। प्र। इमम् । वाजंप । वाजंऽ- त्र्याशून् उड्देव । सुऽयमान् । अहु । ऊत्तये । ते । नः । मुश्चन्तु । अहसः

मरुताम् एकोनपंचाशत्संख्याकानां गणदेवानां मन्वे माहात्म्यं जानामि । ते मरुतो मे मह्यम् अधि ब्रुवन्तु अस्मदीयोयम् अनुप्राह्य इति पत्तपातेन वदन्तु ॥ तथा वाजसाते वाजस्य अन्तस्य साते लाभे निमित्तभूते सित इमं वाजम् अन्नं पावन्तु प्रकर्षेण अस्पद्धे रत्तन्तु । यद्वा वाज इति वलनाम । वाजम् इमम् आत्मीयं वलं वाजसाते । वाजसातिरिति संग्रामनाम । "अयं वाजं जयतु वाजसातौ" इति हि निगमः [ते० सं० १. ३. ४. १, ते० ब्रा० २. ४. ६. १२] वाजसातशब्देनापि सोथोभिधीयते । वाजसाते संग्रामे पावन्तु परत्तन्तु । अहम् अंश्रुनिव स्रयमान् । अंशवः अश्वपग्रहा रज्जवः । तानिव स्रयमान् सुष्ठु यन्तन्यान् सेन्यान् मरुतः अहम् अत्ये रत्ताये अहं आह्यामि । यद्वा अंशुशब्देन तत्संवन्धिनः अश्वा विवत्तिताः । स्रिशित्तितान् अश्वानिव स्रयमान् । भक्तपराधीनतया वश्वितिन इत्यर्थः । अश्वात्तितान् अश्वानिव स्रयमान् । भक्तपराधीनतया वश्वितिन इत्यर्थः । अश्वाह्व इति । त्ति "अन्दिस लुङ्लङ्लिटः" इति लुङ् । "लिपिसिचिह्वश्व" इति चलेः अङ् आदेशः अ । ते मरुतो नः अस्मान् अंहसः पापाद् सुश्चन्तु ॥

मैं उड श्रास मरुद्ध देवता श्रों के माहात्म्यको जानता हूँ, वे मरुद्ध देवता पत्तपातपूर्वक कहें, कि यह तो हमारे हैं, श्रोर अन्नपाप्ति का निमित्त होने पर इस अन्नकी हमारे लिये प्रकृष्टतासे रचा करें, बलको संग्राममें रित्तत रक्खें ‡। लगामकी समान सेवनीय मरुत्द देवता श्रोंको में रचा करने के लिये बुलाता हूँ, वे मरुद्ध देवता हमको सब अनथों के मूल पापसे विलग करें।। १।।

‡ तैत्तिरीयसंहिता १।३।४।१ और तैत्तिरीयझाह्मण २।४।६।१२ में कहा है, कि-'अयं वाजंजयतु वाजसातौ।।-यह संग्राममें वलको जीते"।।

## ( ५१४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

दितीया ॥

उत्समित्तिंतं व्यचंन्ति ये सदा य आंसिश्चन्ति रसमीर्षशीषु ।

पुरो देधे मरुतः पृश्निमातृंस्ते ने मुञ्चन्त्वंहंसः ॥२॥

उत्सम्। अस्तितम् । विऽत्रचिति । ये । सदा । ये । आऽसिश्चिति । रसम् । ओपधीषु ।

पुरः । दुधे । मरुतः । पृक्षिऽमातून् । ते । नः । मुश्चन्तु । ग्रंहसः २

ये मरुतः सदा सर्वदा । अ "सर्वस्य सोन्यतरस्यां दि" इति सभावः अ । उत्सम् वर्षधारायुक्तं मेघम् अन्तितम् न्तयरहितम् । अ "०अण्यद्धे" इतिपर्युद्स्तत्वात् न्तियो दीर्घाभावः अ । प्रदुद्धं व्यचन्ति अन्तिरक्षे विस्तारयन्ति । तदनन्तरं ये मरुतः अशेषधीषु ब्रीहियवाद्यासु तरुगुल्मादिषु च रसम् दृष्ट्युद्दकलन्तणम् आसि-श्रान्ति आ समन्तात् न्नारयन्ति । अ षिच न्नरणे । "शे सुचादी-नाम्" इति नुम् अ । तान् मरुतः पृश्लिमातृन् । पृश्लिमाध्यमिका वाक् माता जननी येषां ते पृश्लिमातरः । अ "ऋतश्वन्दस्ति" इति कपः प्रतिषेधः अ । "पृश्लिये व पयसो मरुतो जाताः" [ तै० सं० २, २, ११, ४ ] इति हि तैन्तिरीयकम् । तथाविधान् मरुतः पुरो द्धे पुरस्ताद् धार्यामि । भूजामीत्यर्थः ॥ गतम् अन्यत् ॥

जो मरुत्देवता वर्षाकी धारासे युक्त मेघको त्तयरहित अवस्था में अन्तरित्तमें विस्तृत करते हैं, तदनन्तर जो मरुत्देवता ब्रीहि यव और तरु गुल्म आदि औषधियोंमें दृष्टिजलरूपी रसको सींचते हैं। उन पृक्षि † अर्थात् मध्यमा वाणी जिनकी माता है उन पृक्षि-

<sup>† &</sup>quot;पृक्षियै वै पयसो मरुतो जाताः ॥ पृक्षिके लिये जलके मरुत् उत्पन्न हुए हैं" (तैचिरीयसंहिता २ । २ । १४ )॥

मातृक मरुद् देवतात्रोंका मैं पहिलो भजन करता हूँ, वे मुभको सब अनथोंके मूल पापसे बचावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वंथ शुग्मा भवन्तु मुरुतों नः स्योनास्ते ने मुञ्चन्त्वहंस पर्यः । धेनूनाम् । रसम्। ओषधीनाम् । जवम् । अर्वताम् । कवयः।

ये। इन्वथ।

शुग्माः । भवन्तु । महतः । नः । स्योनाः । ते । नः । मुखन्तु । ग्रहसः ३

हे महतः यूयं ये कवयः क्रान्तदर्शनाः सन्तः धेन्नाम् गवां पयः चीरम् इन्त्रथसर्वाङ्गेषु व्यापयथ। अइति व्याप्तौ। इदिन्तान्तुम् अ। श्रोपधीनां रसम् द्रवं सर्वावयवेषु व्यापयथ। श्रवताम् श्रश्वानां जवम् वेगं [ ये ] व्यापयथ। शक्माः शक्तारः सर्वकार्यसमर्थास्ते महतः नः श्रस्माकं स्योनाः सुखकरा भवन्तु ॥

हे मरुत देवताओं ! जो तुम द्रदर्शी होते हुए गौओं के चीर को सब अंगों में ज्याप्त करते हो, औषधियों के रसको सब अंगों में ज्याप्त करते हो, घोड़ों में वेगको ज्याप्त करते हो, ऐसे सब कायों को करने में समर्थ मरुत्देवता हमें सुख देने वाले होओ और सब अनथों के मूल पापसे हमको सुक्त करो ॥ ३॥

चतुर्थी ॥

अपः संमुदाद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीम्भि ये सृजन्ति ।

ये अब्हिरीशाना मुरुत्थरन्ति ते ने। मुझन्त्वंहंसः ४

# ( ५१६ ) अथर्वेदेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अपः । समुदात् । दिवस् । उत् । वहन्ति । दिवः । पृथिवीस् । अभि । ये । सुजन्ति ।

ये । अत्अभः । ईशानाः । मुरुतः । चरन्ति । ते । नः। मुश्चन्तु। अंहसः

ये मरुतः समुद्रात् उद्धेः सकाशाद् अपः उदकानि दिवम् अन्त-रिक्तं प्रति उद्वहन्ति मेघैः प्रापयन्ति । तदनन्तरं दिवः अन्तरिक्तात् पृथिवीम् अभिल्चय ता अपः सजन्ति विस्जन्ति । ताभिरद्धिः ईशानाः ईश्वराः सन्तो ये मरुतः इत्थं चरन्ति ।। ते मरुत इत्यादि गतम् । अ अद्विरिति । "अपो भि" इति पकारस्य तकारः अः ।।

जो मरुत् समुद्रमेंसे जलोंको अन्तिश्चिमें मेघोंको पहुँचाते हैं, तदनन्तर अन्तिश्चिमे पृथिवीको लच्य कर जलोंको छोड़ते हैं, इस प्रकार जलोंके स्वामी वनते हुए जो मरुत् इस प्रकार विचरण करते हैं वे मरुत्-देवतो सब अनथोंके मूल पापसे हमको मुक्त करें

पश्चमी ॥

ये कीलालेन तुर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदंसा संसुजन्ति ।

ये अकिरीशांना मुरुते। वृष्यंन्ति ते ने। मुझत्वमंहंसः ५ ये। कीलालेन। तुर्पयंन्ति। ये। घृतेन। ये। वा। वयः। मेदंसा।

सम्ऽस्जिन्ति ।

ये। अत्ऽभिः। ईशानाः। मुरुतः। वर्षयन्ति। ते। नः। मुश्चन्तु। अंहसः

ये मरुतः कीलालेन अन्नेन दृष्टिद्वारा जनांस्तर्पयन्ति ये च घृतेन उदकेन तर्पयन्ति । ये वा । वाशब्दः चार्थे । ये च मरुतः वयः

पित्तजातं मेदसा तुरीयधातुना संस्रजन्ति । मेदस्व कुर्वन्तीत्यर्थः । यद्वा वयः शारीरपिरिणायविशोपः । तत् मेदसा युक्तं कुर्वन्ति । ज्ञिति-पवनसिल्लिजेजःकारणकात् परिणायविशोपाद्धि पुरुषशरीरस्य मेद्दिवत्वं जायते । अतो परुतां तद्धे तुत्वम् । ये च परुतः अद्भिः उदक्षैः मेघस्थैः ईशानाः सन्तो वर्षयन्ति सर्वतो दृष्टिं कुर्वन्ति ।। तेनेत्यादि पूर्ववत् ।।

जो मरुद्देवता दृष्टिके द्वारा अन्नसे मनुष्योंको तृप्त करते हैं और जो मरुद्रण पिन्नयोंको मेदसे संस्रष्ट करते हैं अथवा प्राणी की अवस्थाको पृथ्वी जल तेज और प्रवन्ह्यी कारणके पिर-णामिवशेषसे पुरुपशरीर मेद वाला बनता है अतः मरुतोंको उनका कारण माना है। और जो मरुतदेवता मेघोंमें स्थित जलोंसे स्वामी बनकर सब और दृष्टि करते हैं, वे हमको सब अनथोंके मूल पाप से छुड़ावें।। ४।।

षष्टी ॥

यदीदिदं मंठती मार्ठतेन यदि देवा दैव्येनेहगारं । यूयमीशिश्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते ने सुञ्चन्त्वंहंसः ६ यदि । इत् । इदम् । म्हतः । मार्हतेन । यदि । देवाः । दैव्येन । ईटक् । आरं ।

युयम् । ईशिध्वे । वसवः । तस्य । निःऽक्रतेः ।ते । नः । मुश्चन्तु । अंहसः ॥ ६ ॥

इदम् अनुभूयमानं मदीयं दुःखं तद्धे तुभूतं पापं वा हे महतः माहतेन । इच्छब्दः अवधारणे । महिद्वपयेणैवापराधेन ईटक एवं-रूपं यदि आर पाप । हे देवाः इन्द्रादयः दैव्येन देवसंबन्धिना

## (ू५१८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

श्रपराधेन [ यदि ] एवंरूपं दुःखम् श्रमान् प्राप । अ [ श्रार ]। श्रमात् । श्रमात् लिट् । ईटक् इति । इदिमव परयित "त्यदादिषु दशोनालोचने कञ् च" इति दृशेः क्विन् प्रत्ययः । "इदं किमोरीश् की" इति इदम ईश् श्रादेशः अ । तस्य दुःखस्य तद्धे तोः पाप्मनो वा निष्कृतेः निष्करणस्य परिहारस्य हे वसवः वासिय-तारो महतः यूयम् ईशध्वे ईश्वरा भवथ । अ ईशोर्लेटि श्रडागमः अ ।। गतम् श्रन्यत् ।।

यह अनुभवमें आता हुआ मेरा दुःख वा उसका हेतु पाप मरुद्देवताओं का अपराध करनेसे मुक्ते इस प्रकार पाप्त होरहा है अथवा हे इन्द्र आदि देवताओं ! देवसंबन्धी अपराधके कारण मुक्ते ऐसा दुःख पाप्त होरहा है, उस दुःखको वा पापको हटानेके लिये हे वसाने वाले मरुद्ध देवताओं ! आप समर्थ हैं ऐसा आप

हमको सब अनर्थोंके मूल पापसे छुड़ाइये ॥ ६ ॥ सप्तमी ॥

तिगममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः प्रतनासूत्रम्। स्तौभि मुरुते। नाथितो जोहवीभि ते नो सुञ्चनत्वंहंसः तिगमम्। अनीकम्। विदितम्। सहस्वत्। मारुतम् । शर्थः ।

पृतंनासु । उग्रम् ।

स्तौमि । मुक्तः नाथितः। जोहवीमि।ते। नः । मुञ्चन्तु। ग्रंहसः ७

तिग्मम् तीच्णम् अनीकम् सप्तगणात्मना समूहीभूतं विदितम् प्रख्यातं सहस्वत् बलवत् अभिभवनयुक्तं वा मारुतम् मरुतां संबंधि शर्धः बलं पृतनासु संग्रामेषु उग्रम् उद्गूर्णं दुःसहं भवति । तान् मरुतः स्तौमि प्रशंसामि ॥ नाथितो जोहवीमीत्यादि व्याख्यातम् ॥

[ इति ] द्वितीयं सूक्तम्।

तीच्ण, सप्तगणरूपसे 'सेनारूप, मसिद्ध बलवान मरुत्संबंधी बल संग्राममें दुःसह होता है, ऐसे मरुत् देवतात्र्योंकी मैं पशंसा करता हूँ मैं पार्थी मरुत् देवताओंका वारम्वार आहान करता हूँ वे हमको सव अनर्थों के मृत पापसे छुड़ावें।। ७।।

चतुर्थकाण्डके छठे अनुवाकमें दूसरा स् क समात ( १२९ )। "भवाशवों मन्वे वाम्" इति स्कस्य गणविनियोग उक्तः॥ तथा सर्वव्याधिभैषज्यकर्माण च उदकपूर्णान् सप्त काम्पील-पुटान प्रत्युचं संपात्य अभिमन्त्रय व्याधितम् अवसिञ्चेत् । तद् उक्तं कौशिकेन । "भवाशवीविति सप्त काम्पीलपुटान् अपां पूर्णान् संपातवतः कृत्वा द्त्तिणेन अवसिच्य पश्चाद्व अपविध्यति" इति [8.8]11

'भवाशवीं मनवे वाम्' इस सुक्तका गणप्रयुक्त विनियोग कह दिया है।।

तथा सर्वव्याधिभैषज्यकर्ममें भी जलसे भरे हुए कवीलेके सात दोनोको प्रत्येक ऋचासे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके रोगी पर छिड़के । इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-भवाशर्वा-विति सप्त काम्पीलपुटान् अपां पूर्णान् सम्पातवतः कृत्वा दिन-णेन अवसिच्य पश्चात् अपविध्यति" (कौशिकसूत्र ४ । ४ )॥ तत्र प्रथमा ॥

भवाशवीं मन्वे वां तस्यं वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद विरोचंते ।

यावस्येशांथे द्विपदो यो चतुष्पदस्ती नो मुञ्जतमंहसः १ भवाशवीं । मन्वे । वाम् । तस्य । वित्तम् । ययोः । वाम् । इदम्।

मऽदिशि । यत् । विऽरोचते ।

# ( ५२० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषा नुवादसहित

यो । अस्य । ईशार्थे इति । द्विऽपदः । यो । चतुःऽपदः । तो । नः । मुश्चतम् । अंहंसः ॥ १॥

भवति उत्पद्यते अस्मात् सर्व जगद् इति भवः । शृणाित हिनस्ति सर्वम् अन्तकाले इति शर्वः । भवश्र शर्वश्र भवाशवीं अष्टम्तिनां मध्ये परमेश्वरस्य द्वे मूर्ती "भवाय देवाय स्वाहा शर्वाय देवाय स्वाहा"।।इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धे । अ "देवताद्वन्द्वे च"इति आनङ् श्रि। हे भवाशवीं वाम् युवयोर्महत्त्वम् आहं मन्ये जानािम ।। तस्य वित्तम् । अ कर्मणि पष्टी अ । तद् वत्त्यमाणं जानीतम् । ययोर्वाम् युवयोः प्रदिशा प्रदेशने प्रशासने यद् इदं कृत्स्तं जगद्ध विरोचते प्रकाशते तद्द वित्तम् इत्यन्वयः । अ रुच दीश्रो अ । अस्य च द्विपदः पाद्वद्योपेतस्य प्राणिजातस्य यौ युवाम् ईशाथे ईश्वरौ भवथः । अ ईश ऐश्वर्ये अ । यौ च युवां चतुष्पदः पादचतुष्टयोपेतस्य गवादेः ईशाथे । अ "अधीर्यदयेशां कर्मणि" इति कर्मणि पष्टी । द्वौ पादावस्य चत्वारः पादा अस्येति वहुत्रीहौ "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादावस्य चत्वारः पादा अस्येति वहुत्रीहौ "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादावस्य चत्वारः पादा अस्येति वहुत्रीहौ "संख्यासपूर्वस्य" इति पादावन्दस्यान्त्यलोपः । "पादःपत्" इति पञ्चावः । तौ भवाशवीं न अस्यान् अहसः पापाद्व सुश्रवत्यः ।।

हे भव और शर्व † । आपके महत्त्वको में जानता हूँ उनको आप समिक्षिये कि-जिन आपकी आज्ञामें सम्पूर्ण जगत् प्रका-शित होता है और जो तुम दोनों ईश्वर दो पैर वाले प्राणियों के ईश्वर हो और जो तुम दोनों चार पैर वाले गों आदि पशुओं के

† जिनसे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, वह भव कहलाते हैं अभेर अन्तकालमें जो सबका शृणन करते हैं अर्थात् मारते हैं वह शर्व कहलाते हैं। ये भव और शर्व परमेश्वरकी आठ मूर्तियोंमेंसे दो मिरा मृर्ति हैं। अन्य श्रुतियोंमें भी इनका वर्णन मिलता है। यथा—'भवाय देवाय स्वाहा, शर्वाय देवाय स्वाहा'।।

ईश्वर हो ऐसं हे भव और शर्व नामक शिवकी मूर्तियों! तुम हमें सब अनथों के मूल पापसे छुड़ाओ ॥ १॥ दितीया ॥

ययोरभ्युष्य उत यद् दूरे चिद् यो विदिताविधुभृतामसिष्ठौ यावस्यशांथे द्विपदो यो चतुंष्पदस्तौ नो मुञ्जतमहंसः २ ययोः । अभिऽश्रध्वे । उत । यत् । दुरे । चित् । यो । विद्वितौ ।

इषुऽभृताम् । असिष्ठौ ।

यौ । श्रम्य । ईशाये इति। द्विऽपदः। यौ । चतुःऽपदः। तौ । नः।

मुञ्चतम् । ऋंहंसः ॥ २ ॥

ययोः भवाशवियोः अभ्यध्वे । अ श्रिभ अध्वनः अभ्यध्वः । "उपसर्गाद् अध्वनः" इति अच् समासान्तः अ । समीपदेशे । उत-शब्दः अप्यर्थे । दूरेपि च यत् किंचिद् अस्ति तयोः प्रशासनस्य तत् सर्वे विषय एवेत्यर्थः । यौ भवाशवौं विदितौ सर्वैः प्रज्ञातौ इष्रभृतौ इषोर्वाणस्य धनुषि आसोपितस्य भर्तारौ । असिष्ठौ अस्तृ-तमौ क्षेप्तृतमौ । अ अस्तृशब्दात् "तुश्क-दिस्" इति इष्ठन् । "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः अ । यावस्येशाथे इत्यादि पूर्ववत्।।

जिन भव और शर्व देवताओं के समीपके देशमें और दूरके देशमें जो कुछ है वह सब उनके ही शासनमें है और जो भव तथा शर्व धनुष पर चढ़ाये हुए वाणों को धारण करने वाले और फैंकने वाले प्रसिद्ध हैं और जो दो पैरवाले और चार पैरवाले पाणियों के स्वामी है वे हमको सब अनथों के मूल पापसे छुड़ावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सहसाचौ वंत्रहणां हुनेहं दूरेगंव्यूती स्तुवन्नंम्युश्री।

#### ( ५२२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यावस्येशाथे द्विपदो यो चतुंष्पदस्तो ने मुञ्चत्मं हंसः ३ सहस्र ऽत्रचीं। द्वत्र ऽह्नां। हुवे। ऋहम्। दुरेगं व्यूती इति दूरे ऽगं-व्यूती। स्तुवन्। एमि। उग्रो।

यौ । ऋस्य । ईशाये इति । द्विऽपदः । यौ । चतुःऽपदः । तौ । नः ।

मुञ्चतम् । स्रंहसः ॥ ३ ॥

सहस्रान्तौ सहस्रसंख्याकानि अनीणि चर्नूषि ययोः तौ सहस्रान्तौ सर्वतो दत्तदृष्टी । दूरसूचमादिविषयेष्विष अप्रतिहतदृश्नीवित्यर्थः । अ"बहुत्रीहौ सवश्यच्णोः " इतिषच् समासान्तः शि
हत्रहणा हत्रहणौ हत्रम् असुरं हतवन्तौ दूरेगव्यूती । गावो यूयन्ते
मित्रीभवन्ति संचरन्त्यस्मिन्निति गव्यूतिः गोसंचारभूमिः । सा
दूरे विषकृष्टे ययोस्तौ दूरेगव्यूती । गोसंचारदेशाद दूरदेशे वर्तमानावित्यर्थः । अ "ऊतियूति " इत्यादिना अधिकरणे किन्नन्तो
यूतिशब्दः । "गोर्यू तौ छन्दिस्" इति अव आदेशः शि । ईटशौ
भवाशवीं आहं हुवे आह्यामि । कीदृशोहम् । उग्रौ उद्यूणीं
तीच्णौ तावेव स्तुवन् प्रशंसन् नेमी । अत्वा नेम इत्यर्थस्य इति
यास्कः [ नि० ३. २० ] अ। नेमः अर्थ वलम् अस्यास्तीति
नेमी । असंपूर्णवल इत्यर्थः । यद्वा स्तुवन्नेमीति सम्रदायस्तयोरेव
विशेषणम् । नेमिशब्दो रथावयववाची । तेन च तद्वान् लच्यते ।
अस्तुवन्निति कर्मणि कर्तृमत्ययः शि । प्रशस्तरथावित्यर्थः ॥
अन्यत् पूर्ववत् ॥

श्रर्भ बल बाला मैं सहस्र नेत्र वाले—सव श्रोर दृष्टि देने वाले श्रथीत दूर सूच्म श्रादि सब विषयों में श्रपतिहत दर्शन वाले, दृत्रा-सुरके संहारक श्रीर जिनसे गोसंचारभूमि दूर रहती है, ऐसे तीच्छा भव श्रीर शर्वका मैं श्राह्वान करता हूँ ॥ ३ ॥ चतुर्थी ॥

याविरिभार्थे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमिभां जेनेषु। यावस्येशांथे द्विपदो यो चतुंब्पद्स्तो ने। मुझतुर्महंसः ४ यो। ब्रारेभार्थे इत्यांऽरेभार्थे। बहु। साकम्। ब्रग्ने। प्र। च।

इत् । अस्राष्ट्रम् । अभिऽभाम् । जनेषु ।

यौ । अस्य । ईशाये इति । द्विऽपदः । यौ । चतुःऽपदः । तौ । नः।

मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ४ ॥

हे भवाशवीं अग्रे सष्टचादौ यौ युवां वहुसाकम् वहूनां प्राणिनां साकं सहभावो यिस्मन् तद्ध बहुसाकम् जनसंघम् आरेभाथे आरब्धवन्तौ निर्मितवन्तौ । तेषु उत्पन्नेषु जनेषु । इच्छब्दः अवधारणे।
अभिभाम् अभिदीप्तिं शाच्यादिलक्षणां तत्तत्पापानुसारेण युवामेव च
पास्ताष्टम् प्रकर्षेण सष्टवन्तौ उत्पादितवन्तौ । "मा नो विदद्ध
अभिभा मो अशस्तः" [१. २०. १] इति परिहरणीयत्वश्रवणाद्ध अभिभाशब्दवाच्यस्य अनिभयत्कपतोक्ता । अ अस्ताष्टम्
इति । सज विसर्गे । अस्मात् लुङि तसस्तम् । "सजिद्दशोभि ल्यम्
अकिति" इति अम् आगमः । "वद्त्रजहलन्तस्य०" इति दृद्धः ।
सिज्लोपे "त्रश्रवः" इत्यादिना पत्वे । ष्टुत्वम् अ ॥ यात्रस्येशाथे
इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे भव और शर्व ! जिन तुम दोनोंने सृष्टिकी आदिमें बहुतसे पाणियोंको बनाया था और उन उत्पन्न मनुष्योंमें शत्रु आदि रूप अभिदीतिको तत्तत्पापानुसार तुम ही उत्पन्न करते हो और जो तुम दो पैर बाले पाणियोंके और चार पैर बाने पशु आदिके स्वामी हो वे हमको सब अनथोंके मूल पापसे छुड़ाओ ४ पश्चमी ॥

ययोर्वधान्नापपद्यंते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु । यावस्येशांथे द्विपद्गे यो चतुंष्पद्स्तो ने मुञ्जतमंहंसः ५

ययोः । वधात्। न । अपुऽपद्यते । कः । चन । अन्तः । देवेषु । उत ।

मानुषेषु ।

यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्विऽपदः । यौ । चतुःऽपदः। तौ । नः ।

मुञ्चतम् । श्रंहसः ॥ ४ ॥

ययोः भवाशर्वयोः वधात् । अ "हनश्च वधः" इति करणे अप् पत्ययो वधादेशश्च अ । हननसाधनाद्ग आयुधाद् देवेषु अन्तः मध्ये उत मानुषेषु मनुष्येषु च मध्ये कश्चन कोपि नापपद्यते अप-वर्जनं न प्रामोति अपि तु तद्दिषय एव भवति ॥ यावस्येशाथे इत्यादि गतम् ॥

जिन भव और शर्वके हननके साधन आयुधसे देवताओं मेंसे और मनुष्यों मेंसे कोई भी नहीं वचता है और जो दो पैर वाले मनुष्य आदि पाणियोंके तथा चार पैर वाले पशु आदिके स्वामी हैं वे भव और शर्व देवता हमको सब अनथों के मूल पापसे मुक्त करें प्र

पष्टी ॥

यः कृत्याकृनम् लुकृद् यांतुधानो नि तस्मिन् धत्तं वर्त्रमुत्रो ।

यावृस्येशाथे द्विपदो यौ चतुंष्पद्स्तौ नेर् मुञ्चत्-मंहंसः ॥ ६ ॥ यः । कृत्याऽकृत् । मूलऽकृत् । यातुऽघानः । नि । तस्मिन् । धत्तम्। वज्रम् । उग्रौ ।

यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्विऽपदः । यौ । चतुःऽपदः । तौ । नः । युञ्चतम् । चंहसः ॥ ६ ॥

यः शत्रुः कृत्याकृत् कृत्यया क्रियानिर्दृत्तया विशाच्या कृन्तित बिनत्तीति कृत्याकृत् । यश्र यातुथानः राज्ञसः मूलकृत् वंशाभि-द्रुद्धे मू लं निदानम् अपत्यं कुन्तति ज्ञिनचीति मूलकृत् । तस्मिन्तु-भयविषे शत्री हे उग्री उद्गुर्णवली भवाशवीं वज्रम् वर्जकम् आयुधं नि धत्तम् निचिपतम् । विध्यतम् इत्यर्थः ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

जो शत्रु कृत्याक्रियासे निर्मित पिशाचीके द्वारा काटता है श्रीर जो राज्ञस हमारे वंशकी दृद्धिके मूल सन्तानको नष्ट करता है, इन दोनों प्रकारके शत्रुश्चोंमें हे प्रचएडवली शर्व और भव! देवता वर्जक आयुधका महार करें। जो भव और शर्व देवता दो पैर वाले पाणियोंके और चार पैर वाले पशुत्रोंके ऊपर शासन करते हैं वे हमको सब अनर्थों के मूल पापसे वचावें ॥ ६॥

सप्तमी ॥

अधि नो बूतं एतनासूग्री सं वज्रेण सृजतं यः किंमीदी। स्तौभि भवाशवीं नाथितो जाहवीमि तौ ना मुश्रतमहंसः अधि । नः । अतम् । पृतनास्च । उग्रौ । सम् । वज्रेण । सजतम्। यः । किमीदी ।

स्तौमि। भवाशवौँ। नाथितः। जोहत्रीमि। तौ। न। मुश्चतम् । ऋंहसः

हे रग्नौ अग्रचगुणयुक्तौ दुष्पधर्षी भवाशवीं नः अस्मभ्यस् अधि ब्रुतस् श्रेयोविषये पद्मपातन वदतम् । पृतनासु संग्रामेषु वज्रेण आयुधेन अस्मदीयान् शत्रून् सं स्डलतम् संयोजयतम् । यश्च किमीदी किम् इदानीम् उत्पन्नं किम् इदानीम् उत्पन्नम् इति रन्धा-न्वेषी हिंसको राचसादिः तमिष आयुधेन संयोजयतम् । एवंमहा-नुभावौ भवाशवीं अहं स्तौमि ॥ गतम् अन्यत् ॥ [ इति ] तृतीयं सुक्तम् ॥

हे दुष्पधर्ष भव और शर्व देवताओं! तुम हमारे श्रेयकी वातमें पत्तपातपूर्वक कहो, संग्राभमें हमारे शत्रुओंको आयुधसे मिलाओ, और इस समय क्या होरहा है, इस मकार खिद्र हूँढ़ते हुए घूमने वाले हिंसक रात्तस आदिकों भी आयुधने युक्त करों, ऐसे महानुभाव भव और शर्व देवताकी में स्तुति करता हूँ, में पार्थी वारम्बार उनका आह्वान करता हूँ, वे गुक्तको सब अनथोंके मूल पापसे छुड़ावें।। ७।।

च तुर्थ काण्डके छठे अनुवाकमें तीसरा सुक समाप्त (१३०)॥

"मन्ये वां मित्रावरुणो" इति सक्तस्य उक्तो विनियोगः। "मित्रावरुणाभ्याम् आगोप्तग्भ्यां पयस्या" इति [तै० सं० ७.५. २२. १] विहितस्य मृगारहिष्यो भित्रावरुणो देवते। तयोः स्ता-वकम् एतत् सक्तम्।।

"मन्त्रे वां गित्रावरुणों" इस सुक्तका विनियोग कह दिया है तैक्तिरीयसंहिता ७ । ४ । २२ । १ के मन्त्र ''मित्रावरुणाभ्याम् आगोसुरभ्यां पयस्या" से विहित सृगारहितके मित्र और वरुण देवता है । यह सुक्त उनकी स्तुतिसे भरा हुआ है ।

तत्र मथमा ॥

मन्ये यो मित्रावरुणारतार्थो सचेतसौ हुई णो यो नुदेथे प्र सत्यावानमवंथो भरेषु तो ने। सुचतुमहंसः ॥१॥ मन्त्रे । वाम् । वित्रावरुणौ । ऋतऽहधौ । सऽचेतसो । दुर्दणः । यो । जुदेथे इति ।

प । सत्यऽवानम् । अवयः । भरेषु । ती । नः । मुखतम् । अहसः १

हे ऋताष्ट्रधा ऋतस्य सत्यस्य उदकस्य यहस्य वा वर्षयितारौ सचेतसौ समानहानौ ईटशौ हे यित्रावरुणा मित्रावरुणो। अमित्रश्र वरुणश्र मित्रावरुणो। अमित्रश्र वरुणश्र मित्रावरुणो। ''त्रानङ् ऋतो द्वन्द्वे" [ देवताद्वन्द्वे च ] इति पूर्वपदस्य त्रानङ्। ''त्रुपां सुलुक्॰'' इति पूर्वसवर्णदीर्घः श्रा वास् युवयोर्घहन्तं मन्वे स्तौमि। यौ युवां दुहणः होण्धृत् सुदेथे भरेये स्थानात् प्रच्यावयथः। श्रा तुदं प्रेरणे श्रा। अपि च सत्यावानम् सत्ययुक्तम्। श्री 'अन्दसीवनिपौ'' इति मत्वर्थीयो वनिप् श्री सत्यपति इं पुरुषं भरेषु संग्रामेषु प्रावथः प्रकर्षण स्वयः। तौ युवां नः त्रस्मान् श्रंहसः पापाद् सुञ्चतम्।।

हे सत्य जल और यज्ञको बढ़ाने वालेसमान ज्ञानी मित्र और वरुण देवताओं ! मैं तुम्हारे महत्त्वकी स्तुति करता हूँ कि-तुम द्रोह करने वालोंको उनके स्थानसे च्युत कर देते हो और सत्य प्रतिज्ञा वाले पुरुपकी संग्राममें विशेषरूपसे रच्चा करते हो, वे तुम दोनों हमको सब अनथोंके मूल पापसे छुड़ाओं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सचेतसौ दुहंणो यो नुदेथे प्रसत्यावानमवंथो भरेषु । यो गच्छेथो नृच चंसौ ब्रमुणां सुतं तो नो सुञ्चत्मंहसः २ सडचेतसौ। दुहंणः। यो। नुदेथे इति। प्रासत्यऽवानम् अवयः। भरेषु यो। गच्छेथः। नुडचचंसौ। ब्रमुणां। सुतम्। तो। नः। सुञ्चतम्। अंहंसः सचेतसौ समानज्ञानौ एकार्थकारिणो हे मित्रावरुणो यो युवां
दुह्याः द्रोग्धृन नुदेथे सत्यवन्तं च भरेषु संग्रामेषु मावधः मरत्तथः।
वृचत्तसौ वृणां संचष्टारौ सम्यग् द्रष्टारौ । अहोरात्राभिमानिनौ
हि मित्रावरुणौ तत्र क्रियमाणस्य मानुषव्यापारस्य सर्वस्यापि
सात्तिणावित्यर्थः । ईदृशौ यौ मित्रावरुणौ बश्रुणा बश्रुवर्णेन पीतवर्णेन रथादियानेन स्रतम् अभिषुतं सोमं गच्छतः माप्नुतः । अनुचत्तसाविति । चक्षेरसुनि "असनयोश्र" इति ख्याञादेशाभावः ।।।
तौ न इत्यादि गतम् ॥

हे समान ज्ञान वाले होनेसे एक ही प्रयोजनके कामको करने बाले मित्र और वरुण देवताओं ! जो तुम द्रोह करने वालोंको उनके स्थानसे श्रष्ट करते हो और सत्यपतिज्ञ पुरुषकी संग्राममें विशेषरूपसे रक्षा करते हो, दिन और रात्रिके अभिमानी देवता होनेसे, उनमें किये जाने वाले मनुष्योंके सब कमोंके साजी ऐसे जो मित्रावरुण हैं वे पीत वर्ण वाले रथ आदिक मानसे अभिषुत सोनको प्राप्त होते हैं वे मित्र और वरुण देवता हमको सब अनथींके मृल पापसे युक्त करें ।। २ ।।

तृतीया ॥

याविक्षिरसमवंथो यावगस्ति मित्रीवरुणा जमदेशिमित्रि यो क्रयपमवंथो यो विसिष्ठं तो नो सुञ्चतमहेसः ३ यो। श्रिष्ठिस । श्रवेथः । यो। श्रमस्तिम्। मित्रावरुणा । जमत्र-

अग्निम् । अतिम् ।

यो । करयपम् । अवथः। यो । वसिष्ठम् । तो । नः। मुञ्चतम् । चंहसः

्रञ्जंगारेभ्यो <mark>जातो म</mark>हर्षिरङ्गिराः।"येङ्गारा आसंस्तेङ्गिरसोभवन्" इति हि ब्राह्मणम् [ ऐ० ब्रा० ३, ३४ ]। एतत्संज्ञं महर्षि हे मित्रावरुणो यो युवाम् अवथः रत्तथः । यो च युवाम् अगस्त्यम् कुम्भसंभवम् आत्मीयं पुत्रं रत्तथः। उक्तं हि । "मित्रावरुणयोदीं ज्ञित-योरुर्वशीम् अप्सरसं दृष्टा वासतीवरे कुम्भे रेतोपतत् । ततोगस्त्य-विसष्ठावजायेताम्" [स० अ०१२] इति । तथा जमदिनम् जमन्तः जवतन्तः अग्नयो यस्य स तथोक्तः । एतत्सं इं महिष्म् । मातृपित्रात्मसंवन्धिनस्त्रिविधादोषा न अस्मिन्निति सन्ति अतिः । तस्माद् अत्रिनं त्रय इति हि निरुक्तम् [नि०३.१७]। एत-त्सं इं महिष्म् । अवधः । यो च युवां कश्यपम् दूरसच्मादिभेदः भिन्नस्यापि कृत्स्नस्य जगतो दृष्टारम् । "कश्यपः पश्यको भवति । यत् सर्व परिपश्यतीति सौच्म्यात्" इति हि तैत्तिरीयकम् [तै० आ०१. ८. ८]। कश्यपारुयं महिष्म् अवधः रत्तथः । यो च वसिष्ठम् वसुमत्ततम् । अवसम्बद्धदाद् इष्टनि "विन्मतोलु क्"। "टे०" इति टिलोपः । अस्मिन्द्धदाद् इष्टनि "विन्मतोलु क्"। तौ न इत्यादि गतम्।।

अङ्गारोंसे उत्पन्न हुए अंगिरा नामक महर्षि † की हे मित्र और वरुणदेवता ! जो आप रत्ता करते हो और कुम्भसे उत्पन्न हुए महर्षि ! अगस्त्यकी हे मित्र और वरुण देवताओं ! तुम जो रत्ता करते हो और माता पिता तथा अपने इस प्रकार तीनों

<sup>†</sup> ऐतरेय ब्राह्मण ३ । ३४ में कहा है, कि-"येंगारा ब्रासन् तेंऽगिरसोऽभवन् ॥-जो ब्रंगार थे वे ब्रंगिरस् हुए" ॥

<sup>‡</sup> स० अ० १२ में कहा है, कि—"मित्रावरुणयोदीिन्नतयोरु-वंशीं अप्सरसं दृष्ट्वा वासतीवरे कुम्भे रेतोऽपतत् । ततोगस्त्य-विसष्ठावजायेताम् ॥—दीिन्नत मित्र और वरुणने जब उर्वशी अप्सराको देखा तो उनका वीर्य वसतीवर कुम्भमें गिर पड़ा तब विसष्ठ और अगस्त्य उत्पन्न हुए"॥

के दोषोंसे रहित अति +की जो तुम रत्ता करते हो और दूर सूदम आदि भेदसे भिन्न सब जगतके द्रष्टा कश्यप × नामक सुनिकी जो तुम रत्ता करते हो और जो तुम सर्वश्रेष्ठ विसष्ठ नाम वाले महर्षिकी रत्ता करते हो, वह तुम हमको सब अनथींके मूल पापसे छुड़ाइये।। ३।।

चतुर्थी ॥

यौ श्यावाश्वमवंथो वश्रयश्वं मित्रविरुणा पुरुमी-

यो विमुदमवंथः सुप्तवंभ्रिं तो नो मुञ्जतुमहंसः ॥४॥

यौ । श्यावऽत्रप्रवम् । अवधः । विधिऽग्रश्वम । मित्रावरुणा । पुरुऽमी-

ढम्। ऋतित्रम्।

यौ।विऽमदम्। अवथः। सप्तऽविष्रम्। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ४

श्यावाः किषशा अश्वा यस्य श्यावाश्वः । एतत्संज्ञम् ऋषिम्
हे [ मित्रावरुणा ] मित्रावरुणौ यौ युवाम् अवथः रत्तथः । वश्रचश्वम् । वश्रचः पण्डा अश्वा यस्य स वश्रचश्वः । तं च रत्तथः ।
तथा पुरुमीढम् । मीढम् इति धननाम । पुरुणि मीढानि धनानि
यस्य स तथोक्तः एतत्संज्ञं महर्षि रत्तथः । अत्रिम् इति पुनव चनम्

+ निरुक्त ३, १७ में कहा है, कि-"तस्माद् अत्रिन त्रय इति निरुक्तम्"।

× तैत्तिरीय त्रारण्यक १। ८। ८ में कहा है, कि-"कश्यपः पश्यको भवति। यत् सर्वे परिपश्यतीति सौच्म्यात्। — कश्यप पश्यक (देखने वालेके) त्र्र्थको रखता है। वह सूच्मताके कारण सबको देखते हैं॥"

आदरार्थम् । यद्वा उक्तनिरुक्तचा पुरुमीहस्यैन विशेषणम् । अथ वा त्रिविधा ह्यात्रेयाः । यद्व आह आपस्तम्बः । "आत्रेयाय पथ-माय हिरएयं ददाति । द्वितीयाय तृतीयाय वा" [ आप० १३. ६. १२ ] इति । तद्धे दाभिषायम् एतत् पुनरभिधानम् । यौ युवां विमदम् एतत्संज्ञम् ऋषि सप्तविधम् । सप्त वध्ययः अश्वा यस्येति सप्तविधः । एतत्संज्ञं च अवथः रक्तथः ॥ तौ न इत्यादि गतम् ॥

हे मित्र और वहण देवताओं ! तुम श्यावाश्व नाम वाले ऋषि की रत्ता करते हो और वश्रचश्व नाम वाले ऋषिकी रत्ता करते हो, पुरुमीढ नाम वाले ऋषिकी रत्ता करते हो, अति ÷ ऋषि की रत्ता करते हो और हे मित्र और वहण देवताओं ! जो तुम विमद और सप्तऋषिकी रत्ता करते हो, वे तुम दोनों हमको सव अनथों के मूल पापसे मुक्त करो ॥ ४ ॥

पश्चमी ु।।

यो भरद्राज्ञमवंथो यो ग्विष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम् ।

यो कृत्तीवन्तमवंथः प्रोत क्यवं तो नो मुञ्जतमहंसः प्र यो। भरत्ऽवाजम्। अवधः। यो। गविष्ठिरम्। विश्वामित्रम्।

वरुण । मित्र । कुत्सम् ।

यौ । कुत्तीवन्तम् । अवधः । प्र । उत । कुर्वम् । तौ । नः ।

मुञ्चतम् । त्र्यंहंसः ॥ ५ ॥

हे मित्र हे वरुण यो युवां भरद्वाजम् । भरत् पोषकं बाजो हिव-र्लक्षणम् अन्नं यस्य स भरद्वाजो महर्षिः । तम् अवथः रक्षथः ।

## ( ५३२ ) अधर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषातुवादसहित

यो युवां गविष्ठिरम् गवि वाचि वेदातिमकायां स्थिरो गविष्ठिरः। अ "गवियुधिभ्यां स्थिरः" इति पत्वम्। "तत्पुरुषे कृति वहु-लम्" इति अलुक् अ। एतत्सं इं महर्षं रत्तथः। विश्वामित्रम् विश्वं कृत्सं जगत् मित्रं यस्य स तथोक्तः। अ "मित्रे चर्षों" इति पूर्वपदस्य दीर्घः। "बहुत्रीहों विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदा-त्तत्वम् अ। तथा कुत्सं महर्षं च रत्तथः। कत्तीवन्तम्। अश्वस्य कत्त्योभवा रज्जुः कत्त्या। अ "शरीरावयवाच" इति यत्। कत्त्या रज्जुरश्वस्य इति हि यास्कः [नि०२.२] अ। सास्मिन्तस्तीति कत्तीवान् नाम उशिजः पुत्र ऋषिः। अ "आसन्दीवद् अष्टीवत् कत्तीवद् " इति निपात्यते अ। "कत्तीवन्तं य अशिजः" [ऋ०१.१८.१] इति हि निगमान्तरम्। एतत्सं इं महर्षं करावाख्यं च पावथः परत्तथः॥ गतम् अन्यत्॥

हे मित्र श्रीर वरुण देवताश्रों ! श्राप हिवरूप श्रन्नका पोषण करने वाले भरद्वाज नामक ऋषिकी रक्ता करते हैं श्रीर जो श्राप वेदात्मिका वाणीमें स्थिर रहनेवाले गिविष्ठिर नाम वाले ऋषिकी रक्ता करते हैं श्रीर जो सम्पूर्ण जगत्के मित्र विश्वामित्र नामक ऋषिकी रक्ता करते हैं तथा जो श्राप कुत्स, कत्तीवान् श्रीर कण्व नामवाले ऋषिकी रक्ता करते हैं वे दोनों श्राप हमको सब श्रनथीं के मूल पापसे कुड़ाइये ॥ ४ ॥

षष्टी ॥

यो मेघातिथिमवंथो यो त्रिशोकं मित्रांवरुणावुशनां काव्यं यो ।

यौ गोतंमुमवंथः प्रोत मुद्गंलं तौ ने मुञ्चतमहंसः ६ यौ । मेर्थऽत्रातिथम् । अवंथः । यौ । त्रिऽशोर्कम् । मित्रावरुणौ । उशनीम् । काव्यम् । यौ ।

यौ । गोतमम् । अवधः । प्र । उत । मुद्रलम् । तौ । नः । मुश्रतम् ।

स्राहरः ॥ ६ ॥
हे मित्रावरुणो यो युवां मेथातिथिम् । मेथातिथिमेंध्यातिथिः इति
निरुक्तम् मेध्या यज्ञाहां अतिथयो यस्मिन् तं मेथातिथिसंज्ञम् ऋषिम्
स्रवथः रत्तथः । यो च युवां [ त्रिशोक्तम् ] त्रिशोकारूयम् ऋषि
रत्तथः । काव्यम् कवेः पुत्रम् उशनाम् उशनसम् । अ बान्दसम्
ब्राह्वम् अ । एतत्संज्ञं महर्षि यो मित्रावरुणो रत्तथः । तथा गोतसम् ऋषिम् उत मुद्रलम् मुद्रलाख्यं च मावथः मरत्तथः ॥ तौ न

इत्यादि गतम् ।।
हे मित्र और वरुण नाम वाले देवताओं ! जो तुम मेघातिथि
नाम वाले ऋषिकी, त्रिशोक नामक ऋषिकी और कविके पुत्र
उशना नामवाले ऋषिकी रक्ता करते हो तथा गोतम और मुहल
नामवाले ऋषिकी रक्ता करते हो वे तुम दोनों हमका सब अनथीं
मूल पापसे बचाओ ।। ६ ।।

सप्तमी ॥

ययो रथः सत्यवंतर्मर्जुरंशिमर्मिथुया चरन्तमभियाति

दूषयंन् ।

स्तौमिं मित्रावरुंणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुबत-

मंहंसः ॥ ७ ॥

ययोः । रथः । सत्यऽवत्मा । ऋजुऽरिमः । मिथुया । चरन्तम् ।

अभिऽयाति । दूषयन् ।

## ( ५३४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषातुवादसहित

स्तौमि । मित्रावरुणौ । नाथितः । जोहवीमि । तौ । नः । मुश्चतम ।

श्रंहसः ॥ ७ ॥

ययोः मित्रावरुणयोः स्वभूतो रथः सत्यवत्मी सत्यम् अवितथं वत्मे मार्गी यस्य स सत्यवत्मी ऋजरिमः ऋजवः अकुटिला रशायः मग्रहा यस्य स ऋजरिमः । एवंगुणविशिष्टो रथः मिथुया मिथ्या चरन्तम् अविहितमार्गेण वर्तमानं पुरुपं दूषयन् बाधमानः । अ दुप वैकृत्ये । अस्मात् एयन्तात् हेतौ शतुमत्ययः । "दोषो णौ" इति उत्त्वम् अ । दूषणाद्धे तोः अभियाति अभिमुखं गच्छति । तौ मित्रावरुणौ स्तौमि मशंसामि । अ मित्रावरुणाविति । "देवताद्दन्हे च" इति उभयपदमकृतिस्वरत्वम् अ।। नाथित इत्यादि व्याख्यातम्

#### [ इति ] चतुर्थं सुक्तम् ॥

जिन मित्रावरुणका सत्य मार्ग वाला और सरल रिमयों वाला रथ मिथ्यामार्गमें विचरण करने वाले पुरुषोंको वाधा देनेके लिये उनके सामने आता है, उन मित्र और वरुणदेवताकी में स्तुति करता हूँ, में पार्थी उनका वारम्बार आहान करता हूँ, वे दोनों मुक्तको सब अनथोंके मूल पापसे मुक्त करें।। ७॥

चतुर्थकाण्डके छठे अनुवाकमें चतुर्थ स् क समाम (१३१) ॥

"अहं रुद्रेभिः" इति स्क्तेन जातकर्मणि शङ्खपुष्पिकागन्धपुष्पिके पिष्टा अभिमन्त्र्य हिरएयशकलेन प्राश्येत् ॥

तथा तत्रेत्र कर्पणि अनेन सक्तेन शंखनाभि पिष्पलीं च पिष्टा अभिमन्त्र्य हिरण्यशकलेन प्राशयेत् ॥

तथा मेधाजननार्थं प्रथमं वाग्व्यवहारं कुर्वतः शिशोर्मातुरुत्संगे विहितस्य अनेन सक्तेन आज्यं हुत्वा तालुनि संपातान् आनयेत्।।

तथा दिधमधुनी एकत्र कृत्वा अनेन संपात्य अभिमन्त्र्य शिशु माश्येत ॥ तथा उपनयनकर्मणि दण्डमदानान्तरम् एतत् सूक्तं माणवकं वाचयेत् ॥

तथा आयुष्कामोपि शङ्खपुष्पगन्धपुष्पमाशनादीन्युक्तानि पञ्च कर्माणि कुर्यात् ॥

तथा च कोशिकं सूत्रम् । "अहं रुद्रेभिरिति शुक्कपुष्पहरितपुष्पे किंस्त्यनाभिपिष्पल्यो जातरूपशकलेन प्राक् स्तनग्रहात् प्राश्चाति । प्रथमप्रवदस्य मातुरुपस्थे तालुनि संपातान् आनयति । दिधमध्वाशयति । उपनीतं वाचयति । वार्पशतिकं कर्म" इति कौ० २. १ ] ।।

तथा उपनयने अनेन स्कोन आज्यहोमं कुर्यात् । स्त्रितं हि । "उपनयनम्" [कौ० ७. ६ ] प्रक्रम्य "मेधाजननायुष्येजु हुयात्" इति [कौ० ७. ⊏ ] ।।

तथा अध्यायोत्सर्जनकर्मिण अनेन सक्तेन आज्यं हुत्वा रसेषु संपातान आनयेत्। तथा च कौशिकः। "उत्सर्जनम्" प्रक्रम्य "विश्वेदेवाः [१.३०] अहं रुद्रेभिः [४.३०] सिंहे ज्याघे [६.३८] यशो हिवः [६.३८]" इत्यादि [को०१३.३]॥

'श्रहं रुद्रेभिः' इस सूक्तसे जातकर्मने शङ्खपुष्पिका (कोडचाला बूँटी) श्रीर गंधपुष्पिका (केवड़े) को पीसकर श्रीर श्रभिमंत्रण करके सुवर्णके दुकड़ेसे चटावे।।

तथा इसी कर्ममें इस सुक्तसे शङ्घनाभि और पीपलको पीस श्रीर श्रभिमन्त्रण करके सुवर्णके टुकड़ेसे चटावे ॥

तथा मेधाजननके लिये प्रथम वाणीका व्यवहार करने वाले श्रार्थात् प्रथम बोलते हुए शिशुके माताकी गोदीमें बैठने पर इस सुक्तसे घृतकी श्राहुति देकर तालुमें सम्पात लगावे।।

तथा दही और मधुको एकत्रित कर इस सुक्तसे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके वालकको चटा देवे ॥

# ( ५३६ ) अधर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा उपनयनकर्ममें दंडपदानके अनंतर इस सुक्तको वालकसे

तथा आयु चाहने वाला भी शङ्खमण्यी और गन्धपुष्पीका

माशन आदि पूर्वीक्त पाँच कर्मोंको करे।।

इस विषयमें कोशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि—"ग्रहं रुद्रेभि रिति शुक्रहरितपुष्पे किंस्त्यनाभिपिष्पच्यो जातरूपशकलेन पाक् स्तनग्रहात् पाश्यपित । प्रथमपवदस्य मातुरुपस्थे तालुनि संपातान् ग्रानयित । दिभिष्वाश्यित । उपनीतं वाचयित । वापशितिकं कर्म" (कौशिकसूत्र २ । १ )।।

तथा उपनयनमें इस स्कासे घृतका होम करे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"उपनयनम्" (कोशिकसूत्र ७ । ६ ) प्रक्रम्य "मेधाजननायुष्येर्जुहुयात्" इति कोशिकसूत्र ७ । ८ ) ॥

तथा अध्यायोत्सर्जनकर्ममें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देकर रसोंमें सम्पातोंको लावे ॥ इसी वातको कौशिकसूत्रमें सहा है, कि—"उत्सर्जनम्" प्रक्रम्य "विश्वे देवाः (१।३०) आहं रुद्रेभिः (४।३०) सिंहे च्याघ्रे (६।३८) यशो हविः (६।३६) इत्यादि (कौशिकसूत्र (१४।३)॥

तत्र प्रथमा ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्येरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रावरुणोभा विभम्पेहमिन्द्रायी अहमश्वनोभा

अहम्। रुद्रेभिः । वसुंश्मः । चरामि । अहम् । आदित्यैः। उत ।

्बिश्वऽदेवैः ।

अहम्। मित्रावरुणा । जुभा । विभिम् । अहम् । इन्द्राग्नी इति ।

अहम्। अशिवना। उभा ॥ १ ॥

सर्वजगत्कलपनास्पदं सचित्युखात्मकं परं ब्रह्म स्वात्मत्वेन वि-दुषी अम्भृणाख्यस्य महर्पेर्दुहिता वाङ्नास्त्री ब्रह्मवादिनी स्वात्मानं सर्वात्मभावेन तृष्टाव। तद् उक्तं दाशतय्य नुक्रमणिकायाम्। "अहम् अष्टो। वाग् आम्भृणी तुष्टावात्मानम्" [ स० घ० ६३ ] इति । विशुद्धसन्त्रपरिणामकृपस्य अन्तःकरणस्य द्वतिविशेषः मानात्मकोहंकारः। तदुपलिच्चतानविच्छन्नात्मिका अहं रुद्रेभिः रुद्रैः एकादशिम। अष्टिभिवस्य निः अइत्यंभावे तृतीया अ। तत्तद्दे बात्मना चरामि । एवम् अहम् आदित्यैः इत्यादाविष योज्यम् ॥ आदित्या द्वादशसंख्याका धात्रादयः । वसुरुद्रादित्यव्यतिरिक्ता गणशो वर्त-मानाः विश्वदेवाख्याः । एकस्यैव हि ब्रह्मणः तत्तदुपाध्यवच्छेदेन वस्वादिदेवतारूपेण भेदावभासात् । वस्तुतस्तु ऐक्यमेवेति तद्नु-संधाना ब्रह्मवादिनी एवं बूते ॥ तथा मित्रावरुणा । 🕸 "सुपां सुलुक्" इति द्वितीयाया आकारः 🕸 । मित्रावरुणौ देवौ उभा उभौ अहमेव परब्रह्मात्मिका विभिमे धारयामि । इन्द्राशी अपि अहमेत धारयामि । उभा उभी अश्विनाविष अहमेव धारयामि । मत्स्वरूपे अद्वितीये ब्रह्मणि सर्वे जगत् शुक्तौ रजतिमव अध्यस्तं सत् दृश्यते । माया च जगदाकारेण वित्रर्तते । तदाधारत्वेन असङ्ग-स्यापि ब्रह्मणः उक्तस्य सर्वस्योपपत्तिः ॥

(सर्वजगत्की कल्पनाका आश्रय सत्चित् सुखात्मक परब्रह्म को स्वात्मरूपसे जानने वाली अम्भृण नाम वाले महर्षिकी वाङ् नाम वाली ब्रह्मवादिनी पुत्रीने अपने आत्माकी सर्वात्मभावसे स्तुतिकी है, उसी बातका इस सुक्तमें वर्णन है ‡) अभिमाना-त्मक अहंकार विशुद्धसत्त्रपरिणामरूप अन्तः करणकी एक रुत्ति

‡ इसी वातको दाशतय्यनुक्रमिणकामें कहा है, कि-"अहम् अष्टौ । वाग् आम्ध्णी तुष्टावात्मानम् ॥—अंध्ण ऋषिकी पुत्री मुभ वाक्ने आठ वसुरूप अपने आत्माकी स्तुतिकी" (स-अ-६३)॥

है, तदुपलित्तत अनविक्वन्नात्मिका में ग्यारह रुद्र आठ वसुरूपसे विचरण करती हूँ। इसी प्रकार में धाता आदि बारह आदित्य, तथा वसु रुद्र आदित्योंसे अतिरिक्त गणोंमें वर्तमान विश्वेदेवारूप से भी विचरण करती हूँ (एक ही ब्रह्म भिन्न उपाधिके अवच्छेदसे वसु आदि अनेक देवताओं के रूपमें अवभासित होता है, वास्तवमें तो ऐक्य ही है, इस वातका अनुसन्धान कर चुकी हुई ब्रह्मवादिनी इस प्रकार कहती हैं) तथा ब्रह्मवादिनी परब्रह्माित्मका में मित्र और वरुण दोनों देवताओं का भी भरण करती हूँ, इन्द्र और अग्निदेवताको भी में धारण करती हूँ (तात्पर्य यह है, किमरे स्वरूप अद्वितीय ब्रह्ममें सब जगत सीपीमें अध्यस्त चाँदीकी समान दीखता है, माया भी जगतके आकारसे विवर्तित होजाती है, उसका आधार होनेसे असंग ब्रह्ममें भी पहिले कहे हुए सब की उपपत्ति होजाती हैं) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वस्त्रनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ता मा देवा व्यद्धः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूयीवेशयन्तः अहम्। राष्ट्री। सम्जगमनी। वस्त्रनाम्। चिकितुषी। प्रथमा। यज्ञिया-नाम्।

ताम् । मा । देवाः । वि । अद्धुः। पुरुऽत्रा । भूरिस्थात्राम् । भूरि।

त्राऽवेशयन्तः ॥ २ ॥

अदितीयब्रह्मात्मिका अहं राष्ट्री । ईश्वरनामैतत् । कृत्स्नस्य दृश्य-प्रपञ्चस्य राज्ञी नियन्त्री । अत एव वस्नाम् धनानां संगमनी संग- मियत्री उपासकानां फलस्य प्रापियत्री । चिकितुषी यत् साज्ञात्कर्तव्यं परं ब्रह्म तत् ज्ञातवती स्वात्मतया साज्ञात्कृतवती । ॐ कित
ज्ञाने इत्यस्मात् लिटः ववसः। तदन्तात् "उगितश्र" इति ङीप् ॐ ।
अत एव यज्ञियानाम् यज्ञाहीणां देवानां प्रथमा मुख्या । ॐ "यज्ञतिवग्भ्यां घखजौ" इति अहीर्थे घपत्ययः ॐ । ताम् ताद्दशीं मा
मां भूरिस्थात्राम् बहुभावेन पपश्चात्मना कृतावस्थानां भूरि वहुलं
फलम् आवेशयन्तः उपासकात् प्रापयन्तो देवाः पुरुत्रा बहुषु स्थानेषु
व्यद्धुः विद्धति कुर्वन्ति । ॐ "देवमनुष्यपुरुषपुरुषपुरुषत्येग्यः"
इति सप्तस्यर्थे त्रापत्ययः ॐ । उक्तमकारेण वैश्वरूप्येण अवस्थानाह्न यद्यत् कुर्वन्ति देवास्तत् सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

श्रदितीय ब्रह्मात्मिका में सम्पूर्ण दृश्यपपश्चकी रानी हूँ अत एव उपासकोंको धनरूप फलोंको प्राप्त कराने वाली हूँ और जो साचात्कर्तव्य परब्रह्म है, उसका मैंने परब्रह्मरूपसे साचात् किया है, अत एव यज्ञके योग्य देवताओंमें मुख्य हूँ। ऐसी पपश्चरूपसे अवस्थान करने वाली मुक्तको, उपासकोंको फल देने वाले देवता अनेक स्थानोंमें स्थापित करते हैं। इसपकार वैश्वरूपसे अवस्थान के कारण देवता जो कुछ करते हैं वह सब मुक्तको ही करते हैं?

तृतीया ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुरं देवानां मृत मानं वाणाम् यं कामये तंत्मुत्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तस्वितं समेधाम्।

अहम् । एव । स्वयस् । इदम् । वदामि । जुष्टम् । देवानाम् ।

वत । मानुषाणाम् ।

यम् । कामये । तम् ऽतम् । उग्रम् । कुणोमि । तम् । ब्रह्माणम् ।

## ( ५४० ) अथर्वेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तम् । ऋषिम् । तम् । सुऽमेधाम् ॥ ३ ॥

श्रहं स्वयमेव श्रात्मनैव । [एवकारः ] नान्योस्ति ममोपदेष्टेति

श्रवधारणार्थः । इदम् श्रापरोच्येण श्रनुभूयमानं ब्रह्मात्मकं वस्तु

वदामि लोकहितार्थम् उपदिशामि । तद्ध विशेष्यते । देवानाम्

इन्द्रादीनां जुष्टम् प्रियम् उत्तमानुषाणाम् मनुष्याणामपि प्रियंपरा
नन्दरूपत्वात् । "एतस्यैवानन्दस्य श्रन्यानि भूतानि मात्राम् उप
जीवन्ति" इति श्रुतेः [ बृ० श्रा० ४. १. ३१ ]।यद्वा देवमनुष्या
दिभिः सेवितम् इदं वद्मयमाणं मदीयं माहात्म्यम् श्रहमेव स्वयं

वदामि । पक्रयामीत्यर्थः । कि पुनस्तद् इत्याह । यम् इति । यं

कामये । तं तम् इति प्रतिनिर्देश्यस्य वीष्मितत्वाद्ध श्रत्रापि वीष्सा

द्रष्ट्या । यंयं पुरुषं रित्तिनुम् श्रहं वाञ्छामि ततं कृत्स्तं पुरुषम् अग्रं

कृणोमि । सर्वेभ्योधिकं दुष्प्रधर्षं करोमि । यद्वा उग्नः ईश्वरः

जगन्निर्माणसमर्थम् ईश्वरं करोमि।तमेव ब्रह्माणम् स्रष्टारं करोमि ।

तथा तम् ऋषम् श्रतीन्द्रयार्थद्शिनं करोमि । तमेव सुमेधाम्

शोभनपत्रं च करोमि । एवं सर्वजगन्नियन्तृब्रह्मात्मकत्वं स्वात्मिन

श्राविष्कृतम् ॥

में स्वयं आत्मस्वरूपसे हूँ, अर्थात् मेरा उपदेष्टा और कोई नहीं है। में इस अपरोक्तरूपसे अनुभूयमान ब्रह्मात्मक वस्तुका लोक-हितके लिये उपदेश देती हूँ।यह इन्द्र आदि देवताओं को भी पिय है और परानन्दरूप होनेसे मनुष्यों को भी पिय है † अथवा मैं देवता और मनुष्योंसे सेवित इस माहात्म्यको स्वयं ही कहती हूँ पकट करती हूँ, कि-में जिस २ पुरुषकी रक्षा करना चाहती हूँ

<sup>†</sup> बृहदारएयक उपनिषत् ४।१।३१ में कहा है, कि-"एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रां उपजीवन्ति ॥-इसी आनन्दकी मात्रासे और प्राणी उपजीवन करते हैं"॥

उस २ पुरुपको में सबसे अधिक दुष्पधर्ष करती हूँ अथवा उसको सब जगत्का निर्माण करनेमें समर्थ ईश्वर करती हूँ, उसीको स्रष्टा ब्रह्मा करती हूँ तथा अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषि करती हूँ और उस को शोधन बुद्धि वाला भी करती हूँ (इसपकार मैंने सब जगत् का नियन्ता ब्रह्मात्मभाव अपनेमें आविष्कृत कर लिया है) ॥३॥

चतुर्थी ॥

मया सोन्नमत्ति यो विषश्यंति यः प्राणित य ईं शृणोत्युक्तम्।

अमन्तवो मां त उपं चियन्ति श्रुधि श्रुंत श्रुद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥

मया । सः । अन्नम् । अति । यः । विऽपश्यति । यः । पाणति ।

यः । ईम् । शृणोति । उक्तम् ।

अमन्तरः । माम् । ते । उप । चियन्ति । श्रुधि । श्रुत । वदामि ॥ ४ ॥

यो भोकृजनः अन्तम् अत्ति स मोकृशक्तिरूपया मयैव अन्तम् अति । यश्च जनो विपश्यति विविधं जगत् च जुपा सान्नात्करोति । यश्च प्राणिति श्वासोच्छ्वासादिच्यापारं करोति । अस्त प्राणिते श्वासोच्छ्वासादिच्यापारं करोति । अस्त प्राणिते श्वासोच्छ्वासादिच्यापारं करोति । अस्त प्राणिते श्वासोच्छ्वासादिच्यापारं सार्वधातुके" इति इडा-गगः । "अनितेः" इति णत्वम् अ । ईम् इदम् उक्तम् स्वरूपं यश्च पुरुषः शृणोति श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्णाति ते सर्वेषि तत्तच्छक्तचात्मना अवस्थितया मयैव तत्तद्वचापारं कुर्वन्तीत्यर्थः । अश्वणोतीति । श्रु श्वणोतीति । अश्व श्वणो । "श्रु वः शृ च" इति श्वपत्ययः धातोः शृभावश्च अ ।

ये ईहशीम् अन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्तिते माम् अपन्तवः अपन्यमानाः अजानानाः मिद्वषयज्ञानरिहताः उप ज्ञियन्ति उपन्तिणाः संसारेण निहीना भवन्ति । अ मनेरीणादिकस्तुपत्ययः । नञ्समासेन अन्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा थावे तुप्तत्ययः । ततो बहुत्रीही "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् अ । हे श्रुत विश्रुत हे सखे श्रुधि मया उक्तं शृणु । अ ब्रान्दसो विकरणस्य लुक् । "श्रुश्युष्कृष्टभ्यः ०" इति हेर्धिभावः अ । अहं ते तुभ्यं श्रद्धे यम् श्रद्धान्त्रयम् । श्रद्धा भक्तिः । तया प्राप्यं परतत्त्वस्वरूपं वदामि उपविधामि । अद्धे यम् इति । "अचो यत्" इति धाञो यत् पत्ययः । "ईद्यति" इति ईकारः अ।

जो भोका अन्नका भन्नश करता है, वह भोक्तृशक्तिरूप मेरे द्वारा ही भन्नश करता है, जो पुरुष जगत्का अनेक मकारसे सान्नात् करता है और जो श्वास उच्छास अदि व्यापारको करता है, इसी मकार जो श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहश करता है ये सब तत्त-च्छक्तिरूपसे स्थित मेरे द्वारा ही उस व्यापारको करते हैं। जो इस मकार अन्तर्यामीरूपसे स्थित ग्रुभको नहीं जानते हैं, वे ग्रुभ को न जानने वाले उपन्तीश होजाते हैं अर्थात् संसारसे हीन नहीं होते हैं, हे मसिद्ध मित्र ! मेरे कहे हुए वचनको सुन, मैंने तुभसे यह भक्ति करने योग्य वचन कहा है।। ४।।

पश्चमी ॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मदिषे शरेवे हन्तवा उ । अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश प्र अहम् । रुद्रायं । धनुः । आ । तनोमि । ब्रह्मऽद्विषे । शरेवे । हन्तवै । कं इति । श्र हम्। जनाय। सऽमदम्। कृणोमि। श्रहम्। चारापृथिवी इति ।

**ज्या । विवेश ।। ५ ॥** 

पुरा त्रिपुरिवजयसमये रुद्राय । पष्टचर्थे चतुर्थी 🕸 । रुद्रस्य महादेवस्य धनुः श्रहम् श्रा तनोमि श्राततज्यं करोमि । किमर्थम् । ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्ट्रे शरवे। क्ष शृ हिंसायाम् शुस्त्रस्निहीत्या-दिना [ उ० १. १० ] उपत्ययः 💖 । हिंसकाय । 🛞 उभयत्र ''क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्'' इति कर्मणः संमदानत्वात् चतुर्थी 🛞 । ब्रह्मद्विपं शर्रु त्रिपुरनिवासिनम् असुरगणं हन्तवै हन्तुं हिंसितुम्। 🕸 हन्ते "तुमर्थे सेसेन्०" इति तबैमत्ययः। "अन्तश्च तबै युग-पत्" इति आद्यन्तयोयु गपद् उदात्तत्वम् 🕸 । उशब्दः पूरणः । अहमेव जनाय स्तरेतृजनार्थे समदम् । समानं माद्यन्त्यस्मिनिनति समत् संग्रामः । तं कृषोिम करोपि । तथा चावापृथिवी चावा-पृथिव्यौ ऋहम् आ विवेश अन्तर्यामित्वेन पविष्टवती ॥

मैं त्रिपुरविजयके समय ब्रह्मद्वेषी त्रिपुरनिवासी असुरोंको मारनेके लिये महादेवजीके धनुषको तानती हूँ और मैं ही स्तो-ताओं के लिये संग्रामको करती हूँ और अन्तर्यामी होनेसे में स्वर्ग श्रीर त्राकाशमें व्याप्त हूँ ॥ ५ ॥

षष्टी ॥

अहं सोमंमाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टांरमुत पूषणं भगंम्। अहं दंधामि द्रविणा हविष्मंते सुप्रान्याई यजमानाय

सुन्वते ॥ ६ ॥

छहम् । सोमम् । आहनसम् । बिभर्मि । ऋहम् । त्वष्टारम् । उत ।

पूपएम् । भगम् ।

अहम् । द्धामि । द्रविणा । ह्विष्मते । छुम् ऽत्रव्या । यजमानाय । सन्वते ॥ ६ ॥

श्राहनसम् श्राहन्तव्यम् श्राभित्वयं सोमप् यद्वा शत्रुणाम् श्राहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोमम् श्रहमेव विभिष् धार-यामि योषयामि वा । तथा त्रष्टारम् उत श्रापि च पूष्णं भगं च एतत्संज्ञान् देवान् श्रहमेव विभिष् ॥ तथा हिविष्मते हिविभियुक्ताय स्रुपाव्ये शोभनहिविभिदेंबानां मावित्रे तपियत्रे । ॐ श्रवतेस्तपणा-र्थात् "श्रवितृस्तृतिन्त्रभ्यः०" [उ० ३.१५८] इति ईकारमत्ययः । चतुर्थ्येकवचने यणि "उदात्तस्विरित्योर्यणः स्विरतोनुदात्तस्य" इति श्रनुदात्तस्य सुपः स्विरतत्वम् ॐ । सुन्वते सोमाभिष्वं कुर्वते । ॐ "शतुरनुमः०" इति विभवत्यदात्तत्वम् ॐ । ईदृशाय यजमा-नाय द्रविणम् धनं यागफलरूपम् श्रहमेव द्रधामि प्रयच्छामि । "फलम् श्रत उपपत्तेः" [बा० ३, २, ३८ ] इति न्यायेन पर-ब्रह्मणः फलदातृत्वस्य निर्णातत्वात् ।।

शत्रुश्रोंके संहारक स्वर्गमें विराजमान देवतात्मक सोमका में ही पोषण करती हूँ, त्वष्टा पूषा और भगदेवताका भी मैं ही पोषण करती हूँ और हिवसे युक्त तथा शोभन हिवयोंसे देवताओं को तम्न करने वाले यजमानको यागफलरूप धन भी मैं ही देती हूँ है

सप्तमी ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम यो निरम्बं १ न्तः संमुद्रे । ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोताम् द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७॥

‡ 'फलमत उपपत्तेः' इस बादरायणसूत्र ३। २ । ३८ के अनु-सार परब्रह्मके फलदातृत्वका निर्णय होता है ।। श्रहम् । सुवे । पितरम् । श्रम्य । मूर्धन् । गर्म । योनिः । श्रप्ऽस । श्रम्तः । समुद्रे ।

ततः । वि । तिष्टे । भुवनानि । विश्वा । उत । श्रमूस् । द्याम् । वर्ष्मणा । उप । स्पृशामि ॥ ७ ॥

श्रस्य दृश्यमानस्य प्रपञ्चस्य मूर्धन् मूर्धनि उपरिभागे सत्य-लोके पितरम् प्रपश्चस्य जनकं विधातारम् ऋहं सुवे जनयामि । 🕸 पूङ् पाणिगर्भविमोचने । अदादित्वात् शपो लुक् 🕸 । स्रष्ट-सहितस्य जगतः कारणभूताया मप योनिः कारणं समुद्रे । समुद् द्रवन्ति श्रस्माइ भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा । "समुद्र एवास्य वन्धुः समुद्रो योनिः" इति वाजसनेयकश्रुत्या समुद्रशब्दवाच्यत्वं परमात्मनो दर्शितम् । तस्मिन् परमात्मिन अप्सु व्यापनशीलासु धीष्टित्तिषु अन्तः मध्ये यह् ब्रह्मचैतन्यं तत् मम कारणम् इत्यर्थः। यद्दा समुद्रे जलधौ श्रप्सु उदकेषु श्रन्तः मध्ये वाडववैद्युतरूपेण यत् तेजो वर्तते तदेव माध्यमिकवाग्रुपाया मम योनिः कारणम् ॥ ततः तेजःकारणकत्वाद्धेतोः विश्वा विश्वानि सर्वाणि भ्रवनानि भूतजातानि [ वि ] चष्टे पकाशयामि ॥ उत अपि च अम् द्याम् विमकृष्टां दिवम् । उपलक्तराम् एतत् । एतदुपलिकतं कृतस्रं ब्रह्मिश अध्यस्तं विकारजातं वर्ष्मणा देहेन कारणभूतमायात्मकेन उप स्पृशामि ॥ यद्वा अस्य भूलोकस्य मूर्धन मूर्धनि उपरि पितरम् त्राकाशम् । ''द्यौः पिता पृथिवी माता'' [तै० ब्रा० ३, ७, ५, ५] इति श्रुतेः । सुवे परियामि । तथा समुद्रे अन्तरिक्षे अप्सु अव्विका-रेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्म व्याप्य वर्तत इत्यर्थः । शोषं पूर्ववत् ॥

इस दृश्यमान पपश्चके मूर्घारूप सत्यलोकमें रहने वाले इस

#### ( ५४६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

मपश्चके जनक विधाताको मैं उत्पन्न करती हूँ, स्रष्टासहित जगत् की कारणभूत मेरा कारण समुद्रोपनामक परमात्मा — की जल श्चर्यात् व्यापनशील धीष्टत्तियोंके मध्यमें जो ब्रह्मचैतन्य है वह मेरा कारण है, श्चथवा समुद्रके जलमें जो वड़वानलके और विजली के संबंध वाला तेज है वही माध्यमिक वाग्रुपा मेरा कारण है, इस कारण तेजःकारणक होनेसे सब माणियोंको में मकाशित करती हूँ और इस द्रके स्वर्ग और ब्रह्ममें श्चध्यस्त सम्पूर्ण विकारों को मैं कारणभूत मायात्मक देहसे छूती हूँ और इस भूलोकके जपरके पितारूप श्चाकाशको ‡ मैं मेरित करती हूँ तथा श्चन्तरित्त होकर रहता है उसके द्वारा मैं सबका स्पर्श करती हूँ ॥ ७॥

ऋष्टमी ॥

अहमेव वातं इव प्रवांम्यारभंमाणा भुवंनानि विश्वां।
पुरो दिवा प्र एना पृथिव्यैतावंती महिम्ना सं बभूव =
अहम्। एव। वातंःऽइव। प। वामि। आऽरभंमाणा। अवंनानि।

विश्वा ।

+ समुद्ग द्रवन्ति अस्माद् भूतजातानि इति समुद्रः परमात्मा।जिससे भूतसमूह पकट होते हैं वह परमात्मा समुद्र कहलाते हैं।।
वाजसनेयक श्रुतिमें कहा है, कि—'समुद्र एवास्य वंधुः समुद्रो
योनिः।।-समुद्र ही इस जगत्का वंधु है ख्रौर समुद्र ही इस जगत्

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।५।५ में कहा है, कि-"द्यौः पिता पृथिवी माता ॥-द्यौ पिता है, पृथिवी माता है ॥" परः । दिवा । परः । एना । पृथिन्या । पृतावती । महिम्ना । सम् । वभूव ।। ⊏ ।।

विश्वा विश्वानि सर्वाणि भ्रवनानि भ्रतजातानि कार्याणि आरभमाणा कार्यरूपेण उत्पादयन्ती अहमेव अनन्यसहाया प्रवामि पवर्ते । श्रवा गतिगन्धनयोः। अदादित्वात् शपो लुक् श्रि। तत्र दृष्टान्तः वात इव । यथा वायुः परेण अप्रेरितः स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वद् इत्यर्थः ॥ उक्तं सार्वात्म्यं निगमयति उत्तरार्धेन । परो दिवा । श्रि परस् इति सकारान्तं परस्तात् इत्यर्थे वर्तते । यथा अध इति अधस्तादर्थे । तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते श्रि। दिवा आकाशस्य परस्तात् एना पृथिव्या । श्रि "द्वितीयाटौर्स्वेनः" इति इदम एनादेशः । "स्रपां स्रलुक्०" इति तृतीयाया आच् आदेशः श्रि । अस्याः पृथिव्याः परः परस्तात् । द्यावापृथिव्योद्योद्यानम् उपलक्ताणम् । एतदुपलित्तात् सर्वस्माद्व विकारजातात् परस्ताद्व वर्तमाना असङ्गोदासीनक्टस्थत्रह्मचैतन्यरूपा अहं महिम्ना माहात्म्यन एतावती सं वभूव । एतत्परिमाणा उदीरितसक्तलजगदात्मना संभूतास्मि । श्रि एतच्छव्दात् "यत्तदेतेभ्यः०" इति वतुप् । "आ सर्वनाम्नः" इति आत्वम् श्रि ॥

[इति] पश्चमं सक्तम् । पष्टोनुवाकः ॥

सव पाणियोंको कार्यरूपसे उत्पन्न करती हुई में ही किसी दूसरेकी सहायता न लेती हुई वायुकी समान स्वयं ही प्रष्टत्त होती हूँ अर्थात वायु जिस प्रकार किसीकी परेणासे नहीं, किंतु अपनी इच्छासे ही प्रष्टत्त होता है, इसी प्रकार में भी अपनी इच्छासे ही प्रष्टत्त होती हूँ (उक्त सर्वात्मभावका उत्तरार्थके द्वारा समर्थन करते हैं, कि—) आकाश पृथ्वी और समस्त विकारोंसे पर वर्तमान असंग उदासीन क्टस्थ ब्रह्मचैतन्यरूपा में माहात्म्यवश इतने (पूर्वोक्त) परिमाण वाली होगई हूँ ॥ = ॥

#### ( ५४८ ) ऋथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सप्तमेनुवाके पश्च सक्तानि । तत्र "त्वया मन्यो" "यस्ते मन्यो" इति सक्तद्वयं स्वपरसेनयोर्मध्ये स्थित्वा सेने निरीक्तमाणो जपेत् ॥

तथा त्राभ्यां सक्ताभ्यां भाङ्गपाशान् मौज्जपाशान् त्रामपात्राणि वा संपात्य त्रभमन्त्र्य परसेनासंचारस्थलेषु प्रतिपेत् ॥

तथा जयपराजयिक्ञानकर्मणि शरतृणानि सेनयोर्मध्ये निधाय आभ्याम् अभिमन्त्रय आङ्गिरसाग्निना दहेत् । यां सेनां धूमो व्या-मोति तस्याः पराजयो भवतीति विजानीयात् ॥

स्नितं हि । "त्वया मन्यो यस्ते मन्यो इति संरम्भणानि सेने समीत्तमाणो जपति" इत्यादि "यां धूमोवतनोति तां जयन्ति" इत्यन्तम् [कौ०२.५]॥

ग्रहयज्ञे "त्वया मन्यो" "यस्ते मन्यो" इत्याभ्याम् श्रङ्गारकस्य हविराज्ययोहींमं समिदाधानम् उपस्थानं च कुर्यात् । तद्भ उक्तं शान्तिकल्पे । "त्वया मन्यो यस्ते मन्यो इत्यङ्गारकाय" इति [शा० क० १५]।।

सातवें अनुवाकमें पाँच सक्त हैं। उनमें 'त्वया मन्यो' और 'यस्ते मन्यो' इन दोनों सक्तोंको अपनी और दूसरेकी सेनाके मध्यमें खड़ा होकर सेनाको देखता हुआ जपे।।

तथा इन दोनों सुक्तोंसे भांगके पाश, मूँजके पाश वा कच्चे पात्रोंका अभिमंत्रण करके तथा सम्पातन करके शत्रुकी सेनाके घूमनेके स्थान पर फेंके।।

तथा जय पराजयको जाननेके कर्ममें शरत्योंको सेनाओंके मध्यमें रखकर इन दोनों स्क्तोंसे अभिमंत्रित कर आंगिरस अग्नि से जलावे। तब जिस सेनाकी ओर धुआँ जावे उस सेनाका पराजय होगा-यह समभे।।

इस विषयमें सूक्तका प्रमाण भी है, कि-"त्वया मन्यो यस्ते

मन्यो इति संरंभणानि सेने समीत्तमाणा जपति" इत्यादि "यां घूमो-ऽवतनोति तां जयन्ति" इत्यन्तं (कौशिकसूत्र २ । ५ )॥

ग्रहयज्ञमें 'त्वया मन्यो' खौर 'यस्ते मन्यो' इन दोनों सूक्तोंसे खंगारककी हिव खौर घृतका, सिमदाधान खौर उपस्थान करे।। इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, कि—''त्वया मन्यो यस्ते मन्यो इत्यङ्गारकाय'' (शान्तिकल्प १५)।।

तत्र प्रथमा ।।

त्वयां मन्यो सर्थंनाकृत्तन्तो हर्षमाणा हिष्तासो मरुत्वन् तिग्मेषंव आयुंघा संशिशांना उप प्र यन्तु नरों आग्निरूंपाः ॥ १ ॥

न्वया। मन्यो इति । स्टर्थम्। आटक्जन्तः । हर्षमाणाः । हृषितासः । महत्वन्।

तिग्मऽइषवः। ऋायुधा । सम्ऽशिशानाः। उप । म । यन्तु । नरः।

अग्निःरूपाः ॥ १ ॥

मन्युः क्रोधाभिमानी देवः । अ मन्युर्मन्यतेः क्रान्तिकर्मणः इति निरुक्तम् [ नि० १०. २६ ] अ । हे मन्यो त्वया साधनेन सरथम् रथसहितं शत्रुम् आरुजन्तः आभञ्जन्तः । पीडयन्तः । अ यास्क-स्त्वाह । सर्थं समानं रथम् आरुह्य रुजन्त इति [नि० १०.३०] । रुजो भङ्गे । तुदादित्वात् शः अ । हर्पमाणाः हृष्टाः रुपितासः रुपिताः संजातरोषाः तिग्मेषवः तीदणशराः आयुधा आयुधानि खड्गादीनि संशिशानाः संश्यन्तस्तीच्णीकुर्वन्तः । अ शो तन्करणे इत्यस्मात् झान्दसस्य लिटः कानच् अ। एवंभूता अस्मदीया नरः

## ( ५५० ) अथर्वेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

नराः हे मरुत्वन् मरुद्वेगैयुक्ति त्वत्मसादात् अग्निरूपाः अग्निवद् दुष्पधर्षा उप प्र यन्तु शत्रून् उपगच्छन्तु । अग्निवद् उपप्राप्य दहन्तु इत्यर्थः ॥

हे क्रोधाभिमानी मन्युदेव ! आपसे साधनसे रथसहित शत्रुको पीड़ित करते हुए हर्षमें और क्रोधमें भरे हुए और आयुधोंको तीच्या करते हुए हमारे योधा हे मस्त्की समान वेगवान मन्यो ! आपके मसादसे आग्निकी समान दुर्धि होकर शत्रुके पास पहुँचें॥१॥ दितीया ॥

अगिनरिव मन्यो त्विषितः संहस्व सेनानीनेः सहुरे हूत

एंधि ।

ह्त्वाय शत्रून् वि भंजस्व वेद ओजो मिर्मानो वि मधो नुदस्व ॥ २ ॥

अग्रिनःऽइव । मृन्यो इति । त्विषितः । सहस्व । सेनाऽनीः । नः । सहस्व । हृतः । एथि ।

हत्वाय । शत्रून् । वि । भूजस्त्रु । वेदः । ख्रोजः । मिर्मानः । वि । मधः । जुदस्त ॥ २ ॥

हे मन्यो अग्निरिव त्विषितः प्रदीप्तः सन् सहस्व शत्रून् अभि-भव। हे सहरे सहनशील । श्रिसहेः औणादिक उरिन् प्रत्ययःश्चा नः अस्माकं सेनानीः सेनाया नेता सेनाधिपतिः सन् हृत एधि संग्रामे सहायार्थम् आहूतो भव। श्रि अस्तेलोटि "घ्वसोरेद्धौ०" इति एन्वम्। तस्य च "असिद्धवद् अत्राभात्" इति असिद्ध-त्वात् भलन्तलन्तणो धिभावः श्रि। अस्मदीयान् शत्रून् [हत्वाय] हत्वा तदीयं वेदः धनं वि भजस्व अस्मभ्यं विभज्य प्रयच्छ। पुन-

रिप त्रोजः वर्लं मिमानः कुर्वन् मृधः संग्रामकारिणः शत्रुन् वि नुदस्व । विजिह ॥

हे मन्यो ! आप अग्निकी समान प्रदीप्त होकर श्रातुओंको द्वाइये हे सहनशील ! हमारी सेनाके सेनापित माने जाकर आप संग्राम में बुलाये जावें । आप हमारे शत्रुओं को मार कर उनका धन हमें बाँट कर दीजिये और फिर भी वल देकर संग्राम करनेवाले शत्रुओंको नष्ट करिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सहंस्व मन्यो अभिमांतिमस्मै रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि शत्रून् ।

उग्रंते पाजो नन्वा रंरुध्रे वशी वशं नयसा एकज त्वस सहस्व । मन्यो इति । श्रभिऽमातिम् । अस्मै । रुजन् । मृणन् ।

मऽमृणन् । म । इहि । शत्रून् ।

उग्रम्।ते। पाजः । ननु । त्र्या । रुध्ये । वशी । वशम् । नयासै । एकऽज । त्वम् ॥ ३ ॥

हे मन्यो अस्मै अस्य राज्ञः अभिमातिम् अभिमन्तारं शत्रुं सहस्व श्रभिभव । किं कुर्वन् । रुजन् हस्त्यश्वादिकं तदीयं बलं रुजन् भञ्जन् त्रामर्दयन् । मृणन् हिंसन् । प्रमृणन् पकर्षेण हिंसन् नाशयन् । 🛞 मृण हिंसायाम् 🛞 । एवं कुर्वन् शत्रून् अस्मदी-यान् प्रेहि प्रगच्छ हन्तुं प्राप्तुहि। कस्माइ एवम् उच्यसे इति तत्राह उग्रम् इति । उग्रम् उद्गूर्णं तीच्णम् हे मन्यो ते त्वदीयं पाजः वलं ननु आ रुरुधे केचिदपि नैव आरुद्धम् आर्टतं कुर्वन्ति। 🏶 आङ्-पूर्वाद् रुधेश्ज्ञान्दसे लिटि "इरयो रे" इति रेभावः 🕸 । अपि तु

#### ( ४४२ ) अथर्वेवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

हे एकज असहायोत्पन्न वशी सर्वस्य वशयिता स्वतन्त्रस्त्वं वशं नयासे कृतस्त्रं जनं स्वाधीनतां प्रापयसि ॥

हे मन्यो ! आप इस राजाके शत्रुके हाथी घोड़े आदिका संहार करते हुए, उसके सैनिकोंका तिरस्कार करते हुए और उनको घोररूपसे नष्ट करते हुए उसका तिरस्कार करिये । ऐसा करके हमारे शत्रुओंको मारनेके लिये जाइये (ऐसा कहनेका कारण यह है, कि—) आपका बल किसीके अटकानेसे रुकता नहीं है किन्तु हे असहायोत्पन्न ! सबको वशमें करने वाले सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आप सम्पूर्ण मनुष्योंको अपने वशमें कर लेते हैं ॥३॥ चतुर्थी ॥

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।

अकंतर्कत्वयां युजा व्यं द्युमन्तं घोषं विज्यायं क्रमसि

एकः । बहूनाम् । ऋसि । मन्यो इति । ईडिता । विशम् ऽविशम्।

युद्धायं । सम् । शिशाधि ।

श्रकृत्तऽरुक् । त्वयां । युजा । व्यम् । द्युऽमन्तम् । घोषम् । विऽजयाय । कृषमसि ॥ ४ ॥

हे मन्यो ईलितः अस्माभिः स्तुतस्त्वम् एक एव बहूनां शत्रूणां निरसने पर्याप्तः असि भवसि । विशंविशम् सर्वाः प्रजा आविश्य युद्धाय आयोधनाय सं शिशाधि संशासय । अशास अनुशिष्टौ इत्यस्मात् लोटो हिः । "शा हो" इति शासः शाभावः । छान्दसो विकरणस्य रज्जः । "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति शाभावस्य असिद्धवद्धावात् "हुभल्भयो हेधिः" इति भल्लन्तणं धित्वं भवति ।

"बहुलं छन्दिसि" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् 🛞 । यद्वा विशंविशम् अस्मदीयां सेनां सं शिशाधि संशितां ती दणीभूतां कुरु। अ शो तन्करणे इत्यस्मात् कृतान्वात् पूर्ववद् विकरणस्य रुतः। "वा छन्दसि'' इति हेरपिच्वस्य विकल्पनात् ङिच्वाभावात् "अङितश्र" इति धित्वम् । "बहुलं छन्दसि" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् 🕸 । हे अकृत्तरुक् अच्छिन्नदीप्ते मन्यो त्वया युजा सहायेन वयं द्यमन्तम् दीप्तिमन्तं घोषम् सिंहनादात्मकं विजयाय विजयार्थे कृएमसि कृएमः कुर्मः । 🕸 "इदन्तो मिसः" 🕸 ॥

हे मन्यो ! हमारे स्तुति करने पर आप एक होने पर भी बहुत से शत्रुओंको दवानेमें समर्थ होजाते हैं हमारी मत्येक प्रजामें प्रवेश करके आप उसको लड़नेके लिये तीच्ण करिये । हे अच्छिन कान्ति वाले मन्यो ! आपकी सहायतासे हम दीप्तिमय सिंहनाद-रूपी घोषको विजयके लिये करते हैं ॥ ४ ॥

पश्चमी ॥

विजेषकृदिन्द्रं इवानवब्रवे। इस्मार्कं मन्यो अधिपा भवेह त्रियं ते नाम सहुरे गृणीमिस विद्या तमुत्सं यतं आवभूथं।। ५ ॥

विजेष उक्तत् । इन्द्रः ऽइव । अनव अववः । अस्माकम् । मन्यो इति । अधिऽपाः । भव । इह ।

शियम् । ते । नाम । सहुरे । गृणीमिस । विद्य । तम् । उत्सम् ।

यतः। आऽवभूथः॥ ५॥

हे मन्यो त्वं विजेषकृत् विजयस्य कर्ता इन्द्र इव अनवब्रवः अन-

वानां पुरातनानां जयोपायानां वक्ता इह अस्मिन् संग्रामे अस्मा-कम् अधिपाः अधिकं पालको भव । हे सहरे सहनशील ते तव प्रियम् आह्वादकं नाम गृणीमसि गृणीमः स्तुमः । ॐ गृ शब्दे । "त्वादीनां हस्तः" इति हस्वत्वम् ॐ । यतः यस्मात् स्थानात् त्वम् । आवभूथ आभवसि आजायसे तम् उत्सम् अमृतधारायुक्तं स्थानं विद्य जानीमः ॥

हे मन्यो ! आप विजय करने वाले इन्द्रकी समान विजयके पाचीन उपायोंके कहने वाले हैं (अतः) इस संग्राममें हमारा पालन करने वाले हूजिये। हे सहुरे! तुम्हारे पिय गामकी हम स्तुति करते हैं, जिस स्थानसे आप प्रकट होते हैं उस अमृतधारा-युक्त स्थानको हम जानते हैं ॥ ४ ॥

पष्टी ॥

आभूत्या सहजा वंज्र सायक सहा विभाषे सहभूत उत्तरम् ।

कत्वां नो मन्यो सह मेद्ये थि महाधनस्यं पुरुहृत संसृजिं

श्राऽभूत्या । सहुऽजाः । वज्र । सायक् । सहः । विभृषि । सहऽभूते । उत्ऽतरम् ।

कत्वा । नः । मन्यो इति । सह । मेदी । एघि । महाऽधनस्य । पुरुऽहृत । सम्ऽस्रजि ॥ ६ ॥

श्राभूतिः श्रभिभनः । तया सह जायते प्रादुर्भवतीति सहजाः हे वज्र वज्जवद् श्रकुणिठतशक्ते हे सायक शत्रूणाम् श्रन्तकर । अ पो श्रन्तकर्मणि इत्यस्मात् घिन सायः । तस्मिन्नुपपदे ''डोन्य-त्रापि दृश्यते" इति करोतेर्डियत्ययः अ । एवंभूत मन्यो सहः बर्ल

बिभर्षि धार्यसि । अ "भुञाम् इत्" इति अभ्यासस्य इत्यम् अ। कीदशं सहः । उत्तरम् उद्गततरम् ।। हे सहभूते स्रात्मना सह भूतिः उत्पत्तिर्यस्य सः । आत्माविनाभूतो मन्युरित्यर्थः । ईदृश हे मन्यो कत्वा कतुना कर्मणा सह नः अस्माकं मेदी स्त्रिग्धः एधि भव। अ त्रिमिदा स्नेहने इत्यस्मातः विषये इत्याह। हे पुरुहूत वहुभिर्यजमानैराहूत महाधनस्य महान्ति धनानि अस्मिन् प्राप्यन्ते इति महाधनः संग्रामः। तस्य संसृजि संसर्गे । संयोजने । विषये इत्यर्थः ॥

पराभवके साथ प्रकट होने वाले बज्जकी समान अकुणिटत शक्ति वाले शत्रुओंका अन्त करने वाले हे मन्यो ! आप प्रचएड बलको धारण करते हैं। हे आत्माके साथ उत्पन्न होने वाले तथा अनेक यजमानोंसे बुलाये जाने वाले पुरुहूत मन्यो ! आप जिसमें बड़े २ धन मिलते हैं उस संग्रामके डंटने पर कर्मरूपमें हमारे साथ मिलिये ॥ ६ ॥

#### सप्तमी ।।

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुण्य मन्युः। भियो दर्धाना हृदंयेषु शत्रंवः पराजितासो अप नि लंयन्ताम् ॥ ७ ॥

सम्ऽसष्टम् । धनम् । उभयम् । सम्ऽत्राकृतम् । अस्मभ्यम् ।

धत्ताम् । वरुणः । च । मन्युः ।

भियः । दधानाः । हृदयेषु । शत्रवः । पराऽजितासः । ऋप । नि । लयन्ताम् ॥ ७ ॥

वरुणो मन्युश्च उभौ उभयम् उभयविधम् त्रात्मीयं धनं संसृष्टम्

मिश्रितं कृत्वा समाकृतम् समानीतम् अस्मभ्यंदत्ताम् प्रयच्छताम्।
मदीयाः शत्रवः हृद्येषु मनःसु भियः भीतिं दधानाः पराजितासः
पराजिताः पराजयं प्राप्ताः अप निलयन्ताम् स्वस्थानाद्गः अपक्रम्य
प्रच्छन्नं वर्तन्ताम्। अ अय पय गतौ। "उपसर्गस्यायतौ" इति
लत्वम् अ।।

इति मथमं सुक्तम्।

वरुण और मन्युदेव दोनों ही अपने लाये हुए धनको मिला कर हमको दें, हमारे शत्रु मनोंमें डरते हुए पराजयको प्राप्त हो अपने स्थानसे भाग कर दुबकते हुए फिरें॥ ७॥

प्रथम स्क लमात (१३३) ।

"यस्ते मन्यो" इति सक्तस्य पूर्वस्वतेन सह उक्तो विनियोगः॥ 'यस्ते मन्यो' इस सक्तका पहिले सक्तके साथ विनियोग कह दिया है॥

तत्र मथमा ॥

यस्ते मन्योविधद् वज्र सायक् सह ज्योजः पुष्यंति विश्वमानुषक् ।

साह्याम् दासमार्थं त्वयां युजा व्यं सहंस्कृतेन सहंसा सहंस्वता ॥ १ ॥

यः । ते । मृन्यो इति । अविधत् । वज्र । सायक् । सहः ।

श्रोजः । पुष्यति । विश्वम् । श्रानुषक् ।

सहाम । दासम्। त्रार्यम् । त्वया । युजा । वयम् । सहः ऽकृतेन ।

सहसा । सहस्वता ॥ १ ॥

हे मन्यो यः पुरुषः ते त्वाम् अविधत्। विधतिः परिचरणकर्मा। परिचरति । ॐ विध विधाने । त्वदादित्वाच्छान्दसो लङ् ॐ । हे वज्ज बज्जवद् अकुण्डितशक्ते हे सायक शत्रूणाम् अन्तकर हे मन्यो स पुरुषः सहः शत्रूणाम् अभिभवनम् ओजः वलं च विश्वम् सर्वम् अन्यत् शत्रुजयादिलक्तणं कार्यजातम् आनुषक् अनुषक्तं संततं पुष्यति वर्धयति । ॐ पुष पुष्टौ ॐ । त्वया युजा सहायेन दासम् अपक्षपितारम् असुरम् आर्यम् तद्दचितिरिक्तम् असुरशत्रुं वयं सहाम अभिभवेग । कीदृशेन त्वया । सहस्कृतेन सहसा बलोनोत्पादितेन। सहसा सहमानेन अभिभवित्रा । सहस्कृतेन सहसा बलावता ॥

हे मन्यो ! जो पुरुप आपकी सेवा करता है, हे वज्रकी समान अकुण्डित शक्ति वाले और शत्रुओंका अन्त करने वाले मन्यो ! वह पुरुष शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाले वलको तथा शत्रुजयके अन्य सब कार्योंको अनवरत पुष्ट ही करता जाता है । बलके द्वारा उत्पन्न किये हुए, दवाने वाले बली आपकी सहायतासे हम जीए। करने वाले असुर वा आर्य शत्रुको भी दबाते हैं ॥१॥

द्वितीया ॥

मन्युरिन्द्रोमन्युरेवासं देवो मन्युर्हीता वरुणो जातेवंदाः। मन्युर्विशं ईडते मानुंवीयीः पाहि नो मन्यो तपसा सजोपाः॥ २ ॥

मन्युः । इन्द्रः । मन्युः । एव । श्रास । देवः । मन्युः । होता । वरुणः । जातऽवेदाः ।

मन्यः । विशः । ईडते । मानुषीः । याः । पाहि । नः । मन्यो इति । तपसा । सऽजीपाः ॥ २ ॥ यइ इन्द्रादीनाम् इन्द्रत्वं तत् पराभिभवनिमित्ताह मन्युपसा-दादेवेति सार्वात्म्येन स्तौति । मन्युरेव इन्द्रः । मन्युरेव सर्वः अन्यो देवः आस भवति । अ अस्तेर्लिट बान्दसो भूभावाभावः अ । होता देवानाम् आहाता अग्निरिष मन्युरेव । जातवेदाः जातमज्ञो वरुणोपि मन्युरेव । मानुषीः मनोरपत्यभूता या विशः प्रजाः सन्ति ता अपि मन्युमेव ईडते स्तुवन्ति नेन्द्रादीन् । तस्येव इन्द्रादिरूपेण अवस्थानात् । हे मन्यो स त्वं नः अस्मान् तपसा संतापेन सजोषाः संगतः सन् [ पाहि ] रत्त पाल्य ॥

(इन्द्र आदि देवताओं का जो इन्द्रत्व है वह पराभव करने के निमित्त कारण मन्यु देवता के मसादसे ही हुआ है अतः सर्वात्म-भावसे मन्यु (क्रोध) की ही स्तुतिकी जाती है, कि—) मन्यु ही इन्द्र है, और सब देवता भी मन्यु ही हैं, देवताओं का आहान करने वाले अग्निदेव भी मन्यु ही हैं, बुद्धिमान् वहणदेव भी मन्यु ही हैं, और मनुकी सन्तान मजायें भी मन्युकी ही स्तुति करती हैं, इन्द्र आदिकी स्तुति नहीं करती हैं, क्योंकि—वही इन्द्र आदि के रूपमें स्थित है। हे मन्यो ! यह आप हमारे सन्तापके साथ मिल कर हमारा पालन करिये।। २।।

वृतीया ॥

अभीहिमन्यो त्वस्रत्वीयान् तपंसा युजा वि जिहि शत्रृन् ।

अभित्रहा वृत्रहा दंस्युहा च विश्वा वस्तुन्या भरा त्वं नंः ॥ ३ ॥

श्रमि । इहि । यन्यो इति । त्वसः । तवीयान् । तपसा । युजा । वि । जहि । शत्रन् । श्रमित्रऽहा । बृत्रऽहा । दुस्युऽहा । च । विश्वा । वस्ति । श्रा । भरु । त्वस् । नः ॥ ३ ॥

हे मन्यो अभीहि अभिमुखं गच्छ ।। तवसस्तवीयान् । तव इति
महन्नाम । मर्रुद्धादिष परद्धतरः स त्वं तपसा संतापेन त्वजनमकारणेन युजा सहायेन अस्मदीयान् शत्रून् वि जिहि विनाशय ॥
अमित्रहा अमित्रः स्त्रहरितः तस्य हन्ता । रत्रहा [ रत्र ] आवेएकः शत्रुः तस्य हन्ता । दस्युहा दस्युः उपच्चपिता शत्रुः तस्य
हन्ता । एवम् अमित्रादीन् हत्वा विश्वा विश्वानि सर्वाणि वस्नुनि
नः अस्मभ्यं त्वम् आभर आहर ॥

हे मन्यो ! आप हमारे सन्मुख आइये, वड़ेसे वड़े आप अपने जन्मके कारण सन्तापकी सहायतासे हमारे शतुओं को नष्ट करिये। आप स्नेहरहित अमित्रों को मारने वाले हैं, घरने वाले शत्रुको मारने वाले हैं और चीण करने वाले शत्रुको मारने वाले हैं। अतः आप अमित्र आदि सबको मार कर सब धन हमारे पास लाइये।। ३।।

चतुर्थी ॥

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूभीमे अभिमा-तिषाहः ।

विश्वचंषीणुः सहुंरिः सहीयान्स्मास्वोजः पृतंनासु धेहि ॥ ४ ॥

त्वम् । हि । मन्यो इति । अभिभूतिऽत्रोजाः। स्वयम्ऽभूः। भामः । श्रभिमातिऽसाहः ।

## ( ५६० ) अधर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

विश्वऽचर्पणिः । सहुरिः । सहीयान् । अस्मासु । ओजः । पृत-नास्त्र । धेहि ॥ ४ ॥

हे मन्यो त्वं हि त्वं खलु अभिभूत्योजाः अभिभूतिः अभिभा-वुकम् श्रोजो बलं यस्य स तथोक्तः । स्वयंभूः स्वयमेव श्रात्मनि उत्पद्यमानः । यामः कृद्धः । अभिमातिपाहः अभिमातीनां शत्रणां सोढा। विश्वचर्षिणः विश्वस्य सर्वस्य द्रष्टा।यद्वा विश्वे चर्पणयो मनुष्या यस्य वशे वर्तन्ते स तथोक्तः । सहुरिः सहनशीलः । सहीयान् सोदृतमः । एवंग्रणविशिष्टः त्वं पृतनासु संग्रामेषु य्योजः

बलम् अस्मासु धेहि स्थापय ॥

हे मन्यो ! अपका वल अभिभृति ( तिरस्कार ) है आप अपने आप ही आत्मामें उदित होते हैं, कुद्ध हैं, शत्रुओंको दवाने वाले हैं। सबके द्रष्टा हैं, सब मनुष्य आपके वशमें रहते हैं, सहन-शील हैं, दवाने वाले हैं, ऐसे गुण वाले आप संग्रामोंके अवसर पर हममें बलं स्थापित करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अभागः सन्नप परेती अस्मि तव कत्वां तविषस्य प्रचेतः ।

तं त्वां मन्यो अकतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्वलदावां न एहिं॥ ५॥

श्रभागः । सन् । श्रपं । पराऽइतः । श्रस्मि । तवं । क्रत्वा । तवि-षस्य । मऽचेतः ।

तम् । त्वा । मन्यो इति । अक्रतुः । जिहीड । अहम् । स्वा । तनूः। वलऽदावा। नः। त्रा। इहि ॥ ५॥

हे प्रचेतः प्रकृष्टक्षान हे मन्यो तिवषस्य महतः तत्र क्रत्वा कर्मणा अभागः भागरहितः सन् । त्वोम् अयजमान इत्यर्थः । एतंभूतः सन् युद्धाद् अप परेतो अस्मि अपक्रम्य परागतो भन्नामि । हे मन्यो तं तादृशं [ त्वा ] त्वाम् अक्रजुः त्वत्तोपकरकर्मवर्जितः अहं जिहील क्रोधितवान् । अ हेडित क्रुध्यतिकर्मा अ।। अथ इदानीं मम स्वा तनः स्वकीयशरीरभूतस्त्वं नः अस्माकं वलदावा वलस्य दाता सन् एहि आगच्छ। यद्वा। अ स्वा तनः इत्युभयत्र "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् अ। स्वायां तन्वाम् अस्माकं स्वभूते शरीरे बलस्य दाता सन् आगच्छेति । अ बलदावेति । डुदाञ् दाने । "आतो मनिन्ववनिव्यनिपश्र" इति वनिष् अ।।

हे श्रेष्ठ ज्ञान वाले मन्युदेव ! महनीय आपकी पूजा न करने से मैं युद्धसे हट जाता हूँ हे मन्यो ! ऐसे आपको सन्तुष्ट करने वाले कर्मको न करनेसे मैंने आपको कुद्ध कर दिया है, इस समय मेरे शरीररूप बने हुए आप हमको बल मदान करते हुए आइये थ

षष्टी ॥

अयं ते असम्युपं न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः संहुरे विश्व-दावन् ।

मन्यों वजिन्नाभि नु आ वंग्रस्य हनांव दस्यूंरुत बोध्यायेः ॥ ६ ॥

अयम् । ते । असम् । उप । नः । आ । इहि । अर्वोङ् । प्रती-चीनः । सहरे । विश्वऽदावन् ।

मन्यो इति । वृज्जित् । अभि । नः । आ । वृष्टतस्य । हनाव । दस्यून् । जुत । बोधि । आपेः ॥ ६ ॥ हे मन्यो ते तब स्वभूतः अयं कर्मकरः अहम् अस्मि भवामि।
नः अस्मान् उपेहि उपागच्छ । अर्वाङ् अस्मदिभग्रखः सन् पतीचीनः शत्रून् प्रत्यश्चन् गच्छन् हे सहुरे सहनशील हे विश्वदावन्
विश्वस्य सर्वस्य फलस्य दातः हे विज्ञन् । वर्जं वर्जकम् आयुधं
बलं वा । तद्दन् हे मन्यो नः अस्मान् अभ्या वट्टत्स्व अभिग्रुखम्
आवर्तस्त । अ छान्दसः शपः शतुः अ । आवाम् अस्मदीयान्
दस्यून् उपचपितन् हनाव हिनसाव । अ "आहुत्तमस्य पिच"
इति आडागमः अ । उत अपि च आपेः आपिम् आप्तं बन्धुभूतं
मां बोधि रच्नणीयोयम् इति बुध्यस्व ॥

हे मन्यो ! मैं यह श्रापका कर्म करने वाला होता हूँ श्राप हमारे पास श्राइये, श्राप हमारे श्राभमुख होते हुए शत्रुश्रोंकी श्रोर जाइये । हे सहनशील ! हे सम्पूर्ण फलोंके दाता, हे बल-सम्पन्न ! हम दोनों उपत्तय करने वाले शत्रुश्रोंको मारें श्रोर श्राप वंधभूत मुभको रत्तणीय समिभये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अभि मेहिंदि चिणतो भंवा नोधां बुत्राणि जंघनाव भूरिं जुहोमिं ते धरुणं मध्वो अश्रमुभावंपां छ प्रथमा पिंबाव ७

अभि । म । इहि । द्तिएतः । भूत् । नः । अर्थः । द्वारिए ।

्जङ्घनाव । भूरिं ।

जुहोमि । ते । घरुणम् । मध्वः । अग्रम् । उभौ । उपऽत्रंशु । प्रथमा । पिवाव ॥ ७ ॥

हे मन्यो अस्मद्भिमुखं मेहि मगच्छ ॥ नः अस्माकं दित्तिणतः दित्तिणभागे भव साचिन्यं कर्तुम् अवितष्टस्य । இ "द्वचचोत- स्तिङः" इति दीर्घत्वम् अ।। अथ अनन्तरं भूरि भूरीणि बहूनि ष्ट्रत्राणि शत्रून जङ्गनाव अत्यर्थे हनाव। अहे हन्तेर्यङ्जुगन्तात् लोटि "आङ्क्तमस्य०" इति आडागमः अ। हे मन्यो ते तुभ्यं धरुणम् धारकं मध्वः मधुररसस्य सोमस्य अग्रम् अग्रचं सारभूतं रसं जुहोमि मयच्छामि। उभौ आवां प्रथमा प्रथमौ सर्वेभ्यः पूर्व-भाविनौ सन्तौ उपांशु अपकाशं यथा अन्येर्न ज्ञायते तथा पिवाव सोमपानं करवाव।।

#### [ इति ] द्वितीयं सुक्तम् ॥

हे मन्यो ! आप हमारे अभिमुख आइये । आप हमारे दिल्लाण-भागमें हमारा मंत्रित्व करनेके लिये स्थिर हूजिये । तदनन्तर हम अनेक शत्रुओंको अधिकतासे पीटें । हे मन्यो ! मैं तुमको धारक मधुर रस सोमके सारभूत रसकी आहुति देता हूँ हम दोनों सब से पथम, जिस पकार दूसरोंको पतीत न हो तिस प्रकार सोम-पान कर लें ॥ ७॥

#### द्वितीयस्क समाप्त (१३४)॥

"अप नः शोशुचइ अघम्" इत्यस्य सक्तस्य "अप नः शोशु-चइ अघम् [ ४. ३३ ] पुनन्तु मा [६. १६] सस्नुषीः [६.२३]" इति [ कौ॰ १. ६ ] बृहद्गणे पाठात् शान्युदकादौ विनियोगः॥

तथा स्त्रीणां पुरुपिवपयाभिरतिनिष्टत्तये पुरुपाणां च स्त्रीविप-याभिरतिनिष्टत्तये च अनेन सक्तेन असंख्याताः शर्करा अभिमन्त्रय काम्यमानपरगृहं स्त्रीगृहं वा प्रिकरन् व्रजेत् । हस्ते धारयन् वा जपेत् । स्त्रितं हि "कामं विनेष्यमाणोऽपार्धनासंख्याताः शर्कराः परिकिरन् व्रजति" इत्यादि [कौ० ४. १२]॥

तथा दुःशकुनदर्शने काकमैथुनादिविरुद्धदर्शने अद्भुतदर्शने च एतत् सक्तं जपेत् । सूत्रं च । "अपनोदनापाघाभ्याम् [ १.२६, ४.३३ ] अन्वीत्तं प्रतिजपित" इति [ की० ५.६ ] ॥

# ( ५६४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा चरमसंस्कारे शवदहनानन्तरम् श्रनवेच्यमाणः सबान्धवो गच्छन् कर्ता जपेत् ॥

तथा तत्रैव कर्मणि स्नानसमये ब्रह्मा एतत् सूक्तं जपेत् । स्नाना-नन्तरं यहम् त्रागत्य अनेन सूक्तेन कर्ता श्यामाकीः समिध आदध्यात् ॥

'अप नः शोशुचद्घम्' इस सूक्तका ''अप नः शोशुचद्घम् (४ । ३३ ) पुनन्तु मा (६ । १६ ) सस्त्रुषीः (६ । २३ )" (कोशिकसूत्र १ । ६ ) इस प्रकार बृहद्गणमें पाठ होनेसे शान्त्यु-दक आदिमें विनियोग होता है ॥

तथा स्त्रियों की पुरुषिवषयक मेमकी निष्टत्तिके और लिये पुरुषों की स्त्रीविषयक रितनिष्टत्तिके लिए भी इस स्क्रिसे अनिगनती रेते के क्यों को अभिमंत्रित करके काम्यमान परगृहमें वा स्त्रीके घरमें बखेरता हुआ चले । वा इन रेते के क्यों को हाथमें धारण करता हुआ जप करे । इस विषयमें सूत्रका ममाण भी है, कि—'अपनोदनापाघाभ्याम् (१। २६, ४। ३३) अन्वी चं प्रतिजपति' (कोशिकसूत्र ४।६)।।

तथा अन्तिम संस्कारमें शवको भस्म करनेके अनन्तर शवको न देखता हुआ कर्ता बांधवों सहित इस सुक्तका जप करे।।

तथा इसी कर्ममें ब्रह्मा स्नानके समय इस स्क्तका जप करे।। स्नानके अनन्तर घरमें आकर कर्ता इस स्क्तसे श्यामाकी समिधाओंको रक्षे।।

तत्र प्रथमा ॥

अपं नः शोशंचद्घमेमं शुशुम्या रियम् । अपं नः शोशंचदघम् ॥ १ ॥ त्रपं। नः। शोशुचत्। अधम्। अग्ने। शुशुन्धि। आ। रियम्। अप । नः । शोशुचत् । अधम् ॥ १ ॥

हे अमे त्यत्पसादात् नः अस्माकम् अधम् पापम् अप शोशु-चत् अत्यर्थस् अपगतभोकं भवतु । 🕸 नश्यतु इत्यर्थः शुचेर्यङ्-लुगन्तात् लेटि अडागमः 🕸 । त्वं च रियम् धनम् अस्माकम् आ शुशुष्यि समन्तात् प्रज्वितं समृद्धं कुरु । 🛞 शुशुष्यीति । छान्दसः शपः रुलुः 🕸 । ऋादरार्थम् उक्त एवार्थः पुनरनूचते ॥

हे अन्ने ! आपके पसादसे हमारा पाप नष्ट होजावे । श्रीर आप भी चारों ओरसे धनको हममें दीप्तकरें। हमारा पाप आपके प्रसादसे शोक करने योग्य न रहे ॥ १ ॥

द्वितीया ।।

सुचेत्रिया सुगातुया वस्या च यजामहै। अपं नः शोशंचदघम् ॥ २॥ सुऽक्षेत्रिया । सुऽगातुया । वसुऽया । च । यजामहे ।

श्रप । नः । शोशुचत् । श्रघम् ॥ २ ॥

सुक्षेत्रिया शोभनं क्षेत्रं सुक्षेत्रम् । 🕸 ''इयाडियाजीकाराणाम् उपसंख्यानम्" इति तृयीयैकवचनस्य डियाजादेशः। तथा सुगातु-येत्यत्रापि तृतीयाया याजादेशः । उभयत्रापि हेतौ तृतीया 🕸 । सुक्षेत्रेण शोभनमार्गेण च हेतुना । तद् उभयं यथा स्याद् इत्यर्थः । यद्दा शोभनक्षेत्रेच्छा सुन्तेत्रिया । 🛞 नयचि छान्दसं हस्वत्वम् । "अ प्रत्ययात्" इति अकारप्रत्ययः । तृतीयाया लुक् %। शोभन-क्षेत्रलाभेच्छया । 🕸 सुगातुया । सुगातुशब्दात् पूर्ववत् क्यच् । "न च्छन्दस्यपुत्रस्य" इति दीर्घपतिषेधः । पूर्ववत् तृतीयाया

## ( ५६६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

लुक् अ। शोभनमार्गेच्छया वसुया धनेच्छया च हे अग्ने त्वां पजामहे हविभिस्तोषयामः।त्वत्पसादाद् अस्मदीयम् अघं नश्यतु॥

हे अग्ने ! हम शोभनक्षेत्र पानेकी इच्छासे और शोभन मार्ग मिलनेकी इच्छासे और धन पानेकी इच्छासे हिवयोंके द्वारा आप कोसन्तुष्ट करते हैं, आपके प्रसादसे हमारा पाप नष्ट होजावे २ तृतीया ॥

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकांसश्च सुरयः । अपं नः शोश्चचद्घय् ॥ ३ ॥

म । यत् । भन्दिष्टः । एषाम् । म । अस्माकासः । च । सूरयः । अप । नः । शोश्चत् । अधम् ॥ ३ ॥

एषाम् स्तोतृणां मध्ये अहं प्र प्रकर्षेण यत् यस्माइ भन्दिष्ठः स्तोतृतमः । अ भदि कल्याणे सुखे च । भन्दना भन्दतेः स्तुति-कर्मण इति यास्कः [नि०५.२]। भन्दितृशब्दात् "तुश्छन्दिस्" इति इष्टन् । "तुरिष्ठेमेयस्सु" इति तृलोपः अ । अस्माकासः अस्माकाः । अ "तस्येदम्" इत्यर्थे अणि "तस्मिनणि च युष्मा-कास्माकौ" इति अस्माकादेशः । छान्दस आदिवृद्धचभावः । "आ-जासेरसुक्" अ । अस्मत्संविध्यनः सूरयः अभिज्ञाः पुत्रादयश्च [म] प्रकर्षेण स्तोतृतमाः । तस्मात् हे अमे त्वत्प्रसादाद् अस्माकं पापं नश्यतु इति संवंधः ॥

हे अग्ने ! मैं इन स्तोताओं में अधिक स्तुति करने वाला स्तोता हूँ और मेरे संबंधी पुत्र आदि भी आपके परम स्तोता हैं, इस कारण हे अग्ने आपके मसादसे हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ३॥ चतुर्थी॥

प्र यत् ते अमे सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।

अपं नः शोशंचदघम् ॥ ४ ॥

म । यत् । ते । त्रमे । सूरयः । जार्यमहि । म । ते । वयम् । अप । नः । शोशुचत् । अवस् ॥ ४ ॥

हे अप्रे ते तब स्तोतारो यत् यस्मात् त्वदनुग्रहेश मजायन्ते तस्मात् सूरयः विद्वांसो वयमपि ते तव स्तुत्या प जायेमहि पुत्र-पौत्रादिभिः समृद्धा भवेम ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

हे अग्ने ! आपकी स्तुति करने वाले आपके अनुग्रहसे पुत्र पौत्र त्रादि प्रजासे सम्पन्न होते हैं, इसी प्रकार आपके प्रभावको जानने वाले हम भी पुत्र पौत्र आदिसे समृद्ध होवें। हे अमे ! आपके प्रसादमें हमारा पाप नष्ट हो जावे ॥ ४ ॥।

पश्चमी ॥

प्र यदक्षेः सहंस्वतो विश्वतो यन्ति भानवंः । अपं नः शोर्श्चंवदघम् ॥ ५ ॥

म । यत् । अग्रेः । सहस्वतः । विश्वतः । यन्ति । भानवः । अप । नः । शोशुचत् । अधम् ॥ ५ ॥

सहस्वतः सहनवतः अभिभवनवतो बलवतो वा अग्नेः भानवः दीप्तयो विश्वतः सर्वतः यत् यस्मात् प्र यन्ति अस्मद्धितार्थं प्रव-र्तन्ते तस्माइ आग्नेयेन तेजसा अस्मदीयम् [ अधम् ] पापं नश्यतु इत्यर्थः ॥

बलवान् अग्निकी दीप्तियें हमारा कल्याण करनेके लिये चारों अोरसे पट्त होती हैं, इस कारण आग्नेय तेजसे हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ५ ॥

वही ॥
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभ्रिसं ।
अप नः शोशुचद्घम् ॥ ६ ॥

त्वम् । हि । विश्वतः अमुखं । विश्वतः । परिऽभूः । असि ।

अप । नः । शोशुंचत् । अधम् ॥ ६ ॥

हे विश्वतोग्ज्ञख सर्वतोग्ज्ञख अप्ने त्वं हि त्वं खल्ल विश्वतः सर्वतः परिभूः परिग्रहीता व्यापकः असि भवसि । सर्वम् इदं जगत् त्व-द्वशे वर्तते । अतस्त्वदाज्ञया अस्मदीयं पापं नश्यत्विति ।।

हे सर्वतोष्ठस अग्ने ! आप चारों ओरसे ग्रहण करने वाले हैं अर्थात् न्यापक हैं सब जगत् आपके वशमें है, अतः आपकी आज्ञासे हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

बिषों नो विश्वतोमुखाति नावेवं पारय । अप नः शोशंचदघम् ॥ ७ ॥

द्विषः । नः । विश्वतःऽप्रुखः । त्राति । नावाऽइव । पारय ।

अप । नः । शोशुचत् । य्यवम् ॥ ७ ॥

हे विश्वतोग्रुख सर्वतोग्रुख अम्रे द्विषः द्वेष्टत् शत्रून् नावा समुद्र-मिव नः अस्मान् अति पारय अतिक्रामय । त्वत्मसादाद्व भय-कारणम् अस्मदीयं पापं नश्यत्विति ॥

हे सर्वतोष्ठ्य अग्ने ! जैसे नौकासे समुद्रको तरते हैं, इस अकार तुम शत्रुओंसे हमको पार लगास्रो । आपके मसादसे भय का कारण हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ ७ ॥ अष्टमी ॥

स नः सिन्धंमिव नावाति पर्धा स्वस्तये । अप नः शोश्चेचदघम् ॥ = ॥

सः । नः । सिन्धुम् इव । नावा । अति । पर्ष । स्वस्तये ।

अप । नः । शोशुचत् । अधम् ॥ ८ ॥

हे अग्ने सः उक्तगुणस्त्वं नावा सिन्धुम् समुद्रमित्र स्वस्तये क्षेमाय [नः अस्मान्] अति पर्ष दुरितस्य पारं पापय । अ प् पालनपूरणयोः । अस्मात् लेटि अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् अः ॥ गतम् अन्यत् ॥

[ इति ] द्वितीयं सुक्तम् ॥

हे अमे ! जैसे नौकासे समुद्रको तरते हैं, इसी मकार आप क्षेमके लिये पापके पार हमको पहुँचा दीजिये । आपके मसादसे हमारा पाप नष्ट होजावे ॥ = ॥

द्वितीय स्क समाप्त (१३५)।

"ब्रह्मास्य शीर्षम्" इति सूक्तं ब्रह्मास्योदनसर्वे निरुप्तहितरिभ-मर्शनादिकर्मणि विनियुक्तम् ॥

तत्रैवानेन सक्तेन चतसपु दिन्न हदकरणम् क्रुल्याकरणम् तासां रसैः पूरणम् हदेषु आएडीकादिमन्त्रोक्तद्रव्यविधानं च कुर्यात् । सूत्रितं हि । "ब्रह्मास्येत्योदने हदान् प्रतिदिशं करोति" इत्यादि [कौ॰ ८. ७]।।

'ब्रह्मास्य शीर्षम्' यह सक्त ब्रह्मास्योदनसक्के निरुप्त हिके अभिमर्शन आदि कर्ममें विनियुक्त होता है।

तहाँ ही इस सक्तसे हद श्रीर कुल्या बनावे श्रीर उनके रसों से पूर्ण करे श्रीर हदोंमें श्राण्डीक श्रादि मंत्रमें कहे हुए द्रव्यका

## ( ५७० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

विधान भी करे इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—'ब्रह्मा-स्येत्योदने हदान् प्रतिदिशं करोति०' (कौशिकसूत्र ⊏ । ७ )।। तत्र प्रथमा ॥

ब्रह्मांस्य शीर्षं बृहदंस्य पृष्ठं वांमदेव्यमुद्रस्मोद्नस्य । ब्रन्दांसि पृत्तौ मुसंमस्य सृत्यं विष्टारी जातस्तपुसोधि युज्ञः ॥ १ ॥

ब्रह्म । अस्य । शीर्षम् । बृहत् । अस्य । पृष्टम् । वामऽदेवन्यम् । उदरम् । अोदनस्य ।

छन्दांसि । पत्तौ । मुखम् । अस्य । सत्यम् । विष्टारी । जातः । तपसः । अधि । यज्ञः ॥ १ ॥

अस्यौदनस्य दीयमानस्य शिरः प्रभृत्यवयवकल्पनया स्तुतिः क्रियते । ब्राह्मणजात्या सह प्रजापितमुखाद्ध उत्पन्नत्वाद् ब्रह्म-शब्देनात्र रथंतरं साम विवित्ततम् । अत एव तस्य ब्रह्मवर्चसरूपता समाम्नाता । "रथंतरं साम भवित ब्रह्मवर्चसं वै रथंतरम्" इति । तद् ब्रह्मशब्दवाच्यं रथंतरं साम अस्य ओदनस्य शीर्षम् शिरः । तथा बृहत् साम अस्यौदनस्य पृष्टम् पृष्ठभागः उपरिभागः । तथा वामदेव्यम् वामदेवेन दृष्टं साम उदरम् । अ "वामदेवाङ्च्यङ्च्यौ" इति उच्यत्ययः अ । अन्दांसि गायत्र्यादीनि पत्तौ । तथा सत्यम् सत्याख्यं साम परं ब्रह्म वा अस्यौदनस्य मुखम् । एवं विष्टारी विस्तीर्यमाणावयवः । अविपूर्वात् स्तृणातेः कर्मणि णिनिमत्ययः। अथवा "प्रथने वावशब्दे" इति घन् । ततो मत्वर्थीय इनिः अ । तादृशोयं सवयज्ञः तपसः तप्यमानाद् ब्रह्मणः अधि उपरि जातः उत्पन्नः। यज्ञदानादिलत्तणाद् अन्यस्मात् तपसो वा आधिक्ये-मोत्पन्न इत्यर्थः ॥

( इस दिये जाते हुए ओदनकी शिर आदि अवयवींकी कल्पना के द्वारा स्तुतिकी जाती है। ब्राह्मण जातिके साथ प्रजापितके मुखसे उत्पन्न होनेके कारण ब्रह्म शब्दसे यहाँ रथन्तर सामका ग्रहण किया गया है, इसी लिये उसकी ब्रह्मवर्चसरूपता कही है, कि-"'रथन्तरं साम भवति ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरम्" ) यह ब्रह्म-शब्दवाच्य रथन्तर साम इस ख्रोदनका शिर है ख्रीर वृहत्साम इस ओदनका पृष्ठभाग है अर्थात् ऊपरका भाग है और वामदेव ऋषिका देखा हुआ भाग इस सामका उदर है, गायत्री आदि छन्द इसके पत्त हैं, अौर सत्य नाम वाला इस ओदनका मुख है। इस प्रकार विस्तीर्ण अवयनों वाला सवयज्ञ तप करते हुए ब्रह्मसे ऊपर उत्पन्न हुआ है अर्थात् यद्म दान आदि अन्य तपसे अधिक मभाव रखने वाला हुआ है।। १।।

द्वितीया ॥

अनस्थाः पूताः पर्वनेन शुद्धाः शुचेयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।

नैषां शिश्रं प्र दहित जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु

ह्रिएमिषाम् ॥ २ ॥

श्रनस्थाः । पूताः । पवनेन । शुद्धाः । शुचयः । शुचिम् । श्रपि । यन्ति । लोकम् ।

न । एषाम् । शिक्षम् । म । दहति। जातऽवेदाः। स्वःऽगे । लोके। वहु । स्रेणम् । एषाम् ॥ २ ॥

श्रनस्थाः। न विद्यते श्रस्थ्युपलित्ततं पाट्कोशिकं शरीरम्
एषाम् इति श्रनस्थाः। % "छन्दस्यिष दृश्यते" इति श्रस्थिशः
इदस्य श्रनङ् श्रादेशः %। श्रमृत्रययशरीरा इत्यर्थः। श्रत एव
पवनेन पवनसाधनेन पूताः। यद्वा पवनेन श्रन्तरित्तसंचारिणा
वायुना पवित्रीकृताः शुद्धाः निर्मलाः शुच्यः दीष्यमानाः एवंभृताः
सवयज्ञस्य कर्तारः शुचिम् दीष्यमानं ज्योतिर्मयं लोकम् श्रिष् यन्ति
श्रिष्मच्छिन्ति देहावसाने माप्नुवन्ति ॥ श्रिष्म प्रषाम् स्वर्गे
लोके श्रवस्थितानां शिक्षम् भोगसाधनम् इन्द्रियं जातवेदाः
जातानां वेदिता श्रिष्मः न म दहित न निर्वीर्यं करोति। मदाहमसकिम् श्राह वहु स्रैणम् इति। तत्र हि सुकृतफलोपभोगस्थाने एषां
सुकृतिनां [ बहु ] बहुलं स्रैणम् स्रीणां समृहो भोगार्थं विद्यते।
एवं स्त्रीसमूहं भुद्धानानामिष न निर्वीर्यत्वशङ्कोत्पर्थः। श्र स्रैणम्
इति। "स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्रजो भवनात्" इति समृहेर्थे नञ्

जिनमें अस्थिसे उपलितित पट् कोश वाला शरीर नहीं है अर्थात् जो अमृतमय शरीर वाले हैं वे सवयज्ञके करने वाले देहावसान में अन्तरित्तचारी वायुके द्वारा पिवत्र होकर ज्योतिर्मय लोकको प्राप्त होते हैं और स्वर्गमें स्थित इनकी भोगसाधन शिश्नेंन्द्रियको अग्निदेव जलाते नहीं हैं अर्थात् निर्वीर्य नहीं करते हैं। तहाँ पुषयों का फल भोगनेके स्थानमें भोगनेके लिये वहुतसी स्त्रियोंका समूह इनके पास रहता है तात्पर्य यह है, कि—इस मकार स्त्रियोंको भोगने पर भी निर्वीर्यत्वकी शंका नहीं रहती॥ २॥

तृतीया ॥

बिष्टारिणमोदनं ये पर्चान्ति नैनानवंतिः सत्रते कदा चन आस्तं यम उपं याति देवान्तसं गन्धवैभेदते सोम्योभेः ३ विष्टारिएएम् । त्र्योदनम् । ये । पचन्ति । न । एनान् । अवितः । सचते । कदा । चन ।

छाइते । यमे । उप । याति । देवान् । सम् । गन्धर्वैः । मदते । सोम्येभिः ॥ ३ ॥

विष्टारिएम् उदीरितरीत्या विस्तीर्यमाणावयवम् श्रोदनं ये यज-पचन्ति । पक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः मयच्छन्तीत्वर्थः । एनान् यजमानान् वर्तिः वृत्तिः वृत्तिर्जीवनम् तद्भावः अवर्तिः दारिद्रचं कदा चन कदाचिद्पि न सचते न समबैति । अष्ठ पच समबाये अ। बहुवर् उक्तम् एकवर् आह। यः [पचिति ] स च सवयज्ञानु-ष्टाता देहविश्लेषानन्तरं यमे पितृणाम् अधिपतौ पूजितः सन् आस्ते सुखेन वसति । तेन अनुज्ञातः सन् देवान् उप याति उपगच्छति । तथा सोम्येभिः सोम्यैः सोमार्हैः गन्धर्यैः विश्वावसुप्रभृतिभिः सोमपालैः सह मदते त्रमृतमयसोमपानेन माद्यति ।।

पूर्वोक्त रीतिसे विस्तीर्यमाण अवयव वाले ओदनको जो यज-मान पका कर ब्राह्मणोंको देते हैं, उन यजमानोंको दरिद्रता कभी प्राप्त नहीं होती । जो पकाता है वह सबयज्ञका अजुष्ठान करने वाला देहत्यागके अनन्तर पितरोंके अधिपति यमके राज्य में सुखपूर्वक वसता है और उनके अनुज्ञा करने पर देवताओं के समीप जाता है तथा सोमके योग्य विश्वावसु आदि गंधवाँके साथ अमृतमय सोमका पान करके हर्षमें भर जाता है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

विष्टारिणंमोदनं ये पर्चान्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति

रेतंः ।

# ( ५७४ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

र्थी हं भूत्वा रथयानं ईयते पृची हं भूत्वाति दिवः समिति ॥ ४ ॥

विष्टारिणम् । अोद्नम् । ये । पर्चन्ति । न । एनान् । यमः ।

परि । मुख्याति । रेतः ।

रथी। ह। भूत्वा। रथऽयाने। ईयते। पत्ती। ह। भूत्वा। अति। दिवः। सम्। एति॥ ४॥

नैनानित्यन्तं पूर्ववत् । यमः नियन्ता जीवनापहारी एनान् सवयज्ञानुष्ठातृन् रेतः परि [ न ] सुष्याति नापहरति । रेतोहीनान् न करोतीत्यर्थः । स च सवयज्ञानुष्ठाता रथयाने रथेन यातच्ये भूलोके यावज्जीयं रथी [ ह भूत्वा ] रथाधिरूह एव ईयते संच-रति । अईङ् गतौ । दिवादिः अ। अन्तरिक्तयार्गे च पन्नी पन्न-वान् भूत्वा दिवः अन्तरिक्तमभृतीन् उपरितनान् लोकान् अतिकम्य समेति तत्त्रद्शोगस्थानेषु भोगैः संगच्छते ।।

पूर्वोक्तरीतिसे विस्तृत अवयवों वाले ओदनको बना कर जो बाह्मणोंको देते हैं उन सवयज्ञका अनुष्ठान करने वालोंके वीर्य को जीवनका अपहरण करनेवाले यम नहीं हरते हैं अर्थात् उनको वीर्यहीन नहीं करते हैं और वह सवयज्ञका अनुष्ठान करनेवाला भूलोकमें अपने जीवन पर्यन्त रथ पर चढ़ा हुआ ही घूमता है और अन्तरिक्तमें भी पर वाला हो कर अन्तरिक्त आदि ऊपरके लोकोंको अतिक्रमण करता हुआ भोगोंसे संयुक्त होता है॥॥॥ पश्चमी॥

पुष यज्ञानां वितंतो बहिष्ठो विष्टारिएं पुन्तवा दिवमा-

विवेश।

आगडीकं कुमुंदं सं तनोति विसं शालकं शफको मुलाली।

एतास्त्वा धारा उपं यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमृत् पिन्वंमाना उपं त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समंन्ताः प

एपः । यज्ञानाम् । विऽततः । विहिष्टः । विष्टारिणम् । पक्तवा । दिवम् । आ । विवेश ।

श्राएडीकम् । कुमुदम् । सम् । तनोति । विसम् । शालुकम् । शफकः । मुलाली ।

पुताः । त्वा । धाराः । उप । यन्तु । सर्वाः । स्वः ऽगे । लोके । मधुं ऽमत् ।

पिन्वमानाः । उप । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्ऽत्रन्ताः ५

एष विततः विस्तृतः सवयज्ञः यज्ञानां मध्ये विष्ठिः वोहृतमः ॥
विष्टारिणम् शिरःपृष्टाद्यवयवकल्पनया उदीरित विस्तारोपेतम् स्रोदनं
पक्त्वा यजमानस्तत्फलभूतं दिवम् स्वर्गस् द्या विवेश प्रामोति ॥
स्राण्डीकम् स्रण्डाकृतेः कन्दाङ्क उत्पन्नं कुसुदम् करवं दिश्येषु
हृदेषु सं तनोति संयोजयित ॥ तथा विसम् पद्मकन्दम् । शाल्कम्
उत्पलकन्दम् । शफकः शफाकृतिः जलोत्पन्नः । सुलालीति
मृणाली विविद्यता । एतानि सर्वाणि परितो हृदेषु स्थापनीयानि ।
एवम् इदानीम् स्रजुष्टितत्वात् एतत्फलभोगस्थाने स्वर्गे कुसुदोत्पलकमलोपेतानि मधुरोदकानि नित्यपूर्णीनि क्रीडासरांसि एनं परितः
सेवन्त इत्यर्थः । एतदेवोत्तरत्र विश्वदीक्रियते "उप त्वा तिष्ठन्तु
प्रष्किरिणीः समन्ताः" इति ॥

यह विस्तृत सवयज्ञ यज्ञों अधिक वोड़ा है (पहुँचाने वाला है ) शिर पृष्ठ आदि अवयवों की कल्पनासे पूर्वोक्त विस्तारसम्पन्न ओदनको बना कर यजमान इसके फलरूप स्वर्गमें प्रवेश करता है। अएडकी समान आकार वाले कन्दसे उत्पन्न श्वेत कमलको सरोवरों में स्थापित करे। तथा पद्मकन्दको, उत्पलकन्दको और उपनित्रों स्थापित करे। तथा पद्मकन्दको, उत्पलकन्दको और उपनित्रों समान आकृति वाले जलमें उत्पन्न पदार्थको और कमितानिको सरोवरमें स्थापित करे (इस प्रकार अनुष्ठान करनेसे इनके भोगके स्थान स्वर्गमें कुमुद उत्पल और कमलोंसे सुशोभित तथा प्रधुर जलोंसे सर्वदा पूर्ण रहनेवाले की ड़ासरोवर सर्वदा अनुष्ठाताओं के लिये तयार रहते हैं इस वातको अगले उत्तरार्थसे स्पष्ट करते हैं, कि—) दिध मधु धृत आदिकी कुल्याओं में भरे हुए रसकी ये सब धारायें फलभूत स्वर्गमें मधुरभावको पुष्ट करती हुई तेरे समीप आवें, तथा अन्त तक जलसे पूर्ण रहने वाली पुष्करिणियें तेरे पास आवें।। ४।।

षष्टी ॥

ष्ट्रतहेदा मध्कूलाः सरोदंकाः चीरेणं पूर्णा उदकेनं दृष्ना एतास्त्वा धारा उपं यन्तु सवीः स्वर्गे लोके मधुम्त पिन्वमाना उपं त्वा तिष्ठन्तु पुष्कुरिणीः समन्ताः ६

घृतऽहंदाः। मधुंऽक्रलाः। स्रराऽउदकाः। चीरेण। पूर्णाः। उदकेन।

एताः । त्वा । धाराः । उप । यन्तु।सर्वाः । स्वःऽगे । लोके । मधुऽमत् । पिन्वमानाः । उप । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्ऽश्चन्ताः ६ दिधमधुष्टतादिलत्तणस्य दिश्यास कुल्यास पूर्यमाणस्य रसस्य एताः सर्वा धाराः प्रवाहाः फलभूते स्वर्गे लोके अधुपत् मधुयुक्तं माधुर्यवद् वा पिन्त्रमानाः सिश्चन्त्यः त्वा त्वाम् उप यन्तु उपगच्छन्तु ॥ तथा समन्ताः पर्यन्तवर्तिन्यः पुष्करिणी पुष्करिणयः सरस्यः हे सवयज्ञानुष्ठातः त्वात्वाम् उप तिष्ठन्तु उपस्थिताः संगता भवन्तु । कीदृश्यस्ताः । घृतहदाः घृतपूर्णहृदयुक्ताः । मधुकूलाः मधुना मान्तिकेण युक्तानि कृलानि यासां ताः । सुरोद्काः सुरा मद्यमेव उदकं यासां ताः । तथा त्तीरेण उदकेन दध्ना च पूर्णाः॥ एतेषु घृतादिद्रव्येषु यद्यत् कामयसे तेन तेन पूर्णा बहुविधाः पुष्करिण्यः त्वां सेवन्ताम् इत्यर्थः । अ दध्नेति । "अस्थिदधिसक्थ्य-च्णाम् अनङ् उदात्तः" इति अनङ् आदेश उदात्तश्च । अञ्चोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तरुदात्तत्वम् अ॥

हे सवयज्ञका अनुष्ठान करनेवाले ! घृतसे पूर्ण सरीवरसे युक्त शहदसे भरे हुए किनारे वालीं, सुरारूपी जल वालीं तथा चीर जल और दहीसे पूर्ण धारायें स्वर्गमें मधुरतापूर्ण पदार्थोंको पुष्ठ करती हुई तुक्तको प्राप्त हों जलपूर्ण वावड़ियें तुक्तको प्राप्त हों ६ सप्तमी ॥

चृतुरं कुम्भांश्चेतुर्धा दंदामि चीरेण पूर्णा उद्केन दुष्ना ।

णुतास्त्वा धारा उपं यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मर्धमृत् पिन्वमाना उपंत्वातिष्ठन्तु पुष्कृरिणीः समन्ताः॥७॥

चतुरः । कुम्भान् । चतुःऽधा । दुदामि। चीरेण । पूर्णान् । उद-

केन । दध्ना ।

## (५७८) अथर्वेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

एताः । त्वा । धाराः । उपं । युन्तु । सर्वाः । स्वःऽगे । लोके । मधुंऽभत् । पिन्वमानाः । उपं । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः ।

सम्ऽत्रन्ताः ॥ ७ ॥

चीरादिद्रव्येण पूर्णान् चतुरः कुम्भान् चतुर्धा प्रागादिदिग्भेदेन चतुष्प्रकारं दधामि दिच्च निद्धामि । एताः चीरादिधाराः त्वाम् उप यन्तु इत्यादि योज्यम् ॥

चीर आदि द्रव्योंसे पूर्ण चार कुम्भोंको में पूर्व आदि चार दिशाओंमें चार स्थान पर स्थापित करता हूँ, पुण्यके फलरूप स्वर्गलोकमें ये चीर आदिकी धारायें मधुरताको पुष्ट करती हुई तुमको माप्त हों और अन्त तक पूर्ण पुष्करिणियें तुमको माप्त हों ७

अष्टमी ॥

इममेदिनं नि दंधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोक्जितं स्वर्गम् ।

स मे मा चेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेतुः कामदुघा मे अस्तु ॥ = ॥

इमम् । श्रोदनम् । नि । दुधे । ब्राह्मणेषु । विष्टारिर्णम् । लोकऽ-जितम् । स्वःऽगम् ।

सः । मे । मा । क्षेष्ट । स्वधया । पिन्वमानः । विश्वऽरूपा । धेनुः ।

कामऽदुघा । मेु । ऋस्तु ।। ⊏ ।।

इमम् पनवम् श्रोदनं ब्राह्मणेषु अग्रचजन्मसु भोक्तृषु नि द्धे

निक्तिपामि । कीदृशम् । विष्टारिणम् प्रागुक्तिविस्तारोपेतं लोकजितम् लोक्यत इति लोकः कर्मफलं तज्जयसाधनम् अत एव
स्वर्ग्यम् स्वर्गशब्दाभिधेयदुःखासंभिन्नितिरितश्यसुखस्य साधनम्।।
स अ्रोदनः तस्मिन् स्वर्गे लोके स्वध्या ज्ञीरादिरसेन पिन्वमानः
वर्धमानः मा क्षेष्ट ज्ञयं मा प्रामोतु । अ ज्ञि ज्ञये । माङि लुङ् ।
पिन्वमान इति । पिवि मिवि णिवि सेचने । इदिन्वान्तुम् अ।
अपि च अ्रोदनः विश्वरूषा नानाविधफलपदरूषा धेतुः सती मे
मम कामदुषा अभिलपितफलस्य दोग्धी अस्तु भवतु । अ कामान्
दुग्धे इति कामदुषा । "दुहः कव्र्वश्र" इति कब्धत्वे अ ॥

# [ इति ] चतुर्थं सुक्तम् ॥

इस राँधे हुए ओदनको अग्रच (श्रेष्ठ) जन्म वाले भोक्ता ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूँ, यह ओदन पूर्वोक्त विस्तारसे संपन्न है, स्वर्ग आदि लोकोंको जीतने वाला है, यह ओदन स्वर्गलोक में स्वधासे चीर आदि रसके द्वारा बढ़नेके कारण चीण न हो और यह ओदन अनेक प्रकारका फल देनेवाली अभिल्पित फल को देने वाली धेनुके रूपमें परिणत होजावे।। = 11

चतुर्थकाण्डके सप्तम अनुवाकमें चतुर्थ स्क समाप्त (१३६)॥
"यम् श्रोदनम्" इति स्क्तम् श्रतिमृत्युसर्वे निरुप्तहिवरिभमर्शनादिषु विनियुक्तम् । सुत्रितं हि । "यम् श्रोदनम् इत्यतिमृत्युम्"
इति [ कौ॰ ८. ७ ]॥

तथा गोर्यमलजननलत्त्रणाद्भुतशान्तौ अनेन सक्तेन गोरभ्युत्तणं होमं च कुर्यात् । स्नितं हि । "अथ यत्रैतद् यमसः यमोदनम् इति तां शान्त्युदकेन अभ्युत्त्य [ दोहयित्वा ] तस्या एव गोर्दुग्धे स्थालीपाकं अपित्वा" इत्यादि [ कौ० १३. १७ ] ।।

"यम् अोदनम्" यह सक्त अतिमृत्युसवके निरुप्त (न होमी हुई) हिवके स्पर्श करनेमें विनियुक्त होता है इस विषयमें सूत्रका

प्रमाण भी है, कि-'यम् श्रोदनम् इत्यतिमृत्युम्' (कौशिकसूत्र ७।८)
तथा गौके दो संतान एक साथ उत्पन्न करनेकी शान्ति श्रञ्जुत
शान्तिमें इस सक्तसे गौका अभ्युक्तण करे श्रौर होम करे । इस
विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—''अथ यत्रैतइ यमसः यमोदनम् इति तां शान्त्युदकेन अभ्युक्य दोहयित्वा तस्या एव गोर्दुग्धे
स्थालीपाकं अपियत्वा इत्यादि ॥—जहाँ गौ जुड़वाँ सन्तानोंको
उत्पन्न करे, तहाँ यमोदनम् इस सूक्तसे उस गौका शान्तिजलसे
अभ्युक्तण करे श्रौर उस गौको दुहाकर उसी गौके दुग्धमें स्थालीपाकको बना कर०" (कौशिकसूत्र १३ । १७ ) ॥

तत्र मथमा ॥

यमेदिनं प्रथम्जा ऋतस्यं प्रजापतिस्तपंसा ब्रह्मणेपचत् यो लोकानां विषेतिनाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि सृत्युम् ॥ १ ॥

यम् । स्रोदनम् । प्रथम् अजाः । ऋतस्य । प्रजाऽपतिः । तपसा । ब्रह्मणे । स्रपंचत् ॥

यः । लोकानाम् । विऽर्धतः । न । अभिऽरेषात् । तेन । अदि-- नेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ १ ॥

ऋतस्य परब्रह्मणः प्रथमजाः तत्सकाशात् प्रथमम् उत्पन्नो हिरएयगर्भाख्यः प्रजापितः तपसा दीन्नादिनियमेन यम् स्रोदनं ब्रह्मणे स्वकारणभूताय देवाय स्रपचत् । यश्च स्रोदनो लोकानाम् पृथिव्यादीनां विधृतिः विधारियता एका मुख्या नाभिः शरीरस्य नाभिरिच लोकानां बन्धकः । अन्हो भश्च [ उ० ४, १२५] इति इङ् मत्ययः 🕸 । तेनौदनेन दीयमानेन मृत्युम् मरणं तद्धे तु-भूतं वा देवम् अति तराणि अतिक्रमामि ॥

परत्रक्षके द्वारा पहिले उत्पन्न हुए हिरएयगर्भ नामक प्रजा-पितने दीन्ना आदिके नियमरूप तपसे जिस ओदनको अपने कारण ब्रह्मदेशके लिये बनाया था और नामि जैसे पाणियोंको मुख्य-रूपसे धारण करने वाली है इसी प्रकार जो ओदन पृथिवी आदि लोकोंका बन्धक है—धारण करने वाला है, उस दिये जाते हुए श्रोदनके द्वारा में मरणको अथवा उसके कारण देवताको लाँधता हूँ? दितीया ॥

येनातंरन् भूतकृते।ति मृत्युं यमुन्वविन्द्न् तपसा श्रमेण यं प्पाच बृह्मणे बृह्म पूर्वं तेनौद्नेनाति तराणि मृत्युम

येन । अतरन् । भूतऽकृतः । अति । मृत्युम् । यम् । अनुऽध-

विन्दन्। तपसा। श्रमेख।

यस् । प्पाच । ब्रह्मणे । ब्रह्म । पूर्वम् । तेन । श्रोदनेन । अति। तराणि । मृत्युम् ॥ २ ॥

भूतकृतः भूतानां प्राणिनां कर्तारो देवाः येन त्रोदनेन मृत्युम् श्रद्यतरन् श्रातिकान्तवन्तः । यम् श्रोदनं तपसा उपवासादिनिय-येन श्रमेण शरीरक्षेशेन च श्रन्वविन्दन् श्रन्वलभन्त । तथा पूर्वम् प्रथमोत्पन्नं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म ब्रह्मणे स्वकारणभूताय यम् श्रोदनं पपाच । तद्दे वत्यं पक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः पादाद्व इत्यर्थः । तेनौदनेनेत्यादि गतम् ॥

भूतोंको रचने वाले देवता जिस ओदनके द्वारा मृत्युको लाँघ गए हैं। और जिस ओदनको उपवास आदिके नियमरूप तपसे धौर शरीरक्लेशरूप अमसे देवताओंने पाया है तथा पहिले उत्पन्न हुए हिरएयगर्भ नाम वाले ब्रह्माने अपने कारण ब्रह्माके लिये जिस श्रोदनको बनाया था अर्थात् ब्रह्मदेवता वाले जिस श्रोदनको बनाकर ब्राह्मणोंको दिया था, उस ब्रोदनके द्वारा में मरणको अथवा उसके हेतुभूत देवताको लाँघता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यो दाधारं पृथिवीं विश्वभाजमं यो अन्तरिंच्याएं-णाद् रसेन ।

यो अस्तम्नाद् दिवमूर्थों महिम्ना तेनै। दुनेनातित-राणि मृत्युम् ॥ ३ ॥

यः । दाधारं । पृथिवीम् । विश्वऽभोजसम्।यः । अन्तरिन्तम् । आऽअपृणात् । रसेन ।

यः । अस्तभ्नात् । दिवम् । ऊर्ध्यः । महिम्ना । तेन । अोद-नेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ३ ॥

य स्रोदनो विश्वभोजसम् विश्वस्य कृत्स्तस्य प्राणिजातस्य भोग्यभूतां पृथिवीम् भूमिं दाधार धृतवान् । ॐ विश्वं भुनिक्त पालयतीति विश्वभोजाः । भुज पालनाभ्यव्यवहारयोः । स्रमाद् स्रमुन् पत्ययः ॐ । तथा य स्रोदनः स्राहुत्यात्मना परिणतेन स्वकीयेन रसेन स्रन्तरित्तम् दिवम् स्रापृणात् स्रापूर्यति । ॐ पृ पालनपूरणयोः । प्वादित्वात् इस्वः ॐ । तथा य स्रोदनः महिम्ना महत्त्वेन दिवम् द्युलोकम् उद्धाः स्रस्तभनात् । यथाऽधो न पति तथा उध्यः सन् धृतवान् इत्यर्थः । एवं विराहात्मना तस्य स्तुतिः॥ तेनेदनौनित्यादि गतम् ॥ जो श्रोदन सम्पूर्ण प्राणियोंकी भोग्यक्षा पृथिवीको धारण कर चुका है तथा जो श्रोदन श्राहुतिरूपसे परिणत अपने रससे अन्तरिचको पूर्ण करता है तथा जो श्रोदन अपनी महिमासे द्युलोकको स्तंभित रखता है श्रर्थात् नीचे न गिरे इस पकार ऊपर ही धारण किये रहता है उस श्रोदनकेद्वारा में मृत्युको तरता हूँ ३ चतुर्थी ॥

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिशदंशः संवत्सरो यस्मान्नि-र्मितो द्वादंशारः।

अहे।रात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनै।द्नेनाति तराणि सृत्युम् ॥ ४ ॥

यस्मात् । मासाः । निःऽमिताः । त्रिंशत् ऽश्रराः । सम् ऽवृत्सरः । यस्मात् । निःऽमितः । द्वादंशऽश्ररः ।

अहोरात्राः । यम् । परिऽयन्तः । न । आपुः । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ४ ॥

यस्मात् ब्रह्मात्मकाद् त्र्योदनाद् मासा द्वादश निर्मिता उत्पन्नाः त्रिंशदराः। रथचक्रावयवाः कीलका त्र्यराः चक्रवद्ध त्र्यावर्तमानत्वाद्द्ध मासास्तथा त्र्यनेन रूप्यन्ते। त्रिंशत्संख्याकानि दिनानि त्र्यरा येषां तेतथोक्ताः। त्र्यपि च द्वादशारः द्वादशयासात्मकः संवत्सरो यस्मात् ब्रह्मात्मकाद् त्र्योदनाद् निर्मितः। उत्पादितः। त्रहानि च रात्रयश्च ब्रह्मोरात्राः। क्ष्म ''श्रहः सर्वेकदेशः' इति समासान्तः श्रच् मत्ययः क्षि। ते च पर्यन्तः पर्यावर्तमानाः यं ब्रह्मात्मकम् श्रोदनं [नापुः] न प्रापुः। तेनोदनेन इत्योदनस्य माससंवत्सराहोरात्रा-तिवर्तित्वेन स्तुतिः।।

जिस ब्रह्मात्मक त्रोदनसे बारह मास उत्पन्न हुए हैं और रथ चक्रके अवयवरूप तीस अरे (दिन) उत्पन्न हुए हैं (मास दिन आदि चक्रकी समान घूमते हैं, अतः रथचक्रकी उपमा दी गई है) और द्वादश मास वाला सम्यत्सर जिस ब्रह्मात्मक ओदन से उत्पन्न किया गया है तथा दिन और रात्रि आवर्तन करते हुए भी जिस ब्रह्मात्मक ओदनको प्राप्त नहीं हुए उस ओदनके द्वारा में मृत्युका उन्लंघन करता हूँ ॥ ४॥ पश्चमी ॥

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः चरान्ति ।

ज्योतिषमतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनैदिननाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥

यः । माणदः । माणदः वन्तः । वभूवं । यस्मै । लोकाः । घृतः वन्तः । चरन्ति ।

ज्योतिष्मतीः । मुद्रदिशः । यस्य । सर्वा । तेन । ऋोदुनेन । ऋति। तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥

यः स्रोदनः माणदवाम् माणैर्जिगिमिषुभिर्द्यन्ते परिताप्यन्ते इति प्राणदः मुमूर्षवः । तेषां प्राणदः प्राणपदो वभूव भवति । श्रि पाणदवाम् इति । दृङ् परितापे । स्रमात् प्राणशञ्दोपपदात् विवप् । स्रकारोपजनश्द्यान्दसः श्रि । यस्मै ब्रह्मात्मकाय स्रोदनाय सर्वे लोकाः घृतवन्तः घृतधारायुक्ताः चरन्ति स्रवन्ति । यस्य स्रोदनस्य तेजसा सर्वाः पदिशः प्रकृष्टाः प्राच्याचा ज्योतिष्मतीः प्रशस्ततेजस्का भवन्ति ॥ तेनौदनेनेत्यादि गतम् ॥

जो स्रोदन मुपूर्धस्रोंको माण देने वाला होता है स्रौर जिस ब्रह्मात्मक स्रोदनके लिये सब लोक घृतधारास्रोंको टपकाते हैं स्रौर जिस स्रोदनके तेजसे पूर्व स्रादि सब दिशायें प्रशस्त तेज वाली होती हैं उस स्रोदनसे मैं मृत्युको लाँघता हूँ ॥ ४॥ पष्टी॥

यस्मात्पृकाद्मृतं संबभ्य यो गायत्रया अधिगतिर्वभूवं यस्मिन् वेदा निहिता विश्वकंपास्तेनौद्नेनातिं तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥

यस्मात् । प्रकात् । अमृतम् । सम् ऽवभूवं । यः । गायत्र्याः । अधिऽपतिः । बभूवं ।

यस्मिन् । वेदाः । निऽहिताः। विश्वऽरूपाः। तेन । त्रोद्नेन । त्रिति । तराणि । मृत्युम् ॥ ६ ॥

पक्वात् पाकोत्पन्नाद् यस्माद् श्रोदनाद् श्रमृतम् द्युलोकस्थं संवभूव उत्पन्नम् । यश्च गायत्र्याः छन्दसाम् श्रिग्रमाया श्रधि-पतिः श्रिधदेवता वभूव भवति । यस्मिन् श्रोदने वेदाः ऋग्यज्ञः-सामाद्याः विश्वरूपाः शाखाभेदेन श्रासादितवैश्वरूप्या निहिताः निचिप्ताः । श्रन्तस्वस्थिता इत्यर्थः । श्रिपक्वात् इति । "पचो वः" इति निष्ठातकारस्य वत्वम् श्रि ॥

पाकसे सम्पन्न हुए जिस ओदनसे घुलोकमें स्थित अमृत उत्पन्न हुआ है और जो अन्दोंमें अग्रस्थानीया गायत्रीका अधि-पति देवता होता है और जिस ओदनमें ऋक् यज साम आदि शाखाभेदसे अनेक रूपोंको पाप्त वेद निक्तिप्त हैं भीतर स्थित हैं हैं उस ओदनसे में मृत्युका उद्घंघन करता हूँ ॥ ६ ॥

# ( ५८६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

सप्तमी ॥

अवं बाधे द्विपन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेप् ते भवन्तु । ब्रह्मीद्नं विश्वजितं पचामि शृखन्तुं मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७॥

स्रवं । बाधे । द्विषन्तम् । देव् ऽपीयुम् । सऽपत्नाः । ये । मे । स्रवं । ते । भवन्तु ।

ब्रह्मऽत्रोदनम् । विश्वऽजितम् । पुचामि । शृगवन्तु । मे । श्रत्ऽदर्धानस्य । देवाः ॥ ७॥

दिषन्तम् हिंसन्तं शत्रुम् अहम् अत्र वाधे अपहिन्म । तथा देव-पीयृत् । अपीयतिर्वधकर्मा । "पीयति त्वो अनु त्वो गृणाित" [ ऋ॰ १. १४७. २ ] इति हि निगमः अ । देवानां हिंसकान् अप अपहिन्म । अतो मे मम ये सपत्नाः शत्रवः ते अपहता भवन्तु । तदर्थम् अहं विश्वजितम् सर्वस्य जेतारं ब्रह्मौदनम् । ब्राह्मणेभ्यो देय ओदनो ब्रह्मौदनः । तं पचािम संस्करोिम । अहथानस्य अद्धा-युक्तस्य मे मम वाक्यं देवा यष्टच्याः शृणवन्तु आकर्णयन्तु ॥

[ इति ] पश्चमं सक्तम् ।। सप्तमोनुवाकः ।।
देष करने वाले शत्रुको मै वाधा देता हूँ तथा देवतात्र्योंके
हिंसकोंको मैं वाधा देता हूँ, अतः जो मेरे शत्रु हैं वे नष्ट होजावें,
इसी लिये मैं सबका विजय करने वाले ( ब्राइमणोंके लिये दिये
जाने वाले ) ब्रह्मौदनको संस्कृत करता हूँ, मुक्त श्रद्धालुके
वाक्यको पूजनीय देवता सुनें ॥ ७ ॥

अथर्ववेदसंहिताको चनुर्थकाण्डके सप्तम अनुवाकमें पञ्चम स्क समाप्त (१३७)॥ सप्तम अनुवाक समाप्त अष्टमेनुवाके पञ्च सक्तांनि । तत्र "तान्त्सत्योजाः" [४. ३६] "त्वया पूर्वम्" [४. ३७] इति द्वयोः सक्तयोश्चातनगणे पाठात् "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्" [कौ०४. १] इति विहितेषु भूतग्रहाद्यचाटनकर्मसु विनियोगः ॥

आठवें अनुवाकमें पाँच सक्त हैं । इनमें "तान्त्सत्यौजाः" (४।३६) और "त्वया पूर्वम्" (४।३७) इन दोनों सक्तों का चातनगणमें पाठ हैं। अत एव "चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम्" इस कौशिकसूत्र ४।१ से विहित भूतग्रह आदिके उचाटन कमोंमें इनका विनियोग होता है।।

तत्र प्रथमा ॥

तान्तस्त्योजाः प्र दहत्वभिवैरंवानुरो वृषां ।

यो नो दुरस्याद् दिप्साचाथो यो नो अरातियात् १

तान् । सत्यऽत्रोजाः । म । दृहतु । श्रिप्तः । वैश्वान्रः । वृषा ।

यः । नः । दुरस्यात् । दिप्सात् । च । श्रथो इति । यः । नः । श्ररातिऽयात् ॥ १ ॥

सत्यौजाः सत्यम् अवितथम् श्रोजो बलं यस्य तादृशो वैश्वा-तरः विश्वनरहितः दृषा सेचनसमर्थः पुंस्त्वोपेतः श्रियः तान् शत्रून् प्र दहत् प्रकर्षेण भस्मीकरोत् । तच्छव्दिनिर्दिष्टानेव दर्शयित उत्त-रार्धेन । यः शत्रुः नः श्रम्मान् दुरस्यात् दुष्टानिव श्राचरेत् । श्रम्मासु श्रविद्यमानं दोषम् उद्घावयेद्गः इत्यर्थः । अ दुष्टशब्दात् "उपमानाद् श्राचारे" इति क्यच् "दुरस्युद्दिवणस्युर्द्टषण्यिति रिष-एयति" इति निपातनात् क्यचि दुष्टशब्दस्य दुरस्भावः । तदन्तात् लेटि श्राडागमः अ । तथा यश्र शत्रुः श्रम्मान् दिप्सात् धिप्सेत् हिंसितुम् इच्छेत् । अ दन्भु दम्भे । "सनीवन्तर्ध०" इति इटो विकल्पनाद्गं अभावः । "दम्भ इच" इति इन्तम् । भष्भावाभाव-श्ळान्दसः । पूर्ववत् लेटि आडागमः अ । अथो अपि च यः शत्रुः [ नः ] अस्मान् [ अरातियात् ] अरातिवद् आचरेत् अस्मद्विषये शत्रुभावम् अनुतिष्ठति । तान् सर्वान् म दहतु इति संबन्धः ॥

जो शत्रु हममें अविद्यमान दोषका आरोप करते हैं, और जो शत्रु हमको मारना चाहते हैं और जो शत्रु हमसे शत्रुभावका वर्ताव करता है सत्यरूपी वल वाले, सम्पूर्ण मनुष्योंका हित करनेमें परायण सेचनसमर्थ अग्नि उन शत्रुओंको पवलतासे भस्म करें।। १।।

द्वितीया ॥

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति । वैश्वान्रस्य दंष्ट्रयोरुमेगपि दधामि तम् ॥ २ ॥

यः । नः । दिप्सत् । अदिप्सतः । दिप्सतः । यः । च । दिप्सति ।

बैरवानरस्य । दंष्ट्रयोः । अग्नेः । अपि । दुधामि । तम् ॥ २ ॥

यः शतुः श्रदिप्सतः दिम्भतुं हिंसितुम् श्रनिच्छतः नः श्रस्मान् दिप्सात् हिंसितुम् इच्छेत् । अ पूर्यवद्गः दन्भेः सन्नन्तात् लेटि श्राडागमः अ । तथा दिप्सतः हिंसितुम् इच्छतः श्रस्मान् यः शत्रुः दिप्सति दिम्भतुम् इच्छति । जिहिंसिषतीन्यर्थः । वैश्वान-रस्य विश्वनरहितस्य श्रग्नेः दंष्ट्रयोः खादनसाधनयोर्दन्तविशेषयोः श्रास्यमध्यस्थयोः तम् उभयविधं शत्रुम् श्रपि द्धामि प्रित्तपामि । ताभ्यां पीडितो विनश्यतु इत्यर्थः ॥

जो शत्रु हिंसा करना न चाहते हुए हमको मारनेकी इच्छा करे श्रीर जो शत्रु मारना चाहने वाले हमको मारना चाहता है, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितकारी श्रिप्तदेवकी ड़ाढ़ोंमें हम उन दोनों प्रकारके शत्रुश्रोंको डालते हैं ॥ २ ॥ त्रतीया ॥

य आगरे मगर्यन्ते प्रतिकोशे मावास्ये।

कव्यादो अन्यान् दिएसंतः सर्वास्तान्त्सहंसा सहे ३

ये । त्राडगरे । मृगयंन्ते । प्रतिडक्रोशे । त्रामाडवास्ये ।

क्रव्यऽऋदः । अन्यान् । दिप्सतः । सर्वान् । तान् । सहसा । सहे ३

त्रागीर्यते समन्ताइ भज्यते मांसशोणितादिकम् अत्रेति आगरो युद्धरङ्गः। 🕸 मृ निगरणे । "ऋदोरप्" इति अधिकरणे । अप् अ। तत्र [ ये ] क्रव्यादः मांसभक्तकाः पिशाचादयः मृगयन्ते अस्मान् हिंसितुम् अन्विच्छन्ति । 🕸 मृग अन्वे-पर्छ । चुरादिरदन्तः अ। तथा प्रतिक्रोशे प्रतिक्रुलैः शत्रुभिः कृते आक्रोशे अमावास्ये । अमा सूर्येण सह चन्द्रमा वसत्यस्यां तिथौ इति अमावास्या । अ अधिकरणे एयत् अ। तत्र जातः उत्पन्नः अर्धरात्रकालः अमावास्यः। 🕸 "अमावास्याया वा" "श्र च" इति अकारमत्ययः 🕸 । तादृशे अमावास्यासंबन्धिन अर्थरात्रकाले क्रव्यादः पिशाचाः अन्यान् दिप्सन्ति हिंसितुम् इच्छन्ति । नष्टचन्द्रायास्तस्या अर्थरात्रे हि रत्तसां संचरकालः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "निशितायां हि रत्नांसि पेरते संप्रेर्णान्ये-वैनानि हन्ति" [ते० सं० २, २, २, ३] इति । एतच ग्राप-स्तम्बेन स्पष्टीकृतम् । "श्राग्नये रत्तोघ्ने पुरोडाशम् श्रष्टाकपालम् श्रमावास्यायां निशाया निर्वपेत्" इति । तान् सर्वान् पिशाचादीन् सहसा बलेन मन्त्रमभावजनितेन सहे अभिभवामि ॥

मांसगोणित श्रादिको जिसमें समीपतासे नष्ट किया जाता है उस संग्राममें जो मांसभत्तक पिशाच आदि हमको मारनेके लिये अवसर देखते रहते हैं, तथा शत्रुओं के प्रतिकूल

# ( ५६० ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

करने पर अभावास्याके अर्धरात्रिके समय जो पिशाच औरोंको मारना चाहते हैं † उन सब पिशाच आदिको हम मंत्रप्रभावसे उत्पन्न हुए बलसे तिरस्कृत करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सहे पिशाचान्त्सहंसैषां दविणं ददे।

सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं मु आकृतिऋध्यताम् ॥४॥

सहं। पिशाचान् । सहसा। एपाम् । द्विणम् । द्दे।

सर्वान् । दुरस्यतः । हृन्मि । सम् । मे । आऽक् तिः । ऋध्यताम् ४

सहसा बजेन पिशाचान पिशिताशिनो राक्तसान सहे श्रभि-भवामि । एषाम् रक्तसां द्रविणम् बलम् श्राटदे स्वीकरोमि । नष्ट-बीर्यान् करोमीत्यर्थः। दुरस्यतः श्रस्मद्विषयं दुष्टत्वम् इच्छतः सर्वान् शत्रून् हन्मि हिनस्मि नाशयामि । नः श्रस्माकम् श्राक्तिः इष्टफ-लविषयः संकल्पः शम् सुखं यथा भवति तथा [ ऋध्यताम् ]समृ-ध्यताम् । समृद्धफला भवतु इत्यर्थः। अ ऋधु दृद्धौ अ ॥

में मांसभन्ती रान्तसोंको मंत्रवलसे तिरस्कृत करता हूँ, इन रान्तसोंके बलको स्वीकार करता हूँ, अर्थात् इनके बलको नष्ट

† नष्टचन्द्रा अर्थरात्रि ही राचसोंके विचरनेका समय है। इसी बातको तैचिरीयसंहितामें लिखा है, कि—'निशितायां हि रचांसि परेते सम्प्रेणीन्येवैनानि हन्ति।।" (तैचिरीयसंहिता २।२।२।३)॥ इसी बातको आपस्तम्बम्रनिने स्पष्ट किया है कि -'अग्नये रचोन्ने पुरोडाशं अष्टाकपालं अमावास्यायां निशायां निर्वपेत्।।—राचसों का संहार करने वाले अग्निदेवके निमित्त अष्टाकपाल पुरोडाश को अमावास्याकी रात्रिमें देवे"।।

करता हूँ, तथा भुभसे दुष्टताका व्यवहार करना चाहने वाले शश्रुत्रोंको मैं नष्ट करता हूँ। हमारा इष्टफलविषयक संकल्प सुख-दायक रीतिसे समृद्ध हो।। ४।।

पश्चमी ॥

ये देवास्तेन हासन्ते सूर्यण मिमते जवम् । नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पृशुभिर्विदे ॥ ५ ॥ ये। देवाः। तेनं। हासन्ते। सूर्येण । स्मिते। जवम् । नदीषुं। पर्वतेषु । ये। सम्। तैः। पशुऽभिः। विदे॥ ५ ॥

देशः दीव्यन्तो ये पिशाचाद्याः तेन प्रसिद्धं न विकारेण हासन्ते आविष्टं पुरुषं हासयन्ति । अ हसे हसने । अस्माद्ध एयन्तात् लिट "णिचश्र" इति आत्मनेपदम् । "अन्दस्युभयथा" इति श्रप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः अ । तथा सूर्येण समानं जनम् वेगं मिमते कुर्यन्ति । सूर्यप्रभावत् शीघं व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । तथा नदीषु पर्वतेषु च विजनस्थाने ये संचरन्ति तैः सर्वेविंयुक्तोहं तत्कृतपतिवन्धविरहात् पश्रुभिः गोमहिषाद्यः सं विदे संजाने । तान् प्रामोमीत्यर्थः । अ "समो गम्यृच्छि०" इति आत्मनेपदम् अ ॥ यद्वा हे देवा अग्न्यादयः ये पश्रवः तेन रक्तःपिशाचादिनः हासन्ते जिहास्यन्ते । अ आहाक् त्यागे इत्यस्मात् सन् । "अन्दिस वेति वक्तव्यम्" इति वचनाद् द्विवचनाभावः । कर्मणि कर्तृपत्ययरछान्दसः अ । परित्यज्य पलायमानाश्च [ ये ] पश्रवः सूर्येण साकं वेगं कुर्वन्ति । शीघं धावन्ति । ये च पश्यो नदीषु पर्वतेषु च संचर्वन्ते युष्पत्थसादात् तन्निरोधकान् राक्तसादीन् अपहत्य तैः सर्वेः पश्चिभरहं सं विदे इति सामानाधिकरएयेन संबन्धः ॥

# ( ५६२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-माषानुवादसहितः

दमकते हुए पिशाच जिस प्रसिद्ध विकारसे आविष्ट पुरुषको हँसाते हैं और सूर्यकी समान वेगको करते हैं अर्थात् सूर्यकी मभाकी समानशीघ ही व्याप्त होजाते हैं तथा जो पर्वत और नदी आदि निर्जन स्थानों में विचरण करते हैं, उन सबसे अलग रहता हुआ में उनके किये हुए प्रतिबन्धों से रहित होने के कारण गौ भेंस आदि पशुओं से सम्पन्न हो ऊँ॥ ५॥

षष्ठी ॥

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघो गोमतामिव। श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा तेन विन्दन्ते न्यञ्चनम्॥६॥

तपनः । अस्मि । पिशाचानाम् । व्याघाः । गोमताम् ऽइव ।

श्वानः । सिंहम् ऽइव । दृष्टा । ते । न । विन्दन्ते । नि ऽत्रश्रवनम् ६

पिशाचानाम् रत्तसाम् अहं तपनः मन्त्रसामध्येन तापकोस्मि गोमताम् गोस्वामिनां व्याघ्र इव । यथा व्याघ्रो गवां हिंसकत्वेन तत्स्वामिनां तापको भवति तथेत्यर्थः । यथा सिंहं हष्ट्वा श्वानो भीत्या निलीयन्ते तथा ते पिशाचाः अस्मन्मन्त्रमभावं हष्ट्वा न्यश्च-नम् न्यग्भवनम् अधोगतिम् अनु विन्दन्ते अनुलद्य लभन्ते ॥

जैसे गोस्वामियोंको व्याघ्र सन्ताप देता रहता है, इसी प्रकार में मन्त्रकी शक्तिसे राज्ञसोंको सन्तप्त करने वाला वन् । जैसे सिंहको देख कर कुत्ते डरके कारण छुप जाते हैं, इसी प्रकार ये पिशाच हमारे मन्त्रप्रभावको देख कर अधोगतिको पाप्त हो जाते हैं॥ ६॥

सप्तमी ॥

न पिशाचैः सं शकोमि न स्तेनैर्न वर्नगुभिः।

पिशाचास्तस्मीन्नश्यन्ति यमहं श्राममाविशे ॥७॥

न । पिशाचैः । सम् । शक्रोमि । न । स्तेनैः । न । वनगु ऽभिः।

विशाचाः । तस्मात् । नश्यन्ति । यम् । ऋहम् । ग्रामम् । आऽविशे

नाहं विशाचैः सं शक्रोमि संशक्तः अनुपविष्टो न भवामि। तथा स्तेनैश्रोरैः मच्छन्नष्टिभिग्रीमगतैः न सं शक्रोमि न संगतो भवामि । न वनगुंभिः । वनगुंभिशब्दश्चोरनाम । अ वनगूं वन-गामिनौ इति यास्कः [ नि॰ ३. १४ ] 🕸 । वनगामिभिश्वोररिप न संशक्तोस्मि । तथा पिशाचा राज्ञताः तस्माइ ग्रामान्निर्गत्य नश्यन्तु नष्टा भवन्तु । यं ग्रामम् अहम् आविशे अनुविश्य वसामि। तस्माइ मद्धिष्ठिताद्व देशात् पलायन्ताम् इत्यर्थः ॥

में पिशाचोंसे श्रनुपविष्ट नहीं होता हूँ अर्थात पिशाच मुभमें पवेश नहीं कर सकते और मैं चोरोंसे नहीं मिलता हूँ तथा वन-चारी डाँकुश्रोंसे नहीं मिलता हूँ, मैं जिस ग्राममें प्रवेश करता हूँ, उस ग्रामसे पिशाच नष्ट होजाते हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यं ग्राममाविशतं इदमुग्रं सहो ममं ।

विशाचास्तरमान्नश्यन्ति न पापमुपं जानते ॥=॥

यम् । ग्रामप् । त्राऽविशते । इदम् । उग्रम् । सहः । मम ।

पिशाचाः । तस्मात् । नश्यन्ति । न । पापम् । उपं । जानते ॥=॥

मम मदीयम् इदम् उग्रम् तीच्णं मन्त्रमभावजनितं सहः बलं यं ग्रामम् आविशते अनुप्रविश्य वर्तते तस्माद् ग्रामात् पिशाचा नश्यन्ति तत्र न प्रविशन्ति । यदि प्रविवित्तन्ति नश्यन्त्येवेत्यर्थः ।

#### ( ५८४ ) त्र्यथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अतो न तद्विषयं पापम् हिंसारूपम् उप जानते तत्रत्या जनाः। रज्ञःपिशाचादिकृतम् उपद्रवं नावबुध्यन्त इत्यर्थः॥

मेरा यह मंत्रप्रभावसे उत्पन्न बल जिस ग्राममें प्रवेश करके रहता है, उस ग्रामसे पिशाच नष्ट होजाते हैं अर्थात् उसमें प्रवेश नहीं करते हैं और यदि प्रवेश करते हैं तो नष्ट ही होजाते हैं इस कारण उनके हिंसामय पापको तहाँ रहने वाले मनुष्य जानते ही नहीं अर्थात् राचस पिशाच आदिके उपद्रवको वे जानते ही नहीं व्यर्थात् राचस पिशाच आदिके उपद्रवको वे जानते ही नहीं व्यर्थात् राचस पिशाच आदिके उपद्रवको वे जानते ही नहीं व्यर्थात् राचस पिशाच आदिके उपद्रवको वे जानते ही नहीं व्यर्था

ये मां क्रोधयंन्ति लिपता हस्तिनं मशकां इव । तान्हं मन्ये दुहितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ६ ॥

ये । मा । क्रोधयन्ति । लुपिताः । हुस्तिनम् । मुशकाः ऽइव ।

तान् । अहम् । मन्ये । दुःऽहितान् । जने । अल्पशयून्ऽइव।।६।।

ये पिशाचाद्या लिपिताः उपदिग्धाः संक्रान्ताः मा मां क्रोध-यन्ति । मशकाः दंशकाः जुद्रजन्तवो हस्तिशरीरम् आश्रिता हस्ति-नम् गजिमव । तान् सर्वान् दुईतान् दुष्टहननेन विषयीकृतान् आहं यन्ये जानामि । तत्र निदर्शनम् आह जन इति । जने जनसंघे तत्संचारस्थले अवस्थितान् अल्पशयून् परिमाणतः अल्पकायाः शयनस्वभावाः संचाराच्नमाः कीटा अल्पशयवः । ते यथा प्राणि-संचारेण हन्यन्ते तद्दद् अहम् अनायासेन अपुनकृद्धवं हन्मीत्यर्थः ॥

जैसे जनसमूहके फिरनेके स्थानमें स्थित अल्प शारीर वाले और शयन करनेके स्वभाववाले संचरणमें असमर्थ कीट, प्राणियों के घूमनेसे मारे जाते हैं, इसी प्रकार हाथीके शारीरमें लगे हुए हाथीको कुद्ध करने वाले मच्छरोंकी समान अपने शारीरमें लगे हुए सब पिशाचोंको मैं नष्ट किया हुआ ही समकता हूँ ॥६॥ दशमी ॥

अभि तं निर्श्वतिर्धनामश्वीमवाश्वाभिधान्या । मुल्वो यो मह्यं कुष्यंति स उ पाशान्न मुच्यते १०

श्रभि । तम् । निःऽश्रृतिः । धत्ताम् । श्रश्वम् इत् । श्रश्वऽश्रभिधान्या।

मुल्वः।यः।महाम्। ऋध्यति।सः। ऊ इति। पाशात्। न । मुच्यते

तं शत्रुं निऋितः पापदेवता अभि धत्ताम् स्वर्धीयः पाशै-र्वध्नातु । तत्र दृष्टान्तः अश्विमविति । अश्वम् अभिद्धाति बध्ना-त्यनया इति अश्वाभिधानी रज्जुः । अक्ष करणे ल्युट् । दिन्वाद् जीप् अ । तया यथा दृष्टम् अश्वं वध्नन्ति तद्वद्व इत्यर्थः । तथा यो मल्वः शत्रुः महां कुध्यति मद्विषयं कोपं करोति । अ "कुधदुहेर्ष्या-स्वयार्थानाम् " इति महाम् इति चतुर्थी अ । स उ स एव शत्रुः पाशात् निऋितसंबन्धिनः न मुख्यसे मुक्तो न भवतु । बद्ध एव वर्तताम् इत्यर्थः ॥

[ इति ] अष्टमेनुवाके पथमं सुक्तम् ॥

जैसे घोड़े वाँधनेकी रस्सीसे दुष्ट घोड़ेको बाँधते हैं इसीमकार पापदेवता निऋित उस शत्रुको अपने पाशोंसे वाँध लेवें तथा जो शत्रु मुभ्त पर कोप करता है वह शत्रु निऋितके पाशोंसे मुक्त न हो, बँधा हुआ ही रहे ॥ १० ॥

अष्टम अववाकमें प्रथम स्क समाप्त (१३८)॥
"त्वया पूर्वम्" इति स्क्रास्य गराप्रयुक्तो विनियोगः पूर्वस्केन
सह उक्तः ॥

तथा सर्वभूतग्रहभैषज्यार्थं शमीपर्णचूर्णं शमीफलमध्ये कृत्त्रा अनेन स्कोन अभिमन्त्र्य आविष्ठग्रहं पुरुषं भोजयेत्। अलंकारेण सह धारयेत् ॥

### ( ५६६ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

तथा व्याधितगृहं परिकिरेत् ॥

सूत्रितं हि । "त्वया पूर्वम् इति कोशेन शमीचूर्णानि भक्ते-लंकारे शालां परितनोति" इति [ कौ० ४. ४ ] ॥

"गान्धर्वीम् अश्वच्यये" इति [ न० क० १७ ] विहितायां गान्धर्व्याख्यायां महाशान्तौ गणप्रयुक्तेनानेन स्केन गुल्गुल्वादि-द्रव्यहोमोभिहितः । यथा ।

> शियुं हुत्वा जलं चैव गल्गुलुं विषमेव च । पिष्पलीं कृष्णलीं चैव जुहुयाचातनेन तु ॥ श्रोषधीं सहमानां तु पृक्षिपणीं तथापराम् । श्रजशृङ्गीं समस्यैताम् श्रमन्त्रं जुहुयात् सकृत् ॥

इति [ न० क० २१ ]।।

'त्वया पूर्वम्' इस सक्तका गणपयुक्त विनियोग पहिले सक्तके साथ कह दिया है।।

तथा सकल भूतग्रहोंकी चिकित्साके लिये जंडके पत्तोंके चूर्ण को जगडके फलके मध्यमें डाल कर इस सक्तसे अभिमंत्रण करके ग्रहसे आविष्ट पुरुषको भोजन करावे और अलंकारके साथ धारण करावे ॥

तथा रोगीके घरमें बखेरे ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"त्वया पूर्व इति कोशेन शमीचूर्णानि भक्तेऽलङ्कारे शालां परितनोति" (कोशिकसूत्र ४।४)

"गान्धर्वी अश्वत्तये ॥—अश्वत्तयमें गांधर्वी महाशांतिको करे" इस नत्तव्रकल्प १७ से बिहित गांधर्व्या नाम वाली महाशांतिमें गणपयुक्त इस स्कूस गूगल आदि द्रव्यका होम कहा है। यथा— "शिग्रं हुत्वा जलं चैव गुल्गुलुं विषमेव च। पिष्पलीं कृष्णालीं चैव जुहुयाच्चातनेन तु॥ स्त्रोषधीं सहमानां तु पृक्षिपणीं तथा-पराम्। अजश्व समस्येतां अमंत्रं जुहुयात् सकृत्॥—सैंजनेको

होम कर जल, गूगल, मृखाल, पीपल श्रीर कृष्णलीको चातन-गणसे होमे । फिर सहमाना, पिठवन, बाँभ खेखसा और ककरासिंगीको भली पकार अमंत्रक होमें" ॥ (नत्तत्रकल्प २१)॥

स्वया पूर्वमथर्वाणो जन्तू रचांस्योपधे। स्वयां जघान कश्यपस्त्वया करावां अगस्तयंः ॥१॥ त्वया । पूर्वम् । अथर्वाणः । जध्तुः । रत्तांसि । अरेषधे ।

त्वया । जघान । कश्यपः । त्वया । कएवः । अगस्त्यः ॥ १ ॥

अत्र सहमानादीनां विनियोगोक्तानाम् अन्यतमा संबोध्यते । हे त्रोपधे त्वया साधनेन पूर्वम् पुरा त्रथर्वाणः महर्पयः रज्ञांसि जब्बुः इतवन्तः । 🕸 इन्तेर्लिटि उसि "गमहन०" इति उपधा-लोपः । तस्य स्थानिवन्वाइ द्विवचनम् 🕸 । तथा करयपः महर्षिः त्वयैव साधने तदनन्तरं रत्तांसि जघान कएतो अगस्त्यथ । अतः अहमपि त्वद्धारणहोमादिना रत्नांसि इन्मीत्यर्थः ॥

हे औषधे ! अथर्वा आदि महर्षियोंने पहिले तुभको साधन बना कर राजसोंको मारा था और कश्यप नामक महर्षिने तथा कएव और अगस्त्य नामक महर्षिने तेरे साधनसे राज्ञसोंका संहार किया था ( इसी प्रकार मैं भी तुभको धारण करना और होम श्रादि करनेसे राज्ञसोंको मारता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

त्वयां वयमंप्सरसों गन्धवाँश्चातयामह ।

अजंशृङ्गयज रचः सर्वान् गन्धेनं नाशय ॥ ३ ॥

त्वया । वयम् । अप्सरसंः । गन्धर्वान् । चात्यामहे ।

## ( ५६ ८ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अजऽमृङ्गि । अज । रक्तः । सर्वीन् । गन्धेन । नाश्य ॥ २ ॥

अजशृक्षि विषाणी स्यात् इत्यभिधानकोशपिसद्धा अजशृक्षी । सात्र संवोध्या।अजशृक्षाकृतिफलयुक्तत्वाद् अजशृक्षीत्युच्यते । हे तादृशि ओषधे त्वया साधनेन वयम् अप्सरसो गन्धर्वाश्च अस्म-दुपद्रवकारिणः चातयामहे नाशयामः । अ चातयतिर्नाशने इति यास्कः [नि०६, ३०] अ । हे अजशृक्षित्वं रक्षः राक्तसजातिम् अज अस्मात् स्थानात् क्षिप प्रच्यावय । अ अज गतिक्षेपणयोः अ ॥ किं वहुना । सर्वान् रक्षः पिशाचादीन् त्वदीयेन उग्रेण गन्धेन नाशय अदर्शनं प्रापय ॥

हे अजशृंगी ओषधे ! हमसे उपद्रव करने वाले अप्सरा और} गंधवोंको तेरे साधनसे हम नष्ट करते हैं, हे अजशृंगि ! त् राज्ञसजातिको इस स्थानसे च्युत कर अधिक क्या राज्ञस पिशाच आदि सबको अपनी उग्र गंधसे दूर कर ॥ २ ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोपां तारमवश्वसम्।

गुल्गुलः पीलां नल्द्यों इत्तगंन्धिः प्रमन्द्नी । तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३॥

नदीव् । यन्तु । अप्सरसः । अपाम् । तारम् । अवऽश्वसम् ।

गुल्गुलुः। पीला । नुलुदी । स्रोत्तरगिन्धः । पुरमन्दुनी ।

तत् । परा । इत । अप्सरसः । प्रतिऽबुद्धाः । अभूतन् ॥ ३ ॥

यत्रीश्वत्था न्यत्रोधाः महावृत्ताः शिंखिरिडनः ।

तत् परेताप्सरसः प्रतिंबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

यत्रं। अश्वत्थाः। न्यग्रोधाः। महाऽवृत्ताः। शिखिषिडनः।
तत्। पर्रा। इत्। अप्सरसः। प्रतिऽबुद्धाः। अभूतन्।। ४॥
यत्रं वः प्रेङ्का हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः
संवदंन्ति।

तत् परेप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतनः ॥ ४ ॥ यत्रं । वः । पृऽर्देह्याः । हरिताः । अर्जुनाः । उत् । यत्रं । आयाटाः । कुर्कुर्युः । सम्ऽवदन्ति ।

तत् । परा । इत् । अप्सर्सः । प्रतिऽयुद्धाः । अभूतन् ॥ ४ ॥ स्तिया ॥ अप्सर्सः गन्धर्वाणां स्त्रियः अस्मदीयात् स्थानात् प्रच्याविताः नदीम् नद्युपलित्ततं स्वावासस्थानं यन्तु गच्छन्तु । तत् [ दृष्टान्तः ] । नादेयीनाम् अपां तारम् तारियतारम् स्वसम् [ इव ] सुष्ठु नौपरेणकुशलं यथा तितीर्षवो जना उपगच्छन्ति । एतत् केन साधनेन इति चेत् तत्राह गुल्गुलूरिति । गुल्गुल्वादीनि पच होमद्रव्याणि विनियोगशास्त्रप्रसिद्धानि । तेषां हवनेच भीता भवन्त्य इत्यर्थः ॥

चतुर्थी ।। हे अप्सरसः तत् मसिद्धं स्वावासस्थानं परेत परागच्छत पराङ्गुरूयः अस्मान् अनवेत्तमाणाः प्राप्तुत । गत्वा च
तत्रैव मितवद्धाः निरुद्धगतयः अभूतन भवत । क्ष छान्दसो भवतेलु ङ् । तप्तनप्तनथनाश्व" इति तस्य तनादेशः क्ष । स्थानं विशेप्यते । यत्र यस्मिन् स्थाने अश्वत्था न्यग्रोधा अन्ये च सत्तादयो
महाद्वताः शिलिण्डिनः मयूराश्व सन्ति । शिखण्डिसद्भावेन विजनत्वं सुचितम् । तत् स्थानं गच्छतेति संबन्धः । अश्वत्थादीनां

तदावासस्थानता तैत्तिरीये समाम्नाता । "नैयग्रोध औदुम्बर आ-रवत्थः सान्त इतीध्मो भवत्येते वै गन्धर्वाप्सरसां गृहाः" इति [तै० सं० ३, ४, ८, ४]। अभाहान्ननाः इति । महान्तश्र ते तृत्ताः महान्ननाः । "आन्मइतः०" इति आत्वम् अ।।

पश्चमी ।। हे अप्सरसः वः युष्माकं क्रीडनाय मेह्ना दोला यत्र यस्मिन् स्थाने निवद्धा वर्तन्ते । हरिताः हरिद्धणां अर्जुनाः धव-लाश्चेति मेह्नानां विशेषणम् । यद्घा हरिद्धणाः श्यामला वृद्धाः अर्जु-नाख्याश्च यस्मिन् देशे सन्ति । तथा यत्र यस्मिन् देशे अघाटाः । अ आङ्पूर्वात् हन्तेः कर्मणा घञ् । छान्दसं टत्वम् अ । आहन्य-माना वाद्यमानाः कर्कर्यः वाद्यविशेषाः संवदन्ति युष्मन्वत्तानु-गुण्येन समानं ध्वनन्ति तत् स्थानं परेतेत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ।।

नदीके जलके पार उतारने वाले नौका चलानेमें कुशल पुरुष के पास जैसे पार जाना चाहने वाले पुरुष जाते हैं तिस पकार गूगल, पीला, श्रौचगंधि, नलचौ श्रौर प्रमंदनी इन पाँच होमद्रच्यों के हवनसे भयभीत हुई गंधवोंकी स्त्री श्रप्सरायें पराङ्मुख होकर नदी श्रादि श्रपने निवासस्थानोंको चली जावें श्रौर तहाँ पर निरुद्धगति होकर पड़ी रहें ॥ ३ ॥

हे अप्सराओं ! तुम अपने उस निवासस्थानमें पराङ्मुख हो कर जाओ, और तहाँ ही गतिरहित पड़ी रहो, कि जहाँ पर पीपल, वड़ और पिलखन आदि हैं और जहाँ मयूर हैं ‡ ॥४॥

‡ अरवत्थ आदि अप्सरा और गंधवाँका स्थान हैं, इस बात का तैत्तिरीयसंहितामें वर्णन हैं, कि - 'नैयग्रोध औदुम्बर आरवत्थः सात्त इतीध्मो भवन्त्येते वे गंधवप्सरसां गृहाः ॥ -वड़ गृलड़ पीपल और पिलखन इनमें गंधव और अप्सराओंका घर होता है ॥" (तैतिरीयसंहिता ३ । ४ । ⊏ । ४ )॥

हे अप्सराओं ! तुम्हारी क्रीड़ाके लिये जहाँ पर भूले पड़े हुए हैं जहाँ श्यामलदृत और अर्जुन दृत्त हैं और जहाँ पर तुम्हारे नाचनेके अनुसार ककरी नामके बाजे वज रहे हैं, उस स्थानमें तुम हमसे पराङ्मुख होकर जाओ, और गतिहीन होकर पड़ी रहो ॥ ५ ॥

षष्टी ॥

एयमंगन्नोषंधीनां वीरुधं वीर्याविती । ञ्चलशृङ्गच राटकी ती च्एशृङ्गी व्यूपतु ॥ ६ ॥ त्रा । इयम् । श्रगन् । त्रोषंधीनाम् । वीरुधाम् । वीर्य)ऽवती । अजऽशृङ्गी । **अ**राटकी । तीच्एाऽशृङ्गी । वि । ऋषतु ॥ ६ ॥

अोषधीनाम् । श्रोषः पाकः श्रासु धीयत इति अोषधयः । तासाम् त्रोपधीनां वीरुधाम् विरोहणस्वभावानाम् अन्यासां च लतानां मध्ये वीर्यावती अतिशयितसामध्येयुक्ता इयम् अजशृङ्गी श्रोपधिः त्रागन् त्रागमत् । अस्मदुपद्रवं नाशयितुम् त्रागता । ॐ गमेलु िङ "मन्त्रे घस०" इति चलेलु क् । "इल्डचा०" इत्या-दिलोपे "मो नो धातोः" इति नत्वम् 🕸 । सा च अजशृङ्गी अरा-टकी । अरा अदातारो हिंसकाः तान् अस्मात् स्थानात् आटयति उच्चाटयतीति अराटकी । तीदणशृङ्गी तीदणे उग्रगन्धे शृङ्गाकृती फले यस्याः एवंगुणविशिष्टा सा रचः पिशाचादीन् व्यूषतु हिनस्तु ॥

विरोहण स्वभाव वाली लताओंमें यह परमसामर्थ्यमयी अज-र्मृगी औषि अदाताओं को और हिंसकों को इस स्थानसे उचाटन करनेवाली है, उग्र गन्ध ऋौर सींगकी समान आकारके फल वाली यह अजर्श्वगी राज्ञस और पिशाच आदिको नष्ट करेगा ६॥

सप्तमी'।!

श्रानृत्यंतः शिख्षिडने। गन्ध्वस्याप्सरापृतेः । भिनद्गि मुष्कावपि यामि शेवः ॥ ७ ॥

श्राऽनृत्यतः । शिख्षिडनः । गृन्धुर्वस्य । अप्सराऽपतेः । भिनक्षि । सुष्कौ । अपि । यामि । शेषः ॥ ७ ॥

श्रानृत्यतः सपनताइ नर्तनं कुर्दतः शिखिएडनः शिखएडाश्रूडाः तद्दतः । यद्दा शिखएडी मयूरः । लुप्तोपमम् एतत् । तद्दइ आन्तृत्यतः । गन्धर्यस्य । गीतिरूपा वाचो गाः धारयतीति गन्धर्यः । अभिन्यते अभिन्यः । अभिन्यते अस्मान् निघांसतो गन्धर्यराजस्य प्रिक्तो आएडौ भिनद्यि विद्यारयामि संचूर्णयामि । तन्मध्यवर्ति शोपः पुंस्प्रजननं च अपि यामि अपिगतं निरुद्धं करोमि । रिरंसवो हि गन्धर्वाः । तत्साधनित्रक्षमेदनेन भीता अस्मात् स्थानात् पला-यन्ताम् इत्यर्थः ॥

नृत्य करनेवाले मयूरकी समान नृत्य करते हुए, अप्सरापित हमको मारना चाहनेवाले गीतिरूप वाणियोंको धारण करनेवाले गन्धर्वके अणडकोशोंको मैं चूर्णित करता हूँ और उसके पुंस्पज-ननको भी मैं निरुद्ध करता हूँ । तात्पर्य यह है, कि—गंधर्व रमण करनेके स्वभाव वाले होते हैं अत एव रमणके तीनों साधनोंके तोड़नेसे भयभीत होकर इस स्थानसे भाग जावें।। ७ ।।

अष्टमी ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः ।

ताभिहीवरदान् गन्धर्वानंवकादान् व्यूषितु ॥ = ॥ भीमाः । इन्द्रस्य । हेतयः । शतम् । ऋष्टीः । श्रवस्मयीः ।

साभिः । हविःऽअदान् ।गन्धर्यान् । अवकाऽश्रदान् ।वि। ऋपतु ८

भीमा विभ्यत्येत्य इति भीमाः। 🕸 भियः पुग्वा [ उ० १.१४५ ] इति औरणादिको मक्पत्ययः "भीमादयोपादाने" इति श्रपादानेथे अवति अ। शतपृत्रीः शतस्पर्शनाः शतधाराः श्रयस्मयीः श्रयस्मय्यः अयोविकारा ए। भूताः इन्द्रस्य या हेतयः हननसाधनानि आयु-धानि सन्ति ताभिईतिभिः [अभि ] हदान् अभिगताह्वादान् प्राप्त-जलाशयात् वा अपकादात् । अवका जलोपरिस्थाः शैवालविशेषाः तान् अदन्ति भन्नयन्तीति अवकादाः । तान् गन्धर्वान् व्यूपतु इन्द्रो हिनस्तु ॥

जिनसे पाणी डरते हैं और जिनमें सैंकड़ों धारें है ऐसे लोहे के वनेहुए अपने आयुधोंसे इन्द्र जलाशयों पर आये हुए सिवार को खाने वाले गंधर्योंको मारें।। =।।

नवधी ॥

भीमा इन्द्रंस्य हेतयंः शतमृष्टीहिंर्ग्ययीः। ताभिहिविरदान् गन्धर्वानंवकादान् वंयुषितु ॥ ६ ॥

भीमाः । इन्द्रस्य । हेतयः । शतम् । ऋष्टीः । हिरण्ययीः ।

ताभिः। हविःऽत्रदान्। गन्धर्वान्। स्रवकाऽभ्रदान्। वि। ऋषतु ६

हिरएययीः हिरएमच्यः हिरएयस्य विकाराः स्वर्णनिर्मिताः। इत्येतावानेन विशेषः । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

जिनसे पाणी डरते हैं और जिनमें सैंकड़ों धारे हैं ऐसे सुवर्ण

# (६०४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

के बनेहुए अपने आयुर्थोसे इन्द्रदेव, सिवारका भक्तए करनेवाले जलाशय पर आये हुए गंधर्वोंको मारें॥ ६॥ दशमी॥

अवकादानंभिशोचान्प्सु ज्योत्य मामकान्। पिशाचान् सर्वानोषथे प्र सृणीहि सहस्व च ।१०। अवकाऽअदान्। अभिऽशोचान्। अप्ऽस्र। ज्योतय । मामकान्।

पिशाचान् । सर्वान् । श्रोषधे । प्र । मृशीहि । सहस्व । च ।१०।

अवकादान् अवकाभन्नकान् अभिशोचान् अभितः शोचमानान् दीप्यमानान् शोकस्य प्रापकान् वा मामकान् मत्संवन्धिनो गन्ध-र्वान् अप्त उदकेषु द्योतय प्रकाशय । हे ओषधे अजशृङ्गि उपद्रव-कारिणः पिशाचान् सर्वान् प्र मृणीहि पजहि सहस्व अभिभव च ॥

सिवारका भन्नण करने वाले, चारों श्रोरसे दमकते हुए, शोक को दैने वाले मेरे गंधवींको जलोंमें प्रकाशित करे। हे श्रजशृंगि श्रोषधे! उपद्रवी पिशाचोंको चारों श्रोरसे मार श्रोर दवा १० एकादशी।।

श्वेवैकः कृषिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः।

प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः संचते स्त्रियम्-

तमितो नाशयामिस बहाणा वीर्यावता ॥ ११ ॥

रवाञ्च । एकः । कपिः अव । एकः । कुमारः । सर्वे अकेशकः ।

प्रियः । इरोऽइव । भूत्वा । गुन्धर्वः । सचते । स्त्रियः ।

तम् । इतः । नाशयापिस । ब्रह्मणा । वीर्य ऽवता ॥ ११ ॥

एकः गन्धर्वः मायावितया रवेव रवाकृतिरिव भवति । एकः श्रमरो गन्धर्वः किपिरिव मर्कटाकृतिर्भवति । श्रन्यस्तु गन्धर्वः सर्व-केशकः सर्वतः उत्पन्नाः केशा यस्य तादृशः सन् [कुमारः] कुमारावस्थ इव भवति । एवं मायावशात् विचित्राकृतिः सन् दृशे दृष्टुम् दर्शनाय वा प्रिय इव भृत्वा [गन्धर्वः] ।गन्धर्वरूपो ग्रहः स्त्रियः सचते समनैति । तं गन्धर्वम् इतः अस्मात् स्नीसकाशात् नाशयामसि नाशयायः । अ "इदन्तोमसिः" अ । केन साधनेन इति चेत् उच्यते । वीर्यावता अतिशयितवीर्ययुक्तेन ब्रह्मणा मंत्रेण ।।

एक गंधर्व मायावी होनेसे कुत्तेकी समान त्राकृति वाला हो जाता है, दूसरा गंधर्व बन्दरकीसी त्राकृति वाला बन जाता है क्योर दूसरा गंधर्व चारों त्रोर केशों वाले वालककी समान बन जाता है। (इस प्रकार मायाके प्रभावसे विचित्र त्राकारों को बना कर) दर्शन करनेमें प्रियसा होकर गंधर्वरूप ग्रह स्त्रियों को प्राप्त होता है, हम इस स्त्रीके पाससे वीर्यवान मंत्रके प्रभाववश उस गंधर्वको दूर करते हैं।। ११।।

#### द्वादशी ॥

जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पत्यो यूयम् । अपं धावतामत्या मर्त्यान् मा संचध्वम् ॥ १२ ॥ जायाः । इत् । वः । अप्सरसः । गन्धर्वाः । पत्यः । यूयम् । अपं । धावत । अमर्त्याः । मर्त्यान् । मा । सच्ध्वम् ॥ १२ ॥

हे गन्धर्वाः वः युष्माकम् अप्सरसः जाया इत् जाया एव उप-भोग्याः स्त्रिय एव खलु । यूर्यं च तासां पतयः भर्तारः । अतः संघीभूय [ अप धावत ] । अमर्त्याः अमरणधर्माणः देवजातीया

# (६०६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

यूयं मत्यीन् मर्णधर्मणो मनुष्यान् भिन्नजातीयान् मा सचध्वम् समचेत । संगता मा भूत ॥

[ इति ] द्वितीयं स्क्म् ॥

हे गंधवों ! तुम्हारी अप्सरायें ही उपभोगके योग्य स्त्रियें हैं और तुम भी उनके पति हो अतः मिलकर यहाँसे भाग जाओ । अमरण धर्म वाले देवजातीय तुम मरणधर्म वाले अन्यजातिके व्यक्तियोंसे न मिलो ॥ १२ ॥

दूनगः स्क समाप्त (१३९)॥

"उद्धिन्दतीं संजयन्तीम्" इति सक्तेन द्यूतजयकर्मिण अज्ञान् अभिमन्त्र्य देवनं कुर्यात् । स्त्रितं हि । "पूर्वास्वपादासु गर्ते खनति" इति प्रक्रम्य "उद्धिन्दतीं संजयन्तीम् [ ४.३८ ] यथा दृज्ञम् अश्रानिः [ ७.४२ ] इदम् उग्राय [ ७.११४ ] इति वासि-तान् अज्ञान् निवपति" इति [ क्षी० ४.४ ] ॥

तथा "सूर्यस्य रश्मीन्" इत्यादिभिः "कर्कीन् वत्सान् इह रत्त वाजिन्" इत्येवमन्ताभिस्तिस्रभिऋ भिग्गोंपुष्टिकर्मणि द्वादशदास्तीं रज्जुं संपाताज्येन संस्कुर्यात् । "श्रयं घासः" इति पादेन गोभ्यो घासं प्रयच्छेत् । "इह वत्सान्" इति पादेन तस्यां द्वादशदाम्न्यां रज्ज्वां वत्सान् वध्नीयात् । सूत्रितं हि । "कर्कीप्रवादानां द्वादश-दाम्न्यां संपातवत्याम् श्रयं घास इह वत्सान् इति मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ३, ४]॥

तथा "सूर्यस्य रश्मीन्" इति तिस्रिभः कर्कीसवंदद्यात्। सूत्रितं-हि । "सूर्यस्य रश्मीन् इति कर्कीं सानूबन्ध्यां ददाति" इति

[कौ० ⊏. ७]॥

उद्घिन्दतीं संजयन्तीम्' इस सक्तसे द्यूतजयकर्ममें पाशोंको अभि-मन्त्रित करके जुआ खेले । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—''पूर्त्रास्वपाढ़ासु गर्त खनति'' का आरंभ करके कहा है, कि—''उद्घिन्दतीं सञ्जयन्तीम् ( इस चतुर्थकाएडके ३८ वें सक्त से श्रोर ) यथा वृत्तं श्रशनिः ( इस सप्तम काण्डके वावनवें सक्त से तथा ) इदं उग्राय ( इस सप्तमकाण्डके एकसौ चौदहवें सक्त से ) वासित पाशोंको फेंके'' ( कौशिकसूत्र ४ । ४ ) ॥

तथा "सूर्यस्य रश्मीन्" से "कर्कीन् वत्सान् इह रत्न वाजिन्" तककी तीन ऋचाओं से गोपुष्टिकर्ममें बारह लड़ वाली रज्जुको होमके घृतसे संस्कृत करे। 'अयं घासः' इस पादसे गौओं को घास देवे और 'इह वत्सान्' इस पादसे उस बारह लड़ वाली रस्सीमें बद्धड़ों को बाँधे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"कर्की-प्रवादां द्वादशदाम्त्यां सम्भातवत्याम् अयं घास इह वत्सान् इति मन्त्रोक्तम्" (कौशिकसूत्र ३।४)॥

तथा 'सूर्यस्य रश्मीन' इन तीन ऋचाओं से कर्जीस्य देवे । इस विषयमें सूत्रका ममाण भी है, कि-'सूर्यस्य रश्मीन इति कर्की' सानू बंध्यां ददाति' (कौशिकसूत्र ८ । ७ ) ॥

तत्र प्रथमा ॥

उद्भिन्द्तीं संजयन्तीमप्स्यां साधिदेविनीम् । ज्लोहे कृतानि कृण्यानामप्स्यां तामिह हुवे ॥१॥

उत्ऽभिन्द्तीम् । सम्ऽजयन्तीम् । अप्सराम् । साधुऽद्वेवितीम् ।

ग्लहे । कुतानि । कुएवानाम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे १

उद्भिन्दतीम् पणबन्धेन धनस्य उद्भेदनं कुर्वतीं संजयन्तीम् सम्यक् जयं प्राप्तुवतीं साधुदेविनीम् जयोपायपरिज्ञानेन अन्न-शलाकादिभिः शोभनं क्रीडन्तीम् एवंग्रणविशिष्टाम् अप्सराम् चूत-क्रियाधिदेवताम् अप्सरोजातीयाम् । अहं स्तौमीति शेषः । अपिच ग्लहे । गृह्यते पणबन्धेन कल्प्यत इति चूत्रक्रियाजेयोऽर्थो ग्लहः । अ "ग्रहरहिनिश्चिगमश्च" इति कर्मणि श्चप् । "श्चत्तेषु ग्लहः" इति स्मत्तिषये निपातनात् लत्वम् अ । तिस्मन् ग्लहे निमित्ते कृतानि स्तृतनयिक्तानि कृतनेतादिशब्दवाच्यानि श्चयसं इकानि कृपवानाम् कुर्वाणाम् । कृतायलाभो हि महान् स्तृतनयः । तद् उक्तं स्तृतिकियम् श्चिकृत्य श्चापस्तम्बेन । "कृतं यजमानो विजनाति" इति [ श्चाप० ५. २०. १ ] । एवंभूतां ताम् श्रप्सराम् इह श्चस्मिन् स्तृतम्वक्रमणि श्चहं हुवे श्चाह्यामि ।श्चागत्य सा ममजयं करोतु इत्यर्थः

पणवंशसे धनका उद्धेदन करती हुई भली मकार विजय कराती हुई, जयका उपाय जाननेसे अन्तश्चलाका आदिसे शोग-नतापूर्वक कीड़ा करने वाली चूतिकयाकी अधिदेवता चूतजयके चिन्ह कृत त्रेता आदिको करती हुई अप्सराको में इस चूतजय-कर्ममें आहान करता हूँ (वह आकर मुक्ते विजयी करे)॥ १॥

द्वितीया ॥

विचिन्वतीमांकिरन्तींमप्सरां सांधदेविनीम् । ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २॥

विऽचिन्वतीम् । आऽिकरन्तीम् । अप्सराम् । साधुऽदेविनीम् । ग्लहे । कृतानि । गृह्वानाम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ॥२॥

विचिन्वतीम् एकत्र निर्वाधे कोष्ठे त्रिचतुरान् श्रज्ञान् विशेषेण समुचिन्वतीं संघीकुर्वतीम्। पुनस्तानेव जयार्थं बहुषु कोष्ठेषु श्रािक-रन्तीम् समन्ताइ विज्ञिपन्तीम्। अक कृ विज्ञेषे। तुदादित्वात् शः "ऋत इदातोः" इति इत्त्वम् अ। श्रान्यद्व व्याख्यातम्।।

एक स्थानके निर्वाध कोष्ठमें तीन चार आदि पाशोंको एक-त्रित करती हुई फिर उन्हींको विजयके लिये वहुतसे कोठोंमें डालती हुई जयका उपाय जाननेसे अन्नशलाका आदिसे शोभ- नतापूर्वक कीड़ा करने वाली यूतकियाकी अधिदेवता यूतजयके चिन्ह कृत त्रेता आदिको करती हुई अप्सराको मैं इस यूतजय-कर्भमें आहान करता हूँ (वह आकर मुभे विजयी करे)।।२।।

याँयैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात्।

सा नः कृतानि सीषती प्रहामात्रातु मायया । सा नः पर्यस्वत्येतु मा नो जेषुरिदं धनम् ॥३॥

या । अयैः । परिऽनृत्यति । आऽददाना । कृतम् । ग्लहात् ।

सा । नः । कृतानि । सीपती । प्रश्हाम् । आसोतु । मायया ।

सा । नः । पयस्वती । त्रा । एतु । मा । नः । जुषुः । इदम् । धनम्

या अनेषु प्रमोदन्ते शुच कोधं च विभ्रती। आनिदनीं प्रमोदिनीं मस्सं तामिह हुवे॥ ४॥

याः । अनेषु । मुझ्मोदन्ते । शुचम् । क्रोधम् । च । बिभ्रती ।

श्राऽनन्दिनीम् । प्रज्मोदिनीम् । श्रप्सराम् । ताय् । इह । हुवे ४

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरित् मरीचीर्वा या अनु-

संचरंन्ति ।

यासां मृष्भो दूरतो वाजिनीवान्तस्यः सर्वाच् लोकाच् पर्यति रचन् ।

स न ऐतु होममिमं जुपाणो इन्तरिचेण सह वाजिनीवान

सूर्यस्य । रश्मीन् । अनु । याः । सम्ऽचरन्ति । मरीचीः । वा ।

याः । श्रुतुऽसंचरन्ति ।

यासाम् । ऋषभः दूरतः । वाजिनीऽवान् । सद्यः । सर्वान् ।

लोकान् । परिऽएति । रत्तन् ।

सः । नः । श्रा । एतु । होमम् । इमम् । जुषाराः । अन्तरि-

चेण । सह । वाजिनीऽवान् ॥ ५ ॥

तृतीया ॥ या गन्धर्वस्त्री श्रयैः श्रज्ञगतसंख्याविशेषैः कृतादिशब्द-वाच्यैः परिनृत्यति अभिमतज्यमाप्तचा परितृष्टा नर्तनं करोति । की-हशी ग्लहात् गृह्यमाणात् पणवन्धात् कृतम् एतत्सं ज्ञम् अयम् आद-धानः आदधाना कुर्वाणा । कृतग्लहत्वं तस्या असाधारणो गुणः। सा तादृशी न अस्माकं कृतानि कृतशब्दवाच्यान् चतुःसंख्यायुक्तान् अयान् शेषन्ती अवशेषयन्ती महान् महन्तव्यान् अज्ञान् मायया व्यामोहकश्वत्या आस्रोतु अधितिष्ठतु । एकादयः पश्चसंख्यान्ता श्रम्विशेषा श्रयाः । तत्र चतुर्णां कृतम् इति संज्ञा । तथा च तैति-रीयकम् । "ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् । अथ ये पश्च किलः सः" इति [ तै॰ ब्रा॰ १. ५. ११. १ ]। तस्य च कृतस्य लाभाइ चूतजयो भवति । अत एव दाशतय्यां लब्धकृतायात् कितवाद् भीतिराम्नाता । "चतुरश्रिद् ददमानाद् विभीयाद् आ निधातोः" इति [ऋ०१. ४१. ६]। तत्र च निरुक्तम्। चतुरोत्तान् धार-यत इति तद् यथा कितवाद् विभीयात् इति [ नि० ३, १६ ] ॥ चतुर्थी ॥ सा बूताधिदेवता पयस्वती बूतजितेन पयउपलक्तितेन गवादिधनेन तद्दती नः अस्मान् ऐतु आगच्छतु । नः अस्माकम् इदम्

पिशातव्यत्वेन कल्पितं धनम् अन्ये कितवा मा जैषुः मापहाषुः।

अजयतेर्माङ लुङ "सिचि दृद्धिः परस्मैपदेषु" इति दृद्धिः अ। या गन्धर्वस्ती द्यूतिक्रयास उक्ता अक्षेषु द्यूतसाधनेषु प्रमोदते पहृष्यति। असे सुद हर्षे अ। किं कुर्वती। शुचम् इष्टजयियोगात् सोकं पुन-र्जिगीपया क्रोधम् कोपं च विश्वती धारयन्ती। अ दुभूत्र् धारण-पोषणयोः। लटः शत्रादेशः। सपः श्लौ "भूत्राम् इत्" इति अभ्यासस्य इन्तम्। "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति उदात्तत्वम् अ।।

पश्चनी ।। आनन्दिनीम् च्तजनितहर्षयुक्तां ममोदिनीम् च्तासकान अन्यानिष ममोदयन्तीम् । यद्वा आनन्दिनीम् सुखनतीं ममोदिनीम् प्रहपेनतीम् ईदशीं ताम् मागुक्ताम् अप्सराम् इह च्तकमीणि
जयार्थम् आहं हुवे आह्वयामि । या अप्सरसः सूर्यस्य रश्मीत् किरगान् अतु । ॐ लक्कणे अनोः कर्मभवननीयत्वम् ॐ । रश्मयो
यत्र निर्गच्छन्ति तस्मिन् प्रदेशे संचरन्ति वर्तन्ते । मरीचीर्वा मरीचिश्चब्देन मभा विविक्तता । सूर्यकिरणसंवन्धिनीः मरीचीः मभा
अनुलद्य या अप्सरसः संचरन्ति । यासाम् ऋषभ इत्युक्तरमन्त्रेण संबन्धः । "तस्य मरीचयोप्सरसः" [ तै० सं०३.४.७.१ ]
इत्यादि तैत्तिरीयकम् अनुसंधेयम् ॥

यासाम् अप्सरसाम् ऋषभः दृषभः सेचनसमर्थः पितः द्रतः द्रे विष्ठिष्टे अन्तरित्तदेशे संचरन् वाजिनीवान् वाजः अनम् अस्याम् अस्तीति व्युत्पत्त्या वाजिनी उषाः । अतो नित्ययोगे मतुप् अ। सर्वदा उपसा संबद्ध इत्यर्थः । स च सद्यः शीघं सर्वान् लोकान् रत्तन् पालयन् । अहे हेतौ शतृपत्ययः अ। पालनाद्धेतोः पर्येति प्रतिदिवसं पर्यावर्तते स वाजिनीवान् सूर्यः अन्तिस्तेण । उपलक्षणम् एतत् । अन्तरित्तगताभिस्ताभिरप्सरोभिः सह इमम् अस्मदीयं होमम् हूयमानं हिवः जुषाणः सेवमानः नः

अस्मान् ऐतु श्रागच्छतु ॥

जो गन्धर्भन्नी कृत आदि शब्दोंसे कहे जानेवाले अन्त संख्यात्मक

श्रयोंसे विजय मिलनेके कारण सन्तुष्ट होकर नृत्य करती है।
वह प्रहण किये जाने वाले फाँसोंमें हमारे कृत नामक चार
संख्या वाले अयोंको बचाती हुई फेंकने योग्य फाँसों पर व्यामोहकशक्तिसे अधिष्ठित रहे ‡ और वह द्यूतकी अधिष्ठात्री देवता
द्यूतमें जीते हुए दूध गौ आदि धनके साथ हमको प्राप्त हो, हमारे
इस दाँवके लिये रखे हुए धनको दूसरे जुआरी न जीत सकें ३

जो गंधर्वस्नी अप्सरा अभिलिषित जयके न होनेसे शोक कराती है और फिर जीतनेकी इच्छासे क्रोध कराती है। वह द्यूतिक्रया में कही हुई अप्सरा द्यूतके साधन अन्तोंसे प्रसन्न होती है, उस आनिन्दिनी प्रमोदिनी अप्सराको मैं यहाँ बुलाता हूँ ॥ ४॥

जो अप्सरायें सूर्यकी किरणोंके और प्रभाके विचरनेके स्थान में घूमती हैं जिन अप्सराओंका सेचनसमर्थपित दूरके अन्त-रित्तदेशमें घूमता रहता है और उपा वाला है और सब लोकों

‡ एकसे लेकर पाँच तकके फाँसे अय कहलाते हैं। उनमें चारका नाम कृत है। इसी बातको तैत्तिरीयबाह्मण १।४।११।१ में कहा है, कि—"ये वै चत्वारः स्तोमा कृतं तत्।। अथ ये पश्च किलः स।।—ये चार स्तोम (फाँसे) कृत हैं और पाँच किल हैं" इस कृतकी प्राप्ति होनेसे द्यू तमें विजय होती हैं। इसी लिये ऋग्वेदसंहितामें कृतका अय पानेवाले कितव (जुआरी) से डरना कहा है, कि—"चतुरिश्चद ददमानाद विभीयाद आ निधातोः"।। (अटग्वेद १।४१।६) और निरुक्त ३।१६ में भी कहा है, कि—"चतुरोत्तान धारयत इति तद यथा कितवाद विभीयात। एवमेव दुक्ताद विभीयान दुक्ताय स्पृहयेत कदाचित्।।—जो जुआरी फाँसोंको पकड़ रहा है उससे जैसे डरते हैं इसी प्रकार दो प्रकारकी (दुटपी) बाते करने वालेसे डरे उसके साथ कभी स्पर्धा न करे"।।

की रत्ता करता हुआ पत्येक दिशाओं में घूमता है। वह सूर्यदेव अन्तरित्तकी अप्सराओं सहित हमारी इस होमी हुई हविका सेवन करते हुए हमारे पास आवें।। ५।।

पष्टी ॥

अन्तरिचेण सह वाजिनीवन् कुर्की वृत्सामिह रंच वाजिन् ।

इमे ते स्तोका बंहुला एह्यवाङियं ते क्कींह ते मनोस्तु ॥ ६ ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनीऽवृन् । कुर्कीम् । वृत्साम् । इह । रुत्तु । वाजिन् ।

इमे । ते । स्तोकाः बहुलाः । आ । इहि । अर्वाङ् । इयम् । ते ।

कर्की । इह । ते । मनः । ऋस्तु ॥ ६ ॥

हे वाजिन । वाजः अन्नं वलं वा। तद्दन् अन्तिरिक्षेण अन्तिरिक्तिविद्यापे विद्यापे तद्दान् । विद्यापे वा अन्नं वाजिनी तद्दान् । इह अस्मिन् स्थाने कर्कीन् कर्कवर्णान् शुभ्रान् वत्सान् रच्च पालय समृद्धान् कुरु ।। ते त्वदीया इमें स्तोकाः चीराज्यादिविन्दवो धाराः वहुलाः समृद्धा अस्पाकं भवन्तु । त्वं च अर्थाङ् अस्मद्भिमुखः सन् एहि आगच्छ । कर्की कर्कवर्णा शुभ्रा इयं गौः ते तव स्वभूता इह अस्मिन् गोष्ठे वर्तते । ते तुभ्यं नमः । अस्माभिः इतो नमस्कारः अस्तु भवतु ।।

हे अप्सराओं सहित उपा वाले सूर्यदेव ! आप इस स्थानके शुक्क वर्ण वाले वळड़ोंकी रत्ता करिये उनको पाल कर बड़ा करिये । आपकी यह त्तीर घृत आदिकी विन्दुएँ समृद्ध होकर

# (६१४) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानादनुसहित

हमारी हों, त्राप भी हमारे स्त्रभिष्ठख होकर आहुये। आपकी यह शुभ्र वर्ण वाली गौ इस गोष्ठमें है, आपको हमारा किया हुआ नमस्कार पाप्त हो ॥ ६ ॥

सप्तमी ।।

अन्तरिचेण सह वाजिनीवन् क्कीं वृत्सामिह रच

वाजिन्।

अयं घासो अयं वज्र इह वृत्सां नि बंधनीमः।

यथानामः वं ईश्महे स्वाहां ॥ ७ ॥

श्चन्तरिक्षेण । सह । वाजिनीऽवन् । कर्कीम् । वत्साम् । इह । रत्त । वाजिन् ।

श्चयम् । घासः । श्रयम् । वृज्ञः । इह। वृत्साम् । निः । वृध्नीमः।

यथाऽनाम । वः । ईरमहे । स्वाहा ॥ ७ ॥

पूर्नी ऽर्घर्चः पूर्ववद् योज्यः । अयं प्रदीयमानो घासः अदनीय-स्तृणसंघातः पुष्टिकरो भवत् । अअस् अदेः कर्मणि घञ् । "घञपोश्र" इतिघर्ष्णु आदेशः अ । अयम् अस्मदीयो बजः गोष्ठः गोपुष्टिकरो भवत् ॥ इह अस्मिन् अजे द्वादशदाम्न्या तन्त्या वत्सान् नि घध्नीमः नितरां बद्धान् कुर्मः । [वः युष्माकं ] यथानाम येन प्रकारेण खलु ईश्महे स्वामिनो भवामः तथा नि बध्नीमः । अईश ऐश्वर्ये । अदादित्वात् श्रपो लुक् । स्वाहा इदं हिवः स्वाहुतम् अस्तु ॥

[इति] तृतीयं सुक्तम् ॥

हे अप्सराओं सहित उपा वाले सूर्यदेव ! आप यहाँके शुक्र वर्ण वाले वज्रड़ोंकी रचा करिये, उनको पाल कर बड़ा करिये, यह दी हुई घास पुष्टिकर हो, यह हमारा गोठ गौश्रोंकी पुष्टि करने वाला हो, हम इस गोठमें वारह लड़ वाली रस्सीसे बळड़ोंको बाँधते हैं तुम यथानामोंको हम जिस मकार तुम्हारे ईश रहें तिस मकार बाँधें। यह हिव स्वाहुत हो।। ७।।

तृतीय सुक्तसमाम (१४०)॥

"पृथिव्याम् अग्नये" इति सुक्तेन सर्वसंपत्कामः मान्त्रवर्णिकीः पृथिव्याद्या देवता यजत उपतिष्ठते वा । सुत्रितं हि । काम्यकर्माणि प्रक्रम्य "समास्त्वाग्ने [ २. ६ ] अभ्यर्चत [ ७. ८७ ] इत्यिंन संपत्कामः । पृथिव्याम् इति [ ४. ३६ ] मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ७. १० ] ॥

तथा पाकयक्षतन्त्रेषु "पृथिव्याम् अग्नये" इत्यष्टाभिः प्रधान-होमोत्तरकालं संनतिहोमान् जुहुयात् । सूत्रितं हि । "पृथिव्याम् अग्ने समनमन्त्रिति संनतिभिश्र" इति [ कौ० १. ५ ] ॥

तत्रैन कर्मणि "अग्नाविग्नः" इति द्वाभ्यां पुरस्ताद्धोमौ कुर्यात् । सूत्रितं हि । "अग्नाविग्नः [ ६ ] हृदा पूतम् [ १० ] पुरस्ताद् युक्तः [ ५, २६, १ ] यज्ञस्य चत्तुः [ २, ३५, ५ ] इति जुहोति पश्चाद् अग्नेर्पध्यदेशे समान् अत्र पुरस्ताद्धोमान्" इति [कौ०१.३]॥

तथा चातुर्गास्ये वैश्वदेवपर्वणि "श्रयाविष्ठः" इति मन्ध्याभि-होमम् श्रमुमन्त्रयते । तद् उक्तं वैताने । "वैश्वदेवे निर्मर्थ्यं प्रहृतं भवतं नः समनसौ [ वा० सं० ५. ३ ] इत्यमुमन्त्रयते । श्रग्ना-विष्ठः [ ६ ] इति होमम्" इति [ वै० २. ४ ] ॥

सव सम्पत्तियोंको चाहने वाला 'पृथिव्यां अग्नये' इस स्क्तसे मंत्रोंसे जाननेमें आने वाले पृथिवी आदि देवताओंका पूजन वा उपस्थान करे।

तथा पाकयज्ञतन्त्रोंमें 'पृथिन्यां अप्रये' इन आठ ऋचाओंसे मधान होमके अनन्तर ही सन्नतिहोमोंकी आहुति देय। इस

## (६१६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पृथिव्यां अग्नये समनम-न्निति संनितिभिश्र" (कौशिकसूत्र १ । ५ )।।

इसी कर्ममें 'अग्नाविनः' इन दो ऋचात्रोंसे पुरस्ताद्धोमोंको करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अग्नाविनः" और "हदापूतम्" (६।१०) और "पुरस्ताद् युक्तः" इस पाँचवें काण्डके उन्तीसवें सूक्तकी पहिली ऋचासे और "यज्ञस्य चच्चः" इस दूसरे काण्डके पैंतीसवें सूक्तकी पाँचवी ऋचासे आहुति देय, पीछेसे अग्निके मध्यदेशमें पुरस्ताद्धोमोंको करे"। (कौशिक सूत्र १।३)।।

तथा चातुर्मास्यके वैश्वदेवपर्वमें "श्रयाविष्ठः" इस ऋचासे मंध्याभिहोमका अनुमन्त्रण करे ॥ इसी वातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—"वैश्वदेवे निर्मध्यं महृतं भवतं नः समनसौ (वा० स० ५ । ३) इत्यनुमन्त्रयते । अयाविष्ठः (६) इति होमम्" (वैतानसूत्र २ । ४) ॥

तत्र मथमा ॥

पृथिव्यामुझये समनम्नत्स आंध्नोत्।

यथा पृथिव्यामुझये समनमन्तेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

पृथिव्याम् । अप्रये । सम् । अनुमन् । सः। आधनीत् ।

यथा । पृथिव्याम् । अप्रये । सम्ऽस्मिम् । एव । महाम् । सम्ऽ-

नमः । सम् । नमन्तु ॥ १ ॥

प्रथनात् पृथिवी भूमिः । तस्याम् अधिदेवतात्वेन अवस्थिताय अग्नये समनमन् सर्वाणि भूतानि संनतानि उपसन्नानि भवन्ति । सं च अग्निः आर्ध्नोत् संनतेर्भू तजातैः समृद्धो भवति । यथा खल पृथिव्याम् अग्नये भूतानि समनमन् एव एवं संनमः। 🛞 संपूर्वा-त्रमेर्भावे विवप् 🛞 । अभिलिपितफलस्य संनतयः संपाप्तयः महां सं नमन्तु संपाप्नुवन्तु ॥

भूमिमें अधिदेवतारूपसे स्थित अग्निके लिये सब माणी माप्त होते हैं, वह अग्निदेव भी संनत हुए भूतोंसे समृद्ध होते हैं, इसी पकार अभिलिपित फलकी माप्ति मुक्ते माप्त हों।। १।।

द्वितीया ॥

पृथिवी धेनुस्तस्यां अग्निर्वत्सः ।

सा मेशिनां वत्सेनेपमूर्जं काम दुहाम ।

ञ्चायुः प्रथमं प्रजां पोषं रियं स्वाहां ॥ २ ॥

पृथिवी । धेतुः । तस्याः । श्रग्निः । वत्सः ।

सा । मे । अभिना । वत्सेन । इपम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् ।

श्रायुः । प्रथमम् । प्रजाम् । पोषम् । रियम् । स्वाहां ॥ २ ॥

पृथित्री घेनुः दोग्ध्री गौः । तस्या घेन्त्रा ऋग्निर्वत्सः पयसः पदापियता । सा पृथिवी अग्निना वत्सेन वत्सस्थानीयेन अग्निना इषम् अन्नम् ऊर्जम् बलकरम् अन्नरसं कामम् काम्यमानम् अन्यत् सर्वे फलं मे महां दुहाम् दुग्धाम् । प्रयच्छतु इत्यर्थः । कामशब्देन सामान्योक्तं फलं विशिनष्टिः। मथमम् पुत्रपश्वादीनां फलानाम् आदिमं प्रथितं विस्तीर्णं वा शतसंवत्सरम् अपरिमितम् श्रायुः जीवनं दुग्धाम् । प्रजाम् प्रजायते उत्पद्यत इति प्रजा पुत्रा-दिरूपा । 🛞 ''उपसर्गे च संज्ञायाम्" इति डमत्ययः 🛞 । [ताम्] पोषम् पुष्टिम् अविशेषात् सर्वस्य फलस्य अभिद्वाद्धं रियम् गवा-

## (६१८) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

दिलत्तणं धनं च प्रयच्छत । स्वाहा इदं हिवः स्वाहुतस् असत ॥
पृथिवी धेतु है अर्थात् दुहाने वाली है, उस धेतुके अग्निवत्स
हैं अर्थात् फलरूप दुग्धको दिलानेवाले हैं, वह पृथिवीदेवी अग्नि
रूप वत्सके द्वारा अन्नको और वलपद अन्नरसको तथा पुत्रपशु
आदि फलोंमें प्रथमप्रसिद्ध शत संवत्सरवाली अपरिमित आयु,
प्रजा, सबकी पृष्टि और गौ आदि धन—इन इच्छित वस्तुओंको
दें, यह हिव स्वाहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ञ्चन्तरिंचे वायवे समनम्नस आंध्नोंत्।

यथान्तरिंचे वायवे समनमन्नेवा महां संनमः सं

अन्तरिक्षे । वायवे । सम् । अन्मन् । सः । आध्नीत् ।

यथा । अन्तरिक्षे । वायवे । सम् अत्रनमन् । एव । महाम् । सम् ऽ-

नमः । सम् । नमन्तु ॥ ३ ॥

[ अन्तिरिक्षे ] अन्तिरिक्तलोके तद्धिपत्वेन अवस्थिताय वायवे तत्रत्यानि भूतजातानि यक्तगन्धर्वादीनि समनमन् सम्यक् मही-भवन्ति । स आध्नीत् इत्यादि पूर्ववद्व योज्यम् ॥

श्रन्तरित्तमें श्रिधिपतिरूपसे रहने वाले वायुदेवके पास जैसे तहाँ रहने वाले यत्त गन्धर्व श्रादि एकत्रित होकर रहते हैं श्रोर उनसे प्रसन्न रहते हैं, श्रोर वायुदेव उनसे दृद्धिको पाप्त होते हैं, जैसे श्रन्तरित्तमें वायुदेवके पास यत्त गंधर्व श्रादि पाप्त होते हैं, इसी प्रकार श्रिभलिषत फल ग्रुभको पाष्त हों।। ३।।

। श्वमाका माप्त हा ॥ २ ॥ चतुर्थी ॥

अन्तरित्तं धेनुस्तस्यां वायुर्वत्सः ।

सा में वायुनां वृत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्। आयुः प्रथमं प्रजां पेषि र्यि स्वाहां ॥ ४ ॥

अन्तरित्तम् । धेनुः । तस्याः। वायुः । वृत्सः ।

सा । मे । वायुना । वृत्सेन । इपम् । ऊर्जम् । कार्मम् । दुहाम् । श्रायुः । प्रथमम् । प्रजाम् । पोषम् । रियम् । स्वाहा ॥ ४ ॥

अन्तरित्तम् अन्तरित्तलोक एव इष्टफलपदत्वाद् धेतुः दोग्त्री गौः । तस्य धेतुत्वेन रूपितस्य अन्तरित्तस्य तदिनाभूतस्तत्र संच-रन् वायुर्वत्सः । सा अन्तरित्तरूपा धेतुः वायुना वाष्वात्मना स्वकीयेन वत्सेन इषम् ऊर्जम् इत्यादि पूर्ववद्व योज्यम् ॥

अन्तिरित्तलोक ही इष्टफलका देने वाला होनेसे दूध देनेवाली गौ है और उस धेनुका वायु वत्स है। वह अन्तिरित्तरूप धेनु वायुरूप अपने वत्सके द्वारा अन्नको और वलपद अन्तरसको तथा पुत्र पशु आदिमें पथम प्रसिद्ध सौ वर्षवाली अपरिमित आयु पजा, सब पदार्थोंकी पुष्टि और गौ आदि धन-इन अभिलिषत वस्तुओंको दें।। ४।।

पश्चमी ॥

दिव्यादित्याय समनमन्त्स आध्नोत् । यथां दिव्यादित्यायं समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ ५ ॥

दिवि । आदित्यायं । सम् । अनमन् । सः । आधनीत् ।

यथा । दिवि । आदित्याय । सम्ऽअनमन् । एव । महाम् । सम्ऽ-

# (६२०) अथर्धवेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

नमः । सम् । नमन्तु ॥ ४ ॥

दिवि द्युलोके अवस्थिताय तद्धिपतये आदित्याय अदितेः पुत्राय सूर्याय द्युलोकवासिनो जनाः समनमन् सम्यक् महीभवन्ति । तं सेवन्त इत्यर्थः । स च द्युलोकस्थ आदित्यः आध्नीत् इत्यादि पूर्ववद्व योज्यम् ॥

चुलोकमें अधिपतिरूपसे रहने वाले अदितिके पुत्र सूर्यदेवके पास जैसे चुलोकवासी नम्र होकर रहते हैं और वह सूर्यदेव उन चुलोकवासियोंसे दृद्धिको माप्त होते हैं, इसी प्रकार अभिलिषत फलकी माप्ति मेरी और सुकें ॥ ५॥

पही ॥
द्योधेंनुस्तस्यां आदित्यो वृत्सः ।
सा मं आदित्येनं वृत्सेनेषुमूर्नं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पेषं र्यिं स्वाहां ॥ ६ ॥

द्यौः । धेतुः । तस्याः । त्र्रादित्यः । वृत्सः ।

सा । मे । ऋादित्येन । वृत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् ।

श्रायुः । मथुमस् । मुङ्जास् । पोषंस् । रियम् । स्वाहा ॥ ६ ॥

चुलोक एव अभिमतफलपदानेन दोग्ध्री धेतुः । तत्र संचर-न्नादित्य एव तस्या वत्सः । साम इत्यादि पूर्ववद् योज्यम्।।

द्युलोक ही अभिलिषित फल देनेके कारण धेनु है और तहाँ विचरने वाले आदित्य ही उसके वत्स हैं वह द्युलोकरूप धेनु आदित्यरूप अपने वत्सके द्वारा अन्नको और वलपद अन्नरस को तथा पुत्र पशु आदिमें प्रथम मिसद शतसंवत्सर वाली अप-

रिभित आयु, मजा, सब पदार्थोंकी पुष्टि और गोधन आदि-इन अभिलिषित वस्तुओंको दें।। ६ ।।

सतमी ॥

दिच चन्द्राय समनमन्तर आधनीत्।

यथां दि ज चन्द्रायं समनमन्नेवा महां संनमः सं नमन्तु

दिञ्ज । चन्द्राय । सभ् । श्रुनमन् । सः । श्राध्नीत् ।

षथा । दिन्नु । चन्द्राय । सम् ऽत्रनमन् । एव । महाम् । सम् ऽनमः । सम् । नमन्तु ॥ ७ ॥

दिन्नु माच्यादिषु तद्धिदेवतात्वेन अवस्थिताय चन्द्राय चन्द्र-मसे तत्रत्याः सर्वे जनाः समनमन् प्रह्वीभवन्ति । स आङ्नीत् इत्यादि पूर्ववत् ॥

पूर्व अदि दिशाओं में अधिपतिरूपसे स्थित चन्द्रमासे सब प्रजायें प्रसन्न होती हैं चन्द्रदेव उन दिशाओं में रहनेवाले पाणियों से इद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे दिशाओं में प्रजायें चन्द्रमासे प्रसन्न हो उनके पास जाती हैं, इसी प्रकार फलोंकी पाष्तियें सुमको प्राप्त हों। ७।।

ब्रह्मी ॥ दिशों घेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः । ता में चन्द्रेणं वत्सेनेष्मूर्जं कामं दुहास् । ब्रायुः प्रथमं प्रजां पाषं र्यिं स्वाहां ॥ = ॥

दिशः । धेनवः । तासाम् । चन्द्रः । वृत्सः ।

ताः । मे । चन्द्रेण । वस्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहास् ।

# ( ६२२ ) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

अयुः । प्रथमम् । प्रज्जाम् । पोषम् । रियम् । स्वाहां ।। 🗷 ।।

दिशः पाच्याद्या श्रभिमतफलपदानाद् धेनवः दोग्ध्रचो गावः। तासाम् श्रधिपतित्वेन संनिहितः चन्द्र एव वत्सः। ता मे चन्द्रेण वत्सेनेत्यादि पूर्ववद् योज्यम्।।

दिशायें घेतु हैं, चन्द्रमा उनका बळड़ा है, वे दिशारूप घेतुएँ चन्द्रमारूपी बळड़ेके द्वारा बलमद अन्नरसको तथा पुत्र पशु आदि में मथम मार्थनीय आयुको, सब पदार्थोंकी पुष्टिको और गौ आदि धनको दें, यह हिव स्वाहुत हो ।। = ।।

नवमी ॥

अभाविभिश्चरित प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशास्तिपा उं नमस्कारेण नमंसा ते जहोिम मा देवानां मिथुया कंम भागम् ॥ ६ ॥

अग्नौ । अग्निः । चरति । पऽविष्टः । ऋषीणाम् । पुत्रः । अभिशस्तिऽपाः । जं इति ।

नमःऽकारेण । नमसा । ते । जुहोमि । मा । देवानास् । मिथुया । कर्म । भागम् ॥ ६ ॥

श्रमी लौकिके अङ्गारात्मके देवतारूपः श्रमिः मन्त्रसामध्येन प्रिष्टः सन् चरति वर्तते । यद्वा मधितः अग्निः श्राहवनीये श्रमौ प्रविष्टश्चरति । स विशेष्यते। ऋषीणाम् द्रष्टणां चत्तुरादीनां पुत्रः। तत्त्वापारेण मथनात्मना जातत्वात् । "प्राणा वा ऋषयः" [ इ० श्रा० २. २. ५ ] इति वाजसनेयकम् । यद्वा ऋषीणाम् मन्त्रा-णाम् अग्निमन्थिनां पुत्रः। श्रथता श्रथवीङ्गिरःप्रभृतीनाम् ऋषीणां

पुत्रः । "त्वाम् अप्रे पुष्कराद् अध्यथर्वा निरमन्थत" इति हि
निगमः [ ऋ० ६. १६. १३ ] । अभिश्वस्तिषाः अभिश्वस्तेः अभिश्वस्यमानाद्व आरोपितात् पापात् पालियता । उशब्दः पूरणः ।
ईदृशाय ते तुभ्यं नमस्कारेण त्रिविधा करणानां प्रहीकरणेन त्वदिषयसमप्रेणेन नमसा । अन्ननामैतत् । हिवर्ण्वणेन अन्नेन
जुहोमि । अ "तृतीया च होश्छन्दिस" इति कर्मणा तृतीया अ।
नमस्कारसहितं हिवर्जुहोमीत्यर्थः । तथा च देवानां भागम् हिवभीगं मिथुया मिथ्या मा कर्म मा कार्ष्म । अ कुन्नो माङि लुङि
"मन्त्रे पस्रु" इति चलेर्जु क् अ।।

लौकिक अंगारात्मक अग्निमें देवतारूप अग्नि मन्त्रसामर्थ्यसे प्रिविष्ट होकर रहते हैं व चन्नु आदि ऋषियोंके पुत्र हैं ‡ अग्नि-मन्थनके मन्त्रोंके पुत्र और अथवी अंगिरा आदि ऋषियोंके पुत्र है † और आरोपित अपवादसे बचाने वाले हैं ऐसे आपको हम नमस्कारयुक्त हिव देते हैं देवताओंका हिविभीगको हम मिथ्या नहीं करते हैं ॥ ६ ॥

दशमी ॥

हृदा पूर्तं मनंसा जातवेदो विश्वानि देव व्युनानि विद्वान् ।

सप्तास्यानि तर्व जातवेदस्तेभ्यां जहोिम स जंबस्व हृव्यम

<sup>‡</sup> बृहदारएयक २ । २ । ५ में लिखा है, कि-"माणा वा ऋषयः ॥ – चत्तु आदि माण ही ऋषि हैं" ॥

<sup>†</sup> ऋग्वेदसंहिता ६ । १६ । १३ में कहा है, कि-"त्वां अप्रे पुष्कराद अध्यथर्का निरमन्थत ॥—हे अप्रे! आपको अथर्वाने पुष्करसे मथा है"॥

हृदा । पूतम् । मनसा । जातऽवेदः । विश्वानि । देव । वयुनानि । विद्वान् ।

सप्त । स्थास्यानि । तव । जातः वेदः । तेभ्यः । जुहीमि । सः । जुषस्व । हव्यम् ॥ १०॥

हृदा हृदयेन मनसा तदन्तर्विज्ञानकरणेन पूतम् शुद्धं हिंधि-स्तुभ्यं जहोसि । हे जातवेदः जातानां वेदितः हे देव दानादिग्ण-युक्त अपने विश्वानि सर्वाणि वयुनानि । वयुनम् इति ज्ञाननाम । इह तु ज्ञातव्ये वर्तते । अ वयुनं वेतेः इति यास्कः [नि०५.१४] अ । सर्वाणि ज्ञातव्यानि विद्वान् जानन् भवसि । हे जातवेदः तव सप्त आस्यानि सप्तसंख्याका जिह्वाः । ताश्च उत्तरत्र उपनिषदि आस्त्रायंते। काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूस्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वकचीति चैता लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ इति [स०१.२.४.] । तेभ्य आस्येभ्यः । अ ताद्ध्ये चतुर्थी अ । तेषाम् उद्घाटनाय आज्यं जहोमि । प्रक्षिपामीत्यर्थः । स त्वं ह्व्यम् होत्व्यम् श्वस्पदीयं हितः जुषस्व सेवस्व ॥

[ इति ] चतुर्थं स्क्रम् ॥

है पत्येक उत्पन्न हुओंको जानने वाले दानादिगुणसंपन्न श्रिप्रदेव ! त्याप सब ज्ञातव्य बातोंको जान लेते हैं, हे जातवेदा त्रिप्रो ! त्र्यापकी मुख रूप सात जिह्वायें हैं + मैं उन सातों मुखों

+ मुण्डकोपनिषत् १।२।४ में कहा है, कि-"काली कराली च मनोजवा च मुलोहिता या च मुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वक्चीति चैता लेलायमाना इति सप्तजिह्याः।।—श्र्यात् श्रानिद्विकी काली कराली, मनके समान वेग वाली मनोजवा, परम लाल मुलोहिता, मुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी श्रीर विश्वक्चि नाम वाली हिवके लिये लपलपाती रहने वाली सात जिह्नायें हैं"।

को खोलनेके लिये हृदयसे और उसके भीतर रहने वाले ज्ञान-करणमनसे पित्रत्र घृतकी आहुति देता हूँ ॥ १०॥ चतुर्थ स्क समाप्त (१४१)॥

"ये पुरस्तात्" इति सक्तस्य "दृष्या दृषिरसि [ २. ११ ] ये पुरस्तात् [ ४. ४० ] ईशानां त्वा [ ४. १७ ]" इत्यादिकृत्यापति-हरणगणे [ कौ० ५. ३ ] पाठात् कृत्यानिर्हरणकर्मणि शान्त्युद-कादौ विनियोगः ॥

'ये पुरस्तात्' इस सक्तका कोशिकसूत्र ५ । ३ में कहे हुए ''दूष्या-दूषिरासे (२ । ११) ये पुरस्तात् (४ । ४०) ईशानां त्वा (४ । १७) इत्यादि" कृत्याप्रतिहरणगणमें पाठ होनेसे कृत्या-निर्हरणकर्मके शान्त्युदक आदिमें विनियोग होता है ।

तत्र प्रथमा ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः शाच्या दिशो भिदासन्त्य-

स्मान् ।

अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्येगेनान् प्रतिसरेण

हिन्म ॥ १ ॥

ये । पुरस्तात् । जुह्नित । जातु व्वेदः । माच्याः । दिशः ।

श्रभिऽदासन्ति । श्रमान् ।

अग्निम् । ऋत्वा । ते । पराश्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् ।

प्रतिऽसरेण । हुन्मि ॥ १ ॥

हे जातवेदः जातानाम् उत्पन्नानां वेदितरग्ने ये शत्रवः पुर-स्तात् पूर्वस्यां दिशि । यद्वापूर्वस्या दिशः सकाशात् । ॐ "पूर्वा-

# (६२६) अथर्ववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

धरावराणाम्०" इति अधिकृत्य पश्चम्यर्थे सप्तम्यर्थे वा "अस्ताति च" इति अस्तातिप्रत्ययः %। जुह्नित होमेन अस्मान् अभिचरन्ति तस्मात् होमात् प्राच्या दिशः सकाशाद्व अस्मान् अभिदासन्ति उपचपयन्ति हिंसन्ति। अद्यु उपचये। अस्मात् एयन्तात् परस्य शपः "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वात् "ऐरिनिटि" इति णिलोपः %। ते शत्रवः तस्या दिशः अधिपतिम् अग्निम् ऋत्वा गत्वा अग्नौ निपतिताः पराश्चः पराङ्मुखाः अस्मदनभिम्नुखाः सन्तो व्यथन्ताम् व्यथिताः संतप्ताः प्रदग्धा भवन्तु । अव्यथ भयचलनयोः श्वः। एनान् अभिचरितृन् शत्रुन् प्रतिसरेण। प्रति-सर्ति प्रतिमुखं निवर्तते आभिचारिकं कर्म अनेनेति प्रतिसरः। [प्रतिसर] शब्देन एतद् रचाकर्म विविचत्तम्। तेन प्रत्यक् प्रति-मुखं निष्टचेन तदीयेनैव अभिचारकर्मणा तान् हन्मि हिनस्मि। यद्वा अभिचारकर्मणा उत्पादिताम् एनां कृत्याम् अनेन प्रतिसरेण रचाकरणेन प्रतीचीनं निवर्त्यं नाशयामीत्यर्थः॥

हे उत्पन्न हुओं को जानने वाले जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु पूर्विदशामें होम कर उस अभिचारहोमके द्वारा हमको पूर्विदशासे नष्ट करना चाह रहे हैं, वे शत्रु उस दिशाके अधिपति अग्निके पास जाकर अर्थात् अग्निमें गिर कर अत एव हमसे पराङ्ग्रुख होकर व्यथित हो-भस्म होजावें । इन अभिचार कर्म करने वाले शत्रओं को मैं इस प्रतिसर ( उलाट कर कर्ताको ही लगाने वाले अतः अपनी रत्ता करने वाले ) कर्मसे नष्ट करता हूँ अथवा अभिचार कर्मसे उत्पन्न की हुई इस कृत्याको इस प्रतिसर कर्मके द्वारा उलाटा कर मरता हूँ ।। १ ।।

दितीया ॥
ये दंचिणतो जुह्नंति जातवेदो दर्चिणाया दिशोभिदासन्त्यसमान् ।

# यममृत्वा ते पराची व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेणं हिन्म ॥ २ ॥

ये । दुन्तिणुतः । जुह्नति । जातुऽवेदः । दन्तिणायाः । दिशः ।

श्रभिऽदासंन्ति । श्रस्मान् ।

युगम् । ऋत्वा । ते । पराश्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् ।

मतिऽसरेणं । हन्मि ॥ २ ॥

ये शत्रवो दित्तिणतः अस्मदावासस्थानाइ दित्तिणस्यां दिशि दित्तिणस्या दिशो वा अवस्थिता जुहति होमेन अस्मान् अभिचरित । अ "दित्तिणात्तराभ्याम् अतसुच्" । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् । जुहतीति । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आदु-दात्तः । यद्वृत्तयोगाद्व अनिघातः अ । दित्तिणाया दिश इत्यादि पूर्ववद्व योज्यम् । अग्निम् इत्यस्य स्थाने दित्तिणदिशः अधिपति यमम् इत्येतावानेव विशेषः ॥

हे जातवेदा अमे ! जो शत्रु हमारे निवासस्थानकी दिल्लाण दिशामें स्थित होकर होम करके उस अभिचार होमके द्वारा हम को दिल्लाण दिशासे जीए करना चाह रहे हैं, वे शत्रु उस दिशा के अधिपति यमके पास जाकर व्यथित होवें, अभिचारकर्म करने वाले इन शत्रुओंको मैं प्रतिसरकर्मसे नष्ट करता हूँ वा अभिचारो-त्पन्न कृत्याको मैं प्रतिसरकर्मसे नष्ट करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्यां दिशों भिदासंनत्यं-

स्मान्।

#### (६२८) अथववेदसंहिता सभाष्य-भाषानुवादसहित

वरुणमृत्वा ते पराश्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसुरेणं हन्मि ॥ ३ ॥

ये । पृथ्वात् । जुह्वति । जातुऽवेदुः । पृतीच्याः । दिशः । अभिऽ-दासन्ति । अस्मान् ।

वर्षणम् । ऋत्वा । ते । पराश्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रतिऽसरेणं । इन्मि ॥ ३ ॥

पश्चात् प्रतीच्यां दिशि ये शत्रुजना अस्मदिभचारार्थं जुह्नति । अ "उपयु परिष्टात्" "पश्चात्" इति सप्तम्यर्थे निपात्यते अ । अन्यन्यत् पूर्ववद् योज्यम् । प्रत्यन्दिशोधिपतिं वरुणम् ऋत्वा इति तु विशेषः ॥

हे उत्पन्न हुओं को जानने वाले जातवेदा श्रग्ने! जो शत्रु पश्चिम दिशामें स्थित होकर श्रभिचारहोम करके हमको पश्चिम दिशासे नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु पश्चिमदिशाके श्रधिपति वरुणके पास जाकर व्यथित हों श्रत एव हमसे पराङ्मुख हो जावें, इन श्रभिचारकर्म करनेवाले शत्रुश्चोंको में रत्ताकर मितसर कर्मसे नष्ट करता हूँ, श्रभिचारोत्पन्न कृत्याको मितसर कर्मसे नष्ट करता हूँ ३

चतुर्थी ॥

य उत्तर्तो जुह्नित जातवेद उदींच्या दिशो भिदा-संन्त्यस्मान् ।

सोमंमृत्वा ते पराञ्चा व्यथन्तां पृत्यगेनान् प्रतिसुरेणं हिन्म ॥ ४ ॥

ये । जुनुतः । जुहिति । जातऽनेदः । उदीच्याः । दिशः। अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।

सोमम् । ऋत्वा । ते । पराश्चः । व्यथनताम् । प्रत्यक् । एनान्। प्रतिऽसरेणं । इन्मि ॥ ४ ॥

ये शत्रवः उत्तरतः उत्तरस्यां दिशि । अ पूर्ववद् अतस्रम् अ । अन्यद्ग व्याख्यातपायम् । सोमम् तिहशोधिपतिम् ऋत्वा इति अत्र विशोषः ॥

हे जातवेदा अप्रे ! जो शत्रु उत्तर दिशामें होम कर उस अभि-चारहोमके द्वारा इमको उत्तर दिशासे नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु उस दिशाके अधिपति सोमके पास पहुँच कर व्यथित हों, और इससे पराङ्ग्रुख होवें, इन शत्रुओंको मैं रचा कर मतिसर-कर्मसे नष्ट करता हूँ ॥ ४॥

पश्चमी ॥

ये इधस्ताज्ज हित जातवेदो ध्रुवाया दिशो भिदासंन्त्य-

स्मान् ।

भूमिमृत्वा ते पराश्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिस्रेरण-

ये । अधस्तात् । जुह्नति। जातऽवेदः । ध्रुवाया । दिशः । अभिऽ-

दासन्ति । अस्मान् ।

भूमिम् । ऋत्वा । ते । पराश्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् ।

मतिऽसरेण । हन्मि ॥ ५ ॥

ये शत्रवः अधस्तात् अधरायां दिशि । अपूर्ववद् अधरशब्दाद् अस्तातिप्रत्ययः अ । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् । सैव अधरा दिक् पृथिन्यात्मना स्थिरत्वाद्ध ध्रुवेत्युच्यते । अधराया दिश इत्यर्थः । तस्यादिशो भूमिरेवाधिदेवतेति तां प्राप्य न्यथिता भवंत्वि-त्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्ने! नीचेकी धुव दिशामें स्थित होकर जो शत्रु अभिचारहोम कर उस होमके द्वारा नीचेकी धुव दिशासे हमको नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु उस नीचे की धुव दिशाके अधिपति भूमिको प्राप्त हो व्यथित होते हुए हम से पराङ्गुख होजावें, उन शत्रुओंको में प्रतिसर कर्मके द्वारा चीण करता हूँ।। ४।।

षष्ठी ॥

ये इन्तरिचा ज्जिह्नेति जातेवदो व्युध्वायां दिशो भिदा-सन्त्यस्मान् ।

वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण इन्मि ॥ ६ ॥

ये । अन्तरित्तात् । जुह्वति। जात् उवेदः । विश्वअध्वायाः । दिशः ।

श्रभिऽदासन्ति । श्रस्मान् ।

वायुम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । मृत्यक् । एनान् ।

भितिऽसरेण । हन्मि ॥ ६ ॥

श्रन्तरा द्यावापृथिव्यावीत्तितम् श्रन्तरा त्तान्तं वा यत्त-गन्धर्वादिगणसेवितस् श्रवकाशात्मकम् श्रन्तिरत्तम् । अ सप्तम्यर्थे पश्चमी अ। श्रन्तिरत्तलोके ये शत्रवो जुह्नतीत्यादि पूर्ववद् योज्यम् । अ व्यध्वाया दिश इति । विगता श्रध्वानो यस्याम् इति व्यध्वा । "उपसर्गाद्व श्रध्वनः" इति श्रच् समासान्तः अ । तत्र संचरन् वायुस्तस्याधिदेवतेति वायुम् श्रद्धवा इत्युक्तम् ॥ हे जातवेदा अग्ने! चावापृथिवीके मध्यमें अवकाशरूपसे स्थित अंतिरत्तलोकमें अभिचाराहृति दे जो शत्रु उस अभिचारकर्षसे हम को उस विगतमार्ग अंतिरत्त दिशासे नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु उस दिशाके अधिपति वायुके समीप पहुँचकर व्यथित होकर हमसे पराङ्गुख होजावें, उन शत्रुओंको मैं प्रतिसर कर्मसे नष्ट करता हूँ ६ सप्तमी ।।

य उपरिष्टाज्ज्रह्वति जातवेद ऊर्ध्वायां दिशो भिदासं-न्त्यस्मान् ।

सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां पृत्यगेनान् प्रतिसुरेण हन्मि ॥ ७ ॥

ये । उपरिष्टात् । जुह्नति । जातुऽवेदः । ऊर्ध्वायाः । दिशः ।

श्रभिऽदासंन्ति । श्रस्मान् ।

सूर्यम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् ।

मतिऽसरेण । इन्मि ॥ ७ ॥

ये शत्रवः उपरिष्टात् ऊर्ध्वायां दिशि द्युलोकवर्तिन्यां जुह्नति स्थान् स्थाभचरन्तीत्यादि पूर्ववत् । द्युलोकस्थोर्ध्वदिगिधपतिं सूर्यम् ऋत्वा इत्येतावानेव विशेषः ॥

हे जातवेदा अग्ने ! जो शत्रु युलोकमें व्याप्त ऊपरकी दिशामें अभिचाराहुति देकर हमको ऊपरकी दिशासे नष्ट करना चाहते हैं, वे शत्रु युलोकमें स्थित ऊपरकी दिशाके अधिपति सूर्यमें पड़ कर व्यथित हों अत एव हमसे विमुख होजावें, उन शत्रुओंको मैं मतिसर कर्मके द्वारा नष्ट करता हूँ ॥ ७॥ अष्टमी ॥

ये दिशामंन्तर्देशभ्यो जुह्नति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो भिदासंन्तयस्मान् ।

बह्मर्त्वा ते परांचो व्यथन्तां पृत्यगेनान् प्रतिसुरेणं हनिम

ये । दिशाम् । अन्तः ऽदेशेभ्यः । जुह्नति । जातः वेदः। सर्वाभ्यः ।

दिक्ऽभ्यः । अभिऽदासन्ति । अस्मान् ।

ब्रह्म । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । पृत्यक् । एनान् ।

मतिऽसरेण । हन्मि ॥ = ॥

हे जातवेदः ये शत्रवः दिशाम् प्राच्यादीनाम् उक्तानाम् अन्त-देशेभ्यः अन्तरालदेशेभ्यः सकाशाद् अस्मदिभिचारार्थे जुह्नित ये च ताभ्यः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः अस्मान् अभिदासन्ति उपच्चपयन्ति ते सर्वे पराश्चः पराङ्गुखाः कुण्डितशक्तयः सन्तः ब्रह्म सर्वगतं भूतभौतिकप्रश्चकल्पनास्पदम् "महद्ग भयं वज्रम् उद्यतम्" [क॰ व॰ ६. २] "भीषास्माद् वातः पवते" [तै॰ आ॰ ८. ८. १] इत्यादित्रय्यन्तप्रसिद्धनियमनशक्तियुक्तं परं ब्रह्म ऋत्वा प्राप्य व्य-यन्ताम् व्यथिताः संतप्ता भवन्तु । एनान् शत्रुन् प्रतिसरेण अनेन रचाकर्मणा प्रत्यक् प्रतीचीनं हन्मि ॥

[ इति ] पश्चमं स्क्रम् ॥ अष्टमोतुवाकः ॥ श्रीमद्राजाधिराज-परमेश्वर-श्रीवीरहरिहरमहाराजसाम्राज्य-धुरन्धरेणसायणाचार्येण विरचिते श्रथर्वसंहिताभाष्ये चतुर्थकाएडे श्रष्टमोतुवाकः ॥

समाप्तश्रतुर्थः काएडः ॥

हे जातवेदा अग्ने! जो शत्रु पूर्वोक्त पूर्व आदि दिशाओं के कोणोंसे हमारे ऊपर अभिचार करने के लिये होम करते रहते हैं और उन दिक्कोणोंसे हमको चीण करते हैं, वे सब शत्रु कुण्ठित शक्ति वाले हों अत एव हमसे पराङ्गुख होकर सर्वगत भूत-भौतिक प्रपञ्चकी कल्पनाके स्थान 'भीषास्माद वातः पवते—इस अहा के भयसे वायु चलता है' (तैत्तिरीय आरण्यक ८।८।१) तथा महद् भयं वज्रग्रुचतम्—बड़ा वज्ररूप भय उत्पन्न हुआ है (कठवल्ली ६।२) इत्यादि त्रयीके अन्तमें प्रसिद्ध सबको वश में रखनेकी शक्ति वाले परब्रह्मको प्राप्त होकर व्यथित होवें।इन शत्रुक्षोंको में इस रल्लाकर प्रतिसर कर्मसे उलटा मारता हूँ।।८।।

अधर्ववेदसंहिताके चतुर्थकाण्डके अष्टम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समात (१४२)॥

इति श्रीअथर्यवेदसंहिताका चतुर्थकाएड ऋ० कु० घ० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र शर्मा कृत सायणभाष्यानुकृत भाषानुवाद सहित समाप्त.

॥ चतुर्थः काण्डः समाप्तः ॥



## **अ** सामवेदसंहिता

स्वरसहित मूल, सायणाचार्यकृत संस्कृत भाष्य भौर भाषानुवाद सहित मूण्य ४)

श्रीकृष्ण भगवान्ने गीतामें कहा है 'वेदानां सामवेदोऽस्मि" सब वेदोंमें सामवेद मेरी मुख्य विभूति है, क्योंकि सामवेदके गान में सब वेदोंकी अपेता अधिक आकर्षण शक्ति है, जिस समय मुनिकुमार आश्रमोंके द्वनोंके नीचे अपनी कुटियोंमें बैठे पातःकाल के समय प्रेममें भरकर सामगानसे भगवान्की स्तुति किया करते थे और सायंकाल होते ही सूर्यदेवको विदा करते समय शीतल मन्द सुगन्धित मुलय मारुतका सेवन करते हुए सामवेदकी मनो-मोहनी ऋचाओंका गान करते थे, उस समय मालूम होता था, कि-इस पापताप-पूर्ण वसुन्धरा पर स्वर्गधामकी अपूर्व लहरी क्रीड़ा कर रही है शांति श्रीर पवित्रता मानो मूर्तिमती होकर भारतवासी द्विजोंके घरोंमें विचर रही है, सामवेदमें ऐसी मोहनी शक्ति है यज्ञोंमें भाग लेनेके लिये देवतात्र्योंको सामवेदके गानसे ही बुलाया जाता था, आज वेदोंका पठन पाठन उठ जानेसे ही हमारे घरोंमें अशांति और दरिद्रता आविराजी है, आओ प्यारे द्विजो ! फिर वेदका अभ्यास कर अपने घरोंको स्वर्गधाम बना डालो, इन वेद-मन्त्रोंमें वह कल्याणमयी किरखें गुधीं हुई हैं जो द्विजोंकी साधनासे उदित होकर संसारका दुःखांधकार दूर कर देती हैं इस कारण ही यह सामवेदसंहिता सायणाचार्यका पाचीन संस्कृत भाष्य और उसके अनुसार प्रत्येक पदका अलग २ अर्थ तथा भाषा भावार्थ सहित सुन्दर मोटे कागज पर छापी है । अन्यत्र केवल साधारण भाष्य ही पचीससे दश रुपये तकको मिलता है सनातनधर्मी भाषाटीका तो श्रौर कहीं - छपा ही नहीं मैंने संस्कृत-भाष्य और भाषारीकासहितका मूल्य ५) रक्ला है। डाकव्यय ॥≡) अलग लगेगा।

अता सनिति पूर्ण प्रेस मुरादाबाद ।

### बेदान्तका उत्तम ग्रन्थ

# 🟶 सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सार-संग्रह 🏶

अन्वय पदार्थ और भावार्थ-सहित

यह प्रनथ बम्बई काशी आदिमें कहीं मूलमात्र भी नहीं छपा था, हमने मदरासमें मूलप्रनथ मँगा कर इसको अन्वय पदार्थ और भाषाटीकाके साथ बड़े सुवाच्य अन्तरोंमें छापा है। प्रनथमें वेदान्तके प्रायः सब ही सिद्धान्तोंको सरलताके साथ लिख दिया है, इस प्रनथकी रचनाकी परिपाटी और लेखनशैली पश्चदशीकी समान बड़ी चमत्कारमयी है। श्लोक सहज और काव्य की समान बड़े मधुर हैं इस सुन्दर प्रनथका अभ्यास दर लेनेसे वेदान्तकी प्रायः सब ही बातोंका अभ्यास होजायगा, जो लोग कठिन प्रनथोंको नहीं समभते उन तत्त्विज्ञासुओंके लिए यह प्रनथ बड़ा ही उपयोगी है। चरित्रगठनका आरम्भ करके इस प्रनथकी सहायतासे साथक साधनमार्गमें उन्नित कर सकता है, सुसु तुओं पर उपकार करनेके लिये ही शङ्कराचार्यने यह प्रनथ रवा है, जिल्ददार प्रनथका मूल्य २) डाकव्यय ॥/)

#### श्र मनुस्मृति श्र मृत श्रोर भाषा-दीका-सहित

स्वर्गीय ऋ० कु० प० रामस्वरूपशर्मा कृत भाषानुवाद और टिप्पिणियों सहित। शास्त्रके संदिग्ध विषयों पर जैसा इसकी टिप्पिणियोंमें समाधान किया गया है तैसा समाधान अन्य मेसों की छपी हुई मनुस्मृति में मिलना दुर्लभ है। मस्तावना और मत्येक श्लोककी विषयसूची साथमें है। मनुस्मृतिका कौन कौन विषय वेदके किस २ अध्याय आदिसे लिया गया है, इत्यादि का विवरण मस्तावनामें दिया है। ५४० पृष्ठकी कपड़ेकी जिल्द बँधी पुस्तका मूल्य १॥।) डाकव्यय ॥/) अलग। पता—सनातनधर्म मेस मुरादाबाद।

भिलने का पता-सनातनधर्म-यंत्रालय मुरादाबाद.





